अहिंसा-दर्शन

[सिद्धान्त एवं साधना]

प्रवचनकार

राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री अमरमुनिजी महाराज

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

सन्मति-साहित्य-रत्नमाला का चौबीसवाँ रत्न

☆ **पुस्तक**
अहिंसा-दर्शन

☆ **प्रवचनकार**
राष्ट्रसन्त उपाध्याय कविरत्न
श्री अमरचन्दजी महाराज

☆ **प्रकाशक**
सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामडी
आगरा-२ (उ० प्र०)

☆ **मुद्रक**
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

☆ **संस्करण**
परिवर्द्धित एव सशोधित
तृतीय सस्करण

☆ **प्रकाशन-तिथि**
महावीरजयन्ती, १२ अप्रेल १९७६

मूल्य
दस रुपये

समर्पण

वर्तमान अणु, उद्जन एव प्रक्षेपास्त्र युग

की

सतप्त एव सत्रस्त

अखण्ड मानव-जाति

को

अहिंसा-दर्शन

का

अमृतपान

सस्नेह

समर्पित

अहिंसा के भावना-सूत्र

'न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् पराम्,
अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम्,
अन्त स्थितो येन भवन्त्यदु खा । —९।२१।१२

(राजा रन्तिदेव ने पीडित एव बुभुक्षित प्रजा के कल्याण की कामना करते हुए कहा था—) मै भगवान् से अष्टसिद्धियो के युक्त स्वर्ग की श्रेष्ठगति नही चाहता, और तो क्या, मैं मोक्ष की कामना भी नही करता । मै तो केवल यही चाहता हूँ कि मैं विश्व के समस्त प्राणियो के हृदय मे स्थित हो जाऊँ और उनका सारा का सारा दु ख मैं ही सहन कर लूं, ताकि अन्य किसी भी प्राणी को दु ख न हो ।

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग ' —योगदर्शन २।३५

अहिंसा की प्रतिष्ठा (पूर्णस्थिति) हो जाने पर उसके सान्निध्य मे सब प्राणी अपना वैरभाव छोड देते है ।

'अहिंसयैव भूताना कार्य श्रेयोऽनुशासनम् ।' —मनुस्मृति २।१५९

अहिंसा की भावना से अनुप्राणित हो कर ही प्राणियो पर अनुशासन करना चाहिए ।

'सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ॥' —गीता ६।२९

अनन्तचैतन्य की व्यापक चेतना मे युक्त योगी अपने आपको सबमे तथा सब को अपने आप मे देखता है, वह सर्वसमदर्शी होता है ।

'निर्वैर सर्वभूतेषु य स मामेति पाण्डव !

हे पाण्डव ! जो सभी प्राणियो के प्रति निर्वैर (वैररहित) है, वही मुझे प्राप्त कर सकता है ।

'अहिंसा परमो धर्म सर्वप्राणभृता वर ।' —महाभारत ११।१३

समस्त प्राणियो के लिए अहिंसा सर्वोत्कृष्ट धर्म है ।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ॥ —ईशोपनिषद् ६

जो अन्तर्निरीक्षण के द्वारा सब प्राणियो को अपनी आत्मा मे ही देखता है और अपनी आत्मा को सब भूतो मे, वह फिर किसी से घृणा नही करता है ।

सब्बे सत्ता अवेरिनो होन्तु, मा वेरिनो ।
सुखिनो होन्तु, मा दुक्खिनो ॥ —बौद्धसूक्त

सभी प्राणी वैर से रहित हो, कोई भी वैर न रखे, सभी प्राणी सुखी हो, कोई दु ख न पाए ।

अहिंसा के प्रेरणा-सूत्र

'एव खु नाणिणो सार ज न हिंसइ किचण ।
अहिंसा समय चेव एतावत वियाणिया ।।'

—सूत्रकृताङ्गसूत्र १।१।४।१०

ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राण की हिंसा न करे । अहिंसा-मूलक समता ही धम का सार है । बस, इतनी बात सदैव ध्यान मे रखनी चाहिए ।

'वय पुण एवमाइक्खामो, एव भासामो, एवं परूवेमो, एव पण्णवेमो, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्द-वेयव्वा । इत्थ विजाणह नत्थित्थ दोसो । आरियवयणमेयं ।।'

—आचारागसूत्र १।४।२

हम ऐसा कहते हैं, ऐसा बोलते है, ऐसी प्ररूपणा करते है, ऐसी प्रज्ञापना करते है कि—'किसी भी प्राणी, किसी भी भूत किसी भी जीव और किसी भी सत्त्व को न मारना चाहिए, न उन पर अनुचित शासन करना चाहिए, न उनको गुलामो की तरह पराधीन बनाना चाहिए, न उन्हे परिताप देना चाहिए और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिए । उक्त अहिंसाधर्म मे किसी प्रकार का दोष नही है, यह ध्यान मे रखिए । अहिंसा वस्तुत आर्य (पवित्र) सिद्धान्त है ।

जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दड मणसा, वयसा कायसा चेव ।।

— उत्तराध्ययन अ० ८ गा० १०

लोकाश्रित जो त्रस और स्थावर जीव है, उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी प्रकार से दड का प्रयोग न करे ।

सयं तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए ।।
हणंत वाऽणुजाणाइ, वेर वड्ढइ अप्पणो ।।

—सूत्रकृतागसूत्र १।१।१।३

जो व्यक्ति प्राणियो की स्वय हिंसा करता है, दूसरो से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालो का अनुमोदन करता है, इस प्रकार वह ससार मे अपने लिए वैरभाव को ही बढाता है ।

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे ।

—उत्तराध्ययन सूत्र १६।२५

जगत् मे शत्रु या मित्र सभी प्राणियो पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है ।

सबुज्झमाणे उ नरे मइम,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिसप्पसूयाइ दुहाइ मत्ता,
वेराणुबधीणि महब्भयाणि ॥

सम्यग्बोधप्राप्त बुद्धिमान् मनुष्य हिंसा से उत्पन्न होने वाले वैरभाव तथा महाभयकर दु खो को जान कर अपने को हिंसा से बचाए ।

जे य बुद्धा अतिक्कता जे य बुद्धा अणागया ।
सति तेसि पइट्ठाण भूयाण जगई जहा ॥

जिस प्रकार जीवो का आधार-स्थान पृथ्वी है, वैसे ही भूत और भावी ज्ञानियो के जीवदर्शन का आधार-स्थान शान्ति अर्थात् अहिंसा है । यानी तीर्थंकर जैसा उच्च पद भी अहिंसापालन की बदौलत ही मिलता है ।

न हु पाणवह अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाई सव्वदुक्खाण ।

प्राणवध का अनुमोदन (समर्थन) करने वाला पुरुष कदापि सर्वदु खो से मुक्त नही हो सकता ।

—उत्तराध्ययन ८।८

न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए ।

—उत्तरा० ६।७

भय और वैर से निवृत्त हुए प्राणियो के प्राणो का घात न करे ।

एसा सा अहिंसा भगवई भीयाण विव सरण, तसथावरसव्वभूयखेमकरी'

यह अहिंसा भगवती है, जो भयाकुल प्राणियो के लिए विशेष शरणदात्री है, त्रस-स्थावर सभी प्राणियो का कुशलक्षेम-मगल करने वाली है ।

'सव्व जग तु समयाणुपेही पियमप्पिय कस्सइ नो करेजा

—सूत्र कृ० १।१०।७

भव्यात्मा को चाहिए कि वह समस्त अथात सभी जीवो को समभाव से देखे । वह किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय न बनाए ।

तुमसि नाम त चेव ज हतव्व ति मन्नसि ।
तुमसि नाम त चेव ज अज्जावेयव्व ति मन्नसि ।
तुमसि नाम त चेव ज परियावेयव्व ति मन्नसि ।'

—आचाराग० १।५।५

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है । यह अद्वैतभावना ही, अहिंसा का मूलाधार है ।

प्रकाशकीय

अहिंसा मानवजाति के लिए जन्म से ले कर मृत्युपर्यन्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे और प्रत्यक कदम पर अनिवार्य है, परन्तु उसके सम्बन्ध मे जब तक स्पष्ट दर्शन न हो, उसके विविध पहलुओ पर जब तक सूक्ष्म दृष्टि से विचार न किया जाय, तब तक अहिसा की साधना और अहिसा के प्रयोग सफल नही हो सकते । इसी दृष्टिकोण से राष्ट्रसन्त कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज के अहिसा-सम्बन्धी प्रवचनो का यह सुन्दर सकलन किया गया है । इसमे अहिसा की जो विवेचना की गई है, उसमे कितनी मौलिकता, गम्भीरता और विशदता है, यह बात ध्यानपूर्वक पढने वाले विवेकशील पाठक स्वय समझ सकते है । जैनशास्त्रो मे अहिसा के सम्बन्ध मे बहुत स्पष्ट व्याख्या मिलती है, परन्तु प्रथम तो शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन करने वाले ही विरले है, फिर यत्र-तत्र बिखरी हुई और प्राकृत या सस्कृत भाषा मे निबद्ध व्याख्या के अन्तस्तत्त्व को समझने और प्रतिपादन करने वाले विद्वानो की सख्या तो और भी कम है । राष्ट्रसन्त उपाध्यायश्रीजी महाराज ने शास्त्रो की शब्दावली के सहारे शास्त्रो की आत्मा का स्पर्श किया है, अहिसा के तत्त्वज्ञान और सिद्धान्त के साथ-साथ उन्होने अहिसा के व्यवहारपक्ष को भी विशदरूप से स्पष्ट किया है । कहना होगा कि उनके द्वारा की गई अहिसा की विस्तृत विवेचना अपूर्व और मौलिक बन पडी है ।

यह ब्यावर श्रीसघ की सूझ-बूझ का फल है कि उसने कविरत्न उपाध्यायश्रीजी महाराज के वि० सवत् २००७ के ब्यावर-चातुर्मास मे उपासकदशाग का अवलम्बन ले कर अहिसा पर दिये गए युगस्पर्शी प्रवचनो का प०शोभाचन्द्रजी भारिल्ल से सम्पादन करवा लिया था । अहिसा-दर्शन के प्रथम सस्करण मे उन्ही प्रवचनो का प्रकाशन हुआ है । उसकी माग इतनी अधिक हुई कि सन् १९५७ मे शीघ्र ही उसका द्वितीय सस्करण

प्रकाशित हुआ। किन्तु वह भी कुछ वर्षों पहले ही समाप्त हो गया। अत डॉ० वशिष्ठनारायण सिन्हा ने इसे सशोधित परिमार्जित करके रखा था। लेकिन वह यो ही पडा रहा। जनता की माग बार-बार आती रही। इस वर्ष प० मुनिश्रीनेमिचन्द्रजी महाराज ने अहिंसा के सम्बन्ध मे श्री अमरभारती आदि मे प्रकाशित कविश्रीजी महाराज के प्रवचनो एव लेखो को छाट कर इसे परिष्कृतरूप से पुन आद्योपान्त सम्पादित किया। इसी सशोधित परिवर्द्धित तृतीय सस्करण का नये रूप मे प्रकाशन हुआ है। हम उन सभी सम्पादको, सशोधको एव सहयोगियो के अत्यन्त आभारी है। खासकर सेवाभावी श्री अखिलेशजी महाराज के अत्यन्त आभारी है, जिनकी दीर्घदर्शिता की बदौलत यह सुन्दर साहित्य उपलब्ध हो रहा है। शीघ्र और सुन्दर मुद्रण के लिए 'दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स' के व्यवस्थापक महोदय का सत्सहयोग भी प्रशसनीय है। सभी सहयोगियो को धन्यवाद!

जैन भवन
लोहामडी, आगरा-२
१२-४-७६

विनम्र—
—मत्री, सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा

अहिंसा-दर्शन का अन्तरंग

जब से इस धरातल पर मनुष्य नामक प्राणी विद्यमान है, जब से उसे हृदय और बुद्धि प्राप्त है, तभी से अहिंसा का पावन सिद्धान्त भी प्रचलित है। यथार्थरूप से यह कहना कठिन है कि अहिंसा की सर्वप्रथम कल्पना कब प्रादुर्भूत हुई थी। इतिहास इस विषय मे मौन है। किन्तु यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि मानव के सर्वांगीण जीवन को सुखद, सरल, आनन्दमय एव निश्चिन्ततापूर्वक बिताने के लिए ही अहिंसा का स्वीकार किया गया था। प्रारम्भ मे थोडे से सिद्धान्त स्थिर किये गए होगे, लेकिन आगे चल कर पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक एव सास्कृतिक जीवन मे कई नई-नई उलझने पैदा हुई होगी, कई नए सघर्ष भी उपस्थित हुए होगे, और तब हिंसा-अहिंसा की मर्यादाएँ, उनका स्वरूप और विविध परिस्थितियो मे विविध देश,काल और पात्र के अनुसार उनके विभिन्न प्रयोग भी सुनिश्चित किये गए होगे। इस प्रकार अहिंसा की विचारधारा का उत्तरोत्तर विकास होता चला गया, जटिलतम प्रश्न भी अहिंसा के द्वारा सुलझाए जाने लगे और इसकी उपयोगिता एव अनिवार्यता केवल व्यक्तिगत जीवन मे ही नही, पारिवारिक, सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे स्पष्टत समझी जाने लगी। यही कारण है कि हिंसा-अहिंसा का स्वरूप एव पथ इतना जटिल और दुर्गम-सा हो गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अहिंसा कोरी सिद्धान्त की ही वस्तु नही, वह व्यवहार की भी वस्तु है। चिरकाल से बडे-बडे साधको ने अपने व्यावहारिक जीवन मे अहिंसा की आराधना करके जगत् के सामने मूल्यवान आदर्श प्रस्तुत किए है।

जगत मे जितने भी धर्म है, वे सब एक या दूसरी तरह से अहिंसा की महत्ता का स्वीकार करते है। साम्यवादी देशो मे, जहाँ कि धर्म को अफीम के समान माना जाता है, वहाँ भी राष्ट्र की जीवन-यात्रा को सुखद एव सरल बनाने के लिए अहिंसा का स्वीकार किया जाता है। नीति और धर्म-सम्बन्धी जितने भी नियम, मर्यादाएँ परम्पराएँ, व्रत एव तप आदि हैं, उन सब मे अहिंसा का होना अनिवार्य माना गया है। राजनीति जैसे गदे माने जाने वाले क्षेत्र मे भी राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजी ने अहिंसा के विभिन्न प्रयोग करके उसे सफल बनाया था।

अहिंसा के प्रयोग करने का जहाँ व्यक्तिगत रूप से शास्त्रो मे विधान है, वहाँ सामूहिक रूप से भी अहिसा-प्रयोग के बीज शास्त्रो मे यत्र-तत्र उपलब्ध होते है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि अहिंसा केवल एक व्यक्ति के पालन की ही चीज नही है, और न उसका सुफल केवल एक व्यक्ति से अनुस्यूत रहता है, अपितु एक व्यक्ति के अहिंसा-पालन से उसका प्रभाव सारे समाज और कभी-कभी राष्ट्र पर भी पडा है।

दूर क्यो जाएँ ! जैन इतिहास के विश्रुत धर्मसघ-स्थापक तीर्थंकर अरिष्टनेमि के विवाह मे बरातियो को पशु-पक्षियो का माँस दिया जाने वाला था, जब अरिष्टनेमि स्वय दुल्हा बन कर रथ मे बैठे हुए विवाह के लिए जा रहे थे, तब रास्ते मे उन्होने एक बाडे मे अवरुद्ध बहुत-से पशु-पक्षियो को देखा और करुणा से द्रवित हो कर उनको बन्धनमुक्त करवाया। उनके द्वारा पालन की गई इस व्यक्तिगत अहिंसा का प्रभाव तत्कालीन यादव जाति पर अचूकरूप से पडा। यादवजाति मानो जाग उठी। इसी प्रकार महात्मा गाँधीजी ने जो भी व्यक्तिगत सत्याग्रह आदि किए थे, उन सबके साथ वे अहिंसा को अनिवार्य रूप से ले कर चले थे, जहाँ कही उन्हे यह स्पष्ट प्रतिभासित होता था कि इस सत्याग्रह मे मेरे द्वारा हिंसा का भाव आ गया है, भले ही वह क्रोध, रोष और द्वेष के रूप मे ही क्यो न आया हो, वह उस सत्याग्रह को स्थगित कर देते थे। उनकी दृष्टि मे अहिंसा केवल व्यक्तिगत उपासना या साधना की चीज नही थी, अपितु वह सार्वभौम थी। मानवजीवन के सभी क्षेत्रो मे और सभी वर्गों के द्वारा वह आराधनीय, साधनीय थी।

यही कारण है कि अहिसा-दर्शन मे युगद्रष्टा राष्ट्रसत उपाध्याय श्रीअमरमुनिजी ने शास्त्रीय भावो को वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य मे तौल-तौल कर बहुत ही बारीकी से युक्ति, प्रमाण, अनुभव और दृष्टान्त दे दे कर स्पष्ट कर दिया है।

अहिंसा-दर्शन के प्रथम और द्वितीय सस्करण मे प्रकाशित उपाध्यायश्रीजी महाराज के प्रवचन ब्यावर मे हुए थे। इन पक्तियो का लखक भी उस समय ब्यावर ही था। मेरे ही अनुरोध पर विक्रम सवत् २००७ के ब्यावर-चातुर्मास मे श्रद्धेय उपाध्यायश्रीजी महाराज ने उपासकदशाग-सूत्र पर व्याख्यान देना स्वीकार किया था और उन्होने उपासकदशाग-सूत्र के प्रथम अध्ययन के आधार पर अहिंसा, सत्य आदि व्रतो पर अत्यन्त विशदरूप से व्याख्यान दिए थे। उन व्याख्यानो को सुन कर सहसा दिवगत ज्योतिर्धर आचार्य पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज का स्मरण हो आता है।

ब्यावरचातुर्मास के उन अहिंसा-सम्बन्धी प्रवचनो का सम्पादन प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने किया था। उसके बाद सन् १९५७ मे उसका द्वितीय सस्करण प्रकाशित हुआ। इसके बाद अब यह तृतीय सस्करण सशोधित और परिवर्द्धित रूप मे मेरे द्वारा सम्पादित हो कर प्रकाशित हो रहा है।

इस सस्करण मे श्रद्धेय उपाध्यायश्रीजी महाराज के द्वारा समय-समय पर अहिंसा के सम्बन्ध मे दिये गए प्रवचन, जो श्री अमरभारती मे प्रकाशित होते रहे है, उन्हे छाँट कर व्यवस्थित करके यत्र-तत्र जोड दिये गए है। इनमे से कुछ प्रवचन नए विषयो पर है, कुछ युगानुलक्षी सामयिक प्रश्नो पर अहिंसा-सम्बन्धी प्रवचन है। कुछ अहिंसा के विधेयात्मक पहलुओ तथा सामाजिक, सास्कृतिक एव राजनैतिक हिंसा-अहिंसा के परिप्रेक्ष्य मे दिये गए प्रवचन हैं। मतलब यह है कि अहिंसा भगवती के सागोपाग

सर्वांगसुन्दर सार्वभौम दर्शन करने के लिए यह ग्रन्थ अपने आप मे अद्वितीय है। किसी भी अन्य ग्रन्थ मे इतना सुन्दर, स्पष्ट और युक्तिसगत विवेचन मिलना कठिन है।

यो तो 'अहिंसा' इतना व्यापक और विवादास्पद विषय है कि इसके विवेचन मे हजारो पृष्ठ लिखे जाएँ तो भी पर्याप्त न होगे। परन्तु खास-खास मुद्दो को ले कर उपाध्यायश्रीजी महाराज ने जो व्याख्या की है, वह भी अहिंसा के साधको, उपासको, विचारको, प्रयोगकारो और शोधकर्ताओ के लिए अनूठी और अद्वितीय है।

इसमे जैन-धर्म के इस युग के आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से ले कर भगवान् महावीर तक के जमाने मे हुए अहिंसा-विषयक प्रयोगो पर सुन्दर विश्लेषण किया गया है। साथ ही वर्तमानयुग के गोरक्षा, बगलादेश के रूप मे शरणागत-रक्षा तथा धर्मयुद्ध का आदर्श, सापराधी को दण्ड, आदि ज्वलन्त प्रश्नो पर भी प्राचीनयुग के ऐतिहासिक एव प्रागैतिहासिक उदाहरण दे कर जैनधर्म का अहिंसा-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक क्षेत्र के भाषा, सततिनियमन, अतिथि सत्कार, जातिवाद आदि प्रश्नो पर भी अहिंसा का स्पष्ट युक्तिसगत दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। सामाजिक क्षेत्र मे जाति, वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय, परिवार, राष्ट्र एव प्रान्त आदि के नाम पर होने वाले सघर्ष, घृणा, द्वेष, विवाद और सिरफुटौव्वल के रूप मे खतरनाक हिंसा का विश्लेषण करके उपाध्यायश्रीजी महाराज ने उसका अहिंसात्मक उपाय एव निवारणपक्ष भी प्रस्तुत किया है और अहिंसा के उस परिपुष्ट आध्यात्मिक आधार पर भी आपने सुन्दर विश्लेषण किया है, जो सर्वधर्म एव सर्वदर्शन के हृदयो को स्पर्श करने वाला है। एक प्रवचन मे आपने समस्त प्रचलित धर्मों के अहिंसा-विषयक विचार प्रस्तुत किए हैं।

सुदूर अतीत से, अर्थात् उस अज्ञात प्राचीनकाल से ले कर आज तक जो हिंसा-अहिंसा की मीमासा की जाती रही है, उत्तरोत्तर जो उसका स्वरूप विराट् और विशाल होता गया है, आचार-जगत की अहिंसा जो भगवान् महावीर के युग मे शान के साथ विचारजगत् मे भी प्रवेश करती जान पडती है और गाँधीयुग मे राजनैतिक क्षेत्र मे आ कर वरदान देती प्रतीत होती है, इन सबका अहिंसा-दर्शन मे सागोपाग युक्तियुक्त एव आगम-प्रमाणसहित विश्लेषण है।

राष्ट्रसत उपाध्याय कविरत्न श्रीअमरचन्दजी महाराज बहुश्रुत, मूर्धन्य विद्वान्, दार्शनिक एव निष्पक्ष तत्त्वचिन्तक मुनिपुगव हैं। सौभाग्य से आपको विद्या और बुद्धि के साथ उच्चकोटि की वक्तृत्वकला भी प्राप्त है। आपकी भाषा मे ओज, अर्थगाम्भीर्य एव लालित्य है। आपकी प्रवचनशैली नदी के प्रवाह की तरह प्रतिपाद्य विषय की ओर अग्रसर होती हुई लहराती हुई धरातल से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक गगनतल को छूती हुई-सी जान पडती है, वह न तो बीच मे कहीं रुकती है, और न स्खलित ही होती है। यद्यपि प्रवचनो का सम्पादन करते समय आपकी भाषा की मौलिकता को अक्षुण्ण रखने का भरसक प्रयास किया गया है, फिर भी यह दावा करना

कठिन है कि इन प्रवचनो का सम्पादन पूर्णतया सफल हो सका है। प्रवचनो के सम्पादन मे उपाध्यायश्रीजी महाराज के भावो को अक्षुण्ण रखने का भरसक ध्यान रखा गया है तथापि कही भाषा मे विरूपता या स्खलना हो गई हो तो उसके लिए पाठक क्षमा करे।

उपाध्यायश्रीजी महाराज के द्वारा अहिसा-सम्बन्धी ये प्रवचन किसी एक सम्प्रदाय, पक्ष या मत को ले कर नही किये गए हैं, अहिसा-सम्बन्धी जो सार्वजनिक और निष्पक्ष मन्तव्य है, उसे ले कर ही आपने ये प्रवचन किए है, सम्भव है, परम्परागत धारणाओ के कारण किसी का उनसे मतभेद हो, फिर भी यदि वे सज्जन निष्पक्षता और गम्भीरता से विचार करेगे तो उनका मन समाधान होना कठिन नही है।

आशा है, पाठक अहिसा के सम्बन्ध मे इन प्रवचनो को पढ़ कर हृदयगम करेंगे और अपने सर्वक्षेत्रीय जीवन को अहिसा से अनुप्राणित बनाएँगे।

जैनभवन, लोहामडी
आगरा-२
ता० १२-४-७६

—मुनि नेमिचन्द्र

अनुक्रमणिका

अहिंसा दर्शन

अमर मुनि

प्राणो की आहुति दे कर भी,
दुखियो का दुख दूर करे।
हानि देख कर पर की सज्जन,
अपने मन मे झूर मरे॥

—उपाध्याय अमरमुनि

औरो को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर दो,
सब को सुखी बनाओ॥

—प्रसाद

१ | अहिंसा : जीवन की अन्तर्गंगा

ससार मे सभी प्राणी व्यग्र और व्यस्त दिखाई देते है। छोटी-छोटी चीटियाँ दिन हो या रात दौड-दौड कर अन्नकणो को एकत्रित करती हुई नजर आती हैं। पक्षीगण सुबह से शाम तक दाने चुनते हुए दीख पडते हैं। आदमी चाहे दिन हो या रात, शरीर कपा देने वाली ठडक हो या देह झुलसा देने वाली गर्मी, हमेशा कही पत्थर तोडता हुआ, कही कारखानो मे लोहा पीटता हुआ, कही खेतो मे हल चलाता हुआ पाया जाता है। आखिर इन सब कार्यकलापो के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होगा। कारण है—जीवन का सुख, मन की शान्ति। हर प्राणी यह चाहता है कि उसे ही ज्यादा से ज्यादा सुख-सुविधाएँ प्राप्त हो, परन्तु जब तक वह दूसरो की सुख-सुविधाओ पर ध्यान नही देगा, वह अपने आप मे स्वार्थी, आरामतलब, अहकारी एव असतोषी बन कर दूसरो की जरूरतो की उपेक्षा करता रहेगा, दूसरो के अधिकारो को छीनता रहेगा, दूसरो के श्रम का शोषण करता रहेगा, तब तक वह स्वय सुख और शान्ति से युक्त नही हो सकेगा। दूसरे शब्दो मे कहे तो, ऐसा प्राणी दूसरो की हिंसा करता रहेगा—फिर भले ही कायिक हिंसा कम हो, वाचिक या मानसिक ज्यादा हो। अत किसी भी व्यक्ति को सच्चे अर्थों मे सुख-शान्ति-सम्पन्न बनना है तो, उसे मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का स्वीकार करना ही होगा।

अहिंसा सर्वक्षेत्रो मे आवश्यक

इसी कारण ससार के मूर्धन्य मनीषियो ने सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन के लिए अहिंसा की खोज की।

अहिंसा मानव-जाति के ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तन का सर्वोत्तम विकास-बिन्दु है। क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर—दोनो ही प्रकार के मगल-जीवन का मूलाधार 'अहिंसा' है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्वबन्धुत्व का जो विकास हुआ या हो रहा है, उसके मूल में अहिंसा की ही पवित्र भावना काम करती रही है। मानव—सभ्यता के उच्च आदर्शों का सही-सही मूल्याकन अहिंसा के रूप मे ही किया जा सकता है। हिंसा और विनाश, अधिकार-लिप्सा और असहिष्णुता, सत्ता-लोलुपता और स्वार्थान्धता से विषाक्त उत्पीडित ससार मे अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ अमृतमय विश्राम-भूमि है, जहाँ पहुँच कर मनुष्य आराम की साँस लेता है। अपने को और दूसरो को समान धरातल पर देखने के लिए अहिंसा की निर्मल आँख का होना नितान्त आवश्यक है। यदि अहिंसा न हो, तो मनुष्य न स्वय

अपने को पहचाने और न दूसरो को ही। पशुत्व से ऊपर उठने के लिए अहिंसा का अवलम्बन अनिवार्य है।

विभिन्न धर्मों मे अहिंसा-भावना

अहिंसा की परिधि के अन्तर्गत समस्त धर्म और समस्त दर्शन समवेत हो जाते हैं। यही कारण है कि प्राय सभी धर्मों ने इसे एक स्वर से स्वीकार किया है और अन्ततोगत्वा इसी का आश्रय लिया है। हमारे यहाँ के चिन्तन मे, समस्त धर्म-सम्प्रदायो मे अहिंसा के सम्बन्ध मे, उसकी महत्ता और उपयोगिता के सम्बन्ध मे दो मत नही हैं, भले ही उसकी सीमाएँ कुछ भिन्न-भिन्न हो। कोई भी धर्म यह कहने के लिए तैयार नहीं कि झूठ बोलने मे धर्म है, चोरी करने मे धर्म है या अब्रह्मचर्य-सेवन करने मे धर्म है। जब इन्हे धर्म नही कहा जा सकता, तो हिंसा को कैसे धर्म कहा जा सकता है? हिंसा को हिंसा के नाम से कोई स्वीकार नही करता। अत किसी भी धर्मशास्त्र मे हिंसा को धर्म और अहिंसा को अधर्म नही कहा गया है। सभी धर्मों ने अहिंसा को ही परम धर्म स्वीकार किया है। मनुष्य के चारो ओर पार्थिक जीवन का मजबूत घेरा पडा हुआ है, उसे तोड कर उच्चतम आध्यात्मिक जीवन-निर्माण के लिए अहिंसा के बिना गुजारा नही है।

जैनधर्म मे अहिंसा-भावना

अहिंसा जैनधर्म का तो प्राण है। जैनधर्म का नाम लेते ही सर्वसाधारण को अहिंसा की स्मृति हुआ करती है। आज से पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने अहिंसा की नीव को सुदृढ बनाने के लिए, हिंसा के विरोध मे क्रांति की। अहिंसा और धर्म के नाम पर हिंसा का जो नग्न नृत्य हो रहा था, जनमानस भ्रान्त किया जा रहा था, वह भगवान् महावीर से देखा नही गया। उन्होने हिंसा पर लगे धर्म और अहिंसा के मुखौटो को उतार फेका और सामान्य जनमानस को उद्बुद्ध करते हुए कहा—हिंसा कभी भी धर्म नही हो सकती। विश्व के सभी प्राणी—वे चाहे छोटे हो या बड़े, पशु हो या मानव, सभी जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता।[1] सबको सुख प्रिय है, दु ख अप्रिय है। सबको अपना जीवन प्यारा है।[2] जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए पसन्द नही करते, उसे दूसरा भी पसन्द नही करता। जिस दयामय व्यवहार को तुम पसन्द करते हो, उसे सभी पसन्द करते है। यही जिनशासन के कथनो का सार है, जो कि एक तरह से सभी धर्मों का सार है।[3] किसी के प्राणो की

---

१ सव्वे जीवावि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउ।
—दशवैकालिक सूत्र ६।११

२ सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुहपडिकूला। —आचाराग सूत्र १।२।३

३ ज इच्छसि अप्पणतो, ज च न इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि, एत्तियग्ग जिणसासणय॥ —बृहत्कल्पभाष्य ४५८४

हत्या करना धर्म नही हो सकता । अहिंसा, सयम और तप यही वास्तविक धर्म है ।[4] इस लोक मे जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं ।[5] उनकी हिंसा न जान कर करो, न अनजान में करो और न दूसरो से ही किसी की हिंसा कराओ । क्योकि सबके भीतर एक-सी आत्मा है । हमारी तरह सबको अपने प्राण प्यारे है । ऐसा मान कर भय और वैर से मुक्त होकर किसी भी प्राणी की हिंसा न करो । जो व्यक्ति खुद हिंसा करता है, दूसरो से हिंसा करवाता है और दूसरो की हिंसा का अनुमोदन करता है, वह अपने लिए वैर ही बढाता है ।[6] अत प्राणियो के प्रति वैसा ही भाव रखो, जैसा कि अपनी आत्मा के प्रति रखते हो ।[7] सभी जीवो के प्रति अहिंसक हो कर रहना चाहिए । सच्चा सयमी वही है, जो मन, वचन और शरीर से किसी की हिंसा नही करता । यह है— भगवान् महावीर की आत्मौपम्य दृष्टि, जो अहिंसा मे ओत-प्रोत हो कर विराट् विश्व के सम्मुख एकात्मानुभूति का एक महान् गौरव प्रस्तुत कर रही है ।

बौद्धधर्म मे अहिंसा-भावना

'आर्य' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए बौद्धधर्म ने अहिंसाप्रिय व्यक्ति को आर्य कहा है । तथागत बुद्ध ने कहा है—"प्राणियो की हिंसा करने से कोई आर्य नही कहलाता, बल्कि जो प्राणी की हिंसा नही करता, उसी को आर्य कहा जाता है ।[8] सब लोग दण्ड से डरते है, मृत्यु से भय खाते है । मानव दूसरो को अपनी तरह जान कर न तो किसी को मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा करे ।[9] जो न स्वय किसी का घात करता है, न दूसरो से करवाता है, न स्वय किसी को जीतता है, न दूसरो से जीतवाता है, वह सर्वप्राणियो का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नही होता ।[10] जैसा मैं हूँ वैसे ये है, तथा जैसे ये है वैसा मैं हूँ—इस प्रकार आत्मसदृश

---

४ धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो । —दशवैकालिक १।१

५ जावति लोए पाणा तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणे वा न हणे नोवि घायए ।। —दशवैकालिक

६ अज्झत्थ सव्वओ सव्व दिस्स पाणे पियाउए ।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए ।। —उत्तराध्ययन ८।१०

७ सयऽतिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए ।
हणन्त वाऽणुजाणाइ वेर वड्ढई अप्पणो ।। —सूत्र कृताङ्ग १।१।१।३

८ न तेन आरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणान, आरियोति पवुच्चति ।। —धम्मपद १९।१५

९ सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेस जीवित पिय ।
अत्तान उपम कत्वा न हनेय्य न घातये ।। —धम्मपद १०।१

१० यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जापते ।
मित्त सो सब्बभूतेसु वेर तस्स न केनचीति ।। —इतिवुत्तक, पृ० २०

मान कर न किसी का घात करे न कराए।[११] सभी प्राणी सुख के चाहने वाले हैं, इनका जो दण्ड से घात नही करता है, वह सुख का अभिलाषी मानव अगले जन्म मे सुख को प्राप्त करता है।[१२] इस प्रकार तथागत बुद्ध ने भी हिंसा का निषेध करके अहिंसा की प्रतिष्ठा की है।

तथागत बुद्ध का जीवन 'महाकारुणिक जीवन' कहलाता है। दीन-दुखियो के प्रति उनके मन मे अत्यन्त करुणा भरी थी, दया का सागर लहरा रहा था।

भगवान् महावीर की भाँति तथागत बुद्ध भी श्रमण-सस्कृति के एक महान् प्रतिनिधि थे। उन्होने सामाजिक और राजनीतिक कारणो से होने वाली हिंसा की आग को प्रेम और शान्ति के जल से शान्त करने के सफल प्रयोग किये, और इस आस्था को सुदृढ़ बनाया कि समस्या का प्रतिकार सिर्फ तलवार ही नही, प्रेम और सद्भाव भी है। यही अहिंसा का मार्ग वस्तुत शान्ति और समृद्धि का मार्ग है।

वैदिकधर्म मे अहिंसा-भावना

वैदिकधर्म भी यज्ञकाल से उत्तरोत्तर अहिंसा-प्रधान धर्म होता गया है। "अहिंसा परमो धर्म" के अटल सिद्धान्त को सम्मुख रख कर इसमे भी अहिंसा की विवेचना की गई है। अहिंसा ही सबसे उत्तम एव पावन धर्म है, अत मनुष्य को कभी भी, कही भी और किसी भी प्राणी की हिंसा नही करनी चाहिए।[१३] जो कार्य तुम्हे पसन्द नही है, उसे दूसरो के लिए कभी न करो।[१४] इस नश्वर जीवन मे न तो किसी प्राणी की हिंसा करो और न किसी को पीडा पहुँचाओ। बल्कि सभी आत्माओ के प्रति मैत्री-भावना स्थापित कर विचरण करते रहो। किसी के साथ वैर न करो।[१५] जैसे मानव को अपने प्राण प्यारे हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियो को अपने-अपने प्राण प्यारे है। इसलिए जो लोग बुद्धिमान और पुण्यशाली है, उन्हे चाहिए कि

---

११ यथा अह तथा एते, यथा एते तथा अह।
अत्तान उपम कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

—सुत्तनिपात, ३।३।७।२७

१२ सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्चसो लभते सुख॥ —उदान, पृ० १२

१३ अहिंसा परमो धर्म सर्वप्राणभृता वर।
तस्मात् प्राणभृत सर्वान् मा हिंस्यान्मानुष क्वचित्॥

—महाभारत—आदिपर्व, १।१।१३

१४ आत्मन· प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्। —मनुस्मृति

१५ न हिंस्यात् सर्वभूतानि, मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेद जीवितमासाद्य वैर कुर्वीत केनचित्॥ —महाभारत—शान्तिपर्व २७८।५

वे सभी प्राणियो को अपने समान समझे ।[16] इस विश्व मे अपने प्राणो से प्यारी दूसरी कोई वस्तु नही है । इसलिए मानव जैसे अपने ऊपर दयाभाव चाहता है, उसी प्रकार दूसरो पर भी दया करे ।[17] दयालु आत्मा ही सभी प्राणियो को अभयदान देता है, और उसे भी सभी अभयदान देते है ।[18] अहिंसा ही एकमात्र पूर्ण धर्म है । हिंसा, धर्म और तप का नाश करने वाली है ।[19] अत यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म भी अहिंसा की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार करता है ।

इस्लामधर्म मे अहिंसा-भावना

इस्लामधर्म की अट्टालिका भी अहिंसा की नीव पर टिकी हुई है । इस्लामधर्म मे कहा गया है—"खुदा सारी दुनिया (खल्क) का पिता (खालिक) है । विश्व मे जितने प्राणी है, वे सब खुदा के पुत्र (बदे) हैं ।" कुरानशरीफ की शुरूआत मे ही 'अल्लाहताला खुदा' का विशेषण दिया है—"बिस्मिल्लाह रहिमानुर्रहीम"—इस प्रकार का मगलाचरण दे कर यह बताया गया है कि सब जीवो पर रहम करो ।

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली साहब ने कहा है—"हे मानव ! तू पशु-पक्षियो की कब्र अपने पेट मे मत बना" अर्थात् पशु-पक्षियो को मार कर उनको अपना भोजन मत बनाओ । इसी प्रकार 'दीने इलाही' के प्रवर्त्तक मुगलसम्राट् अकबर ने कहा है—"मैं अपने पेट को दूसरे जीवो का कब्रिस्तान बनाना नही चाहता । जिसने किसी की जान बचाई—उसने मानो सारे इन्सानो को जिन्दगी बख्शी ।"[20]

उपर्युक्त उदाहरणो से यही प्रतिभासित होता है कि इस्लामधर्म भी अमुक अश मे अपने साथ अहिंसा की दृष्टि को ले कर चला है ।

---

१६ प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन गन्तव्य बुद्धिमद्भिर्महात्मभि ॥
—महाभारत–अनुशासनपर्व, २१५।१६

१७ नहि प्राणात् प्रियतर लोके किञ्चन विद्यते ।
तस्माद् दया नर कुर्यात् यथात्मनि तथा परे ॥
—महाभारत–अनुशासनपर्व, ११६।८

१८ अभय सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापर ।
अभय तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम ॥
—महाभारत–अनुशासनपर्व, ११६।१३

१९ अहिंसा सकलो धर्म । —महाभारत-शान्तिपर्व ।

२० व मन् अहया हा अकअन्नया अह्यन्नास जमीअन ।
—कुरानशरीफ ५।३५

ईसाईधर्म मे अहिंसा-भावना

महात्मा ईसा ने कहा है कि—"तू तलवार म्यान मे रख ले, क्योकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सब तलवार से ही नाश किये जायेंगे।"[२१] अन्यत्र भी बतलाया है—"तुम अपने दुश्मन को भी प्यार करो और जो तुम्हे सताते हैं, उनके लिए भी प्रार्थना करो। यदि तुम उन्ही से प्रेम करो, जो तुमसे प्रेम करते है, तो तुमने कौन मार्के की बात की?"[२२] इतना ही नही, वरन् अहिंसा का वह पैगाम तो काफी गहरी उडान भर बैठा है। "अपने शत्रु से प्रेम रखो, जो तुमसे वैर करें, उनका भी भला सोचो और करो। जो तुम्हे शाप दे, उन्हे आशीर्वाद दो। जो तुम्हारा अपमान करे, उसके लिए प्रार्थना करो। जो तुम्हारे एक गाल पर थप्पड मारे, उसकी तरफ दूसरा गाल भी कर दो। जो तुम्हारी चादर छीन ले, उसे अपना कुर्ता भी ले लेने दो।[२३] ईसा का यह सदेश अहिंसा का कितना बडा उदाहरण है! "यदि तू प्रार्थना के लिए धर्ममन्दिर मे (चर्च) मे जा रहा है, उस समय तुझे याद आ जाय कि अमुक व्यक्ति से खटपट या अनबन है तो वापिस लौट जा और विरोधी से अपने अपराध की क्षमायाचना कर। अपने अपराधो की क्षमायाचना किये बिना तुझे प्रार्थना करने का अधिकार नही है।"

यहूदीधर्म मे अहिंसा-भावना

यहूदीमत मे कहा गया है कि—"किसी आदमी के आत्म-सम्मान को चोट नही पहुँचानी चाहिए। लोगो के सामने किसी आदमी को अपमानित करना उतना ही बडा पाप है, जितना उसका खून कर देना।"[२४]

"यदि तुम्हारा शत्रु तुम्हे मारने को आए और वह भूखा-प्यासा तुम्हारे घर पहुँचे, तो उसे खाना दो, पानी दो।"[२५]

"यदि कोई आदमी सकट मे है, डूब रहा है, उस पर दस्यु-डाकू या हिंसक शेर-चीते आदि हमला कर रहे हैं, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसकी रक्षा करें।" प्राणिमात्र के प्रति निर्वैरभाव रखने की प्रेरणा प्रदान करते हुए यह बतलाया गया है कि—'अपने मन मे किसी के भी प्रति वैर का दुर्भाव मत रखो।'[२६]

---

२१ मत्ती। —२।५।१।५२

२२ मत्ती —५।४५।४६

२३ लूका —६।२७।३७

२४ ता० बाबा मेतलिया —मेतलिया—५८ (ब)।

२५ नीति, —२५।२१ परमिदास

२६ तोरा —लैव्य व्यवस्था १६।१७

पारसी और ताओ धर्म में अहिंसा-भावना

पारसीधर्म के महान् प्रवर्त्तक महात्मा जरथुस्ट ने कहा है कि—"जो सबसे अच्छे प्रकार की जिन्दगी गुजारने से लोगो को रोकते हैं, अटकाते हैं और पशुओ को मारने की सिफारिश करते है, उनको अहुरमज्द बुरा समझते है।[२७] अत अपने मन मे किसी से बदला लेने की भावना मत रखो। बदले की भावना तुम्हे लगातार सताती रहेगी! अत दुश्मन से भी बदला मत लो। बदले की भावना से प्रेरित हो कर कभी कोई पापकर्म मत करो। मन मे सदा-सर्वदा सुन्दर विचारो के दीपक सँजोए रखो।"

ताओ धर्म के महान् प्रणेता—लाओत्से ने अहिंसात्मक विचारो को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि—"जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नही करते, उनके प्रति भी मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ।"[२८]

कनफ्यूशस-धर्म के प्रवर्त्तक कागफ्यूत्सी ने कहा है कि—"तुम्हे जो चीज नापसन्द है, वह दूसरे के लिए हर्गिज मत करो।"

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि श्रमण सस्कृति के मूल सस्थापक भगवान् ऋषभदेव ने अहिंसा का जो बीज बोया तथा अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने जिसे पल्लवित, पुष्पित एव फलित किया, उसे विश्व के समस्त धर्मों ने अपने धर्म के अन्तर्हृदय के रूप मे अगीकार किया। अत श्रमणसस्कृति की अमर देन—अहिंसा वह महान् शक्ति है, जो विश्व के समस्त धर्मो को पारस्परिक ऐक्य-सूत्र मे सबद्ध करने मे सहज समर्थ है। यह विश्व के समस्त धर्मों को श्रमणसस्कृति की महान् देन है।

आदिमयुग का मानव और जीवन मे अहिंसा का उदय

मानव-विकास के क्रमो पर आज की वैज्ञानिक दृष्टि सर्वप्रथम आदिमयुग पर जा टिकती है। आदिमयुग का मानव जगलो मे भटका करता था। जगली जानवरो का शिकार करना, उनके कच्चे-अधपके मास से क्षुधा-तृप्ति करना, तथा उनकी खालो को वस्त्र की जगह पहनना, यही प्राय उसका नित्य का जीवन था। आदिममानव का यह जीवनक्रम बताता है कि अपने से इतर किसी भी प्राणी का मूल्य उसके लिए कुछ भी न था। बस, कुछ मूल्य था तो इतना ही कि उन्हे मारकर अपनी क्षुधापूर्ति करना एव उनकी खाल को पहन लेना भर। तब के मानव को कहाँ यह पता था कि सभी प्राणी एक समान हैं, सभी हमारी तरह ही सुख-दु खो का अनुभव करते है, हमारी तरह ही दु खो से मुक्ति चाहते हैं और सुखो की कामना करते है।

---

२७ गाथा —हा० ३४, ३

२८ लाओ तेह किंग।

इतिहास इसका प्रमाण है कि ऋषि-परम्परा से पूर्व श्रमण-परम्परा ने मानव-मात्र को यह ज्ञान प्रदान किया कि—"मानव! जिस प्रकार तूने सुख एव शान्तिपूर्ण पथ से यात्रा करने के लिए मानव-तन पाया है, उसी प्रकार विश्व के समस्त प्राणी भी सुख एव शान्ति का जीवन चाहते हैं। अत जिस प्रकार तुम अपना अहित नही कर सकते, अपना अहित नही देख सकते, अपने लिए कतई पीडा एव दुःख नही चाह सकते—विश्व के अन्य सभी जीव भी अपने लिए ऐसा कुछ नही चाहते है। जीवन जीना है, तो क्या तामसिक वृत्तियो से ही जिया जा सकता है? क्या सात्विक वृत्तियाँ जीवन-विकास मे कोई बाधक है? क्यो नही मास-भक्षण की जगह अन्न से क्षुधातृप्ति की जाए? क्यो नही पशुओं की खाल की जगह कपास की कृषि के द्वारा वस्त्र तैयार करके, सर्दी-गर्मी एव लज्जा से अपने शरीर की रक्षा की जाए?"

मानव-जीवन के विकास का इतिहास आज भी इस बात को दुहरा रहा है कि श्रमण-सस्कृति ने इस प्रकार मानवमात्र को परिबोध देकर अहिंसा के सहारे मानव को मानव का जीवन-प्रदान किया। श्री दिनकरजी जैसे साहित्यकारो की दृष्टि मे मानव को पशु-जीवन से ऊपर उठा कर अहिंसा, दया, प्रेम एव सहानुभूति के मार्ग पर ला कर मानवता का निर्मल जीवन-प्रदान करने का प्रथम श्रेय भगवान् ऋषभदेव को ही मिलता है।

अहिंसा · जीवन की हर प्रवृत्ति का आधार स्तम्भ

अहिंसा श्रमण-सस्कृति—जैनसस्कृति—की विश्वसस्कृति को महान् देन है, ऐसा कहे तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। श्रमण-सस्कृति मे अहिंसा, जीवन एव धर्म की सबसे पहली कसौटी है, यानी अहिंसा के केन्द्र से ही श्रमण-सस्कृति का पहला चरण बढता है। जैनधर्म की उत्पत्ति का प्रथम सिद्धान्त ही अहिंसा-भावना है। पश्चात्, इस अहिंसा को भारत के अन्य धर्म एव सस्कृतियो ने भी एक भाव से हृदयगम कर लिया। आगे चल कर तो यह अहिंसा करुणा, प्रेम एव सहिष्णुता के रूप मे भारतीय सस्कृति का प्राण ही बन गई, जैनदर्शन का तो यह हृदय ही है। इसकी विशद व्याप्ति मे सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य आदि समस्त व्रतो का स्वत समावेश हो जाता है।[२९] श्रमणसस्कृति का मूलस्वरूप अहिंसा है और सत्य आदि उसका विस्तार है। ब्रह्मचर्य उसकी सयम साधना है, अस्तेय और अपरिग्रह उसका तप है।

जैनधर्म की छोटी से छोटी और बडी से बडी प्रत्येक साधना मे अहिंसा का जीवन-सगीत चलता है। आध्यात्मिक जीवन-निर्माण के लिए किये जाने वाले व्रत-

---

२९ अहिंसा-गहणे पच महव्वयाणि गहियाणि भवति।
सजमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उवग्गहे वट्टइ,
सपुण्णाय अहिंसाय सजमो वि तस्स वट्टइ।

—दशवैकालिक, चूर्णि १ अध्ययन

विधान मे पहला स्थान अहिंसा का है। एक जैन गृहस्थ हो अथवा साधु सर्वप्रथम अहिंसा की ही प्रतिज्ञा लेता है। यहाँ अल्पता और महत्ता को ले कर दोनो की अहिंसा मे यद्यपि महान् अन्तर है, तथापि अहिंसा की प्राथमिकता मे कोई अन्तर नही। इसका यह मतलब नहीं है कि जैनधर्म अहिंसा को ही महत्त्व देता है, दूसरे सत्य आदि व्रतो को नही।

यद्यपि सभी व्रत महान् और उपादेय है, किन्तु सबकी जड मे अहिंसा दिखाई पडती है। यदि अहिंसा है तो, सत्य भी टिकेगा, अचौर्य भी टिकेगा और ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की भावना भी टिक सकेगी। जीवन के जितने भी ऊँचे-ऊँचे नियम, व्रत, त्याग, प्रत्याख्यान, तप आदि है, उन सबमे अहिंसा का होना अनिवार्य है। जमीन पर ही कोई विशाल महल खडा हो सकता है। आधार के अभाव मे आधेय नही टिक सकता। सारे ससार का जो वैभव खडा है, वह भूमि के सहारे पर ही तो खडा है। इस रूप मे अहिंसा हमारी भूमि है। जहाँ अहिंसा है, वही करुणा, तप, सत्य, क्षमा, दया आदि सब कुछ टिक सकेगे। अहिंसा न हो तो कुछ भी टिकने वाला नही है।

तप के मूल मे भी अहिंसा हो

आपने दुर्वासा ऋषि का नाम तो सुना ही होगा ? वह एक महान् तपस्वी था, एक महान योगी था। उसकी तपस्या और योग-साधना से स्वर्ग का राजा इन्द्र भी भयभीत रहता था। तब क्या दुर्वासा ऋषि अहिंसक थे ? क्या उनका तप और योग अहिंसक था ? क्या ऋषि-मुनियो का यही कर्त्तव्य होता है कि अपनी तपस्या के बल पर वे दूसरो को पीडित करें एव भयभीत करे ? निश्चय ही नही, क्योकि क्रोध स्वय अपने आप मे एक महती हिंसा है। आपने सुना होगा कि किस प्रकार निर्दोष शकुन्तला को दुर्वासा ने अभिशाप दे डाला था। गीता मे कहा गया है कि जो स्वय किसी से न भयभीत हो, और न जो दूसरे को भयभीत करे, वही व्यक्ति सच्चा अहिंसक है।

तप के नाम पर स्वयं का उत्पीडन भी हिंसा है

प्राचीन युग मे कुछ साधक इस प्रकार की साधना किया करते थे, जिससे देह का दमन हो, और इन्द्रियो का उत्पीडन हो, पर वस्तुत यह धर्म की साधना नहीं थी। शरीर और इन्द्रिय ये तो साधन हैं। इनसे पाप भी किया जा सकता है और पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकता है। शरीर और इन्द्रियो की क्रियाओ मे पुण्य-पाप नहीं रहते। वे रहते है—मनुष्य के मन की सही और गलत वृत्तियो मे। अत. इन्द्रिय और शरीर को मारना नही है, बल्कि उन्हे साधना है। जरा विचार तो कीजिए कि मानव को जो शरीर, इन्द्रिय और मन अनन्त पुण्य के उदय से प्राप्त हुए हैं, वे पाप-रूप कैसे हो सकते है ? जब अन्य प्राणी का पीडन पाप है, तब स्वय का उत्पीडन भी पाप क्यो नहीं ? हिंसा क्यो नही ? जैनधर्म शरीर और इन्द्रिय के उद्देश्यहीन तपन को धर्म नही मानता है। वह तो मन के तपन को, परिमार्जन को ही धर्म मानता है।

सत्य वही, जो अहिंसा से अनुप्राणित हो

भगवान् महावीर ने सत्य को भगवान कहा है—'त सच्च खु भगव ।' लेकिन खेद है कि आज का मनुष्य उस सत्य-स्वरूप भगवान के साथ भी खिलवाड कर रहा है । सत्य की ओट मे झूठ बोल कर अपने स्वार्थ की सिद्धि मे लगा है । कुछ सत्य के दीवाने इस प्रकार के भी मिलते है, जो यह नही देखते कि जिस सत्य को हम बोल रहे है, उससे स्वय का, समाज का और राष्ट्र का हित होगा कि नही ? जो हित न साध सके वह सत्य कैसा ? सत्य वही है जो अपना और पराया दोनो का हित साधता है । मुझे स्मरण है, एक सज्जन, जो सत्य पर अत्यधिक बल देता था, सत्य बोलना उसके जीवन का उद्देश्य बन गया था । एक बार वह अपने पुत्र के साथ रेल मे बैठ कर कही जा रहा था । चलती गाडी मे उसने अपने लडके की ओर देखा तो उसे लगा कि यह तो गाडी मे बैठने के लिए पूरा टिकट लेने के योग्य हो गया है, आज इसका प्रात - काल का जन्म-दिन है, अत प्रात काल से यह आधे टिकट की काल-सीमा को पार कर गया है । पर, मैंने इसका आधा ही टिकट ले रखा है, यह सरकार की चोरी है । चोरी ही नही, यह मेरे लिए असत्य भी है । यह पाप है, मुझे इस प्रकार नही करना चाहिए था । मैने ऐसा किया ही क्यो ? उसने विचार किया कि मैं अभी इस लडके का पूरा टिकट ले कर सरकार की चोरी से मुक्त हो सकता हूँ । उसने जजीर खीच कर चलती गाडी को एक निर्जन एव विकट वन मे रोक लिया, जहाँ दिन मे भी चोर, डाकू और लुटेरे रहते थे । गाडी क्यो रुकी ? किसने रोकी ? सभी यात्रियो के मुख पर यही प्रश्न था । खोज-बीन करने पर पता लगा कि इस गाडी मे एक सत्यपालक सज्जन अपने पुत्र के साथ यात्रा कर रहे है, उसी ने गाडी को रोका है । सभी लोग कहने लगे कि यह कैसा नासमझ व्यक्ति है ? यह कैसा सत्य-प्रेमी व्यक्ति है ? अपने सत्य-पालन के प्रदर्शन के लिए हम सभी को इसने सकट मे डाल दिया है । सत्य बोलना, सत्य का पालन करना, और सत्य का प्रदर्शन करना, इसमे बडा अन्तर है ? मनुष्य का सत्य इस प्रकार का सत्य नही बन जाना चाहिए कि किसी के ऊपर सकट का पहाड टूट पडे । जिस सत्य से हिंसा और वैर की ज्वाला फूट निकलती हो, वह सत्य कभी सत्य नही हो सकता ।

भगवान् महावीर ने साधको को सम्बोधित करते हुए कहा था—कि तुम सत्य के उपासक हो, तुमको सर्वत्र सत्य की साधना करनी है, लेकिन कभी इस प्रकार का सत्य मत बोलो, जिससे किसी की आत्मा को कष्ट पहुँच सकता हो । विचार कीजिए, कोई सत्य का साधक मार्ग मे चला जा रहा हो, सामने से कोई शिकारी अपने शिकार का पीछा करता आ रहा हो । इस प्रकार की स्थिति मे यदि वह शिकारी उस साधक से पूछता है कि क्या तुमने किसी पशु को इधर जाते देखा है ? यही स्थिति गुण्डो द्वारा किसी सती-साध्वी का पीछा करने मे है, और निरपराध यात्रियो को लूटने और उनका अपहरण करने मे है । भगवान् महावीर कहते है—इस प्रकार की स्थिति मे साधक को

मौन रहना चाहिए। मौन रहने से समस्या का समाधान न होता हो तो दूसरे के प्राणो की रक्षा के लिए यदि असत्य भी बोला जाए तो वह मर्यादा मे है।[३०] तब वह असत्य भी सत्य ही है, असत्य नही। क्योकि उससे अहिंसा की रक्षा होती है। जिस सत्य से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का हित न हो, वह सत्य भी असत्य ही है। आज सत्य के नाम पर कैसे-कैसे नाटक रचे जाते है, और क्या कुछ किया जाता है, यह सब कुछ होते हुए भी कुछ व्यक्ति अपने को सत्यवादी मान बैठते हैं। पर क्या कभी विचार किया कि ओघसज्ञा से सत्य बोलना एक अलग बात है, और सत्य को ठीक तरह समझ-परख कर उसे जीवन मे उतारना, एक अलग बात है। जब तक मन, वाणी और कर्म मे सत्य की त्रिपथगा अवतरित न हो, तब तक जीवन पवित्र और पावन नही बन सकता। भगवान् महावीर ने तो स्पष्ट ही कहा था कि—विचार के सत्य को वाणी मे उतरने दो और वाणी के सत्य को जीवन की धरती पर उतरने दो, तभी मानव-जीवन निर्दोष बन सकेगा।

दयास्वरूपिणी महानदी अहिंसा

गगा जैसी महानदी जब बहती है और उसकी विराट् धाराएँ जब लहराती हुई चलती है तो उसके किनारो पर घास खडी हो जाती है, हरियाली लहलहाने लगती है, अनेकानेक बडे-बडे वृक्ष भी उग आते है, और यदि निरन्तर पोषण मिले तो ऊँचे-ऊँचे वृक्ष तो क्या, सघन वन भी खडे हो जाते है। पर ऐसा कब और कैसे होता है ? जब पानी की धारा वहाँ तक पहुँचती है। नदी के पानी की धारा प्रत्यक्ष मे उन्हे सीचती तो नजर नही आती, किन्तु उसके जलकण अन्दर ही अन्दर सब को तरी पहुँचाते है, वृक्षो को हरा-भरा करते है, पोषण देते है और वे वृक्ष विस्तार पाते है। यदि नदी सूख जाएगी तो हरियाली कब तक ठहरेगी ? वह भी सूख जाएगी और समाप्त हो जाएगी। निसर्ग का वह सुन्दर और मनोरम विशाल-वैभव नष्ट हो जाएगा, स्थिर नही रह सकेगा। इसी प्रकार दया की महानदी भी यदि हमारे अन्त करण मे बहती रहेगी, वचन मे और काय मे भी उसका सचार होता रहेगा, तो दूसरे व्रत भी अपने आप पनप उठेंगे।[३१]

अहिंसा एव दया के साधक का मन शुद्ध भावना से परिपूर्ण हो कर प्रत्येक प्राणी के लिए करुणा का भडार बन जाता है। अपनी ओर से किसी को कष्ट देना तो दर-किनार रहा, दूसरे की ओर से भी यदि किसी पर कष्ट होता हुआ देखता है, तब भी उसका हृदय करुणा से छलछलाने लगता है। मुँह से कुछ भी बोलता है तो अमृत छिडक देता है। क्या मजाल कि कभी मुँह से गाली निकल जाए ? कडवी

---

३० आचाराग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध

३१ दयानदी-महातीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुरा।
तस्या शोषमुपेताया, कियन्नन्दन्ति ते चिरम्॥

बात तो उसकी जीभ पर कभी आ ही नही सकती। जहाँ अहिंसा और करुणा की धाराएँ जीवन के कण-कण मे बह रही हो, वहाँ विकार का जहर आएगा कहाँ से? वहाँ से तो अमृत की ही बूँद टपकेगी। यदि कहीं जहर निकल रहा है, तो समझ लेना चाहिए कि उस स्रोत के मूल मे अमृत की कमी है।

अहिंसा के साधक की वाणी पर दया का झरना बहता है। जब वह बोलता है तो ऐसा मालूम पडता है कि दुखिया के मन को वाणी द्वारा ढाढस मिल रहा है। दुखिया उसकी वाणी सुनने के बाद अपना दु ख भूल जाता है। साधक की वाणी लगी हुई चोट मे मरहम का काम करती है। वह अमृत-रस से छलकती हुई वाणी ससार का कल्याण करने के लिए सदैव तैयार रहती है। वह साधक बच्चो से, बूढो से, नौजवानो से, बहिनो से, घर मे और घर से बाहर भी सबसे आदर और प्रेम के साथ बोलता है। साधक को यदि अमीर मिलता है तो उसी भाव से, और यदि झाड़ू देने वाला भगी सम्मुख मिलता है, तो उसके साथ भी उसी समानभाव से उसकी वाणी बहती है। उस वाणी मे दया और प्रेम का सोता बहता है, उससे मानो फूल झडते है। इस प्रकार अहिंसा की वह धारा शरीर से बहती है, वाणी से बहती है, और मन से बहती है।

सयम के बिना अहिंसा असम्भव

भगवान् महावीर ने कहा है—

"अपने हाथो को सयम मे रखो, उन्हे अनुचित कार्य के लिए छूट मत दो। इन हाथो पर तुम्हारा पूरा नियत्रण और पूरा अधिकार होना चाहिए। जब ये हाथ बेकाबू हो जाते है तो अनुचित की ओर बढते है, और स्व-पर के विनाश मे निमित्त बनने लगते है। इसलिए इन्हे सदा काबू मे ही रखो। यदि इन्हे असयत होने दिया तो इनमे शूल चुभेंगे और व्यथा होगी, और उस व्यथा से सारे शरीर मे उत्पीडन पैदा हो जाएगा। इससे आत्म-हिंसा तो होगी ही, साथ ही दूसरे मूक जीवो को और कीडो-मकोडो को भी ये कुचल डालेंगे। वाणी को भी सयम में रखो। यदि इसे बे-लगाम होने दिया, तो यह दूसरो के कानो मे शूल हूल देगी और न जाने क्या-क्या अनर्थ पैदा करेगी! इन्द्रियो को भी सयम मे रखो। यदि इन्हे निरकुश हो जाने दिया, तो समझ लो कि जीवन नौका व्यसनो के प्रवाह मे बह कर एक दिन विनाश के भँवर मे जा गिरेगी, और मानव-जीवन का अनमोल महत्व धूल मे मिल जाएगा।[३२]

यह मन, वचन और काय की अहिंसा है। जो साधक अहिंसा का व्रत लेता है—मन, वचन और शरीर से लेता है। वही सच्चा साधक कहलाने योग्य होता है। यह नहीं हो सकता कि मन के अन्दर तो सोच रहा हो अहिंसा, और मन के बाहर वाणी से ससार मे आग लगाने का दुस्साहस करे। भला यह कैसा अहिंसक होगा जो

---

३२ हत्थसजए पायसजए वायसजए सजइदिए। —दशवैकालिक, १०, १५

वाणी तथा काया से तो बाहर मे हिंसा करे, और जग मे यह ढिंढोरा पीटे कि मेरे तो मन मे अहिंसा है ? अतएव अहिंसा-व्रती साधक के लिए यह परम आवश्यक है कि उसकी अहिंसा—मन, वचन और शरीर के रूप मे त्रिपथगामिनी हो । तभी वह अहिंसा का सच्चा आराधक माना जायेगा ।

त्रिपथगामिनी अहिंसा

कहते हैं, गगा त्रिपथगा है—त्रिपथगामिनी है, अर्थात्, वह तीन राह से होकर बहती है । पौराणिक ग्रथो मे इसे त्रिपथगामिनी कहा गया है । पुराने टीकाकारो ने इसकी बडी लम्बी-चौडी व्याख्या की है । परन्तु ऐसा लगता है कि तीर जिस जगह लगना चाहिए था, वहाँ नही लगा है । वे त्रिपथगामिनी का अर्थ करते है कि गगा की एक धारा पाताललोक मे, दूसरी धारा मर्त्यलोक मे और तीसरी धारा स्वर्गलोक मे बहती है । यह विश्व तीन लोको मे विभाजित है—पाताल, ऊर्ध्व और मध्य । अस्तु, गगा तीनो लोको के कल्याण के लिए बहती है । बेचारे पाताललोक के निवासी यहाँ कैसे आ सकते हैं ? तो गगा की एक धारा पौराणिक टीकाकारो ने उनके लिए वहीं भेज दी । इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक वालो पर दया करके गगा की एक धारा ऊर्ध्वलोक मे भी पहुँचा दी गई । मध्यलोक मे तो वह है ही । मगर है उसकी तीन धाराओ मे से एक ही धारा ! इसीलिए उसे त्रिपथगामिनी कहा है ।

'त्रिपथगामिनी' विशेषण की यह कैसी शोचनीय छीछालेदर की गई है ! पडित स्थूलगगा से चिपट गए, और बस अपनी कल्पना के घोड़े दौडा दिए । खैर, जो भी कुछ हो, किन्तु अहिंसा की यह त्रिपथगामिनी गगा तो वस्तुत तीनो लोको मे बहती है । यह मानव-जीवन या इन्सानी जिन्दगी तो एक विराट् दुनिया है, एक विशाल लोक है ! उसके विषय मे ऐसा कहा जाता है—

"जो पिण्ड मे है वही ब्रह्माण्ड मे है, और जो ब्रह्माण्ड मे है, वही पिण्ड मे है । जो पिण्ड मे मालूम कर लिया गया है, वह ब्रह्माण्ड मे मिल जायेगा ।[३३]"

कृष्ण के जीवन-चरित्र मे एक अलकार आता है । कृष्ण-चरित्र के लेखक कहते हैं—

कृष्ण जब बच्चे थे, तो उन्हे मिट्टी खाने की आदत थी । प्राय बच्चे मिट्टी खा ही लिया करते हैं, और सूरदास ने कृष्ण मे भी इस आदत की घोषणा की है कि कृष्ण मिट्टी खाते थे और माता उन्हे रोकती थी । एक बार कृष्ण ने देखा कि घर मे मुझे कोई नही देख रहा है, और झट मिट्टी की डली उठा कर मुँह मे डाल ली । अचानक उसी समय यशोदा आ पहुँची और मुँह पकड लिया कि क्या कर रहे हो ?

---

३३ "यत् पिण्डे, तद् ब्रह्माण्डे ।
यद् ब्रह्माण्डे, तत् पिण्डे ।।"

कृष्ण ने बात को हँसी मे उडाते हुए कहा—'कुछ नही ।'

यशोदा ने मुँह खोलने को कहा । कृष्ण ने मुँह खोला तो माता को मुँह मे सारा विश्व दिखाई दिया । वहाँ चाँद, सूरज और चमकते हुए तारे दिखाई दिए । वन, पर्वत, सागर और बडे-बडे नगर भी नजर आए । तब यशोदा ने सोचा—यह पुत्र नही, भगवान् है ।

यह तो अलकार की बात है, रूपक अलकार है । इसका असली मतलब यह है कि नन्हे से बालक के अन्दर भी विश्व की विराट् चेतना छिपी पडी है । उसकी आत्मा के अन्दर भी अनन्तशक्ति का अजस्रस्रोत बह रहा है । इसी प्रकार एक बूढा, जो मौत की शय्या पर पडा जीवन की अतिम घडी गिन रहा है, उसकी आत्मा मे भी अनन्त शक्तियाँ है । यद्यपि यह कहानी काल्पनिक है, तथापि इसके आधार पर भागवतकार बताना चाहता है कि यदि ब्रह्माण्ड मे देखने चलोगे, तो वहाँ क्या मिलेगा ? जो देखना है, वह आत्म-ब्रह्माण्ड मे देखो । यदि गगा को देखना हो, तो अपने अन्तःस्थल पर देखो , यदि चाँद और सूरज देखने हो, तो अपने अन्दर ही देखो । अधिक क्या, जो भी महान् विभूतियाँ देखनी हो, वे सब आत्मा के पुनीत पट पर चित्रित हैं ।

गगा की धारा—अहिंसा-गगा की धारा है । पुराने टीकाकार भटक गए । वे तीनो लोको मे पानी की धार को तलाश करने लगे । लेकिन अहिंसा-गगा की धारा तीन मार्गों पर बहती है । यदि स्थूलगगा मे नहा भी लिए, तो शरीर के ऊपर का मैल भले ही साफ हो जाय, किन्तु ऐसे गगा-स्नान से पाप नही धुल सकते । यदि पापो को धोना है, तो आत्मा मे जो अहिंसा की अमृत-गगा बह रही है, उसी मे स्नान करना होगा । तभी कल्याण सुनिश्चित है ।

अहिसा की वह अमृत-धारा तीन रूप मे बह रही है । इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है कि "मनुष्य का यह विराट् जीवन—मन का लोक, वचन का लोक और शरीर का लोक है ।" इस प्रकार मानव-जीवन तीन लोको मे विभक्त है, यह त्रिलोकी है । इसके अन्दर बसने वाले राक्षस बन रहे हैं, पशु बन रहे है और अहिंसा अमृत को पीने वाले देवता भी बन रहे है, और इस तत्व-ज्ञान का पान करने वाले कोई-कोई भगवान् भी बन रहे हैं । जो व्यक्ति उस त्रिलोकी के अन्दर अहिंसा की गगा नही बहा रहा है, जिसने अहिंसा की ज्ञान-गगा मे स्नान नही किया है, गहरी डुबकियाँ नही लगाई हैं तथा जिसकी आत्मा अहिंसा की धारा मे नहीं बही है—उसने बाहर से इन्सानी चोला भले ही पहन लिया हो, किन्तु अपनी अन्दर की दुनिया मे वह हैवान बन रहा है । उसे न तो अपने आपका पता है, न अपने अमूल्य जीवन का ही पता है । वह वासनाओ मे भटक रहा है, फलत किसी समय कुछ भी अनर्थ करने को तैयार हो जाता है । इस तरह उसकी जिन्दगी ठोकरें खा रही है, वह जगली और हिंसक जानवरो की तरह बन रही है । जो एक प्रकार से राक्षस की जिन्दगी है ।

अन्तर्जीवन की अमृतगंगा

मानव-जाति के इस विराट् जीवन मे न मालूम कितने राम और कितने रावण छिपे पड़े हैं ! वे कही बाहर से नही आते, बल्कि अन्दर ही पैदा होते हैं । भारतवर्ष के सन्तो ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि इस आत्मा को, जो अनादिकाल से रावण के रूप मे राक्षस और पशु रहा है, यदि इन्सान बनाना है, देवता बनाना है और भगवान् बनाना है, तो अहिंसा की जो पतित-पावनी ज्ञान-गगा बह रही है, उसमे स्नान कराओ । सब मैल-पाप दूर हो जाएगा । अहिंसा की ज्ञान-गगा मे कूदो । यदि अभिमान आता होगा तो स्वत नष्ट हो जाएगा । मोह, लोभ, माया आदि जो भी विकार तुम्हे तग कर रहे हैं , और इनका जो मैल मन एव मस्तिष्क पर चढ़ गया है, वह समूल नष्ट हो जाएगा । अन्तर्जीवन मे जो अमृत की धारा बह रही है, यदि उसमे डुबकी लगाओगे, स्नान करोगे—तो ससारी आत्मा से महात्मा, और महात्मा से परमात्मा बन जाओगे ।

मनुष्य के भीतर प्राय एक ऐसी मिथ्या धारणा काम करती रहती है कि वह समस्या का समाधान अन्दर तलाश नही करता, बल्कि बाहर खोजता फिरता है । जहाँ जख्म है, वहाँ मरहम नही लगाता, अन्यत्र लगाता है । यदि चोट हाथ मे लगी है, और दवा पैर मे लगाई गई, तो क्या असर होगा ? यदि सिर दुख रहा है, और हाथो मे चन्दन लगाया, तो क्या सिर का दर्द मिट जाएगा ? रोग जहाँ हो, वही दवा लगानी चाहिए । यदि दाहिने हाथ मे कीचड लगा है, तो बाएं हाथ पर पानी डालने से वह कैसे साफ होगा ?

अब देखना यह है कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकारो का मैल कहाँ लगता है ? यदि वह मैल कही शरीर पर लगता है, तब तो किसी तीर्थ मे जा कर धो लिया जा सकता है और वहाँ तक भी जाने की क्या जरूरत, कही आस-पास के किसी तालाब या नदी मे डुबकी लगा लेने से भी वह दूर हो जाएगा । जैनधर्म दृढतापूर्वक कहता है कि वह मैल आत्मा पर लगा हुआ होता है । अत दुनियाभर के तीर्थों मे क्यो भटका जाए ? सबसे बडा तीर्थ तो अपनी आत्मा ही होती है । क्योकि उसी मे अहिंसा और प्रेम की निर्मल धाराएँ बहती है । उसमे ही डुबकी लगा लगाने से पूर्ण शुद्धता प्राप्त होती है । जहाँ अशुद्धि है वहाँ की ही तो शुद्धि करनी है । जैन-दर्शन बडा आध्यात्मिक दर्शन है, और वह इतना ऊँचा भी है कि मनुष्य को मनुष्यत्व के अन्दर बन्द करता है । मनुष्य की दृष्टि मनुष्य मे डालता है । अपनी महानता अपने ही अदर तलाश करने को कहता है । व्यक्ति अपना कल्याण करना चाहता है, किन्तु प्रश्न उठता है कि कल्याण करे भी तो कहाँ करे ? यहाँ पर जैनधर्म स्पष्टत कहता है कि—जहाँ तुम हो, वही पर , बाहर किसी गगा या और किसी नदी या पहाड़ मे नही । आत्म-कल्याण के लिए, जीवन-शुद्धि के लिए या अदर मे सोए हुए भगवान् को जगाने के लिए एक इच भी इधर-उधर जाने की जरूरत नही है । तू जहाँ है, वही जाग जा और आत्मा का कल्याण कर ले ।

मोक्ष भी मानव के अन्तर मे है

कोई-कोई अजैन विद्वान परिहास करते हैं—जैनधर्म मे ४५ लाख योजन का मोक्ष माना गया है। कितना बडा विस्तार है ? इसमे एक ओर तो बडी-बडी दार्शनिक चर्चाएँ होती है तो, दूसरी ओर मोक्ष को इतना लम्बा-चौडा माना गया है कि जिसकी कोई हद नही। किन्तु कहा जा मकता है कि इतने बड़े की जरूरत भी है। मोक्ष तो इन्सान के लिए माना गया है और जहाँ इन्सान है, वहाँ मोक्ष भी है। यदि इन्सान का कदम भू-मण्डल पर ४५ लाख योजन तक, तो ऊपर मोक्ष भी ४५ लाख योजन लम्बा-चौडा है। मोक्ष तो इन्सान को ही मिलना है। जब इन्सान आत्मशुद्धि कर लेता है तो सीधा मोक्ष मे पहुँच जाता है। उसे एक इच भी इधर-उधर नही होना पडता। अतएव जहाँ व्यक्ति हो, वहीं बैठ जाए। जहाँ रहे, वही आत्म-गगा मे डुबकी लगा ले। क्योकि वहाँ अमृत की धारा बह रही है। वह जीवन-यात्रा मे सयम और साधना की ओर जितना अधिक से अधिक अग्रसर होता है, उतना ही मोक्ष के निकट होता जाता है। इस प्रकार वह मैल धो कर निमल हो जाता है और धुलते-धुलते जब मैल का आखिरी कण भी धुल जाता है तो वही पर मोक्ष भी पा लेता है यह कोई बनावट नही है, बल्कि सार्वभौमिक सत्य है।

मोक्ष किसको मिल सकता है ? क्या ऊँट, घोडे या राक्षस को मिल सकता है ? नही। वह तो केवल मनुष्य को ही मिल सकता है। अत जहाँ मनुष्य है, वही मोक्ष भी है।

आत्मशुद्धि भी अन्तर्गंगा मे डुबकी लगाने पर

जैनधर्म अपने आपमे इतना विराट् है कि वह गगा को अपने ही अदर देखता है, कही अन्यत्र जाने को नही कहता। सबमे बडी गगा उसके भीतर बह रही है, और वह तीन मार्गों से हो कर बहती है। अर्थात् वह मन के लोक मे, वचन के लोक मे और कर्म के लोक मे बह रही है। परन्तु उस गगा मे तभी डुबकी लगेगी, जब कोई लगाएगा। यदि हजारो तीर्थों मे स्नान कर भी आये, किन्तु अदर की गगा मे स्नान नही किया तो सब बेकार है। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा था—

'आत्मा नदी है। इसमे सयम का जल भरा है। दया की तरगें उठ रही है। सत्य का प्रवाह बह रहा है। इसके ब्रह्मचर्यरूपी तट बडे मजबूत है। इसी मे स्नान करना चाहिए। अहिंसा और सत्य की गगा मे स्नान करने से ही आत्मा की शुद्धि होती है। शरीर पर पानी डाल लेने से केवल शरीर की सफाई हो सकती है, परन्तु आत्मा कदापि स्वच्छ नही हो सकती।'[३४]

---

३४ आत्मा नदी सयम-तोयपूर्णा। सत्यावहा शील-तटा दयोर्मि ॥
तत्राभिषेक कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

जो बात कृष्ण ने पाण्डुपुत्र के लिए कही है, वही समस्त साधको के लिए उपयुक्त है। इसे हल करना चाहिए। पर, हल कहाँ हो सकता है ? क्या गली के नुक्कड पर बैठ कर, या जंगलो मे भटक कर ? नही, उसका हल तो जीवन के अन्दर ही मिल सकता है। शुद्धि की साधना अदर है और मूल शुद्धि भी अदर ही होती है। सबसे बडा इष्टदेव अदर ही बैठा है। दुनियाभर के देवता कही पर हो, किन्तु सबसे बडा आत्म-देव तो अदर ही मौजूद है। इसी इष्ट देवता की उपासना मे तल्लीन हो कर, जब तक अदर का पाप नही धोया जाता, तब तक बाहर के देवताओ से कुछ भी लाभ प्राप्त नही हो सकता।

सबसे बडी गगा हमारे ही अदर बह रही है। अहिंसा और सत्य की गगा हमारी नस-नस मे प्रवाहित हो रही है। अहिंसा की इस गगा मे स्नान किए बिना जीवन की पवित्रता कभी मिलने वाली नही। जैनधर्म, बौद्धधर्म, वैदिकधर्म या ससार के किसी और धर्म को देखा जाये, इनमे देश-काल और परिस्थितियो के प्रभाव से कुछ गलतफहमियाँ मिल सकती हैं, किन्तु अहिंसा की आवाज सभी धर्मों मे एक-सी सुनाई देती है। सब का स्वर एक ही निकलता है—अहिंसा से ही कल्याण हो सकता है। इस सम्बन्ध मे हमारे यहाँ कहा जाता है कि जब नदी बहती है तब तो किनारो पर, आसपास हरियाली छा जाती है, और जब वह नदी सूख जाती है तो आसपास की हरियाली भी सूख जाती है। इसी प्रकार हमारे मन, वचन और शरीर मे से भी यदि अहिंसा की धारा बह रही है—तो सत्य भी फला-फूला रहेगा, अस्तेय भी, ब्रह्मचर्य भी, श्रावकपन और साधुपन भी हरा-भरा रहेगा।[३५] यदि अहिंसा की नदी सूख गई और उसका प्रवाह बन्द हो गया तो—सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी धर्म सूख जायेंगे। न श्रावकपन रहेगा, न साधुपन बचेगा। यदि इन सब धर्मों को हरा-भरा और जीवन को सुन्दर एव सौरभमय देखना है, तो अहिंसा की त्रिपथगामिनी दिव्य गगा को मन, वचन एव कर्म के पथ पर अविश्रान्त गति से बहने दिया जाए। ☆

---

३५ दयानदी-महातीरे सर्वे धर्मास्तृणाकुरा ।

अहिंसा का आध्यात्मिक आधार | २

मनुष्य-जीवन के दो पहलू है—एक शरीर और दूसरा आत्मा। जो शरीर-विज्ञान को जानने वाले होते है, उन्हे शरीर का विश्लेषण करने पर मांस, मज्जा, रक्त, शिराएँ, मस्तिष्क इत्यादि का पता चलता है। हृदय एक यन्त्र है, जो इस शरीर-पिण्ड का सचालन करने वाला है, यह भी शरीरशास्त्री बताते है। पर, इसके अतिरिक्त जो दूसरा पहलू है—वह आत्म-दृष्टि का है। भारतीय चिन्तन जब मनुष्य के विश्लेषण की गहराई मे जाता है, तब वह बतलाता है कि शरीर के अन्दर एक ऐसा आत्मतत्त्व है, जो हृदय, बुद्धि और मस्तिष्क को आलोकित करता है। इस रक्त-मॉस के ढेर मे भी वह एक आलोक स्तम्भ है। मनुष्य केवल हृदय और मस्तिष्क मे एक सूक्ष्म चेतना है, जिसमे करुणा व स्नेह का वास है। वही मनुष्य का वास्तविक रूप भी है। यदि मनुष्य के हृदय मे जीवन का प्रवाह न हो, करुणा और स्नेह की स्रोतस्विनी न हो, तो मधुर पारिवारिकता टूट-टूट कर बिखर जाए, सामाजिक आत्मीयता खण्ड-खण्ड हो जाए। इस हृदय मे राष्ट्रीयता और विश्ववत्सलता का निवास है। राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर की चिन्तनधारा इस आत्मा और हृदय के स्नेह-सरोवर से ही निकलती है।

हृदय का धर्म

हृदय समस्त मानवीय भावनाओ का केन्द्र है। अहिंसा क्या हड्डियो का धर्म है? नही, वह तो हृदय का धर्म है। हृदय मे प्रवाहित होने वाला स्नेह के अजस्र-स्रोत का ही विराट् रूप अहिंसा कहलाता है। प्रेम, सहानुभूति, करुणा—ये सब उसी की विभिन्न धाराएँ है। इनमे भावना एक ही है, शब्दो की विविधता है। भारतीय शास्त्र शब्दो के भण्डार हैं, क्योकि उनमे भावो का भण्डार भरा है। इन शास्त्रो मे एक ही भाव को बताने के लिए हजारो शब्दो का प्रयोग किया गया है। एक ही भावना के अनन्त पहलू होते है। कभी किसी पहलू पर जोर दिया गया और कभी दूसरे पर। इस तरह हृदय की अनन्त भाव-भगिमाओ के वर्णन म शब्दो का विशाल भण्डार भर गया। हृदय के एक प्रकार के स्नेह का नाम "माता" है तो दूसरे प्रकार के स्नेह का नाम पिता' है। इसी प्रकार पति-पत्नी भाई और बहन इत्यादि के स्नेह एक ही भाव को अलग-अलग शब्दो मे प्रकार अभिव्यक्ति देते हैं। पर मानव की मधुरता इन सबके पीछे झलकती है। चाहे उस मधुरता का नाम कुछ भी लिया जाय। यह मधुरता ही अहिंसा है, करुणा है और दया है। जब सोई हुई आत्मा जागृत हो जाती है, घृणा और द्वेष का पर्दा फट जाता है। अहकार की चट्टान चूर-चूर हो जाती है और प्रेम का झरना फट पडता है, तभी

अहिंसा और दया का रूप प्रकट होता है। ओ मानव ! तुम कहीं भी रहो, कैसे भी रहो ! परन्तु तुम्हारे हृदय का प्रेम निरन्तर बहता रहना चाहिए। यह पावन स्रोत कही सूख न जाय। तुम मे यदि स्नेह नही रहेगा, तो कुछ भी नही रहेगा। फूल सुगन्ध और रग से तभी सुन्दर मालूम देता है, जब तक उसमे जलतत्त्व है। इसी तरह तुम मे तभी तक आकर्षण रहेगा, जब तक सहृदयता का झरना बहता रहेगा, जब तक दूसरे के दु ख को अपने दु ख के समान समझते रहोगे और जब तक दूसरे के जीवन को अपना ही जीवन समझोगे। यदि हृदय मे सवेदना नही है, तो वहाँ मनुष्यता कैसे बसेगी ? आखिर राक्षस मे और मनुष्य मे अन्तर ही क्या है ? राक्षस भी मनुष्य जैसा दीखता है। पर, भावनाओ से और वृत्तियो से एक व्यक्ति राक्षस कहलाता है तथा दूसरा व्यक्ति मनुष्य कहलाता है। भारतवर्ष कहता है कि मनुष्य का शरीर होना ही पर्याप्त नही है, मनुष्य का मन होना चाहिए, मनुष्य की बुद्धि, वृत्ति और भावना भी होनी चाहिए। मनुष्य की दृष्टि मे एक विशेष प्रकार का वैशिष्ट्य होना चाहिए। उसका समाज के प्रति, पडौसी के प्रति, पशु पक्षियो के प्रति कैसा व्यवहार हो, यह स्वय उसका मन फैसला करता है।

प्रेम की गगा दूर तक बहाओ

ससार मे हर एक मनुष्य भागीरथ है। सुनते है—भागीरथ गगा लाये थे। उसी तरह हर एक मनुष्य प्रेम और करुणा की गगा लाता है। इसलिए वह भी भागीरथ के समान ही है। यह गगा मनुष्य के हृदय मे से निकलती है। बुद्ध, महावीर, राम, कृष्ण, ईसा आदि ने इसी स्नेहगगा की तीव्र धारा प्रवाहित की। किन्तु कुछ छोटे भागीरथ ऐसे भी हैं, जो आगे नही बढ पाते और गगा बीच मे ही अटक जाती है। कुछ लोगो के शरीर मे ही यह गगा अटक कर रह गई, यानी शरीर से बहुत प्रेम है। अपने शरीर के प्रति वे लोग पूरा ध्यान रखते हैं। कुछ लोगो की गगा आगे बढी और परिवार तक आ कर अटक गई। माँ-बाप, पति-पत्नी आदि तक ही स्नेह सीमित हो गया। पडौसी चाहे जैसी स्थिति मे क्यो न हो, उन्हे कुछ पता नही होता है। पडौसी के घर से अपने घर की दीवार जरूर मिलती है, किन्तु मन से मन नही मिलता है। वह गगा बहुत सकुचित सीमा मे बँध गई है। कुछ लोग तो इतने सकुचित हो जाते हैं कि अपने परिवार के स्वार्थ के लिए या पुत्रादि को बचाने के लिए देवी-देवताओ के आगे पशु-पक्षियो का बलिदान तक करने को तैयार हो जाते हैं। कुछ लोग पुत्रप्राप्ति के लिए भी इस तरह की निर्मम और निर्दय प्रक्रियाएँ कर बैठते है, जिन्हे सुन कर आत्मा मे सिहरन-सी होती है। इसका मतलब यही हुआ कि स्नेहगगा परिवार तक सीमित रह गई। आगे नही बढ पाई। कुछ लोगो की यह स्नेहगगा और आगे बढी, पर मनुष्य तक आ कर रुक गई। यह ठीक है कि जितना उत्तरोत्तर विकास होता है, उतना अच्छा है। हम उस विकसित भावना का आदर करते है। किन्तु करुणा और प्रेम का स्रोत अजस्र तथा अबाध गति से बहते रहना चाहिए। भला, इसमे सीमा को

स्थान कहाँ है ? हृदय मे स्नेह और करुणा लबालब भरी होनी चाहिए । उसका बहाव शरीर, परिवार या पडौसी तक रुकना नही चाहिए । पशु-पक्षी और जड-जगत् तक उसका विस्तार होना चाहिए । भारतीय ऋषि गाय के अमृतोपम दूध और बैल की उत्पादनशक्ति की उपादेयता को लक्षित करके गाय को माता और बैल को पिता का स्थान देते है । यह कितना ऊँचा आदर्श है ? वह ऋषि अपनी माता और गौमाता मे कोई अन्तर नही देखता । हमारे यहाँ बन्दर को भी हनुमान का प्रतीक माना गया है । हमारे प्रेम का पात्र केवल मनुष्य ही नही, बल्कि विराट् सृष्टि के समस्त तत्त्व उसके पात्र हैं ।

अद्वैत की दृष्टि

आज हृदय सूखा-सा नजर आता है । हमारे ऋषि-मुनियो और बुजुर्गों ने लकीर के फकीर बन कर कोई काम नही किया । उन्होने नई-नई रेखाएँ खीची, नये-नये मार्ग बनाए, नये-नये सिद्धान्त रचे, उन्होने हर आत्मा मे भगवान् के दर्शन किये । कहा भी है—

"यस्मिन् शरीरे आत्मैव पश्यति"

वेद का ऋषि सृष्टि के समस्त प्राणियो का प्रतिबिम्ब अपनी ही आत्मा मे ही देखता है, कितना उदात्त दृष्टिकोण है ! विश्व को अपनी आत्मा मे और अपनी आत्मा को सम्पूर्ण विश्व मे देखना मन की कोमल करुणा का ज्वलन्त उदाहरण है । वह ऋषि सकीर्णता की कैद को तोड कर समस्त बन्धनो और सीमाओ को लाँघ कर व्यापक विश्व का दर्शन करता है । मेरी आत्मा कुछ अलग है, उससे मुझे कुछ प्यार है, जब तक ऐसी भावना रहेगी, तब तक अद्वैत नही उडेगा । छोटे-छोटे हजारो स्रोत मिल कर गगा का विशाल रूप धारण करते है । गगा, अलग और छोटे-छोटे स्रोत अलग, ऐसा भेदभाव वहाँ नही चल सकता है । अलग-अलग प्राणियो के सम्मिलन से विश्व का यह रूप दृष्टिगोचर होता है । तब भला व्यक्ति स्वय को सृष्टि से यानी समष्टि से कैसे अलग कर सकता है ? जो विश्व मे अपने को और अपने मे विश्व को देखता है, वह घृणा-द्वेष और सकुचित भावनाओ से ऊपर उठ जाता है । यह वेदान्त का चिन्तन मानव के लिए प्रेरणा का प्रतीक है । सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन का मूल-स्वर एक ही है । भले ही भाषाएँ अलग-अलग रही हो । भगवान् महावीर भी कहते है कि[१] 'समस्त जीव जीना चाहते हैं, जैसे कि मैं चाहता हूँ । विश्व के समस्त प्राणियो की यही इच्छा है, जो मेरी इच्छा है । सुख से रहना जैसे मुझे प्रिय है, वैसे ही सबको प्रिय है ।' जब अन्त करण मे ऐसा विशुद्ध कारुण्य भरा हो, तब द्वैत और वैर के लिए कहाँ गु जाइश रह जाती है ?

मांसाहार और क्रूरता

इस उदात्त करुणा के स्थान पर आज तो सकुचित करुणा भी नही है ।

---

१ "सव्वे जीवा वि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ"

मानव के प्रति जो सहज स्वमाविक स्नेह होना चाहिए, वह भी नही दीखता है। आज अखबारो के पृष्ठ हिंसा, हत्या, चोरबाजारी आदि के समाचारो से भरे रहते हैं। निहत्थी जनता पर सिपाही गोलियां चला देते है। आवेग और उन्माद मे भड़की हुई जनता सार्वजनिक स्थानो को नष्ट-भ्रष्ट करने मे अपना गौरव समझती है। यह अस्वस्थ सार्वजनिक जीवन देख कर हृदय कांप उठता है। इसी तरह व्यक्तिगत जीवन मे भी आए दिन हिंसा फूट पडती है। किसी से जरा-सी बात पर लड़ाई हुई तो जान का खतरा पैदा हो जाता है। जार्ज बनार्ड शा ने कहा था कि पश्चिम के देश भी इस दोष से मुक्त नहीं है। इस निर्दयता का एक मुख्य कारण मनुष्य का खान-पान और रहन-सहन भी है। मास खाने की वृत्ति से करुणा का बहुत कम सम्बन्ध है। पशु को निर्मम हो कर मारना-काटना और खाना—मानव की वृत्तियो पर बुरा असर डालता है। जब कोमल हृदय के बच्चे यह सब देखते है तो उनमे भी सहसा नृशसता और निर्दयता के अकुर फूट पडते है, उनमे क्रूरता के सस्कार बैठ जाते हैं। इसलिए बनार्ड शा ने कहा—"यदि पश्चिम क्रूरता के कष्टो से बचना चाहता है तो उसको अपनी करुणा का विचार पशुजगत् तक ले जाना होगा। करुणा की नीव गहराई मे ले जानी होगी, क्योकि सस्कारवश मानव पशु-पक्षी को निशाना बनाते-बनाते अपने पडौमी को मार देने मे भी सकोच या भय महसूस नही करेगा। जब हृदय क्रूर और सख्त हो जाता है, तब किसी भी तरह का निर्दय कृत्य करते समय मन में सकोच नही होता।"

हम लोग आये दिन डकैती की घटनाएँ पढते और सुनते है। जिन्होने डकैती का दृश्य कभी देखा है, उन्हे मालूम होगा कि उन डाकुओ के हृदय कितने कठोर और निर्मम होते हैं। अबोध बच्चो और अबला बहनो तक को वे किस क्रूरता से मारते है, यहाँ तक कि यदि कोई विरोध मे कुछ बोल गया अथवा अपनी रक्षा के लिए सामना कर बैठा तो उसे गोली का भी शिकार बनाते देर नही लगाते। आखिर उनका हृदय इतना क्रूर कैसे बना? यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। मानस-शास्त्रियो को भी इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर ढूंढना होगा। वास्तव मे इस क्रूरता का उद्गम-स्थान बाल्यावस्था मे कोमल-मन और मस्तिष्क पर असगत और अमानवीय सस्कार का पडना ही है। बचपन से ही, पशु-पक्षियो को मारने, उनके शरीर को अलग-अलग काट कर खाने मे आनन्द लेने की प्रवृत्ति का ही यह व्यापक परिणाम है।

कत्लखाने बन्द करो

भारतवर्ष मे अब तक हिंसा का ताण्डव होता रहा। लेकिन आज तो हम स्वतन्त्र है। अब हमे पवित्र सस्कारो के आधार पर समाज की पुनर्रचना करनी चाहिए। आजादी के बाद भी यदि हम देश का करोडो रुपया लगा कर बड़े-बड़े कत्ल-खाने खोलेंगे तो क्या इससे स्नेह और करुणा का विकास होगा? क्या इससे मानवता

का गौरव बढ़ेगा? यह कैसी विडम्बना है, एक ओर पहिनने के कपड़ो पर यदि खून का एक भी धब्बा लग जाय तो हृदय ग्लानि से बेचैन हो जाता है और उस खून के धब्बे को धो देने पर ही मन को शांति महसूस होती है। मन्दिर, मस्जिद आदि मे खून से सने कपड़े पहन कर जाना वर्जित माना गया है। इसी तरह रक्त से सने कपड़े पहन कर सभा-समाज मे बैठना भी अच्छा नही लगता, तब भला पशु-पक्षियो का मास खाना कैसे सभ्यतासूचक माना जायगा? प्रत्येक भारतीय नागरिक को अपने अतीत की याद करके सकल्प करना चाहिए कि वह इस क्रूरतापूर्ण हिंसा का विरोध करेगा। प्रत्येक व्यक्ति समस्त प्राणियो के लिए मगलकामना करे और विश्व को अभय दे। गीता मे कहा है कि—स्वय अभय रहो और दूसरो को भी अभय दो। स्वय आनन्द से जीओ दूसरो को आनन्द से जीने दो। केवल मनुष्य ही नही, पशुजगत् को भी आनन्द से जीने का अधिकार दो। आज बहुत से अर्थशास्त्री अपने किताबी ज्ञान और आँकड़ो के बल पर, यह तर्क पेश करते है कि निरुपयोगी पशुओ को मार दिया जाय तो अन्न की कमी दूर होगी, चारा बचेगा।

यह कैसा अर्थशास्त्र है ?

पर, मै वह अर्थशास्त्र नही चाहता, जो करुणा को खत्म करके चारे की रक्षा करे। यह कैसा बचत का अर्थशास्त्र है, जो निरीह प्राणियो के प्राणो पर हाथ साफ करने की इजाजत देता है? क्या घर के बूढ़े लोगो को इसलिए मार दिया जाय कि वे अब कोई काम नही कर सकते? वे केवल अनाज खाते है पर, उत्पादन नही करते? यह कोरा तर्कशास्त्र है, अर्थशास्त्र नही। अर्थशास्त्र मे भी मानवीय भावना एव सस्कारो का मूल्य अधिक है। यह सब समस्याएँ भावना से ही हल हो सकती है। वास्तव मे इस विशाल जगत् मे कोई भी चीज निरुपयोगी नही है। कुशल वैद्य के हाथ मे आ कर जहर भी अमृत बन जाता है। जब जहर जैसी चीज भी निरुपयोगी नही है, तब दूसरा कोई भी प्राणी निरुपयोगी कैसे हो सकता है? यह निरुपयोगिता का अर्थशास्त्र जिस मस्तिष्क मे पैदा हुआ है, वह मस्तिष्क ही कही निरुपयोगी तो नही हो गया है? एक बच्चे के लिए पैसा भी निरुपयोगी हो सकता है, पर क्या वास्तव मे पैसा निरुपयोगी है? यदि कोई उसका उपयोग करना न जाने तो उस वस्तु का क्या दोष है?

भगवान् महावीर के समय की एक कहानी है। जीवक वैद्य तक्षशिला मे विद्याध्ययन समाप्त कर स्नातक बने और गुरु की आज्ञा ले कर राजगृही चलने को तैयार हुए तो गुरु ने पूछा—"वत्स! तुम्हारा अध्ययन तो समाप्त हो चुका है, पर तुम्हे एक काम और करना है। यहाँ से चार-चार कोस चारो ओर घूमो तथा एक ऐसी चीज लाओ कि जिसका उपयोग औषधि के रूप मे न हो सके।" आज्ञा पा कर शिष्य गया। चारो ओर खूब चक्कर लगा कर गुरु के सामने खाली हाथ आ कर खड़ा हो गया। गुरु ने पूछा—"कहो वत्स! काम किया?" जीवक बोला—"गुरुदेव! मुझे अफसोस है,

मैं एक भी चीज ऐसी प्राप्त नही कर सका, जो औषधि के रूप मे काम मे न आए। ककर, पत्थर, गोबर इत्यादि सब चीजें औषधि के रूप मे काम मे लाई जा सकती हैं। ऐसी हालत मे मुझे खाली हाथ लौट कर आना पडा है, मुझे क्षमा करें। आचार्य अपने शिष्य का यह उत्तर श्रवण कर झूम उठे। उन्होने शिष्य को गले लगा लिया और बोले कि "जाओ वत्स! तुम जहाँ भी जाना चाहो, जाओ। तुमने चिकित्साशास्त्र का तत्त्व प्राप्त कर लिया है। अब सब जगह सफलता तुम्हारे चरण चूमेगी। इस विशाल सृष्टि के हर पौधे मे बीमारी को दूर करने की शक्ति है। केवल उसका सयोजन करने वाला दुर्लभ है। तुमने यह सयोजन करने का मन्त्र पा लिया है?[२] जाओ वत्स! सृष्टि का अमृततत्त्व ग्रहण करके सृष्टि को वापिस आरोग्य प्रदान करो।

कहने का आशय यह है कि दुनिया मे निरुपयोगी चीज कुछ नही है, इसलिये निरुपयोगिता की आड म हिंसा और क्रूरता को प्रोत्साहन देना अनुचित है।

मैं सारे देश और समाज के सामने बहुत ही नम्रतापूर्वक यह कहना चाहता हू कि अब द्वेष, हिंसा और वैर की भावना को खत्म करना अनिवार्य तथा व्यावहारिक कार्यक्रम बन गया है। यदि हम इस आवश्यकता को महसूस नही करेंगे तो टिक नही सकेंगे। अब हमे अपनी दृष्टि को बाहर से हटा कर अन्दर की ओर ले जाना होगा। अन्त करण को पवित्र एव स्नेहिल बनाना होगा। स्नेह वह सूत्र है जो अनन्त हृदयो को अपने मे पिरोये रहता है। वही हृदय कारुण्यपूर्ण है, जो मानव की अखण्डता को कायम रखता है। स्नेह और करुणा आत्मा का गुण है। आत्मा के इस पहलू को ठीक से समझ कर शरीर के माध्यम से जीवन-प्रवाह को नया मोड तथा नयी गति देना है।

---

२ 'अमत्रमक्षर नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्य पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभ ॥

अहिंसा का शाश्वतरूप . वृत्ति में अहिंसा | ३

अहिंसा के सम्बन्ध मे आज तक जितना लिखा गया है और कहा गया है, शायद ही किसी और विषय पर इतना लिखा गया हो या कहा गया हो। पर, इसके साथ ही जितनी भ्रान्तियां अहिंसा के सम्बन्ध मे आज तक हुई है, और किसी विषय मे नही हुई। इस विरोधात्मक स्थिति का एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कारण है। इसी कारण का मैं स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूँ।

अहिंसा की आत्मा

जो सूक्ष्म है, यदि उसे स्थूल बना दिया जाता है, तो उसकी आत्मा समाप्त हो जाती है। यही बात अहिंसा के सम्बन्ध मे भी हुई है। अहिंसा मात्र बाह्यव्यवहार का स्थूल विधि-निषेध नही है, बल्कि अन्तरचेतना का एक सूक्ष्म भाग है। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ ऐसी स्थिति बनती गई कि अहिंसा का सूक्ष्मभाव निरन्तर क्षीण होता गया और उसको स्थूल व्यवहार का, ओघबुद्धि से मात्र दिखाऊ विधि-निषेधो का रूप दे दिया गया। फलत अहिंसा की ऊर्जा और आत्मा एक प्रकार से समाप्त ही हो गई। जब किसी सिद्धात की ऊर्जा एव आत्मा समाप्त हो जाती है, तो वह निष्प्राण तत्त्व जीवन को तेजस्वी नही बना सकता। वह जीवन की समस्याओ का सही समाधान नही खोज सकता। वह स्वय ही एक दिन एक समस्या बन जाता है। क्या स्थूल व्यवहार से सम्बन्धित अहिंसा के सम्बन्ध मे भी ऐसा नही हुआ है? पिछली कितनी ही सहस्राब्दियो से हमने अहिंसा की महान् धर्म के रूप मे उद्घोषणा की है। अहिंसा को जीवन का परम सत्य मान कर उसकी उपासना की है। सामाजिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक जीवन की सुरक्षा का आधार अहिंसा को माना है, विश्वव्यापी सिद्धात के रूप मे हजारो वर्षों से अहिंसा को मान्यता दी है। हजारो वर्षों से पीढी दर पीढी इसकी चर्चा एव परिचर्चा होती रही है। परन्तु प्रश्न है, कहाँ है इन सबकी फल-निष्पत्ति? हम अब तक अहिंसक समाज की रचना क्यो नही कर पाए? इस प्रश्न के दो ही उत्तर हो सकते है। जिस अहिंसातत्त्व की हम बात करते है, वह केवल बौद्धिक व्यायाम बन कर रह गया है। ऐसा लगता है, जैसे वह काल्पनिक दुनिया का कोई अलौकिक तत्त्व है, जिसका धरती की दुनिया के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नही है। गलत समस्या के आसपास हजारो मस्तिष्क व्यर्थ ही उलझते रहे है और

आज भी उलझ रहे हैं। अथवा इसका दूसरा ही एक विकल्प है। वह यह कि अहिंसा स्वय तो एक जीवित जागृत तत्त्व है, जनकल्याणकारी है, पर उसको सही अर्थ मे हमने जाना नहीं है। ऐसा होता है कि कभी कभी बडी लम्बी कालयात्रा के बाद अच्छे से अच्छे सिद्धान्त धूमिल हो जाते है या धूमिल कर दिये जाते है। मैं इस प्रश्न का दूसरा उत्तर सोचता हूँ।

अहिंसा का सम्बन्ध हृदय के साथ

वस्तुत अहिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय के साथ है, मस्तिष्क के साथ नहीं है, तर्क-वितर्क के साथ नही है, कुछ बँधे-बँधाए विवेकशून्य विश्वासो के साथ नहीं है, विभिन्न शब्दो के जाल मे बधी और उलझी हुई भाषा के साथ भी नही है, बल्कि अन्तर्जीवन के साथ है, अन्दर की गहरी आध्यात्मिक अनुभूति के साथ है। अहिंसा की भूमि जीवन है। जब भूमि से वृक्ष का सम्बन्ध टूट जाता है, तो वह फिर हरा-भरा एव विकसित नही रह सकता। प्रवक्ता को अपनी बात साफ कहनी चाहिए, अत साफ और बेलाग कह रहा हूँ की अहिंसा भी जीवन से टूट चुकी है।[1] मूल से असपृक्त रख कर उसे किस प्रकार पल्लवित रखा जा सकता है? यही कारण है कि अहिंसा आज केवल स्थूल व्यवहार की क्षुद्र परिधि मे सीमित हो गई है। जनजीवन मे उसका रससचार क्षीण एव क्षीणतर हो गया है। और इस प्रकार अहिंसा के प्राणो की एक तरह से हत्या ही हो गई है।

अगर अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा करनी है, तो आवश्यकता है, अहिंसा को हम स्थूल व्यवहार की सकीर्ण परिधि से मुक्त कर व्यापक बनाएँ, जीवन की सूक्ष्म अनुभूति एव हृदय की गहराई तक उसे अवतरित करें।

वृत्ति मे अहिंसा ही अहिंसा का स्थायी रूप

निवृत्ति और प्रवृत्ति के मध्य मे वृत्ति है। वृत्ति का अर्थ है—चेतना का भाव। यही भाव मन को तरगित करता है। अहिंसा इन्ही उदात्त एव कल्याणकारी तरगो के आधार पर जीवन के स्थूल व्यवहारो व विधि-निषेधो के रूप मे प्रगट होती है। इसे ही हम प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते है।

धरती के समग्र आध्यात्मिक दर्शन व्यवहार के स्थूल विधि-निषेध के साथ अहिंसा का सम्बन्ध स्थापित नही करते है,[2] मानवमन की मूल पवित्र वृत्ति के साथ ही अहिंसा को सम्बन्धित करते हैं। यही वृत्ति जीवन है। यही अहिंसा का बीज है।

---

१ अज्झत्थ सव्वओ सव्व, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाण, भयवेराओ उवरए। —उत्तराध्ययन ६।७

२ जे य बुद्धा अतिक्कता, जे य बुद्धा अणागया।
सति तेसिं पइट्ठाण, भूयाण जगई जहा॥ —सूत्र. श्रु. १ अ ११ गा ३६

यही सब कुछ है। अगर यह नही है, तो कुछ भी नही है। अहिंसा के क्रान्तद्रष्टा ऋषि उक्त बीज की जितनी चिन्ता करते है, उतनी इधर-उधर के विधि-निषेधरूप फल, फूल और टहनियो की नही। बाह्य व्यवहार के आधार पर खड़े किये गये अहिंसा के विधि-निषेध देश, काल तथा व्यक्ति की स्थिति के अनुसार बदलते रहते है, मूल बीज नही बदलता है। किन्तु मध्यकाल के सामाजिक व्यवस्थापक, चाहे वे धार्मिक रहे हो या राजनीतिक, अहिंसा को उसकी मौलिक सूक्ष्मता से पकड नही सके है। निवृत्ति और प्रवृत्ति के स्थूल परिवेश मे ही अहिंसा को मानने और मनवाने के आसान तरीके अपनाते रहे और यथाप्रसग तात्कालिक समाधान निकालते रहे। किन्तु हिंसा की समस्या ऐसी न थी जो प्रचलित परम्परा के स्थूल चिन्तन से एव विधि-निषेध के भावहीन विधानो से समाधान पा जाती। वह नये-नये रूपो मे प्रकट होती रही और मानव-जीवन के सभी पक्षो को दूषित करती रही। यही कारण है कि हजारो वर्षों से समस्या समस्या ही बनी रही। कोई भी समाधान उभरते प्रश्नो को मिटा नही सका। यदि हम इधर-उधर के विकल्पो मे न उलझ कर अहिंसा की मूल भावना को समझने का प्रयत्न करें, तो आज भी अहिंसा के मूल केन्द्रस्वरूप आन्तरिक वृत्ति पर अहिंसक समाज की रचना हो सकती है। मै यहा स्पष्टरूप मे कह देना चाहता हूँ कि अहिंसा के आधार पर परस्पर सहयोगी समाज की रचना के लिए निवृत्ति और प्रवृत्ति के प्रचलित व्यामोह के ऐकान्तिक आग्रह को हमे क्षीण करना होगा, तभी हम मानव की आन्तरिक वृत्ति से सम्बन्धित अहिंसा के वास्तविक रूप को समझ सकेगे।

भय एव प्रलोभन पर आधारित अहिंसा स्थायी नहीं

अहिंसा का मर्म समझाते हुए मैंने कुछ लोगो को सुना है—'किसी को कष्ट मत दो, किसी के प्राणो का वध मत करो, किसी को रुलाओ मत। अगर तुम दूसरो को कष्ट दोगे, तो तुम्हे भी कष्ट भोगने होगे, अगर किसी को मारोगे, तो तुम्हे भी मरना पडेगा। अगर किसी को रुलाओगे, तो तुम्हे भी रोना होगा।' अपने दु खो की सभावना उन्हे पीडित कर देती है और इसी चिन्तनधारा मे दूसरो को परिताप पहुँचाने से अपने आपको बचाने की कोशिश करते है। इस उपदेश ने मनुष्य के मन मे एक भय की भावना पैदा की, जो स्वय अपने मे एक हिंसा है। उक्त स्थिति मे प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्थूल स्तर पर अहिंसा प्रकाशमान होती दिखने लगती है और हम इतने भर मे सन्तोष कर लेते है। परन्तु अन्य किसी प्रसग विशेष पर जब यह समझाया जाता है कि 'अपने दुश्मनो को समाप्त करो, स्वर्ग मिलेगा। यज्ञ मे पशुओ को देवताओ के लिए समर्पित कर दो, वे प्रसन्न हो कर तुम्हे सुख-समृद्धि देंगे। सघर्षरत प्रतिद्वन्द्वियो को परास्त कर दो, तुम्हे सम्मान मिलेगा, सम्पत्ति मिलेगी, पद मिलेगी।' इतिहास का हर विद्यार्थी जानता है कि इन प्रलोभनो ने मनुष्य से कितने क्रूर और भयानक कार्य करवाए है। प्रश्न है कि यह सब किस कारण हो सका है? स्पष्ट है कि भय के माध्यम से हिंसा का त्याग कराया गया था। ज्यो ही भय के स्थान पर प्रलोभन आ खड़ा हुआ कि

मानव गडबडा गया। प्रलोभन ने हिंसा को फिर से उत्तेजित कर दिया। प्रलोभन हिंसा को इसी कारण उत्तेजित कर सका कि हमने अन्तर्मन मे वृत्ति की हिंसा को छोडने के लिए उचित ध्यान नही दिया। अगर वृत्ति की अहिंसा जाग जाती है, तो दुनिया का कोई भी भय या प्रलोभन हिंसा को जन्म नही दे सकता। जो अहिंसा केवल स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति मे है, विधि-निषेध मे है, उसे साधारण-सा विरोधी वातावरण एव कारण भी समाप्त कर देता है। जन-जीवन मे उसका मूल स्थायी नही होता।

वृत्ति में अहिंसा का अर्थ

वृत्ति की अहिंसा का अर्थ है—जीवन की गहराई मे अहिंसा की भावधारा का सतत प्रवाहित होना। जो अन्दर की वृत्ति से अहिंसक है, वह किसी को मार नही सकता, किसी को कष्ट नही दे सकता, किसी के प्राणो का वध नही कर सकता। अर्थात् वृत्ति के अहिंसक होने मे हिंसा की योग्यता ही निर्मूल हो जाती है। यह अहिंसा मरणोत्तर स्वर्ग के लिए, सामाजिक एव पारिवारिक सुख-सुविधा के लिए या प्रतिष्ठा के लिए नही होती। वृत्ति के अहिंसक की स्वय ही यह सहज अवस्था हो जाती है कि वह हिंसा कर ही नही सकता, चाहे उसके लिए प्राप्त प्रतिष्ठा ही क्यो न खोनी पडे जीवन को दाँव पर ही क्यो न लगा देना पडे। उसके लिए अहिंसा स्वाभाविक हो जाती है। मुझे शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए, यह उसका सिद्धान्त नही होता, अपितु दुनिया मे उसका कोई दुश्मन ही नही होता। वह यह बात नही कहता कि अहिंसा की शिक्षा से हमे सबके प्रति द्वेष नही, प्रेम करना चाहिए, अपितु प्रेम के अतिरिक्त उसके पास करने को और कुछ होता ही नही। यह है वृत्ति मे अहिंसा, जो अहिंसा का शाश्वत और सर्वव्यापी रूप है।

अहिंसा की निष्ठा और भावना मे अन्तर

वृत्ति मे अहिंसा होगी तो अहिंसा की निष्ठा होगी। वही उसका सर्वग्राही रूप है। अहिंसा, करुणा और सत्य की धाराएँ तो हमारे जीवन मे बहती रहती हैं, भावनाएँ उमडती चली जाती है, पर जब तक अहिंसा और करुणा की निष्ठा जागृत नही होती, तब तक दर्शन नही बन पाता।

एक माता के हृदय मे पुत्र के प्रति जो करुणा और प्रेम का प्रवाह उमडता है, उसमे अहिंसा की धारा छिपी भले ही हो, पर उसे हम अहिंसा की निष्ठा नही कह सकते। उसकी करुणा के साथ मोह का अश जुडा हुआ है, व्यक्तिवाद जुडा है, इसलिए अनन्त-काल से करुणा का प्रवाह हृदय मे उमडते हुए भी उससे आत्मा का विकास नही हो सका, उत्थान नही हो सका।

बिल्ली जब अपने बच्चो को दाँतो से पकड कर ले जाती है तो एक दाँत भी उनके शरीर पर गडने नही पाता। क्या बात है कि जब वे ही दाँत चूहे पर लगते है तो रक्त की धारा बह चलती है, वह ची ची कर उठता है। इसमे क्या अन्तर आया?

भावना का ही तो अन्तर है ! भावना मे एक जगह प्रेम और ममता है, दूसरी जगह क्रूरता है । खूंखार शेरनी भी अपने बच्चो को प्यार से दुलारती-पुचकारती है, उन्हे दूध पिलाती है । किन्तु यह प्रेम की भावना दया और अहिंसा के रूप मे वहाँ विकसित नही हुई । इसलिए बिल्ली और शेरनी की ममता को अहिंसा का विकास नही कहा जा सकता, चूंकि वहा अहिंसा की दृष्टि नही है । जहाँ अहिंसा निष्ठा और श्रद्धा के रूप मे नही है, वहाँ वह बन्धन से मुक्त करने वाली नही बन सकती । अहिंसा का आदर्श वहाँ जागृत नही हो सकना । अहिंमा की भावना और सस्कार होना एक बात है और उसमे निष्ठा होना और बात है ।

अत अहिसा के बाह्यपक्ष पर ही मत उलझो । उसके हृदयपक्ष की ओर देखो ! अपने मस्तिष्क से उत्पन्न तर्क को हृदय की सहज-सरल सौहार्दपूर्ण भावनाओ के रस से सिंचित करो । फिर जो अहिंसा का रूप निखरेगा, वही यथार्थ और चिरस्थायी भी होगा ।

४ अहिंसा : विश्वशान्ति की आधारशिला

भगवान् महावीर का अहिंसाधर्म एक उच्च कोटि का आध्यात्मिक एव सामाजिक धर्म है। यह मानवजीवन को अन्दर और बाहर—दोनो ओर से प्रकाशमान करता है। महावीर ने अहिंसा को भगवती कहा है। मानव की अन्तरात्मा को, अहिंसा भगवती बिना किसी बाहरी दबाव, भय, आतक अथवा प्रलोभन के सहज अन्त प्रेरणा देती है कि मानव विश्व के अन्य प्राणियो को भी अपने समान ही समझे उनके प्रति बिना किसी भेद-भाव के मित्रता एव बन्धुता का प्रेमपूर्ण व्यवहार करे। मानव को जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना सुख अभीष्ट है, वैसे ही अन्य प्राणियो को भी अपना अस्तित्व तथा सुख प्रिय एव अभीष्ट है—यह परिबोध ही अहिंसा का मूल स्वर है। अहिंसा 'स्व' और 'पर' की, अपने और पराये की, घृणा एव वैर के आधार पर खडी की गई भेदरेखा को तोड देती है।

अहिंसा का धरातल

अहिंसा विश्व के समग्र चैतन्य को एक धरातल पर खडा कर देती है। अहिंसा समग्र जीवन मे एकता देखती है, सब प्राणियो मे समानता पाती है। इसी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था—'**एगे आया**'—आत्मा एक है, एकरूप है, एक समान है। चैतन्य के जाति, कुल, समाज, राष्ट्र, स्त्री, पुरुष आदि के रूप मे जितने भी भेद हैं, वे सब आरोपित भेद हैं, बाह्य निमित्तो के द्वारा परिकल्पित किये गए मिथ्या भेद हैं। आत्माओ के अपने मूल स्वरूप मे कोई भेद नही है। और जब भेद नही है तो, फिर मानवजाति मे यह कलह एव विग्रह कैसा ? त्रास एव सघर्ष कैसा ? घृणा एव वैर कैसा ? यह सब भेदबुद्धि की देन है और अहिंसा मे भेदबुद्धि के लिए कोई स्थान नही है। अहिंसा और भेदबुद्धि मे न कभी समन्वय हुआ है और न कभी होगा। आज जो विश्वनागरिक की कल्पना कुछ प्रबुद्ध मस्तिष्को मे उडान ले रही है, 'जय जगत्' का उद्घोष कुछ समर्थ चिन्तको की जिह्वा पर मुखरित हो रहा है, उसको अहिंसा के द्वारा ही मूर्तरूप मिलना सभव है। दूसरा कोई ऐसा आधार ही नही है, जो विभिन्न परिकल्पनाओ के कारण खण्ड-खण्ड हुई मानवजाति को एकरूपता दे सके। प्रत्येक मानव के अपने सृजनात्मक स्वातन्त्र्य एव मौलिक अधिकारों की सुरक्षा की गारण्टी, जो विश्वनागरिकता तथा जयजगत् का मूलाधार है, अहिंसा ही दे सकती है, और कोई नहीं। अहिंसा विश्वास की जननी है और विश्वास परिवार, समाज तथा राष्ट्र के पारस्परिक सद्भाव, स्नेह और सहयोग का मूलाधार

है। अविश्वास के कारण इधर-उधर बेतरतीब बिखरे हुए मानवमन को अहिंसा विश्वास के मगलसूत्र मे जोडती है, एक करती है। अहिंसा 'सगच्छध्वम्, सवदध्वम्' की ध्वनि को जन-जन म अनुगु जित करती है, जिसका अर्थ है—साथ चलो, साथ बोलो। मानवजाति की एकसूत्रता के लिए यह 'एक साथ' का मन्त्र सबसे बडा मन्त्र है। यह 'एक साथ' का महामन्त्र मानवजाति को व्यष्टि की क्षुद्र भावना से समष्टि की व्यापक भावना की दिशा मे अग्रसर करता है। अहिंसा का उपदेश है, सन्देश है, आदेश है कि व्यक्तिगत अच्छाई, प्रेम और त्याग से—आपसी सद्भावनापूर्ण पावन परामर्श से, केवल साधारणस्तर की सामाजिक एव राजनीतिक समस्याओ को ही नही, जाति, सम्प्रदाय, सस्कृति और राष्ट्रो की विषम से विषम उलझनो को भी सुलझाया जा सकता है और यह सुलझाव ही भेद मे अभेद का, अनेकता मे एकता का विधायक है। यही वह पथ है, जिस पर चलकर मानव मानव को मानव समझ सकता है, उसे प्रेम की बाँहो मे भर सकता है। इसी से विश्वबन्धुत्व एव विश्वशान्ति का स्वप्न पूर्ण हो सकता है।

अहिंसाभावना का विकास

मानव अपने विकास के आदिकाल मे अकेला था, वैयक्तिक सुख-दु ख की सीमा मे घिरा हुआ, एक जगली जानवर की तरह। उस युग मे न कोई पिता था, न कोई माता थी, न पुत्र था, न पुत्री थी, न भाई था और न बहन थी। पति और पत्नी भी नही थे। देह-सम्बन्ध की दृष्टि से ये सब सम्बन्ध थे, फिर भी सामाजिक नही थे। इसलिए कि माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन और पति-पत्नी आदि के रूप मे तब कोई भी भावनात्मक स्थिति नही थी। एकमात्र नर-मादा का सम्बन्ध था, जैसा कि पशुओ मे होता है। सुख-दुख के क्षणो मे एक-दूसरे के प्रति लगाव का, सहयोग का जो दायित्व है, वह उस युग मे नही था। इसलिए नही था कि तब मानवचेतना ने विराट् रूप ग्रहण नही किया था। वह एक क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थ की तटबन्दी मे अवरुद्ध थी। एक दिन वह आया, जब मानव इस क्षुद्र सीमा से बाहर निकला, केवल अपने सम्बन्ध मे ही नही, अपितु दूसरो के सम्बन्ध मे भी उसने कुछ सोचना शुरू किया। उसके अन्तर्मन मे सहृदयता, सद्भावना की ज्योति जगी और वह सहयोग के आधार पर परस्पर के दायित्वो को प्रसन्नमन से वहन करने को तैयार हो गया। और जब वह तैयार हो गया, तो परिवार बन गया। परिवार बन गया, तो माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन और पति-पत्नी आदि सभी सम्बन्धो का आविर्भाव हो गया। और जैसे-जैसे मानवमन भावनाशील हो कर व्यापक होता गया, वैसे-वैसे पारिवारिक भावना के मूल मानवजाति मे गहरे उतरते गए। फिर तो परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र आदि के विभिन्न क्षेत्र भी व्यापक एव विस्तृत होते चले गए। यह सब भावात्मक विकास की प्रक्रिया, एक प्रकार से, अहिंसा का ही एक सामाजिक रूप है। मानव-हृदय की आन्तरिक सवेदना की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है। और यह सवेदना की व्यापक प्रगति ही परिवार, समाज और राष्ट्र के

उद्भव एव विकास का मूल है। यह ठीक है कि उक्त विकासप्रक्रिया मे रागात्मक भावना का भी एक बहुत बडा अश है, पर इससे क्या होता है? आखिर तो यह मानव-चेतना की ही एक विराट् प्रक्रिया है, और यह अहिंसा है। अहिंसा भगवती के अनन्त रूपो में से यह भी एक रूप है। इस रूप को अहिंसा के मगलक्षेत्र से बाहर धकेल कर मानव मानवता के पथ पर एक चरण भी ठीक तरह नही रख सकता।

अहिंसा की प्रक्रिया

अहिंसा मानवजाति को हिंसा से मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य, द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या-डाह, दु सकल्प, दुर्वचन, क्रोध, अभिमान, दम्भ, लोभ-लालच, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की ध्वसमूलक विकृतियाँ है, सब हिंसा के ही रूप है। मानवमन हिंसा के उक्त विविध प्रहारो से निरन्तर घायल होता आ रहा है। मानव उक्त प्रहारो के प्रतिकार के लिए भी कम प्रयत्नशील नही रहा है। परन्तु वह प्रतिकार इस लोकोक्ति को ही चरितार्थ करने मे लगा रहा कि 'ज्यो-ज्यो दवा की, मर्ज बढता ही गया।' बात यह हुई कि मानव ने वैर का प्रतिकार वैर से, दमन का प्रतिकार दमन से करना चाहा, अर्थात् हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करना चाहा, और यह प्रतिकार की पद्धति ऐसी ही थी, जैसी कि आग को आग से बुझाना, रक्त से सने वस्त्र को रक्त से धोना। वैर से वैर बढता है, घटता नही है। घृणा से घृणा बढती है, घटती नही है। यह उक्त प्रतिकार ही था, जिसमे से युद्ध का जन्म हुआ, शूली और फाँसी का आविर्भाव हुआ। लाखो ही नही, करोडो मनुष्य भयकर से भयकर उत्पीडन के शिकार हुए, निर्दयता के साथ मौत के घाट उतार दिये गए, परन्तु समस्या ज्यो की त्यो सामने खडी रही। मानव को कोई भी ठीक समाधान नही मिला। हिंसा का प्रतिकार हिंसा से नही, अहिंसा से होना चाहिए था, घृणा का प्रतिकार घृणा से नही, प्रेम से होना चाहिए था। आग का प्रतिकार आग नही, जल है। जल ही जलते दावानल को बुझा सकता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—"**क्रोध को क्रोध से नहीं, क्षमा से जीतो। अहकार को अहकार से नहीं, विनय एव नम्रता से जीतो। दंभ को दभ से नहीं, सरलता और निश्छलता से जीतो। लोभ को लोभ से नहीं, सन्तोष से जीतो, उदारता से जीतो।**" इसी प्रकार भय को अभय से, घृणा को प्रेम से जीतना चाहिए। और विजय की यह सात्विक प्रक्रिया ही अहिंसा है। अहिंसा प्रकाश की अन्धकार पर, प्रेम की घृणा पर, सद्भाव की वैर पर, अच्छाई की बुराई पर विजय का अमोघ उद्घोष है।

अहिंसा की दृष्टि

भगवान् महावीर कहते थे—'वैर हो, घृणा हो, दमन हो, उत्पीडन हो कुछ भी हो, अन्तत सब लौट कर कर्त्ता के ही पास आते है। यह मत समझो कि बुराई वहीं रह जाएगी, तुम्हारे पास लौट कर नही आएगी। वह आएगी, अवश्य आएगी, कृत कर्म निष्फल नहीं जाता है। कुएँ मे की गई ध्वनि प्रतिध्वनि के रूप मे वापस लौटती है। और भगवान् महावीर तो यह भी कहते थे कि वह और तू कोई दो नहीं

हैं। चैतन्य चैतन्य एक है। जिसे तू पीड़ा देता है, वह और कोई नहीं, तू ही तो है। भले आदमी, तू दूसरे को सताता है तो, वह दूसरे को नही, अपने को ही सताता है। इस सम्बन्ध मे आचारागसूत्र मे आज भी उनका एक प्रवचन उपलब्ध है—

"जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।"

यह भगवान् महावीर की अद्वैतदृष्टि है, जो अहिंसा का मूलाधार है। जब तक किसी के प्रति परायेपन का भाव रहता है, तब तक मनुष्य परपीडन से अपने को मुक्त नही कर सकता। सर्वत्र 'स्व' की अभेददृष्टि ही मानव को अन्याय से, अत्याचार से बचा सकती है। उक्त अभेद एव अद्वैत दृष्टि के आधार पर ही भगवान् महावीर ने परस्पर के आघात-प्रत्याघातो से त्रस्त मानवजाति को अहिंसा के स्वर मे शान्ति और सुख का सन्देश दिया था कि "**किसी भी प्राणी को किसी भी सत्व को न मारना चाहिए, न उस पर अनुचित शासन करना चाहिए, न उसको एक दास (गुलाम) की तरह पराधीन बनाना चाहिए—उसको स्वतन्त्रता से वचित नहीं करना चाहिए, न उसे परिताप देना चाहिए और न उसके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव ही करना चाहिए।**" यह अहिंसा का वह महान् उद्घोष है, जो हृदय और शरीर के बीच, बाह्य प्रवृत्तिचक्र और अन्तरात्मा के बीच, स्वय और आस-पास के साथियो के बीच एक सद्भावनापूर्ण व्यावहारिक सामजस्य पैदा कर सकता है, मानव-मानव के बीच बन्धुता की मधुर रस-धारा बहा सकता है। मानव ही क्यो—अहिंसा के विकासपथ पर निरन्तर प्रगति करते-करते एक दिन अखिल प्राणिजगत् के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। अहिंसा क्या है? समग्र चैतन्य के साथ बिना किसी भेदभाव के तादात्म्य स्थापित करना ही तो अहिंसा है। अहिंसा मे तुच्छ-से-तुच्छ जीव के लिए भी बन्धुत्व का स्थान है। महावीर ने कहा था—जो व्यक्ति सर्वभूतात्मभूत है, सब प्राणियो को अपने हृदय मे बसा कर विश्वात्मा बन गया है, उसे विश्व का कोई भी पाप कभी स्पर्श नही कर सकता। दशवैकालिक सूत्र मे आज भी यह अमर वाणी सुरक्षित है—'**सव्वभूयप्प-भूयस्स सम्म भूयाई पासओ, पिहियासवस्स दतस्स पावकम्म न बधइ।**'

अहिंसा का सिद्धान्त और व्यवहार

भगवान् महावीर ने अहिंसा को केवल आदर्शरूप ही नही दिया, अपने जीवन मे उतार कर उसकी शत-प्रतिशत यथार्थता भी प्रमाणित की। उन्होने अहिंसा के सिद्धान्त और व्यवहार को एक करके दिखा दिया। उनका जीवन उनके अहिंसा-प्रयोग के महान् आदर्श का ही एक जीता-जागता मूर्तिमान निदर्शन था। विरोधी से विरोधी के प्रति भी उनके मन मे कोई घृणा नही थी, कोई द्वेष नही था। वे उत्पीडक एव घातक विरोधी के प्रति भी मगल-कल्याण की पवित्र भावना ही रखते रहे। सगम जैसे भयकर उपसर्ग देने वाले व्यक्ति के लिए भी उनकी आँखें करुणा से गीली हो आई थी। वस्तुत

उनका कोई विरोधी था ही नही। उनका कहना था—विश्व के सभी प्राणियो के साथ मेरी मैत्री है, मेरा किसी के भी साथ कुछ भी वैर नहीं है—'**मित्ती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झं न केणई।**'

भगवान् महावीर का यह मैत्रीभावमूलक अहिंसाभाव इस चरम कोटि पर पहुंच गया था कि उनके श्रीचरणो मे सिंह और मृग, नकुल और सर्प—जैसे प्राणी भी अपना जन्मजात वैर भुला कर सहोदर बन्धु की तरह एक साथ बैठे रहते थे। न सबल मे क्रूरता की हिंस्रवृत्ति रहती थी, और न निर्बल मे भय, या भय की आशका। दोनो ओर एक जैसा स्नेह का, सद्भाव का व्यवहार। इसी सन्दर्भ मे प्राचीन कथाकार कहता है कि भगवान् के समवसरण मे सिंहनी का दूध मृगशिशु पीता रहता, और हिरनी का सिंहशिशु—'**दुग्धं मृगेन्द्रवनितास्तनजं पिबन्ति।**' भारत के आध्यात्मिक जगत् का वह महान् एव चिरतन सत्य, भगवान् महावीर के जीवन पर से साक्षात् साकाररूप मे प्रकट हो रहा था कि साधक के जीवन मे अहिंसा की प्रतिष्ठा—पूर्ण जागृति होने पर उसके समक्ष जन्मजात वैरवृत्ति के प्राणी भी अपना वैर त्याग देते है, प्रेम की निर्मल धारा मे अवगाहन करने लगते है—'**अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग।**'

अहिंसा का अन्तहृदय

अहिंसा जीवन का महान् वरदान है। मानव यदि मानव है, तो वह सर्वप्रथम एक करुणामूर्ति प्राणी है, जिसके प्रथम हृदय है, फिर मस्तिष्क। जिस प्रकार मस्तिष्क तर्क की भूमि है, जोड-तोड की स्थली है, उसी प्रकार हृदय श्रद्धा, प्रेम एव करुणा का सुकोमल स्थल है। मानवता से आप्लावित मानव जीवन का अन्तहृदय अहिंसा है। अहिंसा उसका अन्तहृदय इसलिए है, कि यही वह स्थल है, जहाँ से वह स्व-आत्मा के समान पर-आत्मा को समझता है, समानभाव से सबके लिए—सभी प्राणियो के लिए सुख-दु ख की समानरूप से अनुभूति करता है। इसका सीधा-सा अर्थ है कि वह विश्व की समस्त आत्माओ को समदृष्टि से देखता है। चैतन्यमात्र के प्रति अपने-पराये का भेद न रखते हुए, समतापूर्ण व्यवहार करता है। इसी भावना को लक्ष्य करके श्रमणसस्कृति के उन्नायक भगवान् महावीर ने कहा था—"सभी प्राणो को, सभी भूतो को, सभी जीवों को तथा सभी सत्वो को न तो मारना चाहिए, न पीडित करना चाहिए और न ही उनको घात करने की बुद्धि से स्पर्श करना चाहिए। यही धर्म शुद्ध, शाश्वत और नित्य है[1]।" इसी भावना को विस्तृत करते हुए दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—"सब आत्माओं को अपनी आत्मा की तरह समझो। विश्व के सभी प्राणियो की आत्माओ मे

---

१ सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता
न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा,
न उवद्दवेयव्वा—एस धम्मे सुद्धे निच्चे सासए।

—आचारांग सूत्र

अपने आपको देखो और विश्व की समस्त आत्माओ को अपने भीतर देखो[२]।" वस्तुत यह साधना समत्वयोग की साधना है, जिसका मूल आधार विश्व की समग्र आत्माओ के साथ अपने जैसा व्यवहार करना है। हम अपने लिए जिस प्रकार का व्यवहार दूसरो से चाहते है, हम अपने लिए जिस प्रकार की स्थिति की अपेक्षा दूसरो से करते है, अन्य समस्त प्राणियो के लिए भी हम वैसा ही व्यवहार करें, वैसी ही स्थिति निर्मित करे—यही अहिंसा का अन्तर्हृदय है।

आत्मौपम्य दृष्टि

भगवान् महावीर ने विश्वप्राणियो के मध्य ममता की सस्थापना करते हुए कहा था कि 'विश्व की सभी आत्माएँ एक है।"[3] अर्थात् सभी प्राणी सग्रह और व्यवहार नय की दृष्टि से एक ही चैतन्यसागर की अलग-अलग बूदें है, एक ही मूल चैतन्य-वृक्ष की अलग-अलग पत्तियाँ एव फूल है, जो सभी एक साथ मिल कर चैतन्यभाव-सागर का रूप लेती हैं, विशाल वृक्ष का पर्याय बनती है। यथार्थ मे यह भावना अपने अन्दर मे धारण करना एक महान् योग है। इसी को गीता मे श्रीकृष्ण ने यो कहा है—"जो सभी जीवो को अपने समान समझता है और उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता है, वही परम योगी है"[४]। यह समत्वयोग की साधना ही आत्मा की साधना है, अपने आपको साधने का पथ है। इसी भावना को सर्वोपरि बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—"विश्व के समग्र जीवनिकाय को अपनी आत्मा के समान समझो"[५]। "प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझो"[६]। अत हम कह सकते है कि यह आत्मौपम्य दृष्टि, जिसके विषय मे भगवान् महावीर ने उद्घोष किया है, इसके मूल मे अहिंसा के अमृतसागर की लहरें ही हिलोरे ले रही है। यह अहिंसा-सागर की लहरें, जिस भावनातल पर लहरा रही है, उसकी साधना सामान्य साधना नही है, अपितु वीरत्व की महान् साधना है।

अहिंसा वीरत्व का मार्ग

वस्तुत यह जो अहिंसा की साधना है, यह आत्मा के विराट्भाव की साधना है। आत्मा का भावनात्मक दृष्टि से इतना व्यापक रूप मे विकास कर लेना है कि विश्व की सभी आत्माएँ उसमे ठीक उसी प्रकार समाहित हो जाएँ, जिस प्रकार कि भूतल पर लहराने वाली अनेको नदियाँ सागर मे आ कर एकीभाव से समाहित

२ सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्म भूयाइ पासओ। —दशवैकालिक, ४।९
३ एगे आया। —ठाणाग, सूत्र १-१
४ आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन।
सुख वा यदि वा दुःख, स योगी परमो मत ॥ —गीता, अ० ६।३२
५ अप्पसमे मन्निज्ज छप्पिकाए। —दशवैकालिक, १०।५
६ आयतुले पयासु। —सूत्रकृतागसूत्र, १।१०।३

हो जाती हैं और सागर बिना किसी राग-द्वेष से सबको अपने अक मे सँजोता-सहेजता चला जाता है। वस्तुत यह राग-द्वेष पर विजय ही तो अहिंसा का पथ है, और उक्त विजय को प्राप्त करने वाला ही तो सच्चे अर्थ मे विजेता है। विजेता, हम उसे कभी नहीं कह सकते, जो हाथ मे नगी तलवार लिए भय और आतक के बल पर किसी पर शासन करे, किसी को अपने अधीन रखे। हाथ मे बम ले कर दूसरो को भय दिखा कर अपने आगे झुकाने का प्रयत्न करने वाला तो सही माने मे वीर कहलाने का अधिकारी हो ही नही सकता। वह तो कायर है। जो परमुखापेक्षी होता है, वह कायर नही तो और क्या है ? वह अपनी महान् चैतन्यशक्ति की अपेक्षा जडशक्ति पर अधिक भरोसा करता है। सच्चा वीर तो वह है, जिसके चरणरज विश्व के समस्त प्राणी श्रद्धा एव प्रेम से चूम ले, अपने सर पर लगा लें। यहाँ हमे राष्ट्रकवि 'दिनकर' की वे पक्तियाँ बडी युक्तियुक्त लगती है, जहाँ उन्होने कहा है—

"···आदमी नहीं मरता बरछों से, तीरों से,
लोहे की कडियो की साजिश बेकार हुई,
बाँधो मनुष्य को शबनम की जंजीरों से।"

डा० एम० राधाकृष्णन् ने एक जगह चालू युग पर करारी चोट करते हुए, अहिंसा के महत्त्व पर प्रकाश डाला है—"यह जमाना हथियारबन्द कायरता का है। कायरता ने अपने हाथ मे हथियार इसलिए रखे हैं कि वह दूसरो के हमलो से डरती है और स्वय हथियार इसलिए नही चलाती, क्योकि उसे हिम्मत नही होती। जो डर के मारे हथियार चला नही पाती, उसी का नाम कायरता है। इस कायरता से इन्सान को उबारने वाली एक ही शक्ति है और वह है अहिंसा।" अत यह स्पष्ट है कि अहिंसा कायरता नही सिखाती, अपितु वीरता का पाठ पढाती है। अहिंसा यह कभी नही कहती कि तुम चुप रह कर अन्याय एव अत्याचार को सहन करो, क्योकि अन्याय करना पाप है, तो दैन्यभाव से अन्याय का सहन करना महापाप है। चाहे वह सामाजिक क्षेत्र मे हो, अथवा राजनीतिक क्षेत्र मे, बात लगभग एक ही है। जिस व्यक्ति मे अन्याय के विरुद्ध योग्य प्रतिकार करने की शक्ति नही है, वह न तो अपनी रक्षा कर सकता है, न अपने परिवार की, न समाज की और न अपने राष्ट्र की ही रक्षा कर सकता है। और वह अहिंसा, अहिंसा नही, जिसके निष्प्राण शरीर से चिपट कर आदमी अपने राष्ट्र तक को दासता की बेडी मे जकड जाने दे। ऐसी अहिंसा का जीवन मे कोई मूल्य नही।

विज्ञान और अहिंसा

मानव-विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब विज्ञान ने सहारक अस्त्र-शस्त्रो का बहुतायत से निर्माण किया है, मानव ने निहितस्वार्थवश निर्ममता से उनका प्रयोग किया है, फलस्वरूप भयकर सहारक लीलाएँ देखने को मिली हैं। विश्व का प्रथम एव द्वितीय महायुद्ध इसका ज्वलन्त प्रमाण है। किन्तु हर बार देखा

यही गया है कि मानवमन ने उन संहारक शस्त्रास्त्रो से त्रस्त हो कर परस्पर सहानुभूति एव सहअस्तित्व के आधार पर ही शान्ति की स्थापना की है । लीग ऑफ नेशन्स एव सयुक्त राष्ट्रसघ (यू० एन० ओ०) ने इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है और उसके बाद अहिंसा एव सहअस्तित्व के आधार पर जो शान्ति स्थापित की गई है, वह बहुत अशो मे स्थायी सिद्ध हुई है । अत यह निश्चित है कि अहिंसा द्वारा सम्पादित विजय स्थायी एव शाश्वत विजय होती है । इसी शाश्वत सत्य को अभिव्यक्त करते हुए राष्ट्रकवि दिनकर ने कहा है—

ऐसी शान्ति राज करती है, तन पर नहीं, हृदय पर ।
नर के ऊँचे विश्वासों पर, श्रद्धा, भक्ति, प्रणय पर ।।

भले ही विज्ञान हमे विपुल परिमाण मे शस्त्रास्त्र का खजाना प्रदान करे, परन्तु हमे उन शस्त्रास्त्रो को अपने ऊपर हावी नही होने देना चाहिए, बल्कि उन्हे सदा अपने नियन्त्रण मे रखना चाहिए । शस्त्रास्त्रो का प्रयोग सुरक्षा एव शान्ति की रक्षा के लिए मर्यादित तरीके से होना चाहिए । हर चीज के मूल मे हित की भावना का होना परमावश्यक है । ऐसे मे विज्ञान अहिंसा का सहचर सिद्ध हो सकता है, सहारक नही । मानव पहले मानव है, उसके पश्चात् और कुछ—इसका सदैव ध्यान रहना चाहिए ।

अहिंसा और राजनीति

विश्व के महान् राजनेताओ ने समय-समय पर विज्ञानप्रदत्त विपुल एव भयानक सहारक शस्त्रास्त्रो से सन्त्रस्त हो कर, अहिंसा के द्वारा शान्ति का मार्ग खोजने का प्रयत्न किया है । उन्होने यह तथ्य पाया है कि शाश्वत शान्ति युद्ध की विभीषिका एव आणविक शस्त्रास्त्रो के सहारक प्रयोग मे नही, बल्कि अहिंसा एव सह-अस्तित्व मे निहित है ।

भारत के प्रधानमन्त्री स्व० पडित जवाहरलाल नेहरू ने अहिंसा को अपनी नीति मे सदा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । उनका पचशील का निर्माण इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपलब्धि है । सन् १९६१ मे बेलग्रेड मे हुआ आणविक विभीषिका के सरक्षणार्थ विश्व के विभिन्न राष्ट्रो का सम्मेलन भी, इस दिशा मे गौरवपूर्ण प्रयास है । उक्त सम्मेलन मे अहिंसासम्बन्धी सिद्धान्त को ही स्पष्ट करते हुए स्व० प० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"मानवता खतरे मे है, हमे इसी पहलू से सोचना है । यानी जो जरूरी सवाल हैं, उस पर पहले सोचे, और यह जरूरी सवाल है—युद्ध और शान्ति का । जब विश्व विनाश की ओर बढ रहा है, तो दूसरे सवाल गौण हैं । "

" "मुझे बडा ही ताज्जुब होता है कि महान् शक्तियाँ इसे इज्जत का प्रश्न बना कर अपनी-अपनी बात पर दृढ़ है और यह इतनी महान् और शक्तिशाली हैं कि शान्तिवार्ता के लिए तैयार नही । मेरा विश्वास है कि यह एक गलत रुख है, इसमें उनकी इज्जत का ही प्रश्न नहीं, बल्कि मानवजाति के भविष्य का भी प्रश्न है ।"

उक्त सम्मेलन मे लका की प्रधानमन्त्री श्रीमती भडारनायके ने अपनी हार्दिक भावना को व्यक्त करते हुए कहा था—"मैं इस सम्मेलन मे भाग लेने सिर्फ अपने राष्ट्र की प्रधानमन्त्री की हैसियत से ही नही आई हूँ, बल्कि एक स्त्री और माँ की हैसियत से भी ।"

"मैं एक क्षण के लिए भी ऐसा विश्वास नही कर सकती कि दुनिया मे कोई भी माँ है, जो अपने बच्चो के पारमाणविक सक्रिय धूल के शिकार होने और घुल-घुल कर मरने की सभावना पर विचार कर सके ।"

सम्मेलन के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए युगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने कहा था—"बेलग्रेड-सम्मेलन का उद्देश्य महान् शक्तियो को यह बतला देना है कि विश्व का भाग्य सिर्फ उन्ही के हाथो मे नही रह सकता ।"[७] इसी प्रकार के एक सम्मेलन मे जो कि क्रेमिनल मे रूस की तरफ से आयोजित था, उसमे बोलते हुए तत्कालीन रूसी प्रधानमन्त्री निकिता ख्रुश्चेव ने कहा था—"आशिक अणुपरीक्षण-प्रतिबधसधि अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का आलेख है । किन्तु इस सधि से अणुयुद्ध का खतरा खत्म नही हुआ है । जब तक हथियारो के लिए दौड जारी रहेगी, तब तक यह खतरा बना रहेगा ।" उक्त अवसर पर अमरीकी विदेशमन्त्री डीन रस्क ने कहा—"यह एक अच्छा पहला कदम है, और यदि इसके अनुगमन मे और कदम बढ़े, तो शान्ति के लिए मानव का स्वप्न यथार्थ रूप पा सकेगा ।" स्व० प० नेहरू ने उस अणुपरीक्षण-प्रतिबध सधि पर हस्ताक्षर करते हुए कहा था कि—"मास्को मे आज (५ अगस्त' ६३ को) इस सधि पर हस्ताक्षर हो रहे है और प्रत्येक शान्तिप्रेमी को इसका स्वागत करना चाहिए । यद्यपि परीक्षणो पर यह आशिक प्रतिबध-सधि ही है, और निरस्त्रीकरण की दिशा मे बहुत बडी प्रगति नही है, फिर भी यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । क्योकि यह उस मजिल की ओर ले जाने वाला प्रथम सोपान है । भारत ने इस सधि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया है । हम यह मानते हैं कि युद्ध-वर्जन-सधि जहाँ भी हो, उसका स्वागत किया जाएगा, क्योकि उससे युद्ध का खतरा कम होता है ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व के महान् शक्तिशाली एव आणविक शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र भी अपनी राजनीति मे प्रधानत अहिंसा को ही स्थान देते है ।

विश्वबन्धुत्व, विश्वशांति और अहिंसा

इससे यह स्पष्ट है कि अहिंसा विश्वशाति का सबसे सुगम एव श्रेष्ठ पथ है । जैसा कि हम पहले कह आये हैं, विश्व मे जब-जब युद्ध की भयानक लीला से मानव सत्रस्त हुआ है, उसने विश्वशाति की तलाश अहिंसा के पथ से की है और यह निश्चय है कि तब अहिंसा ने ही उन्हे सही अर्थ मे शान्ति प्रदान भी की है । ●

—विक्रमादित्यसिंह

---

७ पारमाणविक विभीषिका ।

क्या अहिंसा अव्यवहार्य है ? | ५

अहिंसा के सम्बन्ध मे आज के ससार के सामने एक विकट प्रश्न उपस्थित है। जब तक उस प्रश्न को अच्छी तरह से हल नही कर लिया जाता है, तब तक इससे सम्बन्धित शकाओ का पूरी तरह समाधान नही हो सकता। कुछ लोग कहते है कि अहिंसा के सिद्धान्त भी बहुत अच्छे है, समय-समय पर अहिंसा का जो विश्लेषण किया गया है, उनकी जो व्याख्याएँ की गई है, वे महत्त्वपूर्ण है और इतनी ऊँची हैं कि वास्तव मे हमे उनका आदर करना चाहिए।

अहिंसा . अतीत, वर्तमान एव भविष्य

अहिंसा एक निषेधात्मक शब्द है हिंसा का। हिंसा नही करनी चाहिए, बस यही अहिंसा का आशय है, किंतु हिंसा के लिए यह शब्द कोई दिशानिर्देश नही करता, बल्कि विशालता का एक उन्मुक्त धरातल प्रदान करता है। हिंसा चाहे शारीरिक हो, मानसिक हो अथवा कार्मिक हो, वैयक्तिक हो, पारिवारिक हो, सामाजिक हो, राष्ट्रीय हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हो—यह प्रत्येक क्षेत्र मे अपेक्षाक्रम से वर्जित है।

जब हम सुदूर अतीत पर अवलोकन करते है, तो आज से २५०० वर्ष अतीत के गौरवपूर्ण उन्मेष पर एक बार दृष्टि थम जाती है, जबकि भगवान् महावीर एव तथागत बुद्ध ने हिंसा के विरुद्ध सात्विक क्राति करके अहिंसा की पुन स्थापना की। भयकर से भयकर डाकू एव हत्यारो ने भी अहिंसाव्रत को उन महान् पुरुषो की सत्प्रेरणा से जीवन मे अपना कर अपने जीवन को धन्य-धन्य किया था। और एक बार फिर से चतुर्दिक अहिंसा—दया, प्रेम, करुणा का सौम्य वातावरण उमड उठा था।

कुछ लोगो की दृष्टि मे अहिंसा अव्यवहार्य

किन्तु कुछ लोग यो मानने लगे कि जहां अहिंसा की लम्बी-चौडी व्याख्याएँ की गई है। वही वह अव्यवहार्य भी बन गई, अर्थात्—व्यवहार मे आने लायक नही रही। जीवन मे उतारने योग्य भी न रही। यदि उसके सहारे जीवन-यात्रा पूरी करना चाहे तो कर नही सकते। कोई अच्छी बात तो हो, किन्तु काम मे आने के लायक नही हो तो, फिर उसका क्या मूल्य है ? चीज तो अच्छी है, पर लेने योग्य नही है—इसका क्या अर्थ हुआ ? यदि अहिंसा जीवन मे उतारने लायक नही है, उसके सहारे हम जीवन-यात्रा तय नही कर सकते तो इसका मतलब यह हुआ कि वह निरर्थक वस्तु है, अयोग्य है और जीवन मे उसका कोई मूल्य ही नही है।

चारो ओर हिंसा के वातावरण मे अहिंसा का पालन कैसे ?

जैनदर्शन ने हिंसा, अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण किया है । हिंसा क्या है ? इस सम्बन्ध मे एक मोटा-सा स्थूल सिद्धान्त प्रचलित है कि 'प्राणी-हत्या' हिंसा है । यदि हम इस सिद्धान्त की बारीकी मे जाएँगे तो एकदम मन कह उठेगा कि फिर तो ससार मे पूर्ण अहिंसक कोई हो ही नही सकता । चूँकि जब तक शरीर है हलन-चलन की क्रिया भी होती रहेगी, श्वासोच्छ्वास भी चलते रहेगे । और जब हम यह मानते हैं कि ससार मे चारो ओर असख्य प्राणी भरे है । हवा के एक झोके मे ही असख्य-असख्य प्राणियो का विनाश हो जाता है । आँख झपकने मे ही असख्य प्राणियो का काल आ जाता है—

"पक्ष्मणोपि निपातेन तेषा स्यात्स्कन्ध-पर्यय ।"

ऐसी स्थिति मे वीतरागी पुरुष भी इस हिंसा से नही बच सकते । और उनके जीवन मे भी जब अहिसा की भूमिका नही आ सकती, तो फिर साधारण मनुष्यो की क्या बात करे ?

मै एक बार एक इञ्जीनियरिंग कालेज मे व्याख्यान देने गया था । बात चल पडी तो लेबोरेटरी विभाग वालो ने आग्रह किया कि आइए, हम आपको अपने यन्त्र दिखलाएँ । उन्होने एक कागज का टुकडा लिया और कहा—'देखिए, इस पर कुछ दिखाई देता है ?' कागज तो बिलकुल साफ था, मिट्टी या धूल कुछ भी तो उस पर नही लगी हुई थी । उसे माइक्रोस्कोप के नीचे रखा और कहा—'अब देखिए ।' देखा तो आश्चर्य कि मेरी गणना से बाहर जीवपिंड जैसे कुलबुला रहे थे । एक स्वच्छ कागज पर, जहाँ आँखो से एक जीव भी हिलता-डोलता नही दिखाई देता, वहाँ इतने जीवाणु !

मेरे मन मे विचार आया कि इस प्रश्न पर वास्तव मे जैनदर्शन कितना गहरा गया है । उसने कण-कण मे जीवाणु भरे हुए बतलाए तो किसी समय मे यह मजाक की बात रही होगी, पर आज के विज्ञान ने तो उसे परम सत्य सिद्ध कर दिया । अत यह स्पष्ट है कि विश्व मे कोई भी ऐसा स्थान नही, जहाँ सूक्ष्मशरीर-धारी जीव न भरे हो । स्थूलशरीरधारी जीव भी असख्य हैं, अनन्त हैं । जल मे भी जीव है, थल मे भी जीव है, हवा मे भी जीव है । चारो ओर जीवो से सकुल है यह विश्व । प्रश्न है, तब साधक अहिंसक कैसे रह सकता है ?

"जले जीवा स्थले जीवा, जीवा पर्वतमस्तके ।
जीवमालाकुले लोके, कथ भिक्षुरहिंसकः ?"

जरा हाथ हिला नही कि असख्य जीव मौत के घाट उतर गए । जरा पैर हिला नही कि असख्य प्राणी कालकवलित हो गए । हर श्वास के साथ प्राणी मर रहे है, दो चार नही, एक साथ असख्य ।

अभिप्राय यह है कि जब जीवहिंसा से कोई भी मनुष्य बच नही सकता, तो

फिर अहिंसा की बात करने का हमारा क्या तात्पर्य है ? कैसे हम अहिंसक रह सकते हैं ? और हम क्या, इस तरह से तो वीतराग केवली भी अहिंसा का पालन कैसे कर सकेगे ?

इस प्रकार के प्रश्न प्राय साधारण लोगो के और कभी-कभी विचारको के सामने भी उठा सकते हैं। अब हमे देखना यह है कि क्या वस्तुत बात ऐसी ही है ? क्या अहिसा सचमुच ही व्यवहार मे आने योग्य नही है। यदि हृदय की सचाई से विचार किया जाए और भारत के सुनहरे इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए तो पता चलेगा कि यह विचार सही नही है। जो वस्तु कई शताब्दियो से लगातार व्यवहार मे आती रही है, और भगवान् महावीर जैसे महापुरुषो ने, गौतम जैसे सन्तो ने और आनन्द जैसे सभ्रान्त गृहस्थो ने तथा वर्तमान मे राष्ट्रपिता गाँधीजी तक ने भी व्यावहारिक जीवन मे जिसके सफल प्रयोग करके दिखलाए हैं, फिर उसकी व्यावहारिकता मे आज किसी प्रकार की शका करना कैसे उचित कहा जा सकता है ? एक नही, हजारो साधको ने, जो अहिंसा की सतापशामिनी छाया मे आये, कहा कि यह अहिंसा आकाश की नही, धरती की चीज है शत-प्रतिशत व्यवहार की चीज है। जिन्होने अहिंसा का आचरण अपने जीवन-व्यापार मे किया है, उन्हे तो वह स्वप्न मे भी अव्यवहार्य नही लगी, किन्तु जिन्होने एक दिन भी अपना जीवन अहिंसामय नही बिताया, वे अपने मनगढन्त तर्कों के आधार पर उसे अव्यवहार्य मानते है ! क्या यह आश्चर्य की बात नही है ?

अहिंसा के बिना जीवन मे एक कदम भी गति सम्भव नहीं

अहिंसा के बिना हमारा जीवन एक कदम भी आगे नही बढ सकता। मानव यदि मानव के रूप मे जीवन-पथ पर अग्रसर होना चाहता है, और मनुष्य यदि मनुष्य के रूप मे अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है तो अहिंसा के बिना वह एक क्षण भी जीवित नही रह सकता। निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए यदि मनुष्य अपने जीवन के एक-एक कदम पर दूसरो का खून बहाता हुआ और सहारक सघर्ष करता हुआ चलता है तो वह मनुष्य की वास्तविक गति नही है। वह तो सचमुच हैवान, राक्षस और दैत्य की गति है। मानव और दानव के चलन मे दिन-रात जैसा विपरीत अन्तर है। इस अन्तर को भूतल के प्रत्येक मनुष्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

वस्तुत जब आदमी चलता है, तो वह जीवन-पथ मे किसी दूसरे के लिए काँटे नही बिछाता है। वह तो सुखदायी जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश देता हुआ ही चलता है और आनन्द के फूल बरसाता हुआ चलता है। जिधर भी उसका पदार्पण होता है प्रेम की फुहारे छूटती दिखलाई पडती हैं। यदि वह अपने कर्त्तव्यमय कदमो से घृणा की फुहारे छोडता है तो समझ लो कि वह इन्सान नही, बल्कि हैवान है। मोटर-ड्राइवर

का दृष्टान्त देते हुए पहले कहा जा चुका है कि वही ड्राइवर सावधान और चतुर समझा जाता है, जो सामने आते हुए बच्चो और बूढो को बचा कर मोटर चलाता है, कांटो और झाडियो को भी बचाता हुआ चलता है। इसके विपरीत, जो ड्राइवर सामने आये हुए बालक या बूढ़े को कुचल देता है और मोटर को कभी इस किनारे से तो कभी-कभी उस किनारे से टकरा देता है और गाडी को लडखडाती हुई चाल मे चलाता है तो लोग निश्चित कह बैठेंगे—यह ड्राइवर नही, कोई पागल है और इसे मोटर चलाने का अधिकार नही है।

अभिप्राय यही है कि जीवन भी एक प्रकार की गाडी है, मोटर है या रथ है, और आत्मा इसका ड्राइवर है। वह जब जीवन की गाडी को ठीक ढग से चलाता है, जहाँ कही टक्कर लगने वाली हो तो उसे बचा लेता है और जब सघर्ष होता है तब भी बचा कर चलता है, तो वह जीवन की राह पर ठीक-ठीक अपनी गाडी चलाता है। वह रुकता भी नही है, किन्तु निरन्तर चलता ही रहता है, तब हम समझते हैं कि यह ड्राइवर-आत्मा सावधान है और कुशल है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा और द्वेष के नशे मे नही है। फलत खुद भी सावधानी के साथ चलता है और दूसरो को भी बचाता हुआ चलता है।

अन्धाधुन्ध चलाने का क्या मतलब है ? मान लो, कोई व्यक्ति परिचय-पथ पर आ गया और उसे हिंसा से कुचल दिया, असत्य से कुचल दिया। फिर कोई साथी मिल गया तो उसे चोरी से, दगा मे या घृणा से कुचल दिया। और इस प्रकार कुचलता हुआ मदमत्त स्थिति मे गुजरता ही गया, कही रुका ही नही, तो आप समझ ले कि इस जीवन का ड्राइवर-आत्मा होश मे नही है। वह इन्सान के रूप मे अपने जीवन की गाडी को नही चला रहा है। उसे हैवानियत का नशा चढ़ा हुआ है और वह भूल गया है कि जीवन का पथ कैसे तय किया जाए।

जीवन की कला अहिंसा से ही परिपूर्ण होती है

यदि कोई व्यक्ति गहन वन से गुजर रहा है अथवा दुर्गम पहाडो पर चढ़ रहा है। मार्ग मे इधर भी कांटेदार झाडियाँ हैं और उधर भी। इधर भी नुकीले पत्थर हैं और उधर भी हैं। वे सभी उसे घायल करते हैं, कांटे भी चुभते है और कठोर पत्थरो की ठोकरे भी लगती हैं। किन्तु वह यात्रा करता ही रहता है। जबकि उसे चलने के लिए एक जरा-सी पगडडी मिली है। जरा-सी असावधानी होते ही इधर या उधर उसके कपड़े झाडी मे उलझ जाएँ। इसलिए इधर-उधर से कपडा बचाता हुआ ठीक बीच से उस पगडडी पर वह जा रहा है। फिर भी यदि वह उलझ जाता है तो रुक कर शीघ्र ही कपडा कांटो से निकाल लेता है। वह आगे चल देता है और यदि फिर कभी उलझ जाता है तो वह अपने को निकालता है। चलते हुए यदि कही पैर मे कांटा लग जाता है तो तत्क्षण खडा हो जाता है और कांटे को निकाल लेता है। यदि बीच मे पत्थर या चट्टान आ जाती है तो भी बचता है और यदि कभी असावधानी से ठोकर भी लग

जाती है तो तत्काल सहलाता है और आगे बढ जाता है। राह की रुकावटो मे वह उलझता नही है, अपितु चलता ही जाता है—सावधानी के साथ। **'चल चल रे नौजवान, चलना तेरा काम'** ' इसी मूलमत्र को उसने अपनी जीवन-यात्रा का आलम्बन माना है।

इस तरह एक आदमी चल रहा है और निरन्तर चला ही जा रहा है। वह बीच म कही रुकता नही है, किन्तु सीधा अपनी मजिल की ओर बराबर बढता ही चला जा रहा है।

एक दूसरा आदमी भी उसी रास्ते पर चलता है, किन्तु सावधानी नही रखता है। जब वह कांटेदार झाडी के पास से गुजरता है तो झाडी मे उलझ जाता है। बस, अब सोचता है कि इसने मेरा पल्ला उलझा दिया, अत जब तक मैं इस झाडी को ही जड से न काट दूं, तब तक आगे नही बढ सकता। अब वह उसे काटने मे जुट जाता है और काट कर ही आगे कदम रखता है, कि अगले कदम पर फिर दूसरी झाडी मे उलझ जाता है और फिर उसे भी काटने लगता है। पैर मे यदि कोई कॉटा चुभ गया तो उसको निकाल कर टुकडे-टुकडे करने लगा। फिर आगे बढा और यदि पत्थर की ठोकर लग गई तो कुदाल ले कर चट्टान को तोडने लग जाता है। इस प्रकार का चलने वाला क्या अपनी मजिल पर पहुँच सकेगा ? कभी नही।

जो बच कर सावधानी से चलता है और उलझता नही है, वह तो चलेगा और अपनी मजिल भी पूरी कर लेगा। परन्तु जो इस प्रकार उलझता हुआ चलता है और जहाँ उलझता है, वहाँ सहार करने लग जाता है और सारे पहाड को चकनाचूर करके ही आगे बढने का सकल्प करता है, वह चाहे सौ वर्ष की उम्र पाए, तो भी अपने अभीष्ट लक्ष्य पर नही पहुच सकेगा। वह हजार वर्ष की उम्र मे भी मजिल पूरी नही कर सकेगा।

इससे निष्कर्षरूप सिद्धान्त यह निकला कि यदि जीवन-यात्रा करनी है तो सर्वप्रथम व्यर्थ के सघर्षों से अपने जीवन को बचाते हुए सावधानी से चलना चाहिए। सावधानी रखते हुए भी यदि कही उलझन आ ही जाये तो शान्त चित्त हो उसको सुलझाते हुए आगे बढने का प्रयास करना चाहिए। मनुष्य यदि इधर-उधर से पल्ला सभाल कर अपने जीवन के पथ पर चलता जायेगा, तब तो अपनी मजिल पर पहुँच ही जायेगा। इसके विपरीत यदि किसी से जरा-सी भी अनबन हो गई, तो जब तक उसकी जबान नही खीच ले, या परिवार मे जरा-सी कोई बात हो जाए तो बस, जब तक कानून की तीरकमान ले कर अदालत के द्वार को न खटखटा दे, तब तक आराम की साँस न ले, तो उसकी जीवन-गाडी अपनी यात्रा कभी सफलतापूर्वक तय नही कर सकती।

जीवन के दो मार्ग अहिंसा एव हिंसा का

इस प्रकार जीवन का पहला मार्ग है—अहिंसा का , अर्थात्—प्रथम तो कभी

किसी से उलझें नही, सदैव सावधानी से ही चलें और यदि कभी परिस्थिति-वश उलझ भी जावें तो उलझन को ठीक कर लें। यह अहिंसा का प्रेरणामय जीवन है। इसके बाद दूसरा मार्ग है—हिंसा का, जिसमे प्रथम तो असावधानी से चलना, पैर किधर पड रहे हैं—इस बात का कभी विचार ही न करना और यदि कभी किसी से उलझ जाएँ या टकरा जाएँ तो उसके सर्वनाश का सकल्प कर लेना। ऐसी बुद्धि, हिंसा की बुद्धि है।

इन दो मार्गों मे से व्यक्ति किसी एक को ही अपना सकता है। कई विचारक कहते है कि अहिंसा उत्तम चीज है, किन्तु यह जीवन-व्यवहार की उपादेय वस्तु नही है। वैसे व्यक्तियो से पूछा जा सकता है कि व्यवहारमार्ग कौन-सा है ? वस्तुत बचना और बचाना ही व्यवहार का मार्ग है, और यही वास्तविक अहिंसा है। जो हिंसा है, वह तो उलझने का और टकराने का मार्ग है। स्वय बर्बाद हो जाना और दूसरो को भी बर्बाद कर देना हिंसा है। आप ही सोचिए, भला इसे गलत विचार न कहा जाए तो और क्या कहा जाए ?

हिंसा और अहिंसा की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए। यदि इसका निर्णय नही हो सका, तो जीवन के सही रास्ते पर चलना भी मुश्किल भी जायेगा। व्यक्ति अपने जीवन के प्रति सजग रहे, सदैव सावधान रहे और देखता रहे कि दूसरो को उसके द्वारा की गई हिंसा या अहिंसा से क्या फल मिलता है ? यदि वह स्वस्थ मन और स्थिर बुद्धि से विचार करेगा तो उसे पता चलेगा कि जीवन-व्यवहार मे वह हिंसा के बजाय अहिंसा मे ही अधिक रहता है। यदि घर मे कोई छोटी-सी घटना हो जाती है तो क्या वह उसके लिए न्यायालय की शरण लेता है ? जब परिवार की गुत्थियाँ उलझ जाती है तो वे डडे से नही सुलझाई जाती है, प्रत्येक घटना पर अदालत मे नही भागा जाता है। हाँ, तो अहिंसा एव प्रेम का जैसा सद्व्यवहार परिवार मे किया जाता है, वही समाज मे और राष्ट्र मे क्या नही किया जा सकता ?

जो हिंसा के पथ पर चलते है, आखिरकार वे एक दिन ऊबते है और उससे विरत होते हैं। जो खूनी लडाइया लडते रहे और जिन्होने जीवन-क्षेत्र को रक्त-रजित कर दिया, वे भी अन्त मे सन्धि करने बैठते है। आखिर यह क्या कौतुहल है ? जो वस्तु अन्त मे आने वाली ही है, लाखो-करोडो का सहार करके अन्तत जिस मार्ग को अपनाना ही है, उसका पहले ही क्यो न अनुसरण किया जाये। यदि वही मार्ग सूझ-बूझ के साथ पहले ही पकड लिया जाये तो क्या अच्छा न होगा ? साराश मे यह स्पष्ट है कि 'अहिंसा' व्यवहार की उपादेय वस्तु है, वह किसी भी रूप मे अव्यवहार्य नही है। हजारो साधक इसी मार्ग पर चलते रहे है और उन्होने इसी पथ पर चल कर अपनी हजारो वर्ष की जिन्दगी गुजारी है। उन्हे अहिंसा 'अव्यवहार' की वस्तु कभी नही दिखलाई दी।

हिंसा से एक दिन भी जीवनव्यवहार नहीं चल सकता

कोई अहिंसा को 'अव्यवहार्य' और हिंसा को ही 'व्यवहार्य' समझने वाला यदि

यह प्रतिज्ञा कर ले कि मैं हिंसा ही करूँगा—जो मिलेगा उसकी हिंसा किए बिना नही रहूँगा, तो क्या वह एक दिन भी अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह सकेगा ? अहिंसा की प्रतिज्ञा ले कर तो लम्बी जिन्दगी गुजारी जा सकती है और गुजारी भी गई है, किन्तु हिंसा की प्रतिज्ञा करके भला कितने मिनट बिताए जा सकते हैं ? हिंसा की प्रतिज्ञा लेने वाला अधिक से अधिक उतनी ही देर जिन्दा रह सकता है जितनी देर उसे अपना गला घोट कर आत्म-हत्या मे लग सकती है ।

हम अपने जीवन मे निन्यानवे फीसदी तो प्रेम से काम लेते है और एक फीसदी हिंसा, घृणा या द्वेष से काम लेते हैं । तब फिर यह समझना कठिन नही है कि अहिंसा 'अव्यवहार्य' नही है । इतना ही नही, बल्कि वास्तविकता यह है कि अहिंसा के द्वारा ही जीवन-व्यवहार चलाया जा सकता है और वस्तुत अहिंसा ही जीवन है, रक्षा है, और हिंसा मृत्यु है, सहार है ।

अहिंसा-पालन क्यो करें ?

ससार का प्रत्येक प्राणी चाहे वह देव है, मानव है, या पशु-पक्षी है, और तो क्या, एकेन्द्रिय भी है, तो भी सबके अन्दर मे एक ही कामना जग रही है, एक ही हिलोर उठ रही है, और वह है—सुख प्राप्त करने की इच्छा ।

भगवान् महावीर ने प्राणियो की इस मानसिक भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहा था—

"सव्वे पाणा सुहसाया, दुह-पडिकूला"

—ससार के समस्त प्राणी सुख की इच्छा करते है, दु ख से कतराते है ।

विश्व के सभी धर्म जो कि वास्तव मे धर्म हैं, उन सबका विकास इसी आधार पर हुआ है । उनके चिन्तन का स्रोत इसी उत्स से निकला है । अहिंसा का विचार, इसी सिद्धान्त के आधार पर खडा हुआ है । इसी मे दया और करुणा की दिव्यध्वनि निकलनी शुरू हुई । इसी भूमिका पर सत्य का अनन्त प्रकाश प्रगट हुआ । अस्तेय और ब्रह्मचर्य का विचार इसी सिद्धान्त पर पल्लवित हुआ है । और अपरिग्रह की पृष्ठभूमि भी यही विचार रहा है ।

हम हिंसा क्यो नही करे ? इस तर्क का समाधान यही है कि हिंसा से दूसरे प्राणी को कष्ट होता है, चैतन्य को पीडा होती है ।

भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि आप अहिंसा का उपदेश करते हैं, किन्तु प्रश्न है कि हम उसका पालन किसलिए करे ? इसके उत्तर मे भगवान् महावीर ने जो अपने अहिंसा-मूलक दर्शन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है, वह बहुत ही मनोवैज्ञानिक और प्राणी की समग्र चेतना की अनुभूति से जुडी हुई है । उन्होने कहा—

"सव्वे जीवा वि इच्छंति,
जीविउ न मरिज्जिउ ।
तम्हा पाणिवह घोर,
निग्गथा वज्जयति ण ॥"

—सब जीव जीना चाहते हैं, और सुखपूर्वक जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता । इसलिए किसी का प्राणवध करना बडी क्रूरता है, पाप है । इसलिए निर्ग्रन्थ साधक उससे दूर रहते है ।

मरने की कल्पना ही बडी क्रूर और अप्रिय होती है । राह चलते किसी मरणासन्न जर्जर बूढ़े को भी यदि 'मर जाओ' कह दिया जाएँ तो उसका हृदय रोष से भर उठता है, मरने का स्वप्न भी आ गया, तो आदमी का चेहरा फीका पड जाता है, चिन्ताओ से हृदय व्याकुल हो जाता है । कल्पना कीजिए, मरने की कल्पना भी जब भयकर है, तब साक्षात् मृत्यु तो कितनी भयकर होगी ?

स्व-परसुख के लिए अहिंसा का व्यवहार अनिवार्य

कुछ लोग कहते हैं कि किसी को कष्ट होता है तो उसके अपने कर्म से, हमे उसके सुख-दु ख से क्या मतलब ? हम किसी की हिंसा न करे, अपने आपको हिंसा के पाप से बचाये रखें, बस हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है । यह एक दृष्टि है । पर भगवान् महावीर की उपर्युक्त व्याख्या की गहराई मे जायेंगे तो पता चलेगा कि वहाँ अहिंसा का उद्गम करुणा से हुआ है । अनुकम्पा से अहिंसा का विचार प्रस्फुटित हुआ है । सब प्राणी जीना चाहते है, मरना नही चाहते । इसलिए—"तम्हा पाणिवह घोर ।" किसी को मारना क्रूरता है, उसकी जीवन-इच्छा के साथ खिलवाड है । यह एक बहुत ही सूक्ष्म विचार है और अहिसा—गगोत्री की धारा मे आकण्ठनिमग्न हुए बिना इसकी गहराई को नापना कठिन है । चैतन्य के साथ आत्मानुभूति किए बिना यह विचार अकुरित और पल्लवित नही हो सकता ।

निष्कर्ष यह है कि हिंसा से जीने की कल्पना अपने और दूसरे सभी प्राणियो के लिए भयकर और अव्यवहार्य है, मगर अहिंसा से जीने की कल्पना सभी के लिए सुखद और व्यवहार्य है । ●

अहिंसा के दो रूप : अनुग्रह और निग्रह | ६

अपने जीवन मे किसी को कष्ट न पहुँचाना, अपने व्यवहार के द्वारा किसी प्राणी को पीडा न देना, अपितु उसे सुख-शान्ति पहुँचाना ही अहिंसा है। किसी जीव पर अनुकम्पा करना, दया करना अहिंसा है।

इस प्रकार जब यह निश्चित है कि अनुग्रह करना अहिंसा है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निग्रह करना क्या है? निग्रह मे हिंसा ही है, अथवा अहिंसा भी हो सकती है?

जब कभी समाज के सामने यह गम्भीर प्रश्न उपस्थित हुआ है, तभी वह सोच मे पड गया है और कभी कभी इधर-उधर भटक भी गया है। इस प्रश्न का जैसा चाहिए था, वैसा सीधा स्पष्ट उत्तर नही दिया जा सका है। यदि कभी किसी ने उत्तर देने का साहस भी किया है, तो उसे ठीक-ठीक समझने की कोशिश नही की गई है। फलत लोग अभी तक भ्रम मे पडे हुए है।

अब देखना यह है कि इस विषय मे जैन-धर्म क्या कहता है? जैन-धर्म अनुग्रह मे तो अहिंसा को स्वीकार करता ही है, पर निग्रह के विषय मे उसका क्या अभिमत है? दण्ड मे अहिंसा है या नही?

यदि दण्ड मे अहिंसा नही है, क्योकि जिसे दण्ड दिया जाता है, उसे स्वभावत कष्ट होता है, और जब कष्ट होता है तो निग्रह या दण्ड अहिंसा नही, हिंसा बन जाता है, और जब वह हिंसा बन गया तो फिर जैन-धर्म मे आचार्य का कोई महत्त्व नही होना चाहिए। परन्तु हम शासन-व्यवहार मे देखते है, वहाँ आचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य एक साधु है और जो साधुता एक सामान्य साधु मे होती है, वही आचार्य मे भी होती है। ऐसा नही, कि साधु तो पाँच महाव्रती हो और आचार्य कोई छठा-सातवाँ महाव्रत भी पालता हो। इस प्रकार सामान्य साधु और आचार्य दोनो ही साधुता तथा महाव्रतो की दृष्टि से तो समान है। हाँ, व्यक्तिगत जीवन की आचार-विषयक न्यूनाधिकता हो सकती है और वह तो सामान्य साधुओ मे भी हो सकती है, और वह होती ही है। परन्तु उससे साधु और आचार्य का भेद नहीं हो सकता। फिर आचार्य का महत्त्व किस रूप मे है?

यदि जैन-धर्म के अनुसार अनुग्रह ही अहिंसा है और निग्रह अहिंसा नही है, बल्कि हिंसा ही है तो आचार्य के लिए कोई स्थान नही होना चाहिए। जैन-धर्म मे हिंसा को कोई स्थान नही है, और जब हिंसा के लिए स्थान नही है तो हिंसा-स्वरूप दण्ड के लिए भी कोई स्थान नही है, और जब दण्ड के लिए स्थान नही है तो, फिर आचार्य के लिए भी स्थान नही होना चाहिए। क्योकि आचार्य अपने औचित्य के अनुसार दोषी को दण्ड देता है।

आचार्य सघ का नेतृत्व करता है। वह देखता रहता है कि कौन क्या कर रहा है, और किस विधि से कर रहा है? कौन साधक किस पगडण्डी पर चल रहा है सब ठीक-ठीक चल रहे है या कोई पथ-विचलित हो गया है? यह निरीक्षण-कार्य आचार्य का ही उत्तरदायित्व है। जब सब ठीक-ठीक चलते है तो सबको उनका अनुग्रह मिलता रहता है। बहुधा महान् आचार्यों को देखा है कि छोटो के प्रति उनका अनुग्रह अपेक्षाकृत अधिक रहता है। जिस प्रकार पिता, पुत्र को प्रेम की दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार आचार्य भी अपने छोटे से छोटे शिष्य पर अपार प्रेम बरसाते है। क्षुल्लको के समान ही वृद्धो के लिए भी वे सेवा का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। वे निरन्तर इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि सघ मे किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाये। यदि किसी पर कष्ट आ भी पडता है तो उसकी शान्तिमय निवृत्ति के लिए वे सद्भावना प्रेरित करते है। शिक्षार्थी मुनियो का अध्ययन ठीक चल रहा है या नही, और स्थविरो की सेवा की सुव्यवस्था है या नही? छोटे बालक जो प्राय सघ मे आये है, उनका समुचित विकास तथा प्रगति हो रही है या नही। छोटो के प्रति समाज मे छोटे-बड़े की ऐसी उपेक्षा भावना तो नही है कि—अरे! छोटे साधुओ मे क्या रखा है, इत्यादि इस तरह अपने उत्तरदायित्व के नाते आचार्य छोटी-बडी सभी बातो का ध्यान रखते है और सभी के प्रति यथोचित अनुग्रह रखते है।

आचार्य सघ का अहिंसक गोप

परन्तु आचार्य का अनुग्रह तभी तक प्राप्त होता है, जब तक साधक मर्यादा मे चलते है और अनुशासन का पूर्णत पालन करते हैं। इसी कारण आचार्य को गोप की उपमा दी गई है। भगवान् महावीर को भी महागोप कहते है, अर्थात्—सबसे बड़े ग्वाले। ग्वाला अपनी गायो, भैंसो तथा अन्य पशुओ को वन-भूमि की ओर ले कर चलता है। जब तक पशु ठीक-ठीक चलता है तब तक वह अपने दण्ड का प्रयोग नही करता, अर्थात् डण्डा नही मारता। यदि भावावेश मे बिना कारण ही डण्डा मार देता है, तो समझना चाहिए कि वह पागल हो गया है। जब ग्वाला इस प्रकार का पागलपन प्रस्तुत करे तो उसे पशुओ को चराने का अधिकार नही देना चाहिए। इसके विपरीत जब कोई पशु दौड कर आस-पास के खेत मे मुह डाल देता है तो उसे विवेक के साथ डण्डे का प्रयोग करना चाहिए और पशु को खेत से बाहर कर देना चाहिए। वह

पशुओं को इधर-उधर नही भटकने देगा और मर्यादा से बाहर पशुओ की हरकत देख-कर उन पर डण्डे का उचित प्रयोग भी करेगा ।

ग्वाले का रूपक भगवान् महावीर के लिए भी प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि भगवान् महागोप थे । आचार्यों को भी सघ का गोप कहा गया है, अर्थात् साधु और श्रावक जब तक अनुशासन की मर्यादा मे चलते हैं, तब तक आचार्य उन्हे दण्ड नही देते, बल्कि अपार अनुग्रह की रस-वर्षा करते है । परन्तु जब आचार्य यह देखते हैं कि कोई मर्यादा के बाहर गया है और उसी गति से चला जा रहा है तो उस समय वे उसे डाँटते है, और यदि कोई गलती करता है, तो उसे दण्ड भी देते है । जब आचार्य दण्ड देते है, तो आखिर दण्ड तो अपना तद्रूप प्रभाव डालेगा ही ।

आचार-सहिता के अनुसार साधु का यह कर्त्तव्य बतलाया गया है कि कदाचित् साधु मर्यादा से बाहर चला जाए या गलती कर बैठे तो उसे अपने को तत्काल सभाल लेना चाहिए और स्वय ही आचार्य को अपने दोषयुक्त कार्य की सूचना दे देनी चाहिए कि मुझसे अमुक गलती हो गई है । चाहे मनुष्य कितना ही सावधान क्यो न रहे, किन्तु जब तक वह साधक है और प्रारम्भिक साधना मे लगा हुआ है, तब तक उससे कही न कही छोटी-मोटी भूल हो जाए ऐसा स्वाभाविक है ।

जागृति

इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है कि प्रत्येक क्षण जीवन मे जागते रहो । क्या कारण है कि जागते हुए भी सो जाओ ? और यदि बाहर मे सोए हुए हो, तब भी अन्दर मे पूर्णत जागृत रहो ।

जब साधु जागृत अवस्था मे है तब तो वह जागता है ही, किन्तु जब निद्रावस्था मे हो तब भी उसे जागता ही समझो[१] । वह जब अकेला है, तब भी जागता है । जब वह सब के बीच मे है, तब भी जागता है । नगर मे है, तब भी जागता है, और यदि वह वन मे वास कर रहा है तब भी जागता रहता है । साधु के सम्बन्ध मे जो पाठ आता है, उसमे कहा गया है ।

साधु को प्रत्येक परिस्थिति मे एक ही निर्दिष्ट मार्ग पर चलना है । अकेले मे भी और हजारो के बीच मे भी सोते हुए भी, और जागते हुए भी, वन मे भी और नगर मे भी । साधना जीवन की यही समरसता है ।[२] वह अपने लिए है, अपने विकास

---

१ 'सुत्ताऽमुणिणो'
'मुणिणो सया जागरति' —आचारांग

२ 'से गामे वा नगरे वा रण्णे वा 'दिया वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा ।।''
—दशवैकालिक सूत्र, चतुर्थ अध्ययन ।

के लिए है। अत वह हर हालत मे एकरूप रहनी चाहिए। सच्चा साधक दर्शकों की उपस्थिति या अनुपस्थिति को सामने रख कर अपने जीवन-पथ का मानचित्र तैयार नही करता।

साधक अपने को संयम की शूली पर समझे

राजस्थान की वीर नारियो की कहानी बहुत ही प्रसिद्ध है और खासतौर से मीरा की कहानी, जिसने सोने के महलो मे जन्म लिया और सोने के महलो मे ही जिसका विवाह भी सम्पन्न हुआ। एक दिन ससार की भौतिक ताकत ने उसे महलो मे बन्द रखने और वैभव की मोहक नीद मे सुला देने की भरपूर कोशिश की, किन्तु वह महलो म बन्द नही हो सकी, वैभव की नीद नही सो सकी। भगवत्प्रेम का महान् आदर्श उसके हृदय के कण-कण मे उमडता रहा।

उसने कहा—३ जो साधक है, वह तो सयम की शूली पर बैठा है। साधु या गृहस्थ कोई भी हो, उसके जो व्रत या नियम है, शूली की नोक के समान है। वहाँ पर दूसरी कोई फूलो की सुख-सेज नही मिलेगी। फूलो की सुख-सेज पर शयन करने वाले तो सम्राट् होते है, अत यदि वे खर्राटे लेना चाहे तो ले सकते है। परन्तु जो साधक साधना-रूपी शूली की सेज पर बैठा है, वह सुख की नीद के खर्राटे नही ले सकता। उसका तो एक-एक क्षण जागेगा। उसके लिए हर प्रतिज्ञा शूली की सेज है। साधु ने अहिंसा और सत्य आदि की जो प्रतिज्ञाएँ ली है, उनमे से प्रत्येक प्रतिज्ञा शूली की सेज है।

कोई कह सकता है कि शूली पर जब सुदर्शन चढ़े, तो फूल बरसे और शूली सिंहासन हो गई थी। बात ठीक है, किन्तु शूली पर चढ़े बिना फूल नही बरसते। जब हम जीवन के क्षेत्र मे चलते है, तब यदि उस साधना-रूपी शूली की सेज पर नही चढ़ेगे तो फूल नही बरसने वाले है। फूल तो तभी बरसेंगे, जब साधक अपने आपको सयम और साधना की कसौटी पर सच्चा सिद्ध कर देगा।

इस दृष्टिकोण से हर साधक को हर समय जाग्रत रहना है। क्योंकि छद्मस्थ आखिर छद्मस्थ है, वह सर्वज्ञ और वीतराग नही हो गया है। वह अपूर्ण है। यदि वह अपूर्ण एव साधारण साधक अपने आपको पूर्ण एव विशिष्ट समझने लगता है तो यह उसकी भयकर भूल है। इस प्रकार छद्मस्थ होने के कारण कदाचित् वह लड़खडा जाता है। वास्तव मे मोहनीय कर्म बडा ही बलवान है। इसके प्रभाव से कभी क्रोध की उछाल आ जाती है, तो कभी मान की लहर भी आ जाती है, और कभी कोई अन्य तरग भी उठ खडी होती है।

पुरातन सतों के श्रीमुख की ऐसी उक्ति है कि जब लवण-समुद्र मे तूफानी लहरें

---

३ हेरी मैं तो दर्द दिवानी, मेरा दर्द न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोना होय॥

आती है तो हजारो देवता उन लहरो को दबाने का प्रयत्न करते हैं। वे लहरें दबती हैं या नही ? यह दूसरी बात है, किन्तु हमारे हृदय की लहरें तो ज्वार-भाटे की भाँति उछाल मार रही है और एक बडा तूफान पैदा कर रही है। जब इतना भयङ्कर तूफान आता है, तो क्या होता है ? तब हम उस त्याग और सयम की दिव्यशक्ति से उस समुद्र को निरन्तर दबाते हैं। कम से कम मन के महासागर मे तो यह चीज चलती ही रहती है। फिर भी कभी मन काबू से बाहर हो जाए तो उसका क्या उपाय है ? यही कि आत्म-शुद्धि करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा साधक गलती होने पर फौरन आचार्य के पास पहुँचे, तब तो ठीक है, अन्यथा स्वय आचार्य दण्ड की व्यवस्था करते है और इस तरह अनुग्रह करते-करते कभी निग्रह का प्रसग भी उपस्थित हो जाता है। अर्थात् यदि आचार्य मे अनुग्रह करने की शक्ति है, तो निग्रह करने की भी शक्ति है। जब वे अनुग्रह करते है तो पूरा अनुग्रह, और जब दण्ड देते है तो वह भी पूरा और मर्यादा के अनुसार। उन्हे सघ ने यह अधिकार दिया है और उनका यह उत्तरदायित्व भी है। यदि कोई आचार्य किसी भी कारण से इस उत्तरदायित्व की उपेक्षा करता है तो वह आचार्यपद पर नही रह सकता। ऐसी स्थिति मे उन्हे अपना यह पद स्वय त्यागना होगा या सघ उनको पद-त्याग के लिए बाध्य करेगा।

अनुग्रह की तरह निग्रह भी कर्त्तव्य

इस प्रकार उचित प्रसग पर दोषी को दण्ड देना आचार्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है, परन्तु जब दण्ड दिया जाता है तो दण्ड पाने वाले को कष्ट होता है। जब कष्ट होता है तो वहाँ हिंसा होगी या अहिंसा ? यदि वह दण्ड हिंसा का सूचक है और केवल तकलीफ पहुँचना ही हिंसा है तो इस स्थिति मे दण्ड देने का अधिकार आचार्य को नही रह जाता है। क्योकि साधु-जीवन मे हिंसा का कार्य नही किया जा सकता। किन्तु जब हम उस निग्रह एव दण्ड को अहिंसा मानते है तो आचार्य के लिए दोषी को दण्ड देने का अधिकार सर्वथा न्याय-सगत हो जाता है। आचार्य की ओर से दिया जाने वाला दण्ड हिंसा की बुद्धि से और द्वेष की भावना से नहीं दिया जाता है। जब आचार्य निग्रह करते है तो शास्त्रानुसार कडे से कडा दण्ड देते है, किन्तु उनके मन मे अहिंसा रहती है। दया और कल्याण की भावना लहराती है, क्योकि उस साधक के प्रति उनकी आत्म-बुद्धि की भावना है।

बच्चा जब गन्दा हो जाता है तो माता उसे स्नान कराती है और उसके वस्त्र साफ करती है, तब वह चिल्लाता है, हल्ला मचाता है। स्नान से उसे तकलीफ होती है, किन्तु अबोधपन के कारण वह नही समझता कि मुझे क्यो परेशान किया जा रहा है। परन्तु जो कुछ भी किया जा रहा है, उसके सम्बन्ध मे माता के हृदय से पूछिए कि वह बालक की सफाई और स्वच्छता कष्ट देने के लिए कर रही है, अर्थात्—हिंसा

के उद्देश्य से कर रही है या मन मे उठी वात्सल्य की हिलोर से प्रेरित हो कर कर रही है ?

धर्म-शास्त्रो मे वर्णन आया है कि आचार्य को माता और पिता का निर्मल एव स्नेह-सिक्त हृदय रख कर साधक को दण्ड देना चाहिए शत्रु का क्रूर हृदय[४] रख कर नही। दण्ड-पात्र यदि समझदार है तो वह भी यही समझता है कि जो दण्ड उसे दिया जा रहा है—वह पिता के हृदय से दिया जा रहा है और उसमे कल्याण की भावना समाविष्ट है, शत्रु की भावना तो दण्ड से कोसो दूर है। जो कल तक अनुग्रह कर रहे थे, वही आज अकारण इतने कठोर क्यो बन सकते है ? अस्तु, वह समझता है कि आचार्य उसे सुधारने के लिए ही इतने कठोर बने हैं, किन्तु उनकी इस कठोरता मे भी करुणा की विशुद्ध भावना विद्यमान है।

चने के पौधे को जब तक ऊपर-ऊपर से काटा नही जाता, तब तक वह ठीक तरह बढ नही पाता, और जब उसे ऊपर से काट-छाँट दिया जाता है तो झट उसका विकास शुरू हो जाता है। इसी प्रकार जब तक साधक की गलती पर प्रायश्चित्त नही दिया जाता, तब तक उसका विकास रुका रहता है। किन्तु प्रायश्चित्त ले लेने पर विकास मे वृद्धि होती है और उसका मार्ग अवरुद्ध नही होता। निस्सन्देह ऐसे साधक ही अपने जीवन मे फलते-फूलते है और महान् बनते हैं।

दण्ड और दया के मध्य सन्तुलन हो

दण्ड अविचारित नही होना चाहिए। उस पर दया का अकुश रहना चाहिए। समाज मे व्यक्तियो की मन स्थिति मे जब तक भेद है, तब तक दण्ड मिट नहीं सकता दण्ड के बाद दया के प्रयोग व करुणा के भाव से व्यक्ति का जीवन परिवर्तित हो जाता है। रामराज्य मे दण्ड साधन है, साध्य नही। अन्तत दण्ड खत्म हो जाता है। भरतजी के मन मे माता कैकेयी के प्रति आक्रोश था, विद्वेष नही। भरत के आक्रोश ने माँ की ममता को काटा और यही उन्हे अभीष्ट था। मथरा पर लक्ष्मणानुज शत्रुघ्न ने प्रहार किया, भरत ने उसे छुडा दिया। दण्ड और दया के मध्य मे यही सन्तुलन **'रामचरितमानस'** का आदर्श है। दोनो के सन्तुलन द्वारा ही समाज सुव्यवस्थित रह सकता है।

निग्रह भी अहिंसा का एक रूप है। वस्तुत यह एक अपेक्षा है, जिसके बल पर जैन-धर्म कहता है कि निग्रह भी अहिंसा है। अपेक्षा तो हर जगह और हर समय

---

४ ज मे बुद्धाऽणुसासति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाहोत्ति पेहाए पयओ त पडिसुणे॥
अणुसासणमोवाय दुक्कडस्स य चोयण।
हिय त मण्णइ पण्णो वेस होइ असाहुणो॥'

—उत्तराध्ययन सूत्र १, २७-२८।

रहती है। निरपेक्ष वचन एकान्तमय होता है और वह जैन-धर्म को कभी मान्य नही है, कही भी स्वीकार नही है। जब हम इस विषय का चिन्तन की दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण करते है, और गहराई से विचार करते है तो ज्ञात होता है कि यद्यपि 'अनुग्रह' और 'निग्रह', यह दो शब्द ऊपर से अलग अलग अर्थ के वाचक मालूम पडते हैं। परन्तु गहराई मे जाने पर अन्तत दोनो का उद्देश्य और प्रयोजन एक ही हो जाता है। आचार्य के द्वारा साधक के हितार्थ किया हुआ निग्रह भी अनुग्रह का ही एक रूप है। इसके विपरीत कभी-कभी अनुग्रह भी हिंसा का रूप धारण कर लेता है। इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण इस प्रकार है—

मान लीजिए, एक बच्चा बीमार है। डाक्टर ने उसे मिठाई खाने के लिए मना कर दिया है। पर उसकी माता स्नेहवश कहती है—'बेटा, मिठाई खा ले।' इस दशा मे माता का यह अनुग्रह क्या होगा? तात्पर्य यह है कि हर एक जगह एक-सी बात लागू नही होती है। अनुग्रह तथा निग्रह दोनो ही समयानुकूल अपेक्षाकृत है। अतएव कभी अनुग्रह का रूप निग्रह मे प्रकट हो सकता है, और कभी निग्रह का रूप अनुग्रह मे हो सकता है। इसके लिए भावना-जगत् को देखना नितान्त आवश्यक है।

यही पर एक प्रश्न और उपस्थित होता है। यदि यह माना जाए कि निग्रह दण्ड है, और दण्ड देना हिंसा है, ऐसी स्थिति मे यदि एक बारह व्रतधारी श्रावक है और वह अपने व्रत-विधान का पूरी तरह पालन कर रहा है। किन्तु साथ ही वह एक सम्राट् भी है, राजा है या अधिकारी नेता है। एक दिन उसके सामने एक जटिल समस्या आ जाती है—एकाएक आक्रमण का प्रश्न खडा हो जाता है। उसके देश पर कोई अत्याचारी विदेशी राजा आक्रमण कर देता है। अब वह श्रावक राजा क्या उपाय करे? जो आक्रमण करने वाला शत्रु राजा है वह द्रुतगति से चढ कर आने वाला है। आक्रामक के रूप मे वह देश को लूटता है और प्रजाजन को पीडित करता है। देश की लूट के साथ वहाँ की सस्कृति और सभ्यता को भी नष्ट करता है, माताओ और बहिनो की आबरू भी बिगाडता है। इधर वह श्रावक राजा देश का नायक बना है और प्रजा की रक्षा का महान् उत्तरदायित्व भी लिए हुए है। तब ऐसी स्थिति मे उसका क्या कर्त्तव्य होना चाहिए? राष्ट्र की सुरक्षा और शान्ति के लिए वह क्या उपाय करेगा? वह निग्रह का मार्ग अपना कर देश की समुचित रक्षा करेगा, अथवा स्वदेश की लाखो निरीह जनता को अत्याचारी आक्रामक के चरणो मे अर्पण कर अन्याय के सामने मस्तक टेक देगा?

जैन-धर्म इस सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कहता है कि इस प्रकार के प्रसगो पर हिंसा मुख्य नही है, अपितु अन्याय का प्रतीकार करना मुख्य है और जनता की समुचित रक्षा ही मुख्य है। वह श्रावक राजा अपनी ओर से किसी पर व्यर्थ आक्रमण करने नही जाएगा। जो पडोसी देश व्यवस्थापूर्वक शान्ति से रह रहे हैं, वहाँ पर अपनी साम्राज्यशाही विजय का झडा गाडने के लिए नही पहुँचेगा। किन्तु जब कोई

शत्रु बन कर उसके देश मे खून बहाने आएगा, तब वह अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए लडने की पूरी तैयारी करेगा और अवश्य लडेगा। स्थूल प्राणातिपात (हिंसा) का यथास्थिति त्याग करते समय, श्रावक ऐसे रक्षात्मक सघर्ष के लिए पहले से ही छूट रखता है।

चतुर्विध हिसा और श्रावक के लिए त्याज्य सकल्पी हिसा

जैनाचार्यों ने हिंसा के सम्बन्ध मे काफी सूक्ष्म चिन्तन किया है। उन्होने हिंसा की व्याख्या करते हुए उसके चार भेद किए है—(१) सकल्पी, (२) आरम्भी, (३) उद्योगी, और (४) विरोधी।

जान-बूझकर मारने का इरादा करके किसी प्राणी को मारना—'सकल्पी हिसा' है।

चौके-चूल्हे आदि के काम-धन्धो मे जो हिंसा हो जाती है—वह 'आरम्भी हिंसा' कहलाती है।

खेती-बाडी, व्यापार, उद्योग आदि करते हुए जो हिंसा हो जाती है—वह 'उद्योगी हिसा' कहलाती है। और

शत्रु का आक्रमण होने पर देश को विनाश से बचाने के लिए तथा अन्याय-अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए सुरक्षा एव शान्ति की दृष्टि से जो युद्ध किया जाता है, और उसमे जो हिंसा हो जाती है—वह 'विरोधी हिसा' कहलाती है।

इन चार प्रकार की हिसाओ में से श्रावक कौन-सी हिंसा का त्याग करता है, और कौन-सी हिंसा की उसे छूट रहती है? इसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर हमे विचार करना चाहिए।

श्रावक इनमे से सिर्फ 'सकल्पी-हिसा' का परित्याग करता है। मारने की भावना से जो निरपराध की हिंसा की जाती है, उसी का वह त्याग कर पाता है।

प्रवृत्तिपरायण श्रावक 'आरम्भी-हिंसा' का सर्वथा त्याग नही कर सकता, क्योकि उसे उदर-पूर्ति आदि के लिए समय-समय पर आरम्भ-समारम्भ करना पडता है और उसमे हिसा का होना स्वाभाविक है।

यही बात 'उद्योगी-हिंसा' के सम्बन्ध मे भी है। आखिरकार जीविकोपार्जन के लिए काम-धन्धे करने ही होते है, और जब उन्हे किया जाएगा तो हिंसा का होना स्वाभाविक है। इस कारण श्रावक उसका परित्याग भी सर्वतोभावेन नही कर सकता।

अब रही 'विरोधी-हिंसा', सो श्रावक उसका भी परित्याग नही करेगा। क्योकि उसे निर्दय शत्रुओ से अपनी, अपने परिवार की, अपने देश की, जिसकी समुचित रक्षा का महान् उत्तरदायित्व उसके ऊपर है, यथावसर रक्षा करनी ही होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि स्थूल हिंसा का त्याग करते समय श्रावक सकल्पी हिंसा का त्याग करेगा। अर्थात् वह बिना प्रयोजन खून से हाथ

नहीं मरेगा । मारने के लिए ही किसी को नही मारेगा, धर्म के नाम पर किसी निर्दोष की हिंसा नही करेगा, और इसी प्रकार की अन्य हिंसा भी नही करेगा । इस कथन की पुष्टि के लिए एक पाश्चात्य दार्शनिक का अभिमत प्रस्तुत किया जा सकता है ।

रस्किन ने, जो पश्चिम का एक बडा दार्शनिक था, उपदेशक एव वकील आदि धन्धे की आलोचना की है । उसकी एक पुस्तक का 'सर्वोदय' नाम से महात्मा गाँधी ने अनुवाद किया है । उसमे रस्किन कहता है—"सिपाही का आदर्श यह है कि वह स्वय किसी को मारने नही जाता, किन्तु देश की रक्षा के लिए जब वह खडा होता है तब उससे किसी का कत्ल हो जाता है और कभी खुद भी कत्ल हो जाता है ।"

अभिप्राय यह है कि कत्ल करना उसकी मुख्य दृष्टि नही है, बल्कि उसका प्रधान लक्ष्य तो रक्षा करना है और रक्षा करते-करते सम्भव है, वह दूसरे को मार दे या खुद भी मर जाए ।

कुछ लोग कहते है कि जैन-धर्म की अहिंसा पगु है, उसने देश को गुलाम बनाया है और देश को बिगाड दिया है । इस प्रकार सारी बुराइयो का उत्तरदायित्व जैन-धर्म पर डाला जाता है । परन्तु जैन-धर्म मे प्रतिपादित 'अहिंसा' के वर्गीकरण का तथा उसकी विभिन्न श्रेणियो और भूमिकाओ का यदि गहराई के साथ अध्ययन किया जाए तो उन्हे ऐसा कहने का मौका नही मिलेगा । दुर्भाग्य से दूसरो ने तो क्या, स्वय जैनो ने भी जैन-धर्म की अहिंसा को समझने मे भयकर भूल की है और उसे समझने का पूरी तरह प्रयत्न नही किया है । चूंकि उन्होने जैन-धर्म को समझा नही है, तभी तो यह सब गडबड हुई है और नित्य प्रति हो रही है ।

रावण के अत्याचार के खिलाफ राम का युद्ध जायज था या नहीं ?

मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी की पत्नी सीता को रावण चुरा ले गया । रावण उस पर अत्याचार करना चाहता था, उसके सतीत्व को भग करने के लिए प्रस्तुत हो रहा था । तब राम ने लका पर आक्रमण करने के लिए सेना तैयार की । भारतीय रणनीति के अनुसार युद्ध आरम्भ करने से पहले अगद आदि के द्वारा समझौते का सन्देश भी भेजा । रावण समझौता करने को बिल्कुल तैयार नही हुआ । सीता को लौटाना उसने कथमपि स्वीकार नही किया । ऐसी परिस्थिति मे राम जैन-धर्म से पूछें कि—'मै क्या करूँ ? एक तरफ सीता की रक्षा का प्रश्न है ! अत्याचारी के आक्रमण पर प्रत्याक्रमण का प्रश्न है ! अन्याय, अत्याचार और बलात्कार के प्रतीकार का प्रश्न है ! और दूसरी तरफ युद्ध का प्रश्न है !!' यह तो स्पष्ट ही है कि युद्ध तो युद्ध ही है और जब युद्ध होगा तो हजारो माताएँ पुत्रहीना हो जाएँगी, हजारो पत्नियाँ अपने पति गँवा बैठेगी, और हजारो पुत्र पिताओ से हाथ धो बैठेगे । हजारो घरो के दीपक बुझ जाएँगे, देश के कोने-कोने मे हाहाकार मच जाएगा । इस प्रकार कुछ के लिए तो सारी जिन्दगी के लिए रोना शुरू हो जाएगा । ऐसी स्थिति मे राम को क्या करना चाहिए ?

यही प्रश्न जैन-धर्म को हल करना है। इसी दुविधा का समाधान जैन-धर्म को तलाश करना है।

लोग कह सकते हैं कि ऐसे अवसर पर मौन रहना ठीक है। किन्तु राम कहते हैं—'मैं दुविधा मे हूँ और निर्णय करना चाहता हूँ कि क्या करूँ?' जिससे वे पूछते है, व्यवस्था माँगते है, वही मौन धारण कर लेता है। किन्तु मौन धारण कर लेने से क्या किसी समाज की उलझी हुई समस्याओ का हल निकाला जा सकता है? फिर ऐसे विकट और नाजुक प्रसग पर, जो धर्म मौन धारण कर लेता हो, वह क्या जीवन-व्यापी धर्म कहला सकता है? क्या यह मौन उसकी दुर्बलता का द्योतक नही होगा? क्या उस मौन से उसकी कार्य-क्षमता मे बट्टा नही लगेगा? क्या यह उस धर्म का लँगडापन सिद्ध नही करेगा? ऐसे अवसर पर व्यक्ति को अपना कर्त्तव्य पहचानने के लिए क्या किसी दूसरे धर्म की शरण मे जाना चाहिए? यदि जैन-धर्म वास्तव मे जीवन-व्यापी धर्म है, यदि वह दुर्बल नही है, लँगडा-लूला भी नही है, अपितु पूर्णतया क्षमताशाली है, तो उसकी शरण मे आने पर किसी दूसरे धर्म से भीख माँगने की आवश्यकता नही रहती। कर्त्तव्य की पुकार पर वह मौन नही रहेगा, उचित कर्त्तव्य की सूचना अवश्य देगा।

हाँ, तो जैन-धर्म क्या सूचना देता है, और किस ढग से देता है? एक तरफ घोर हिंसा है! और दूसरी तरफ एकमात्र सीता की रक्षा का प्रश्न है!! इस अवसर पर रामचन्द्र सोचते हैं—'मुझे क्या करना चाहिए?' जो लोग यह समझते है कि जहाँ ज्यादा जीव मरते है, वहाँ ज्यादा हिंसा होती है। उनके इस विचार से तो रामचन्द्रजी को चुप हो कर निष्क्रिय रूप से किसी कोने मे बैठ जाना चाहिए! क्योंकि युद्ध मे बहुत से जीवो की हिंसा होती है और वे जीव भी एकेन्द्रिय नही, पचेन्द्रिय है! और फिर उनमे भी अधिकाशत मनुष्य! किन्तु जैन-धर्म ऐसा नही कहता। जैन-धर्म तो यह कहता है कि यदि तुम सीता को बचाने के लिए जा रहे हो तो वहाँ केवल एक सीता का ही साधारण प्रश्न नही है, बल्कि हजारो सीताओ की रक्षा का गम्भीर सवाल है! जिसे प्राण-पण से हल करना राम का कर्त्तव्य है। यदि आज एक गुण्डा किसी एक सती पर अत्याचार करता है तो वह वास्तव मे एक ही महिला की रक्षा का प्रश्न नही है, अपितु उसके पीछे हजारो-लाखो गुण्डो के सामूहिक अत्याचार का गम्भीर प्रश्न है। यदि आज एक गुण्डे के अत्याचार को सिर झुका कर सहन कर लिया जाएगा तो कल सैकडो, और परसो हजारो गुण्डे सिर उठाएँगे, और इस प्रकार ससार मे किसी सती का सतीत्व तथा मान-मर्यादा सुरक्षित नही रह सकेगी। दुनिया मे अत्याचार, अनाचार और बलात्कार का ऐसा दौर शुरू हो जाएगा कि जिसकी कोई सीमा ही नही होगी। फिर बेचारे धर्म को स्थान कहाँ रह जाएगा?

अतएव राम के सामने केवल एक सीता का प्रश्न नही था, बल्कि हजारो सन्नारियो की रक्षा का प्रश्न था। राम को अपने भोग-विलास के लिए एक सुन्दर

युवती की आवश्यकता थी, और उसके लिए वे हजारो के गले कटवाने पर प्रस्तुत हो रहे थे , ऐसी कल्पना स्वप्न मे भी नही करनी चाहिए। इस स्थिति के लिए तो जैन-धर्म किसी भी तरह की स्वीकृति नही दे सकता। उक्त दशा मे वह यही कहेगा—वासना-पूर्ति के लिए एक नारी की जीवित मूर्ति चाहिए, तो हजारो मिल सकती है। फिर क्यो व्यर्थ ही आग्रहवश सहार का पथ अपनाया जाए ?

राम के लिए तो यह प्रश्न उपस्थित ही नही होता। जैन रामायण मे एक वर्णन आता है कि रावण ने राम के पास सन्देश भेजा था कि 'एक सीता को रहने दो। मैं उस एक के बदले मे कई हजार सुन्दर कुमारिकाएँ तुम्हारे लिए भेज दूँगा। तुम आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करना। मै आनन्द की सब सामग्री भी तुम्हे दे दूँगा, मात्र सीता को छोड दो।' किन्तु उस समय राम के सामने भोग-विलास का प्रश्न नही था। वे इस दृष्टि से सीता को पाने का प्रयत्न नही कर रहे थे। वे तो अपने पुनीत कर्त्तव्य का पालन कर रहे थे। वे तो अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए कटिबद्ध हो रहे थे। एक पत्नी और एक नारी के अपमान की रक्षा के लिए उन्होने प्रण किया था कि प्राण दे कर भी उसकी रक्षा करना है। यदि राम इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए सन्नद्ध है तो यह गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का पालन है और उस मर्यादा का पालन करते समय जैन-धर्म हिंसा या अहिंसा की दुहाई दे कर किसी का हाथ नही पकडता है, न मौन ही साधता है।

राम ने रावण के साथ युद्ध किया, परन्तु युद्ध करना उनका उद्देश्य नही था। सीता को प्राप्त करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। उस अवसर पर वे अपने कर्त्तव्य की प्रेरणा की उपेक्षा नही कर सकते थे। ऐसी स्थिति मे युद्ध का उत्तरदायित्व राम पर पडता है या रावण पर ? रावण स्वय अत्याचार करने को तैयार होता है और उसके सामने माताओ तथा बहनो के पवित्र सतीत्व का कोई मूल्य नही है। उधर राम कहते हैं—"मुझे कुछ नही चाहिए। न तो पृथ्वी चाहिए, न सुन्दर ललनाएँ, और न तेरी सोने की लका का एक रत्ती भर सोना ही चाहिए। मुझे तो मेरी सीता लौटा दे।" जब राम की यह बात पूरी नही हुई तो अन्त मे युद्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि राम ने सती और सतीत्व की रक्षा के लिए ही अत्याचार से युद्ध किया था। तो जैन-धर्म कर्त्तव्य की दृष्टि से—रामचन्द्र को युद्ध से नही रोकता है। अहिंसावादी जैन धर्म अत्याचारी को न्यायोचित दण्ड देने का अधिकार, गृहस्थ को देता है।

इस कथन का मूल अभिप्राय यह है कि गृहस्थ श्रावक की भूमिकाएँ कितनी भी ऊँची क्यो न हो, किन्तु जैन-धर्म का आदेश स्पष्ट है कि जो अन्यायी हो, अत्याचारी हो, विरोधी हो, केवल मानसिक विरोधी नही, वास्तविक विरोधी हो, समाज का द्रोही हो— उसे यथोचित दण्ड देने का अधिकार श्रावक हर समय रखता है। परन्तु उस अवसर पर श्रावक को राग-द्वेष की हीन भावना से कार्य नही करना है, अपितु कर्त्तव्य की उच्च भावना को सामने रखना है। यदि वह ऐसा सोचता है कि शत्रु का भी

कल्याण हो, सघ और समाज का भी भला हो, तो वहाँ भी उस अश मे अहिंसा की सुगन्ध आती है। शत्रु के प्रति हित-बुद्धि रखते हुए उसे होश मे लाने के लिए दण्ड दिया जा सकता है, यह कोई अटपटी और असगत बात नही है। यह तो अहिंसक साधक की सुन्दर जीवन कला है।

कृष्ण का कार्य हिंसावर्द्धक या हिंसा निवारक ?

मुझे उत्तर-प्रदेश और पजाब आदि प्रान्तो मे अधिक घूमने का मौका मिला है। वहाँ राष्ट्रीय स्वय-सेवकसघ वालो की चर्चाएँ ज्यादा होती हैं। कृष्ण को युद्ध का देवता माना जाता है। "महाभारतयुद्ध के मूल प्रेरक एव नेता कृष्ण है। उनकी प्रेरणा पर ही महाभारत का युद्ध हुआ, जिसमे नर-सहार की कोई सीमा न रही। उनकी शख-ध्वनि मे प्रलय का अट्टहास गूंजता था। अत हमे जीवन के लिए कृष्ण के आचार को ही कर्त्तव्यबिन्दु मानना है।" कुछ लोगो को ऐसा कहते हुए सुना है। अनेक बार इस प्रसग को ले कर जैन-धर्म और उसकी अहिंसा पर बहुत ही भद्दी छीटाकशी भी की जाती है।

सयोगवश जब मेरा उनसे वास्ता पडा तो मैंने कहा—आपने कृष्ण के मार्ग को ठीक-ठीक नही समझा है और उनके जीवन से कुछ नही सीखा है। कृष्ण का मार्ग तो जैन-धर्म का ही एक आशिक रूप है। जब आप कृष्ण के जीवन पर चलते हैं तो वस्तुत जैन-धर्म पर ही चलते है, और जब जैन-धर्म पर चलते है तो कृष्ण के मार्ग पर चलते हैं। महाभारत का युद्ध होने से पहले जब पाँचो पाण्डव वनवास की अवधि समाप्त कर कृष्ण के पास द्वारिका मे आ जाते है तो दुर्योधन आदि को समझाने के लिए पहले पुरोहित भेजा जाता है। किन्तु जब उसे कामयाबी नही होती है, तो उसके बाद कृष्ण स्वय शान्तिदूत का कार्य करने को तैयार होते है। कृष्ण क्या साधारण व्यक्ति थे ? वे उस युग के प्रवर्त्तक थे। तत्कालीन कर्म-क्षेत्र मे सबसे बडे कर्मयोगी थे और सबसे बडे सम्राट् थे। वे स्वय दूत बन कर दुर्योधन की सभा मे जाते है।

यदि कभी आपके ऊपर ऐसा काम पड जाए तो आप यही कहेगे—'हमे क्या पडी है ? ऐसे छोटे काम के लिए भला क्यो नाहक अपनी नाक छोटी करवाएँ ?' इस प्रकार दूसरो के लिए दूत-कर्त्तव्य का दायित्व आ जाने पर साधारण आदमी की नाक पर भी सिकुडन आ जाती है।

परन्तु कृष्ण ने अपनी मान-मर्यादा की कोई परवाह नही की, अपनी प्रतिष्ठा का कुछ भी विचार नही किया और दूत बनकर दुर्योधन के पास निस्सकोच चले गये। दुर्योधन की सभा मे पहुँच कर उन्होने जो भाषण दिया, वह ससार के भाषणो मे अपना विशेष महत्त्व रखता है। महाभारत के अध्ययन मे जब मैंने यह भाषण पढ़ा तो मैं गद्गद हो गया। उन्होने कहा—"मैं रक्त की नदी नही बहाना चाहता। रक्त की नदी बहाते हुए जो वीभत्सरूप दिखाई देता है, उसे मैं अपनी आँखो से देखना नही चाहता। मैं नही चाहता कि नौजवानो की शक्ति व्यर्थ ही खत्म हो जाए,

बड़े-बूढो की इज्जत खत्म हो जाए और हजारो-लाखो माताओ, बहनो को जीवन-भर रोना पड़े। दुर्योधन, तुम अन्याय कर रहे हो! अत्याचार पर उतारू हो गये हो!! यह मार्ग ठीक नही है। वस्तुत राज्य पर तो पाण्डवो का ही अधिकार है। यदि तुम उनका पूरा राज्य उन्हे नही लौटाना चाहते हो, तो सिर्फ पाँच गाँव ही उन्हे दे दो। मैं पाण्डवो को समझा दूँगा और उन्हे इतने मे ही सन्तुष्ट कर लूँगा।"

जो कृष्ण दुर्योधन के सामने युद्ध को टालने के लिए इस प्रकार झोली फैला कर खडे होते है, वे हिंसा के देवता है या अहिंसा के? उन्होने युद्धजन्य हिंसा को टालने का कितना अथक प्रयत्न किया! जो आगे आने वाली भयकर हिंसा है, उसके विरोध-स्वरूप उनके कोमल हृदय मे कितनी ऊँची अहिंसा छिपी है? पाँच गाँव का समझौता कितने बलिदानपूर्वक किया जाता है—इसका अन्दाज, तो इसकी गहराई मे उतर कर देखने से ही लग सकता है।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण हिंसा के राक्षस नही थे, बल्कि अहिंसा के साक्षात् देवता थे। किन्तु जब उनकी नही चली और दुर्योधन की दुर्बुद्धि से कोई समझौता नही हो सका तो विवश हो कर लडाई लडनी ही पडी। वह लडाई राज्य-सुख के लिए नही लडी गई। अन्याय और अत्याचार को रोकने का जब कोई दूसरा मार्ग नही रह गया, तब युद्ध का मार्ग अपनाया गया। इस स्थिति मे हम कृष्ण को अहिंसा की दृष्टि से देवता के रूप मे, और दुर्योधन को हिंसा की दृष्टि से राक्षस के रूप मे देखते हैं।

इन सब बातो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि केवल अनुग्रह ही अहिसा नही है और अहिसा का दायरा भी इतना छोटा नही है कि मात्र कष्ट न पहुँचाना और सात्वना देना ही अहिसा हो, बल्कि अत्याचार को रोकने का प्रश्न उपस्थित होने पर एक अश मे, निग्रह भी अहिंसा का रूप धारण कर लेता है। जैन-धर्म अनेकान्तवादी है, जब हम उसे उसी दृष्टि से देखेगे, तभी उसका सही रूप दिखाई देगा और हमारी समस्त भ्रान्तिपूर्ण भावनाओ का समुचित समाधान हो जाएगा।

७ युद्ध, दण्ड और अहिंसा

जीवन, जीवन है। सिद्धान्त और आदर्श जीवन के लिए होते है, जीवन, सिद्धान्त और आदर्श के लिए नही होता। जीवन के समक्ष सबसे विकट समस्या यह है कि उसे सुखमय बनाने के साधन क्या और कैसे होने चाहिए ? अत भारतीय सस्कृति मे, भारतीय धर्मों और भारतीय दर्शनो मे जीवन और जगत् के सम्बन्ध मे बडी गभीरता से विचार किया गया है। जीवन चेतन है और जगत् जड-चेतन-उभयात्मक है। अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने की भावना प्रत्येक चेतन मे विद्यमान रहती है। सुखी चेतन ही अपने जीवन से प्रीति करता हो, यह बात नही है। दु खी चेतन भी अपने जीवन से उतनी ही अधिक प्रीति करता है, जितनी कि सुखी चेतन करता है। अपना जीवन सबको प्रिय होता है। जीवन मे स्वभावत ही प्रेम, अहिंसा और मैत्री का भाव रहता है। अहिंसा, एक वह तत्त्व है, जिसकी सत्ता अनन्त-अनन्त काल से प्रत्येक चेतन मे रही है और अनन्तकाल तक रहेगी। अहिंसा, एक वह परब्रह्म है, जो जगत् के प्राण-प्राण मे और चेतन-चेतन मे परिव्याप्त रहता है। यह बात अलग है कि उसकी अभिव्यक्ति परिस्थितिविशेष मे कही पर अधिक होती है, तो कही पर कम होती है, पर उसकी सत्ता चेतनजगत् मे सर्वत्र रहती है। जगत् का एक भी चेतन प्रीति एव प्रेम से शून्य नही है। अपने प्रति और दूसरे के प्रति मनुष्य के मन मे जो सहज प्रीति-भाव है, वस्तुत वही अहिंसा है।

अहिंसा एक प्रश्न ?

अहिंसा के समक्ष आज जितने प्रश्न पर्वताकार बन कर खडे है, या खड़े कर दिए गए है, सम्भव है, सुदूर अतीत मे इतने प्रश्न कभी न बोभी रहे हो। आज वैचारिक जगत् क्या, पारिवारिक क्या, सामाजिक क्या, राष्ट्रीय क्या और अन्तर्राष्ट्रीय क्या—सवत्र उलझी कडियो को आज का प्रबुद्ध मानव अहिंसा के माध्यम से ही सुलझाना चाहता है। इस प्रलयकर एव भयकर अणु-युग मे अहिंसा ही मानव-जीवन के लिए आशा का मगलप्रदीप है। मानव-जीवन के क्षितिज पर जब-जब निराशा के काले कजरारे मेघ छाए है, तब-तब उसने अपने जीवन की दुरूह समस्याओ के लिए दो पथो का ही चयन किया है—शान्ति और युद्ध। जीवन की उलझी समस्याओ का सही समाधान किसमे है, शान्ति मे अथवा युद्ध मे ? यह एक विकट प्रश्न है। आज फिर इसी सन्दर्भ मे यह प्रश्न उठ खडा हुआ है कि क्या अहिंसा के द्वारा राष्ट्र की

सुरक्षा की जा सकती है ? क्या राष्ट्र पर किए गए आक्रमण का प्रतिकार अहिंसा के द्वारा सम्भव है ?

सिद्धान्त और आदर्श

परन्तु प्रश्न है कि क्या वह स्थिति वर्तमान मे सभव है ? आदर्श अपने मे महान् है, परन्तु उसकी योग्य भूमिका के हुए बिना आदर्श का अतिरेक मनुष्य-जाति को भ्रान्ति के वात्याचक्र म उलझा देना है। आदर्श, आदर्श है, वह व्यवहार मे कब, कहाँ, कैसे और कितना उतरता है, यह गम्भीर विचार की अपेक्षा रखता है। आदर्श व्यवहार मे उतरना चाहिए, यह एक सुन्दर एव आवश्यक सिद्धान्त है, किन्तु किस स्थिति का व्यक्ति उस आदर्श को अपने जीवन मे कितना उतार सकता है, यह उसकी अपनी नैतिक अन्त स्फूर्त शक्ति और देश-काल की परिस्थिति पर निर्भर करता है। हमे यह कभी नही भूल जाना चाहिए, कि आदर्श और सिद्धान्त पहले व्यक्ति के जीवन मे उतरता है और फिर व्यक्ति के माध्यम से ही, वह धीरे-धीरे अशानुक्रम से समाज और राष्ट्र के जीवन मे प्रवेश पाता है। प्रवेश पाता है, यह अभी सम्भावना ही है। अब तक का मानव-जाति का इतिहास तो ऐसी कोई साक्षी नही देता है। अत राष्ट्र पर किए गए क्रूर एव अधर्म आक्रमण के समय प्रतिकार-स्वरूप एक ओर युद्ध है और दूसरी ओर अहिंसा है। इन दोनो मे से किसका चुनाव करना, इसका निर्णय बहुत कुछ राष्ट्रीय-चेतना और उसके देशकाल की परिस्थिति पर निर्भर करता है। अत समाज और राष्ट्र का सम्मान और सास्कृतिक जीवन जिस किसी भी यथाप्राप्त उपाय से अक्षुण्ण रह सके, उस प्रकार का प्रयत्न ही उस युग के व्यक्ति और समाज का कर्त्तव्य है।

एक व्यक्ति इतना ऊँचा हो सकता है कि अहिंसा के उच्च आदश के लिए सर्वस्व निछावर कर दे, और प्रतिफल की कुछ भी कामना न करे। इस प्रकार उसे अपने आपको होम देने का पूरा हक है। किन्तु समग्र समाज और राष्ट्र से तो यह आशा नही की जा सकती। समाज तथा राष्ट्र का आध्यात्मिक जीवन कभी भी एक स्तर पर विकसित नही होता, उसमे उतार-चढाव रहता है और वह साधारण नही, काफी होता है। अत उससे यह एकान्त आशा रखना कि वह समग्रभाव से अपने आपको अहिंसा के इतने ऊँचे आदर्श पर पहुँचाएगा, और प्रसन्नभाव से सर्वस्व का बलिदान कर प्रतिपक्षी के हृदय को परिवर्तन कर उसके द्वारा अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति कर सकेगा, असम्भव है। समग्र समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के द्वारा कभी भी यह तथ्य स्वीकृत नही हो सकता। यह ध्रुव सत्य है कि समाज और राष्ट्र मे रहने वाले व्यक्तियो की भावना और उनके जीवन का दृष्टिकोण कभी एक जैसा नहीं हो सकता। अस्तु, अहिंसा से अन्याय का प्रतिकार करने की क्षमता हर किसी मे नहीं हो सकती। प्राय प्रत्येक व्यक्ति सकट के समय अपने और अपने से सम्बन्धित जनसमूह के जीवन की सुरक्षा चाहता है। और यह सुरक्षा जिस किसी भी उपाय से उसे उपलब्ध हो वह,

सब करने को तैयार हो जाता है। यह सत्य है कि कुछ महानुभाव आध्यात्मिक साधना की विशिष्ट स्थिति पर पहुँच जाएं और साथ ही यह भी सत्य है कि जीवन के अमुक प्रसगो पर वे अपने मनोनीत आदर्शों पर चलने के लिए स्वतन्त्र है, पर समग्र समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र को वे अपने मनोनीत आदर्शों पर चलाने को स्वतन्त्र नहीं है। कारण स्पष्ट है कि व्यक्ति की अपनी सीमा है और समाज की अपनी सीमा है।

दण्ड और अहिंसा :

अहिंसा के उपर्युक्त सन्दर्भ मे एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है—दण्ड का। एक व्यक्ति अपराधी है, समाज की नीतिमूलक वैधानिक स्थापनाओ को तोडता है और उच्छृखलभाव से अपने अनैतिक स्वार्थ, की पूर्ति करता है। प्रश्न है—उसे दण्ड दिया जाए या नही ? यदि उस अपराधी व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है, तो उसे शारीरिक, मानसिक पीडाएँ होती है। उसे कष्ट व परिताप होता है और कष्ट या परिताडन देना हिंसा है और यदि दण्ड नही दिया जाता है, तो अन्याय को बढावा मिलता है, समाज मे अनैतिक कार्यों मे और भी वृद्धि होती है, अन्याय-अत्याचार का प्रसार होता है और जन-जीवन असुरक्षित एव अशान्तिपूर्ण हो कर और भी पीडित हो उठता है। अहिंसा का दर्शन अन्याय-प्रतीकार की इस दशा मे क्या समाधान देता है ?

वस्तुत अहिंसा-दर्शन हृदयपरिवर्तन का दर्शन है। वह मारने का नही, सुधारने का दर्शन है। वह सहार का नही, उद्धार एव निर्माण का दर्शन है। अहिंसा-दर्शन का दण्ड के सम्बन्ध मे कुछ ऐसा विचार है कि अपराधी के अन्दर स्नेह एव सहानुभूति की भावना भर कर मनोवैज्ञानिक प्रणाली से उसमे सुधार किया जाए, अपराधी को मिटाने की अपेक्षा अपराध के कारणो को मिटाना, कही ज्यादा श्रेयस्कर है। क्योंकि अपराध एक मानसिक रोग है, जिसका इलाज प्रेम, स्नेह एव सद्भाव के माध्यम से ही होना चाहिए। भारत सरकार ने भी अहिंसा के इस मनोवैज्ञानिक धरातल को आज के युग मे युक्तियुक्त समझ कर अपनी राजनीति एव दण्डनीति मे इसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। बालसुधारकेन्द्र, वनिताविकासमण्डल, कैदियो के सुधार आदि के रूप म सरकार की ओर से किए गए इस दिशा मे कुछ ऐसे ही प्रयत्न हैं।

भगवान् महावीर का अहिंसा के सम्बन्ध मे यह अमृतमय सन्देश है कि—पापी से पापी व्यक्ति से भी घृणा मत करो। बुरे आदमी और बुराई के बीच अन्तर करना चाहिए। बुराई सदा बुराई है, वह कभी भलाई नही हो सकती। परन्तु बुरा आदमी प्रसग एव वातावरण के अनुसार भला आदमी बन सकता है। मूल मे कोई आत्मा बुरी है ही नही। असत्य के बीच मे भी सत्य, अन्धकार के बीच मे भी प्रकाश छिपा हुआ है। विष भी अपने अन्दर मे अमृत को सुरक्षित रखे हुए है। अच्छे-बुरे—सब मे ईश्वरीय ज्योति जल रही है। अपराधी व्यक्ति मे भी यह ज्योति है, किन्तु दबी हुई है। हमारा प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि वह ज्योति बाहर आए, ताकि समाज मे अपराध की मनोवृत्ति का अन्धकार दूर हो।

अपराधी को कारागार की निर्मम यत्रणाओ से भी सुधारा नही जा सकता । प्राय ऐसा होता है कि अपराधी पहले से भी कही अधिक गलत कार्य करने की तीव्र-भावना ले कर कारागार से लौटता है । वह जरूरत से ज्यादा कडवा हो जाता है, एक प्रकार से समाज का उद्दड, विद्रोही और बागी हो जाता है । फाँसी आदि के रूप मे दिया जाने वाला प्राणदण्ड एक प्रकार से कानूनी हत्या नही तो और क्या है ? प्राणदड का दड तो सर्वथा अनुपयुक्त दड है । कारण, भय के वश मे भले ही कुछेक व्यक्ति उस प्रकार का अपराध करना छोड दे, किन्तु इससे उनके अन्दर मे निहित अपराध की मनोवृत्ति तो समाप्त नही हो पाती । ऐसे मे तो कभी-कभी सही न्याय भी नही हो पाता, और भ्रान्तिवश निरपराध भी प्राणदड का भागी हो जाता है । भगवान् महावीर ने अपने एक सन्देश म नमिराजर्षि के वचन को प्रमाणित किया है कि कभी-कभी मिथ्यादड भी दे दिया जाता है । मूल अपराधी साफ बच जाता है और बेचारा निरपराध व्यक्ति मारा जाता है—

"अकारिणोऽत्थ वज्झति, मुच्चई कारगो जणो ।"

कल्पना कीजिए, इस स्थिति मे यदि कभी निरपराध को प्राणदड दे दिया जाए, तो क्या होगा ? वह तो दुनिया से चला जाएगा, और उसके पीछे यदि कही सही स्थिति प्रमाणित हुई, तो न्याय के नाम पर उस निरपराध व्यक्ति के खून के धब्बे ही शेष रहेगे ! रोगी को रोगमुक्त करने के लिए रोगी को ही नष्ट कर देना कहाँ का बौद्धिक चमत्कार है ? अहिंसा-दर्शन इस प्रकार के दण्ड-विधान का विरोध करता है । उसका दृष्टिकोण है कि दण्ड देते समय अपराधी के साथ भी अहिंसा का दृष्टिकोण रखना चाहिए । उसे मानसिक रोगी मान कर उसका मानसिक उपचार होना चाहिए, ताकि वह भी एक सभ्य एव सुसस्कृत नागरिक बन सके । समाज के लिए उपयोगी व्यक्ति हो सके । ध्वस महान नही है, निर्माण महान् है । अपराधी से अपराधी व्यक्ति के पास भी एक उज्ज्वल चरित्र होता है, जो कि कुछ वैयक्तिक एव सामाजिक परिस्थितियो के कारण या तो दब जाता है, अथवा अविकसित रह जाता है । अत न्यायालय के बौद्धिक वर्ग को अहिंसा के प्रकाश मे दण्ड के ऐसे उन्नत, सभ्य एव सुसस्कृत मनोवैज्ञानिक तरीके खोजने चाहिए, जिनसे अपराधियो का सुप्त उज्ज्वल चरित्र सजग हो कर, समाज के लिए उपादेय सिद्ध हो सके ।

प्रतीकारात्मक अहिंसा का सही मार्ग

ऐसा हो सकता है कि कुछ अपराधी बहुत ही निम्न स्तर के हो, और उन पर मनोविज्ञान से सम्बन्धित भद्र प्रयोग कारगर न हो सकें, फलत उनको शारीरिक दण्ड देना आवश्यक हो जाता है । इस अनिवार्य स्थिति मे भी अहिंसा-दर्शन कहता है कि जहाँ तक हो सके, करुणा से काम लेना चाहिए । शारीरिक दण्ड भी सापेक्ष होना चाहिए, निरपेक्ष एव अमर्यादित नही । शात से शात माता भी कभी-कभी उद्धत सतान को चाँटे मारने को विवश हो जाती है, क्रुद्ध भी हो जाती है, किन्तु अन्तर मे उसका

सहज, सौम्य मातृत्व क्रूर नहीं हो जाता, सुकोमल ही रहता है। माता के द्वारा दिए जाने वाले शारीरिक दण्ड मे भी हितबुद्धि रहती है, विवेक रहता है, एक उचित मर्यादा रहती है। भगवान् महावीर का अहिंसा-दर्शन इसी भावना को ले कर चलता है। वह मानवचेतना के सस्कार एव परिष्कार मे अन्त तक अपना विश्वास बनाए रखता है। उसका आदर्श है—अहिंसा से काम लो। यह न हो सके तो अल्प से अल्पतर हिंसा का पथ चुनो, वह भी हिंसा की भावना से नही, अपितु भविष्य की एक बडी एव भयानक हिंसा के प्रवाह को रोकने की अहिंसाभावना से। इस प्रकार हिंसा मे भी अहिंसा की दिव्यचेतना सुरक्षित रहनी चाहिए।

अन्यायपूर्ण स्थिति को सहते रहना, अन्याय एव अत्याचार को प्रोत्साहन देना है। यह दब्बूपन का मार्ग अहिंसा का मार्ग नही है। कायरता कायरता है, अहिंसा नही है। अहिंसा मानव से अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार का न्यायोचित अधिकार नही छीनती है। वह कहती है, प्रतिकार करो, परन्तु प्रतिकार के आवेश मे मुझे मत भूल जाओ। प्रतिकार के मूल मे विरोधी के प्रति सद्भावना रखनी चाहिए, बुरी भावना नही। प्रेम, सद्भाव, नम्रता, आत्मत्याग अपने मे एक बहुत बडी शक्ति है। कैसा भी प्रतिकार हो, इस शक्ति का चमत्कार एक दिन अवश्य होता है। इसमे तनिक भी सन्देह नही है।

युद्ध और अहिंसा

कभी-कभी यह सुनने मे आता है कि कुछेक लोग यह कहते हैं—'अहिंसा व्यक्ति को कायर बना देती है, इससे आदमी का वीरत्व एव रक्षा का साहस ही मारा जाता है।" किन्तु यह धारणा निर्मूल एव गलत धारणा है। आत्मरक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना, जैनधर्म के विरुद्ध नही है, किन्तु आवश्यकता से अधिक सगृहीत एव सगठित शक्ति अवश्य ही सहाररलीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बना देगी। आप आश्चर्य न करे, पिछले कुछ वर्षों से जो शस्त्रसन्यास का आन्दोलन चल रहा है, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्धसामग्री रखने को जो कहा जा रहा है, उसे तो जैन तीर्थंकरो ने हजारो वर्ष पहले चलाया था। आज जो कार्य कानून एव सविधान के द्वारा लिया जा रहा है, वह उन दिनो उपदेशो के द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बडे-बडे राजाओ को जैनधर्म मे दीक्षित किया था और उन्हे नियम कराया था कि वे राष्ट्ररक्षा के काम मे आने वाले आवश्यक शस्त्रो से अधिक शस्त्रसग्रह न करें। साधनो का आधिक्य मनुष्य को उद्दड एव अमर्यादित बना देता है। प्रभुता की लालसा मे आ कर वह कभी न कभी किसी पर चढ दौड़ेगा और मानव-जगत् मे युद्ध की आग भडका देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकरो ने हिंसा के मूल कारणो को ही उखाडने का प्रयत्न किया है। आज विज्ञान की चकाचौंध मे भूला मानव भले यह गर्व करे कि एक-से-एक अधिक शक्तिशाली शस्त्रास्त्रो का निर्माण कर विज्ञान युद्ध को सदा के लिए समाप्त कर देगा, किन्तु यह मृगमरीचिका से कतई कम नही है। माना, विज्ञान ने कुछेक ऐसी चमत्कारी उपलब्धियो को प्रस्तुत कर

दिखाया है, कि जिनसे आज का मानव चकाचौंध मे पड गया है। किन्तु चकाचौंध की दृष्टि कभी भी सही एव स्थायी हितदृष्टि नही हो सकती।

जैन तीर्थंकरो ने कभी युद्ध का समर्थन नही किया। यहा अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओ के हाथो की कठपुतली बन कर युद्ध के समर्थन मे लगते आये है, युद्ध मे मरने वालो को स्वर्ग का लालच दिखाते आये है, राजा को परमेश्वर का अश बता कर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आये है। वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध मे काफी कट्टर रहे है। 'प्रश्नव्याकरण' और 'भगवतीसूत्र' युद्ध के विरोध मे क्या कुछ कहते है ? यदि थोडा-सा कष्ट उठा कर देखने का प्रयत्न करेंगे तो उनमे बहुत कुछ युद्धविरोधी विचारसामग्री प्राप्त कर सकेंगे। आप जानते है, मगधाधिपति अजातशत्रु कुणिक भगवान् महावीर का कितना उत्कृष्ट भक्त था। औपपातिक सूत्र मे उसकी भक्ति का चित्र चरमसीमा पर पहुँचा दिया है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल समाचार जान कर फिर अन्न-जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है ! किन्तु वैशाली पर कुणिक द्वारा होने वाला आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नही किया, प्रत्युत नरक का अधिकारी बता कर उसके पापकर्मों का भडा-फोड कर दिया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो गया था, लेकिन भगवान् महावीर ने इस बात की जरा भी परवाह नही की। भला, पूर्ण अहिंसा के अवतार सामाचकारी नर-सहार का समर्थन कर सकते थे ?

यह ठीक है कि अहिंसा मानवीय मूल्यो मे सबसे बडा मूल्य है। जीवन का स्थायी समाधान अन्ततोगत्वा अहिंसा मे ही सम्भव है। आखिर कब तक मानव-जाति खूँख्वार भेडिये की तरह आपस मे लडती-झगडती रहेगी, एक-दूसरे को क्षत-विक्षत करती रहेगी। युद्ध से कभी समस्या का स्थायी समाधान नही हो सकता। मानवता का कल्याण अहिंसा की अमृतधारा मे ही है। शान्ति और अहिंसा के अभाव मे मानव जाति की सुरक्षा सम्भव नही है। शान्ति के क्षणो मे मानव-जाति हजारो वर्षों तक टिकी रह सकती है, किन्तु युद्ध की विभीषिका से आक्रान्त हो कर एक दिन भी काटना उसके लिये कठिनतर हो जाता है। जगत् का कल्याण एव मगल अहिंसा एव शान्ति की अमृतगगा मे ही हो सकता है, युद्ध के दावानल मे नही।

हृदय-परिवर्तन और अहिंसा

अहिंसा, या अन्य किसी भी आध्यात्मिक-भावना के कारण दूसरे के हृदय का बदलना, कहाँ तक सम्भव है, यह भी विचारणीय है। विरोधी का हृदय यदि तमसाछन्न है, खुदगर्जी की राक्षसी वृत्ति से ग्रस्त है, तो वह समय पर सहसा कैसे बदला जा सकता है ? सत्त्वगुणप्रधान भावनाशील हृदय ही अहिंसात्मक प्रतिकार का स्नेहोल्लसित अद्भुत एव दिव्य-निमित्त पा कर बदल सकते है। परन्तु भूखे सिंह के समक्ष साधु और असाधु के व्यक्तित्व का क्या अन्तर है ? चित्तौड आदि मे भारत की हजारो ही वीर नारियाँ सतीत्व की रक्षा के लिए जल कर भस्म हो गई। भारत-विभाजन के अवसर

पर हजारो बहनो ने अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए प्राणो की आहुति दे दी। परन्तु प्रश्न है, आततायियो के हृदय कब और कितने बदले ? सीता जैसी साध्वी नारी भी अपने सतीत्व के प्रभाव से, अपहरणकर्ता रावण को पराड्मुख नही कर सकी। अहिंसा के पूर्णावतार भगवान् महावीर गोशालक का कितना हृदय बदल पाये ? और करुणा के देवता महान् बुद्ध भी क्या देवदत्त का हृदय परिवर्तन कर सके ? महावीर अपने युग के चेटक-कोणिक युद्ध को नही रोक सके। बुद्ध भी शाक्य और श्रावस्ती के महारक सघर्ष को नही मिटा सके। उन जैसी अहिंमा की उच्च-साधना अन्यत्र कहाँ सम्भव है, जो स्वार्थान्ध आततायियो का हृदय बदल दे और अहिंसात्मक प्रतिकार का सार्वजनीन मार्ग प्रशस्त करे ?

महावीर और अहिंसा

भौतिक क्षेत्र मे कुछ अपराध-परायण लोगो के लिए शक्ति का प्रतिकार शक्ति ही है। अतएव अहिंसा के महान् वैज्ञानिक विवेचनकार भगवान् महावीर और उनके उत्तराधिकारियो ने गृहस्थसमाज के लिए सुरक्षा के प्रसग मे किसी प्रकार आक्रमण करने का तो निषेध किया, परन्तु दुष्ट विरोधी के आक्रमण का हिंसात्मक प्रतिकार करने के प्रति निषेध-सूत्र का एकान्त आग्रह नही किया। मनुष्य की अपनी भूमिका को लक्ष्य मे न रख कर, केवल भावना के प्रभाव मे बह जाना, फलस्वरूप किसी उच्च आदर्श को उस पर बलात् लादना और फिर उसके फलाफल की मीमासा करना, न सिद्धान्त-सगत है और न तर्क-सगत ही। अत इस प्रश्न पर गम्भीर विचार की आवश्यकता है।

आदर्श एव व्यवहार

अहिंसा एक आध्यात्मिक शक्ति है, वही एक विराट् आत्म-चेतना है। वह निष्कामभाव से अपने को उत्सर्ग कर देने का महान् मार्ग है। अहिंसा के पथ पर जीवन की आहुति दी जा सकती है, दी भी गई है। परन्तु वह किसी भौतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए नही। क्योकि अहिंसा और भौतिक स्वार्थों का परस्पर कोई मेल नही है। अहिसा एक परम धर्म है, यह सत्य है, किन्तु स्वार्थ-लोलुप एव क्रूर व्यक्तियो के खूनी पजो से समाज और राष्ट्र को बचाने के लिए, कभी-कभी एक बुराई होते हुए भी युद्ध अनिवार्य हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने रावण के साथ युद्ध को रोकने का बहुत कुछ प्रयत्न किया था, पर वह रुक न सका। महाभारत के युद्ध को रोकने के लिए, श्रीकृष्ण ने कितना प्रबल शान्ति-प्रयत्न किया था, पर उनको अपने प्रयत्न मे सफलता नही मिली। व्यक्ति के जीवन की मर्यादा समाज और राष्ट्र की मर्यादा से भिन्न है। युद्ध और अहिंसा मानव-जाति की एक ऐसी समस्या है, जिसका अभी तक मौलिक समाधान नही निकल पाया है। इसका मूल कारण है, सामूहिक जीवन मे आदर्श और व्यवहार की विषमता। समाज का आदर्श ऊँचा हो, यह आवश्यक है, परन्तु वह सम्भवित हो, यह भी तो आवश्यक है।

युद्धविशेष और अहिंसा

प्रस्तुत चर्चा मे एक बात खास-तौर से समझने जैसी है। वह यह कि सभी युद्ध एक धरातल पर नही होते हैं। जो युद्ध सुन्दर स्त्री पाने के लिए, दूसरो का राज्य या ऐश्वर्य हड़पने के लिए, अपने अहकार की दुंदुभि बजाने के लिए लडे जाते है, जिनमे आमूलचूल स्वार्थ की दुर्गन्ध उछलती है, वे युद्ध अधर्म-युद्ध है। इस प्रकार के युद्ध व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को पतन के गर्त मे ले जाते है। उक्त युद्धो मे हिंसा का ही एकान्त नग्न ताडव है। परन्तु जो युद्ध व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति के लिए न हो कर दीन-दुर्बलो की रक्षा के लिए, नारीजाति के सतीत्व एव सम्मान की रक्षा के लिए लडे जाते है, जो युद्ध अन्याय एव अत्याचार के प्रतीकारस्वरूप होते है, उन्हे भी अधर्म-युद्ध की कोटि मे रखना, किसी भी तरह धर्मसगत नही है। जो लोग राम-रावण के युद्ध को, अभी-अभी बाँगलादेश के रक्षार्थ लडे गए भारत-पाक-युद्ध को, दोनो पक्षो के लिए एक जैसा ही पापरूप मानते है, उन्हे क्या कहा जाए ? स्पष्ट है, जो युद्ध अपने बिना किसी स्वार्थ के एकमात्र अन्याय के प्रतीकार के लिए, अत्याचार से पीडितो की रक्षा के लिये लडा जाता है, उसमे बाह्य हिंसा के साथ अन्दर मे अहिंसा का निर्मल स्रोत भी प्रवाहित है।

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न उतना मुख्य नही है जितना कि विवेक और अविवेक का प्रश्न मुख्य है। विवेक के अभाव मे अहिंसा भी हिंसा हो जाती है, और विवेक के सद्भाव मे हिंसा भी अन्दर मे अहिंसा का रूप ले सकती है। इसलिए तो कहा है—जयणा धम्मस्स जयणी।' यतना धर्म की मा है। यतना अर्थात् देश, काल परिस्थिति के अनुसार कर्तव्याकर्तव्य का उचित विवेक।

८ | अहिंसा की कसौटी

धर्म चाहे कोई भी हो, जैन अथवा जैनेतर, यदि गहराई के साथ उसका अध्ययन मनन, और चिन्तन किया जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि प्रत्येक धर्म का प्राण या हृदय अहिंसा ही है।

किसी का शरीर कितना ही बलवान और लम्बा-चौडा क्यो न हो, जब तक हृदय उसमे अपना काम करता रहता है, अर्थात् धक्-धक् करता रहता है, तभी तक वह चलता है और उसका एक-एक अग हरकत करता है। तभी तक उसका शरीर क्रियाशील है और उस पर उस व्यक्ति का अधिकार है। किन्तु ज्यो ही हृदय की गति मे जरा भी गडबडी हुई, हृदय का स्पन्दन जरा-सी देर के लिए भी रुका कि यह भारी-भरकम शरीर सहसा बेकार हो जाता है। सडक पर चलता-चलता लुढ़क जाता है।

यद्यपि हृदय, शरीर मे छोटी-सी जगह रखता है, फिर भी सारे शरीर का उत्तरदायित्व, सम्पूर्ण प्राणशक्ति, उसी मे केन्द्रित है। यदि हृदय धक्-धक् करता रहेगा और रक्त को ठीक-ठीक फेकता रहेगा, तो प्राणो की झकार रहेगी शरीर चैतन्य रहेगा यदि हृदय गुम हो जाए, उसकी हरकत बन्द हो जाए, वह काम करना छोड दे—तो क्या फिर शरीर स्थिर रह सकेगा ? कदापि नही। क्रियाशील शरीर के स्थान पर निष्क्रिय लाश-मात्र रह जाएगी। शरीर तभी तक रहता है, जब तक आत्मा उसमे स्थिर है। आत्मा के निकल जाने के बाद शरीर शरीर नही रहता।

अहिंसारहित धर्म धर्म नहीं

आगमो की परिभाषा मे भी हृदयहीन शरीर, शरीर नही कहलाता। आगमकार एक-एक इच नाप कर चलते हैं और जिनके पदचिन्हो को देख कर आज हम चलते है, वे यही कहते है कि जब तक शरीर मे आत्मा है, तभी तक शरीर, शरीर है। जब आत्मा निकल जाती है, तो वह मिट्टी का ढेर है। भूतकाल के दृष्टिकोण से भले ही स्थूल भाषा मे उसे शरीर कहते रहें। जो बाते शरीर के सम्बन्ध मे देखी और सोची जाती है, वही धर्म के सम्बन्ध मे भी पाई जाती है। कोई धर्म कितना ही ऊँचा क्यो न हो, उसका क्रियाकाण्ड कितना ही उग्र और घोर क्यो न हो, उसकी तपस्या कितनी ही तीव्र क्यो न हो, और ऐसा

भी क्यों न जान पडता हो कि दुनिया की समस्त साधनाओ का गहन बोझ उस धर्म या व्यक्ति ने अपने ऊपर लाद लिया हो, किन्तु जब तक उसमे अहिंसा की भावना विद्यमान रहेगी, जीवो के प्रति दया का झरना बहता रहेगा, पीडितो के लिए सवेदना स्पन्दित रहेगी, तभी तक वह धर्म, वह क्रियाकाण्ड, वह तप और वह परोपकार धर्म की कोटि मे गिना जायेगा, तभी तक सत्य भी धर्म है, नवकारसी से ले कर छह महीने तक की तपस्या आदि क्रियाकाण्ड भी धर्म है। यदि उसमे से अहिंसा निकल जाए तो फिर वह धर्म नही रहेगा, धर्म का निर्जीव-शवमात्र रहेगा, अथवा वहाँ एक प्रकार से अधर्म ही होगा। अहिंसा मूल मे रहनी चाहिए, फिर चाहे वह थोडी हो या ज्यादा, न्यूनाधिक की बात यहाँ नही है। यहाँ तो यह बात है कि अहिंसा का जरा भी अश क्यो न हो, पर होना चाहिए, अन्यथा धर्म का अस्तित्व नही रह सकता।

कोई जीवन धर्ममय और विराट तब ही बनता है, जब अहिंसा की भावनाएँ उसमे लहराती हो, दूसरो पर अन्त करण की अजस्र वर्षा होती हो, और अपने जीवन के साथ दूसरो के जीवन को भी देख कर चला जाता हो। जिस प्रकार एक व्यक्ति को जीने का हक है, उसी प्रकार दूसरो को भी जीने का हक है। जहाँ जीओ और जीने दो यह महामत्र जीवन के कण-कण मे गूँजता हो, हृदय से मेल रखते हुए चलता हो, तो समझ जाना चाहिए कि वहाँ सच्ची अहिंसा है। जहाँ यह अहिंसा रहेगी, वही पर धर्म रहेगा। इस अहिंसा के अभाव मे धर्म टिक नही सकता। इसी महासत्य की ओर सकेत करते हुए भगवान् महावीर ने प्रश्नव्याकरणसूत्र के सवरद्वार मे जहाँ अहिंसा का वर्णन किया है, उसे 'भगवती' कहा है।[1]

अहिंसा भगवती के दर्शन कब ?

अहिंसा को भगवती का जो रूपक दिया गया है, वह अर्थहीन नही है। अहिंसा वस्तुत भगवत्स्वरूप है, पूज्या है। जितनी श्रद्धा भगवान् के प्रति रखी जाती है, जितना प्रेम और जितना स्नेह भगवान् के प्रति होता है, उतना ही स्नेह और श्रद्धा साधक के मन मे अहिंसा के प्रति भी होनी चाहिए। अहिंसा पूजा की चीज है, वह श्रद्धा का केन्द्र है।

अब प्रश्न उठता है कि भगवान् के दर्शन कब होगे ? उत्तर सीधा है—जब अहिंसा के दर्शन कर लोगे, तभी भगवान् के दर्शन होगे। अहिंसा के दर्शन करे नही, अहिंसा की झाँकी देखे नही और यदि कोई उसे ठुकराता चले, उसकी ओर से पीठ मोड कर चले, तो भगवान् के दर्शन कैसे होगे !

सबसे बड़े भगवान् तो अन्दर बैठे है, उनके ऊपर विकार-वासनाओ का पर्दा पडा है। आत्म-देव, जो सबसे बड़े भगवान् है, अन्दर ही तो बैठे हैं, इसी शरीर

१ 'एसा सा भगवती अहिंसा जा सा भीयाण विव सरण०।'

के अन्दर ही तो विराजमान हैं ! किन्तु दुर्भाग्य से, अनादिकाल से हिंसा का पर्दा पड़ा हुआ है, काला लबादा पहिन रखा है और वह पर्दा नख से शिख तक पड़ा हुआ है । फिर आत्म-देव के दर्शन हो तो कैसे हो ? यदि उस आत्म-देव के दर्शन करना है तो हिंसा के काले पर्दे को उतारना होगा । जितने अशो मे वह कम होता जाएगा, उतने ही अशो मे आत्मा के दर्शन होते जाएँगे और उतने ही अशो मे फिर भगवान् का भी साक्षात्कार होता चला जाएगा । श्रावक बनने वाला व्यक्ति यदि श्रावक के रूप मे पूरी अहिंसा नही पाल सकता, हिंसा का पूरा पर्दा नही उतार सकता तो भी जितना बन सके, उतना ही उतारने का प्रयास उसे करना चाहिए ।

अहिंसा भगवती की पूजा के लिए अन्यत्र कही भटकने की आवश्यकता नही, किसी खास समय की भी जरूरत नही । दुकान मे बैठ कर या घर मे रह कर कही उसकी पूजा हो सकती है । जीवन के प्रत्येक क्षण मे और प्रत्येक व्यापार मे अहिंसा की पूजा-प्रतिष्ठा हो सकती है । अपनी मनोवृत्तियो को, अपने कर्मों को अहिंसा की तराजू पर ही तौलना श्रेयस्कर है । अहिंसा के प्रति गहरी और आग्रह-भरी भावना चित्त मे उत्पन्न करनी चाहिए ।

अहिंसा ही परब्रह्म है

आचार्य समन्तभद्र, जो जैन-जगत् मे एक बहुत बड़े दार्शनिक हो चुके है और जिनकी विचारधाराएँ गम्भीररूप मे हमारे सामने आज भी मौजूद हैं उन्होने जब भी कुछ कहा, आत्मा की झाँकी खोल कर कहा । अहिंसा के सम्बन्ध मे उनका एक बड़ा हृदयस्पर्शी बोल है—वह परब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा कौन है ? कहाँ है ? और किस रूप मे है ? इस प्रश्नावली के उत्तर मे आचार्य स्वय कहते हैं—'इस ससार के प्राणियो के लिए, साधारण प्राणियो के लिए और जो भी विशिष्ट साधक है, उनके लिए भी साक्षात् परमब्रह्म अहिंसा है ।'[२] अहिंसा की उपासना एव सेवा के अभाव मे भगवान् की उपासना या सेवा एक अविवेक हो सकती है, एक भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु सच्ची उपासना एव सेवा कदापि नही हो सकती ।

अहिंसा को जब भगवान् कहा है तो वह अपने आप मे स्वत अनन्त हो गई, क्योकि जो भगवान् होता है, वह अनन्त होता है । जिसका अन्त आ गया, वह भगवान् कैसा ? जिसकी सीमा बँध गई हो, वह और कुछ भले ही हो, किन्तु भगवान् कदापि नही हो सकता । आत्मा मे अनन्त गुण है । भगवान् होने के लिए उनमे से प्रत्येक गुण को भी अपने असली रूप मे अनन्त होना चाहिए । आत्मा मे एक विशेष गुण ज्ञान है । जब यह ज्ञानगुण अनन्त और असीम बन जाता है, तभी भगवान् बना जा सकता है । इसी प्रकार जब चारित्र मे अनन्तता आ जाती है, दर्शनगुण, वीर्य और दूसरे प्रत्येक

---

२ अहिंसा भूताना जगति विदित ब्रह्म परमम् —बृहत्स्वयम्भू-स्तोत्र

गुण जब अनन्त बन जाते है, तब साधक को भगवत्स्वरूप की प्राप्ति होती है। अहिंसा जब भगवान् है, परम ब्रह्म है तो अनन्त है, और जीव अनन्त है तो उसकी पूरी व्याख्या एक साधारण जीव न तो जान सकता है और न कह ही सकता है। केवलज्ञानी भी अहिंसा के पूर्ण रूप को जानते तो है, किन्तु वाणी के द्वारा पूर्णत व्यक्त वे भी नही कर सकते। इस भू-मण्डल पर अनन्त-अनन्त तीर्थंकर अवतरित हो चुके है, किन्तु अहिंसा का परिपूर्ण रूप जानते हुए भी किसी के द्वारा वर्णन नही किया जा सका, तो फिर एक सामान्य व्यक्ति द्वारा तो कहना ही कहाँ हो सकता है? सामान्य व्यक्ति अहिंसा भगवती के उस अनन्त रूप की झाँकी देख ही कहाँ पाता है?

अहिंसा की भी एक विराट् झाँकी है, वह झाँकी इतनी विशाल और विस्तृत है कि उसका नेत्रो से ओझल होना असम्भव है, अत अहिंसा एक बडी से बडी अलौकिक विभूति है। शास्त्रो को पढने के बाद पढने वाले को जान पडता है कि उसने बडी से बडी बारीकी तक को पहचान ली। मगर जिन्होने उसे पहचाना है, वे बतलाते है कि यह तो अनन्तवाँ भाग ही कहा गया है! महासमुद्र में से केवल एक ही बूँद बाहर फेकी गई है! यह अनन्तवाँ भाग और एक बूँद जो भी शास्त्रो मे आई है, बड़े विस्तार से है। वह पूरा पढा भी नही गया है और समझा भी नही गया है, किन्तु जो कुछ भी थोडा-सा पढा और समझा गया है, वह भी किसी को पूर्णत समझाया नही जा सकता। फिर भी मुझे जो कुछ समझाने का अवसर मिले, उसे आपको धैर्य के साथ समझने की कोशिश करनी चाहिए।

अहिंसा की प्रथम झाँकी कब?

उस विराट् अहिंसा का दिव्य स्वरूप आपको समझना है और यह तय करना है कि आपको मानव बनना है या दानव? यह किसी भी व्यक्ति के लिए बहुत आवश्यक है। जब मनुष्य के सामने मानवता और दानवता मे से किसी एक को चुन लेने का सवाल उपस्थित होता है तो उसी क्षण अहिंसा सामने आ कर खडी हो जाती है। अनादिकाल से प्राणी मानवता के सत्-मार्ग को छोड कर दानवता के कुपथ पर भटक रहा है, और कही-कही तो दानवता के आवेश मे इतनी वीभत्स हिंसा भी कर चुका है कि जमीन को उसने निरीह प्राणियो के खून से तर कर दिया है। फिर भी उसे इस सकल्प की याद नही आई कि—वह मानव बन या दानव? इस गति से यह जीव एक दिन उस एकेन्द्रिय और निगोद दशा मे पड गया, जहाँ अपना रक्षण करना भी उसके लिए मुश्किल हो गया।

ससारचक्र मे भटकता हुआ यह प्राणी किस गति और किस स्थिति मे नही रहा है? इस असीम ससार मे जितनी भी गतियाँ, स्थितियाँ और योनियाँ है, उन सब मे एक-एक बार नही, अनन्त-अनन्त बार यह गया और आज भी जा रहा है।[3]

---

३ देखिये, भगवती सूत्र १२, ७, ४५७।

किन्तु किसी भी स्थिति मे यह सकल्प नही जगा कि उसे बनना क्या है—मानव या दानव ? जिस दिन आत्मा के सामने यह प्रश्न खडा होता है कि उसे क्या बनना है, उसी समय अहिंसा सामने आती है और कहती है—'यदि तुझे इन्सान बनना है तो मुझे स्वीकार कर, मेरा अनुसरण कर, मेरे चरणो की पूजा कर, और मेरे चरणो पर अपना जीवन उत्सर्ग कर।'

अपनी जिन्दगी को यदि इन्सानियत के आदर्श साँचे मे ढालना हो और मानवता के महान् स्वरूप को प्राप्त करना हो, तो समझना चाहिए कि अहिसा के बिना प्राणी, मानव नही बन सकता। इस मिट्टी के ढेर को जीव ने अनन्त-अनन्त बार ग्रहण किया और छोड दिया। इस प्रकार के ग्रहण करने और छोड देने से मानवता के रूप मे अहिसा की प्रथम झाँकी भी नही आती। अहिंसा की ज्योति मानव-मन मे तभी जागृत होती है, जब वह अपने ही समान दूसरो की जिन्दगी को समझने के लिए तैयार होता है। जब मनुष्य अपने ही समान दूसरो की पीडाओ, सुख-दु खो और इच्छाओ की अनुभूति करता है, तभी उसमे आनन्द व प्रेम का स्रोत प्रवाहित होता है। इसलिए भारतीय सस्कृति का स्वर सदैव पुकारता रहा है—मनुष्य ! तेरा आनन्द स्वय-सुख के भोग मे नही है, स्वय की इच्छापूर्ति मे ही तुम्हारी परितृप्ति नही है, किन्तु दूसरो के सुख मे ही तुम्हारा आनन्द छिपा हुआ है, दूसरो की परितृप्ति मे ही तुम्हारी परितृप्ति है। तुम्हारे पास जो धन-सम्पत्ति है, शक्ति है, बुद्धि है, वह किसलिए है ? तेरे पास जो ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि है, उसका हेतु क्या है ? क्या स्वय की सुख-सुविधा के लिए ही यह सब कुछ है ? अपने सुखभोग के लिए तो एक पशु भी अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार स्वय की सुरक्षा करता है, इच्छा-पूर्ति करता है। फिर पशुता और मानवता मे क्या अन्तर है ? मनुष्य का वास्तविक आनन्द स्वय के सुखोपयोग मे नही, बल्कि दूसरो को अर्पण करने मे है। मनुष्य के अपने पास जो उपलब्धि है, वह अपने बन्धु के लिए है, पडौसी के लिए है। अपने ही समान दूसरे चैतन्य के लिए समर्पण करने मे जो सुख और आनन्द की अनुभूति होती है, वही अहिसा भगवती की प्रथम झाकी है, जो मानवता के माध्यम से आती है। जब मनुष्य मे इस प्रकार की इन्सानियत आ जाती है, तभी समझना चाहिए कि उसने अहिंसा परब्रह्म की पहली झाँकी कर ली है, और जितना-जितना वह अहिंसा परब्रह्म के विराट् रूप के निकट जाता है, जीवन मे उतारता जाता है, उतनी-उतनी उसके अन्दर भगवत्-चेतना जागती जाती है, और तब वे दुष्कर्म और पाप जो उसे सब ओर से घेरे खडे होते है, तुरन्त भाग खड़े होते हैं, सारी क्षुद्रताएँ मिट जाती है।

बगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण का नाम सुना होगा आपने ? एक व्यक्ति उनकी उदार एव दयालु माता के दर्शन करने के लिए घर पर पहुँचा। जब विद्याभूषण की माता उस श्रद्धालु सज्जन के सामने आई, तो वह आँखे फाड-फाड कर उसके हाथो की ओर देखने लगा। माताजी ने उसकी इस उत्कट

जिज्ञासा का कारण पूछा, तो वह बोला—"सतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे धनाढ्य विद्वान् की माँ के हाथो मे हीरे और मोती के स्वर्ण-आभूषण की जगह पीतल के आभूषण देख कर मैं चकित हूँ कि यह क्या है, क्यो है ? आपके हाथो मे यह शोभा नही देते ।"

माता ने गम्भीरता से कहा– "बेटा ! इन हाथो की शोभा तो दुष्काल के समय बगपुत्रो को मुक्तभाव से अन्न-धन अर्पण करने मे थी । सेवा ही इन हाथो की सच्ची शोभा है । सोना और चाँदी हाथ की शोभा और सुन्दरता का कारण नही होता ।"

मनुष्यता का यह एक रूप है । जो देवी अपने हाथ के आभूषण उतार कर भूखे-प्यासे बन्धुओ के पेट की ज्वाला को शान्त करती है, उनके सुख मे ही अपना सुख देखती है, वह सच्ची मानव-देहधारिणी देवी है ।

भारतीय सस्कृति मे यह समर्पण की भावना, करुणा और दान के रूप मे विकसित हुई है । करुणा मानव-आत्मा का मूल स्वर है । किन्तु खेद है, उस करुणा का जो सर्वव्यापक और सर्वग्राही रूप था, वह आज कुछ सीमित एव सकीर्ण विधि-निषेधो मे सिमट कर रह गया है । करुणा का अर्थ सिकुड गया है, काफी सिकुड गया है । करुणा और दया का अर्थ इतना ही नही है कि कुछ कीडे-मकोडो की रक्षा कर ली जाए, कुछ बकरो और गायो को कसाई के हाथो से छुडा लिया जाए और अमुक तीर्थक्षेत्रो मे मछली मारने के ठेके बन्द कर दिये जायँ । अहिंसक-समाज-रचना की भावना जो आज हमारे समक्ष चल रही है, उसका मूल अभिप्राय समझना चाहिये । यह ठीक है कि पशु-दया भी करुणा का एक रूप है, पर करुणा और अहिंसा की यही पर इतिश्री नही हो जानी चाहिए, यह तो प्रारम्भ है । उसका क्षेत्र बहुत व्यापक और बहुत विशाल है । हमे व्यापक दृष्टिकोण ले कर आगे बढना है । अपने मन की करुणा को आस-पास, समाज मे व परिवार मे बाँटते चलो । जो सुख-साधन और उपलब्धियाँ आपके पास है, उन्हे समाज के कल्याणमार्ग मे लगाते चलो । समाज की सेवा मे समर्पण का जो दृष्टिकोण है, वह एक व्यापक दृष्टिकोण है । व्यक्ति सामाजिक जीवन के दूर किनारो तक अपने वैयक्तिक जीवन की लहरो को फैलाता चलता है, उन्हे समाज के साथ एकाकार करता चलता है । वह जितना ही आगे बढेगा, जितना ही अपने सुख को समाज के सुख के साथ जोडता चलेगा, उतना ही व्यापक बनता चला जायेगा । व्यक्तिवाद का क्षुद्र घेरा तोड कर समाजवाद एव समष्टिवाद के व्यापक क्षेत्र मे उतरता जायेगा ।

वैदिक दर्शन मे ईश्वर को सर्वव्यापक माना गया है । वह व्यापकता शरीर-दृष्टि से है, अथवा आत्म-दृष्टि से या भावदृष्टि से है ? चूँकि यह भी माना गया है हर आत्मा परमात्मा बन सकता है । प्रत्येक आत्मा मे जब परमात्मा बनने की योग्यता है, तो वस्तुत आत्मा ही ईश्वर है । आत्मा आवरण से घिरा हुआ है, इसलिए जो

अखण्ड आनन्द का स्रोत है, वह अभी दबा हुआ है, और जो प्रकाश है, वह अभी सक्षिप्त हो गया है, सीमित हो गया है, और धुंधला हो गया है। इस प्रकार दो बातें हमारे सामने आती है। एक यह कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है, और दूसरी यह कि परमात्मा सर्वव्यापक है। जैन-दृष्टिकोण के साथ इसका समन्वय करे तो मात्र कुछ शब्दो के जोड-तोड के सिवा और विशेष अन्तर नही दिखाई देगा। हमारे पास समन्वयबुद्धि है, अनेकान्तदृष्टि है और वह तोडना नही, जोडना सिखाती है—सत्य को खण्डित करना नही, किन्तु पूर्ण करना बताती है। सर्वव्यापक-शब्द को हम समन्वयबुद्धि से देखें, तो इसका अर्थ होगा, आत्मा अपने स्वार्थों से निकल कर आसपास की जनता के, समाज और देश के, अन्तत विश्व के प्राणियो के प्रति जितनी दूर तक दया, करुणा और सद्भावना की धारा बहाता चला जाता है, प्रेम और समर्पण की वृत्ति जितनी दूर तक जगाता चला जाता है, उतना ही वह व्यापक बनता जाता है। हम आन्तरिक जगत् मे जितने व्यापक बनते जायेंगे, अहिंसा की हमारी ये सद्वृत्तियाँ जितनी दूर तक विस्तार पाती जाएँगी और उनमे जन-हित की सीमा जितनी व्यापक होती जाएगी, उतना ही ईश्वरीय अश हमारे अन्दर प्रकट होता जाएगा। जितना-जितना ईश्वरत्व जागृत होगा, उतना-उतना ही आत्मा परमात्मा के रूप मे परिणत होता चला जायेगा।

अहिंसा का हार्द सुख को सर्वव्यापी बनाना

अहिंसारूपी परब्रह्म परमात्मा आपके अन्दर कितना जागृत हुआ है, इसको नापने का 'बेरोमीटर' भी आपके पास है। उस 'बेरोमीटर' से आप स्वय को जान पाएँगे कि अभी आप कितने व्यापक बने है? कल्पना कीजिए, आपके सामने आपका परिवार है, उस परिवार मे बूढ़े मा-बाप है, भाई-बहन है, और दूसरे सगे सम्बन्धी भी है, कोई रोगी भी है, कोई पीडित भी है। कोई ऐसा भी है, जो न कुछ कमा सकता है और न कुछ श्रम कर सकता है। ऐसे परिवार का उत्तरदायित्व आपके ऊपर है। इस स्थिति मे आपके मन मे कल्पना उठती है कि "सब लोग मेरी कमाई खाते है, सबके सब बेकार पड़े है, अनाज के दुश्मन बन रहे है, काम कुछ नही करते। बूढ़े माँ-बाप अब तक परमात्मा की शरण मे नही जा रहे हैं, जब बीमार पडते है, तो उन्हे दवा चाहिए। और इस विचार के बाद आप उन्हे उपदेश दें कि अब क्या धरा है ससार मे? छोडो ससार को। बहुत दिन तक खाया पीया। कब तक ऐसे रहोगे? आखिर तो मरना ही है एक दिन।" यह उपदेश तो आपका काफी ऊँचा है, बहुत पहुँची हुई बात है आपकी, पर आपका दृष्टिकोण कहाँ तक पहुँचा है, यह भी तो देखिए। वास्तव मे आप यह उपदेश किसी सहज वैराग्य से प्रेरित होकर दे रहे है, या अपने सुख का और सुख के साधनो का जो बँटवारा हो रहा है, उसे रोकने के लिए दे रहे है? जो समय और श्रम आपको उनकी सेवा मे लगाना पड रहा है उससे ऊब कर ही आप यह वैराग्य की बात कर रहे हैं? यदि

अपने स्वार्थ और सुख के घेरे मे बन्द हो कर ही आप यह वैराग्य की बात करते हैं, तो फिर सोचिए कि जब आप अपने परिवार मे ही व्यापक नही बन पा रहे हैं, माता-पिता तक हृदय को अभी तक स्पर्श नही कर सके है। उसके लिए भी कुछ त्याग और बलिदान नही कर सकते है, भाई बहनो के अन्तस्तल को नही छू सकते है, तब समाज के हृदय तक पहुचने की तो बात ही क्या करे? परिवार की छोटी-सी चारदीवारी के भीतर भी आप व्यापक नही बने है, तो वह विश्वव्यापी अहिंसारूपी परमात्मतत्त्व आपमे कैसे जागृत होगा? अपने सुख को माता और भाई-बहनो मे भी आप नही बाँट सकते, तो समाज को बाँटने की बात कैसे सोची जा सकती है?

विचार कीजिए—घर मे आपका पुत्र-पौत्रादि का परिवार है, आपका सहोदर भाई भी है, उसका भी परिवार है, पत्नी है, बाल-बच्चे है—लडके-लडकिया है। अब आपके मन मे अपने लिए अलग बात है, अपने भाई के लिए अलग बात है। अपनी पत्नी के लिए आपकी मनोवृत्ति अलग ढग की है और भाई की पत्नी के लिए अलग ढग की। लडके-लडकियो के लिए भी एक भिन्न ही प्रकार की मनोवृत्ति काम कर रही है। इस प्रकार घर मे एक परिवार होते हुए भी मन की सृष्टि मे अलग-अलग टुकडे है, सबके लिए अलग-अलग खाने है, और अलग-अलग दृष्टियाँ है। एक ही रक्त के परिवार मे इन्सान जब इस प्रकार खण्ड-खण्ड हो कर चलता है, क्षुद्र घेरो मे बट कर चलता है, तब उससे समाज और राष्ट्रीय क्षेत्र मे व्यापकता की क्या आशा की जा सकती है? और अहिंसारूपी परब्रह्म की कैसे वह उपासना कर सकता है?

मैं विचार करता हूं कि मनुष्य के मन मे जो ईश्वर की खोज चल रही है, परमात्मा का अनुसन्धान हो रहा है, क्या वह सिर्फ एक धोखा है? वचनामात्र है? हजार-लाखो मालाएँ जपने मात्र से ईश्वर के दर्शन हो जायेगे? व्रत और उपवास आदि का नाटक रचने से परमात्म-तत्त्व जागृत हो जायेगा? जब तक यह अलग-अलग सोचने का दृष्टिकोण नही मिटता, मन के ये खण्ड-खण्ड सम्पूर्ण मन के रूप मे परिवर्तित नही होते, अपने समान ही दूसरो को समझने की वृत्ति जागृत नही होती, अपने चैतन्यदेवता के समान ही दूसरे चैतन्य-देवता का महत्त्व नही समझा जाता, अपने समान ही उसका सम्मान नही किया जाता और अपने प्राप्त सुख को इधर-उधर बाँटने का भाव नही जगता, यथार्थरूप से अहिंसा भगवती की उपासना नही होती, तब तक आत्मा-परमात्मा नही बन सकता। जब आप सोचेंगे कि जो अभाव मुझे सता रहे है, वे ही दूसरो को भी पीडा दे रहे है। जो सुख-सुविधाएँ मुझे अपेक्षित है, वे ही दूसरो को भी अपेक्षित है। जो सवेदन, अनुभूति स्वय के लिए की जाती है, उसी तीव्रता से जब वे दूसरो के लिए की जायेगी, तब आपके अन्तर मे विश्वात्मभाव प्रकट होगा, तभी अहिंसा भगवती की विराट् झाँकी आपको प्रत्यक्ष प्रतीत होगी।

अहिंसा भगवती का विराट् रूप विश्वात्मानुभूति

मैं कह चुका हूँ इधर-उधर के दो-चार प्राणी बचा लेना या दो-चार घण्टा

या कुछ दिन अहिंसा का व्रत पालन कर लेना, अहिंसा और करुणा की मुख्य भूमिका नही है। विश्व-समाज के प्रति अहिंसा की भावना जब तक नही जगे, व्यक्ति व्यक्ति मे समानता और सह्-जीवन के सस्कार जब तक नही जन्मे, तब तक अहिंसक-समाज-रचना की बात केवल विचारो मे रहेगी। समाज मे अहिसा और प्रेम के भाव जगाने के लिए व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा। अपने पराये के ये क्षुद्र घेरे, स्वार्थ और इच्छाओ के ये कठघरे तोड डालने होगे। विश्व की हर आत्मा के सुख-दु ख के साथ ऐक्यानुभूति का आदर्श जीवन मे लाना होगा। भारतीय सस्कृति का यही स्वर सदा-सदा से गू जता रहा है—

अय निज परोवेति गणना लघु-चेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

हृदय की गहराई से निकले हुए ये परमात्म-चेतना के व्यापक स्वर है। जहाँ परमात्मतत्त्व छिपा बैठा है, आत्मा के उस निर्मल उत्स से वाणी का यह निर्झर फूटा है। यह मेरा है, यह तेरा है, इस प्रकार अपने और पराये के रूप मे जो ससार के प्राणियो का बँटवारा करता चला जाता है, उसके मन की धारा बहुत ही सीमित है, क्षुद्र है। ऐसी क्षुद्र मनोवृत्ति का मानवसमाज के किसी भी क्षेत्र मे अपना उचित दायित्व निभा सकेगा, अपने परिवार का दायित्त्व भी ठीक से वहन करेगा, जो जिम्मेदारी उसके कधो पर आ गई है उसे ठीक तरह पूरी करेगा—इसमे शका है। कभी कोई अतिथि दरवाजे पर आए और वह उसका खुशी से स्वागत करने के लिए खडा हो जाए तथा आदर और प्रसन्नतापूर्वक अतिथि का उचित स्वागत करे—यह आशा उन मनुष्यो से नही की जा सकती, जो 'अपने पराये' के दायरे मे बँधे हुए है। किस समय उनकी क्या मनोवृत्ति रहती है, किस स्थिति मे उनका कौन अपना होता है और कौन पराया होता है—यह सिर्फ उनके तुच्छ स्वार्थों पर निर्भर रहता है और कुछ नही।

इसके विपरीत जिनके मन के क्षुद्र घेरे टूट गए है, जो स्वार्थ की कैद से छूट गए है, उनका मन विराट् रहता है। विश्व के मुक्त आनन्द और अभ्युदय की निर्मल धारा उनके हृदय मे बहती रहती है। विश्वात्मा के सुख-दु ख के साथ उनके सुख-दु ख बँधे रहते है। किसी प्राणी को तडपते देख कर उनकी आत्मा द्रवित हो उठती है, फलस्वरूप किसी के दु ख को देख कर सहसा उसे दूर करने के लिए वे सक्रिय हो उठते है। पराया जैसा कभी कोई उनका होता ही नही। सभी कुछ अपना होता है। सब घर अपने घर! सब समाज अपने समाज! अपने परिवार के साथ उनका जो स्नेह और सौहार्द है, वही पडोस के साथ, वही मोहल्ले वालो के साथ और वही गाँव, प्रान्त और राष्ट्र वालो के साथ। यह व्यापक स्नेह और सौहार्द उनका निश्छल एव निर्मल होता है। उसमे वैयक्तिक स्वार्थ की कोई गन्ध नही होती। आज की तरह उनका प्रान्तीय स्नेह राजनीतिक स्वार्थ साधने का हथियार नही होता है। आज सब ओर

नारे लग रहे है, 'अपना प्रान्त अलग बनाओ, तभी प्रान्त की उन्नति होगी।' वस्तुत देखा जाए तो इन तथाकथित नेताओ को प्रान्त की उन्नति की उतनी चिन्ता नही है, जितनी स्वय की उन्नति की चिन्ता है। प्रान्त का भला कुछ कर सकेंगे या नही, यह तो दूर की बात है, पर अपना भला तो कर ही लेंगे। जनता की सेवा हो न हो, किन्तु अपनेराम की तो अच्छी सेवा हो ही जायेगी। सेवा का मेवा भी मिल ही जायेगा। प्रान्त और देश मे दूध-दही की नदी तो दूर, पानी की नहर या नाला भी बने या न बने, पर अपने घर मे तो सपत्ति की गगा आ ही जायेगी। आज के ये सब ऐसे स्वार्थ और क्षुद्र विचार है, जिनसे देश के खण्ड-खण्ड हो रहे हैं, मानवता के टुकडे-टुकडे हो रहे है। जातिवाद, प्रान्तवाद, सप्रदायवाद वे कैंचिया है, जिनसे इन्सानो के दिल काटे जाते है, मानवता के टुकडे किये जाते है और अपने पद-प्रतिष्ठा और सुख-ऐश्वर्य के प्रलोभन मे मानवजाति का सर्वनाश किया जाता है। जो इन सब विकल्पो से परे मानव का 'मानव' के रूप मे दर्शन करता है, उसे ही अपना परिवार एव कुटुम्ब समझता है, वह व्यापकचेतना का स्वामी नर के रूप मे नारायण का अवतार है।

कल्पना कीजिए, आप किसी रास्ते से गुजर रहे है। आपने वहाँ किसी बच्चे को देखा, जो घायल है, वेदना से कराह रहा है। आपका हृदय द्रवित हो गया और आपके हाथ ज्यो ही उसे उठाने को आगे बढते हैं, आवाज आती है, यह तो 'चण्डाल' है, भगी है, इसका क्या अर्थ हुआ ? आपमे अहिंसा और करुणा की एक क्षीण ज्योति जली तो थी, पर जातिवाद की हवा के एक हल्के से झोके से वह सहसा बुझ गई। आप करुणा को भूल कर जातिवाद के चक्कर मे आ जाते है कि यह तो भगी का लडका है, भला इसे मैं कैसे छू सकता हूँ ? चमार का लडका है, इसे कैसे उठायें ? इस क्षुद्र भावना की गन्दी धारा मे बह जाते है आप, जहाँ प्रेम का पवित्र जल नही, किन्तु जातिवाद का गन्दा पानी बहता है। ऐसे समय मे आपकी यह भावना होनी चाहिए कि जो वेदना से कराह रहा है, घायल है, वह आत्मा है। शरीर का जन्म चाहे जहाँ हुआ हो, चाहे जिस घर मे हुआ हो, आत्मा का जन्म तो कही नही होता। आत्मा तो आत्मा है। वह ब्राह्मण के यहाँ हो तो क्या, शूद्र के यहाँ हो तो क्या ? वह काले रग की चादर के अन्दर है तो क्या, और गोरे पिण्ड के अन्दर है तो क्या ? हम आत्मा की सेवा करते है, शरीर की सेवा नही करते है। यदि शरीर की सेवा करते है तो जब कोई मर जाता है तो प्रिय से प्रिय सम्बन्धी को जला कर खाक क्यो कर देते है ? शरीर की ही सेवा मुख्य है, तो शरीर तो तब भी है। इस पर से सिद्ध होता है कि शरीर की सेवा नही, सेवा आत्मा की होती है। और आत्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, भगी, चमार तथा काले-गोरे आदि के भेदो से सर्वथा परे है।

आत्मा की सेवा करनी है, तो फिर शरीर के सम्बन्ध मे यह क्यो देखा जाता है कि यह भगी का शरीर है, या चमार का ? यदि भगी और चमार की दृष्टि है, तो इसका स्पष्ट अथ है कि आपने अब तक आत्मा को ठीक तरह से परखा ही नही, आत्मा

नहीं, शरीर के ही दर्शन आप कर रहे हैं। बाहर मे जो जाति-पाति के झगड़े है, दायरे है, आप अभी तक उन्ही मे बन्द हैं। आत्मा न भगी है, न चमार है, और न काला है, न गोरा है। यदि शरीर को देखना है तो शरीर सबका ही भगी है। ब्राह्मण का शरीर भगी है, वैश्य का शरीर भी भगी है। उसके शरीर मे भी वही दुनियाभर का मलमूत्र भरा है, जो भगी के शरीर मे है। क्या आप दावा कर सकते हैं कि भगी के शरीर मे कूडा भरा है और आपके शरीर मे सोना भरा है। भगी के शरीर मे मलमूत्र है और आपके शरीर मे कुछ और है? शरीर की दृष्टि से सब चाण्डाल है, ब्राह्मण भी, वैश्य भी और क्षत्रिय भी। आप भी और हम भी। शरीर के अन्दर छुपे हुए उस परम चैतन्य-आत्मा का स्पर्श जब तक नहीं होता, तब तक द्वैतभावना नही मिट सकती। जब आत्मा की सही परख हो जायेगी, तभी आत्म-दृष्टि बन सकेगी। आत्मा-आत्मा मे कोई भेद नही है। आत्मा मे परमात्मा का वास है वस्तुत जो आत्मा है वही परमात्मा है। ये अहिंसा परब्रह्म के उदात्त विचार, यह विशाल दृष्टिकोण जब तक आपके हृदय मे जागृत नही होता, तब तक आप परमात्मतत्त्व की ओर नही बढ सकते। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य परस्पर मे भेद की दीवारें खडी कर देता है, अपने मन मे इतने क्षुद्र घेरे बना लेता है, उसकी दृष्टि जातीयता के छोटे-छोटे टुकडो मे बँट जाती है तो वह अपने ही समान मानवजाति के एक सदस्य की सेवा और सहायता नही कर सकता, भला वह पशु-पक्षियो की सेवा और करुणा की क्या बात करेगा? एक मनुष्य पर जब आप दया नही कर सकते, उसकी पीडा पर आपका हृदय नही पिघल सकता, तो हम क्या आशा करे कि पशुओ के क्रदन पर, कष्ट पर आप नेमिनाथ बन कर पसीज उठेंगे?

भारतीय सस्कृति की विराट् भावनाएँ, उच्च कल्पनाएँ यहाँ तक पहुँची है कि यहाँ साप को भी दूध पिलाया जाता है। ससारभर मे भारत ही एक ऐसा देश मिलेगा, जहाँ पशु-पक्षियो के त्यौहार मनाये जाते है। नागपचमी आई तो साप को दूध पिलाया गया, गोपाष्टमी आई तो गाय और बछडे की पूजा की गई। 'सीतला' (राजस्थान का त्यौहार) आई तो बिचारे गर्दभराज को पूजा-प्रतिष्ठा मिल गई। यहाँ की दया और करुणा का स्वर कितना मुखर है कि जो साप दूध पी कर भी जहर उगलता है, मनुष्य को काटने के लिए तैयार रहता है, जो मनुष्य के प्राणो का शत्रु है, उसे भी दूध पिलाया जाता है, शत्रु को भी मित्र की तरह पूजा जाता है।

निष्कर्ष यह है कि जो प्रेम अपने शरीर, परिवार आदि के प्रति है, वही प्रेम जब दूसरो के सकट के समय सहायक होगा, समग्र मानवजाति और उससे भी ऊपर उठ कर सारे पशु-पक्षी जगत् तक समष्टि के रूप मे फैलता जाएगा, सर्वत्र करुणा की धारा बहाएगा, तभी अहिंसा भगवती के विराट् रूप का दर्शन होगा।

अत जहाँ पर दया, करुणा, और सेवा मानवता की पवित्र भावनाओ का अहिंसा भगवती के रूप मे विकास हुआ है, यहाँ उलझनें या शुद्ध स्वार्थों के बधन टिक

नही सकते। फिर भी मनुष्य जब परिस्थितियो से घिर जाय या कोई कठिनाई महसूस हो, तब भगवान् महावीर की अहिंसा की यह व्याख्या उसका पथ-प्रदर्शन करने को तैयार है–

अहिंसा की व्याख्या

ससारभर के प्राणियो को अपनी आत्मा के समान समझो[४] यही अहिंसा की व्याख्या है, यही अहिंसा का भाष्य और महाभाष्य है, और यही अहिंसा की महान् कसौटी है। जिस दिन और जिस घडी, व्यक्ति अपने आप मे जो जीने का अधिकार ले कर बैठा है, वही जीने का अधिकार सहजभाव से दूसरो के लिए भी देगा, उसके अन्दर दूसरो के जीवन की परवाह करने की मानवता जागेगी, दूसरो की जिन्दगी को अपनी जिन्दगी के समान देखेगा और ससार के सब प्राणी उसकी भावना मे उसकी अपनी आत्मा के समान दिखने लगेगे और सारे ससार को वह समभाव से देखने लगेगा—ज्ञान और विवेक की दिव्यदृष्टि से देखेगा कि यह सब प्राणी उसके ही समान है, उसमे और दूसरे मे कोई मौलिक अन्तर नही है, जो चीज उसे प्रिय है वही दूसरो को भी प्रिय है, बस तभी समझा जा सकता है कि उसके अन्दर अहिंसा है।

जब तक कोई यह समझता है—**'मेरे लगी सो दिल मे और दूसरो के लगी सो दीवार मे**, यानी चोट लगने पर जैसा दर्द उसे होना है वैसा ही दूसरो को होता है तब यह समझ नही आई, तब तक अहिंसा नही आ सकती। जब उसके मन को उसकी भावना को चोट लगती है और वह दर्द से घबराने लगता है तो निश्चित ही उसे समझना चाहिए कि वैसी ही पीडा दूसरे को होती है। इस प्रकार दूसरो के दर्द की अनुभूति जब व्यक्ति के हृदय मे अपने दर्द की तरह होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि अहिंसा भगवती उसके भीतर आ विराजी है। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है—

"सब जीव जीना चाहते है। कोई मरना नही चाहता। सभी को अपने जीवन के प्रति आदर व आकाक्षा है। सभी अपनी सुख-सुविधा के लिए सतत प्रयत्नशील है, अपने अस्तित्व के लिए सघर्ष कर रहे हैं और अपनी सत्ता के लिए जूझ रहे हैं। अत जैसा तू है, वैसे ही सब है। इसीलिए मैंने प्राणिवध अर्थात् हिंसा का त्याग किया है और दूसरो को सताना छोडा है। यदि स्वय को सताया जाना पसन्द होता तो दूसरो को सताना न छोडते। यदि स्वय को मारा जाना पसन्द होता तो मारना न छोडते। परन्तु सभी प्राणियो के जीवन की एक ही धारा है।"[५]

---

४ सव्वभूयप्पभूअस्स, सम्म भूयाइ पासओ।
पिहिआसवस्स दतस्स, पावकम्म न बधई।। —दशवैकालिक सूत्र ४।९

५ सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पाणिवह घोर, निग्गथा वज्जयति ण।। —दशवैकालिक ६।११

उपर्युक्त कथन की परिपुष्टि मे आचारांग सूत्र मे कहा गया है।[६]

सच्ची कसौटी

इस प्रकार अहिंसा की सच्ची कसौटी अपनी ही आत्मा है। यह कसौटी तो प्रत्येक आत्मा को मिली है, उसी पर कस कर जाचो तो तुम्हे पता लग जाएगा कि अहिंसा धर्म है या पाप? यदि कोई गुंडा तुम्हारी बहन-बेटी या माता की इज्जत बर्बाद करे, यदि कोई तुम्हे मारे या गाली दे, अथवा तुम्हारा धन छीनने की कोशिश करे तो उस समय भी क्या यही कहोगे कि अहिंसा पाप है, हिंसा धर्म है? क्या भावना होगी, उस समय तुम्हारे अन्तर मे?

अहिंसा धर्म है या पाप, इसकी कसौटी क्या उस समय शास्त्रो को देख कर करोगे या अपनी आत्मा से करोगे? वास्तव मे अहिंसा की कसौटी या परीक्षा पोथियो को रगडने से या उनके पन्ने पलटने से नही होती। उसके लिए तो आत्ममथन करने की आवश्यकता होती है। जब तक अपने पर आफत नही आई है, या अपने पर नही बीती है, तभी तक कदाचित् ऐसी बात कही जा सकती है कि अहिंसा पाप है। तभी तक यह तर्क-वितर्क किया जा सकता है। जिस दिन और जिस क्षण भी दृढ सकल्प के द्वारा व्यक्ति आत्मचिन्तन मे लीन हो जायगा और आत्मानुभूति के अनुसार अपने जीवन-व्यापार को चलाने लग जाएगा, उसी समय से वह अहिंसा के धर्मत्व का अनुभव करने लगेगा।

एक गुडा है, वह सुन्दर स्त्री का अपहरण करने मे ही धर्म मानता है, दूसरी ओर एक व्यक्ति डाका डालने और मारकाट करने मे ही धर्म मानता है, क्या इन दोनो के लिए वैसा हिंसक कृत्य धर्म हो जाएगा? अगर आप पर भी यही बात गुजरे तो आपकी आत्मा उसे धर्म कहेगी या पाप? सचमुच उस समय आपकी आत्मा ऐसे कृत्यो को हिंसा और पाप ही कहेगी!

अत जीवन को परखने का प्रश्न आता है और सही स्थिति सामने आती है, तभी वास्तविकता का सही पता लगता है। जिसने कष्ट न पाया हो, जिसने पीडाएँ न देखी हो, फलत जो मारना ही जानता हो, सताना ही जानता हो या दूसरो के हृदय मे भाले भोकना ही जानता हो और जो भोगविलास की गहरी नीद मे सो रहा हो—आत्मस्वरूप को नही देख सका हो, भला उसे कैसे मालूम होगा कि अहिंसा धर्म है या पाप?[७] जब मनुष्य दु ख की आग मे पडता है, तभी उसे असलियत का पता लगता है कि यह कृत्य अहिंसा-युक्त है या हिंसा-पूर्ण? फलत अहिंसा धर्म है या

---

६ 'सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो, जीवि-उकामा सव्वेसिं जीविय पिय।

—आचारांग १, २, ६२-६३

७ 'जाके फटी न पैर बिवाई, सो का जाने पीर पराई?'—हिन्दी कहावत

हिंसा ? आत्मदेवता उस विशेष प्रसग पर स्वत ही बोलने लगता है कि हिंसा धर्म है या अहिंसा ?

मारना धर्म है या बचाना ?

यदि कोई व्यक्ति भयानक जगल से होकर जा रहा हो, उसके साथ मे लाखो के हीरे-जवाहरात भी हो, उस समय लपलपाती हुई नगी तलवार लिए एक अन्य व्यक्ति उसके सामने आ कर खडा हो जाय और कह दे—"रख दे यहाँ, जो भी हो तेरे पास, और मौत के घाट उतरने के लिए तैयार होजा।" तब वह क्या कहेगा ? यही कि ये सब चीजे ले लो, किन्तु प्राण मत लो। लेकिन जब वह यही कहता है—"नही, तो मैं धन और जान दोनो लूंगा। यह तो मेरा धर्म है। तू जीता कैसे निकल जायेगा ! और वह मारने के लिए तैयार होता है। तब वह उसके सामने गिडगिडाता है, पैरो पडता है और हजार-हजार मिन्नते करता है और फिर कहता है—'जो लेना हो, ले लो, पर मेरे पर करुणा करो।' वह मृत्यु की घडी उससे कहलवाती है कि 'मुझे छोड दो।' परन्तु वह कहता है—छोडू कैसे ? मारना तो मेरा धर्म है, कर्तव्य है, यही तो मेरे धर्म, गुरु और देवता ने मुझे सिखाया है। ऐसी विकट परिस्थिति मे प्रगटरूप मे कहने का साहस, सम्भव है, उस व्यक्ति मे न हो, तो भी मन ही मन वह यही कहेगा—"धूल पड़े ऐसे धर्म, देव और गुरु पर कि जिसने ऐसा निर्मम पाठ सिखाया है। सच्चे धर्म, देव और गुरु तो दुर्बल की रक्षा करने मे धर्म बताते है। जो किसी निरपराध दीन-हीन की हत्या करने की शिक्षा देता है—वह धर्म नही, अधर्म है, गुरु नही, कुगुरु है, देवता नही, राक्षस है। भला किसी राह चलते आदमी का गला काट लेना भी कोई धर्म है।" कल्पना करो, इतने मे ही दूसरा आदमी आ पहुँचता है, और कहता है—"क्या कर रहे हो ? तुम इसे नही मार सकते।" जबकि वह पहला कहता है कि मारना मेरा धर्म है। तब यह दूसरा कहता है—"बचाना मेरा धर्म है। मेरे देवता, गुरु और धर्म ने मुझे रक्षा का पाठ सिखलाया है कि मरते जीव को अपना जीवन दे कर भी बचाओ।" और वह कहता है—'मै हर्गिज नही मारने दूँगा। तेरा मारने का धर्म झूठा है और मेरा बचाने का धर्म सच्चा है।'

'मारने' और 'बचाने' के इस सघर्ष मे धर्म की कसौटी क्या हो सकती है ? मारा जाने वाला बीच मे खडा है, वही कह सकता है कि 'मारना' धर्म है या 'बचाना' धर्म ? हिंसा मे धर्म है या अहिंसा मे ? तलवार चलाने वाला कहता है कि हिंसा मे धर्म है, और तलवार पकडने वाला कहता है कि अहिंसा मे धर्म है। जिस पर तलवार का झटका पडने वाला है, उसी से पूछ कर यह जाना जा सकता है कि हिंसा मे धर्म है या अहिंसा मे ? यही सबसे बढकर आत्मा की कसौटी है। इस सम्बन्ध मे एक सन्त का कथन है—धर्म[८] के गूढ रहस्य को सुनो और विश्व मे जितने भी मत-मतान्तर हैं, सब

---

८ श्रूयता धर्मसर्वस्व श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मन प्रतिकूलानि, परेषा न समाचरेत्॥

की बातें सुनो। कही इधर-उधर जाने-आने से और सुनने-सुनाने से धर्म मापता नहीं है। अपने धर्म के साथ-साथ दूसरो के धर्म को भी मालूम करो। फिर देखो कि सब धर्मों का निचोड एक ही है, अर्थात्, अपनी आत्मा के प्रतिकूल जो बाते मालूम होती हो वही करने और जिन बातो से तुम्हारे मन मे पीडा उत्पन्न होती हो, जैसे—गाली देना, अपमान करना, नुकसान पहुँचाना, कष्ट पहुँचाना, आदि वे तुम दूसरो के लिए भी कभी न करो। यही सबसे बडा धर्म है और सबसे बडी अहिंसा है, अहिंसा मे धर्म या अधर्म को परखने की सच्ची कसौटी है। जो व्यक्ति के 'अहम्' भाव को अन्दर से निकाल कर प्राणीमात्र मे बिखेर देता है, व्यक्ति के भीतर सीमित स्नेह की सकीर्णवृत्ति को विशालता और विपुलता प्रदान करता हुआ चलता है और अन्त मे जगत् के कोने-कोने मे उसे फैला देता है, वही सच्चा धर्म है।

स्वार्थ या कांटेदार घेरा ही इस कसौटी मे बाधक

मगर अहिसा की यह कसौटी उस क्रूर, पापी, लुटेरे या हत्यारे के ध्यान मे क्यो नही आती? ससार मे आज नित नये सघर्षों का जन्म हो रहा है, वर्गगत, जातिगत, परिवारगत, धर्मसम्प्रदायगत एव भाषादिगत सघर्ष दैत्य की तरह भयानक हो कर परेशान और भयभीत कर रहे हैं, मानव-जाति को, इन्हे अहिसा की बात क्यो नही सूझती? वे इस पूर्वोक्त कसौटी को अपने पर लगा कर क्यो नही परखते? इन सबके मूल मे एक ही कारण है और वह है—क्षुद्र स्वार्थों का घेरा। यह काटेदार घेरा इतना भयानक है कि इसके कारण व्यक्ति अपनी वासना के लिए खाने-पीने, भोग विलास और ऐशआराम के लिए दूसरो को बर्बाद कर रहा है, नेस्तनाबूद कर रहा है। क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए भले ही दूसरो के हित कुचल दिये जाएँ, चाहे दूसरो का जीवन नष्ट हो जाए, किन्तु अपना घर भर जाना चाहिए और अपनी जिंदगी को पूरा आराम मिलना चाहिए, इस प्रकार की भावना से मनुष्य अपने अन्दर बन्द हो गया है। इसके कारण अहिंसा को धर्म मानते हुए भी वह स्वार्थपूर्ति के समय उसे भुला देता है।

मनुष्य आज अपने स्वार्थों का कैदी बना हुआ है। अपनी इच्छा, प्रतिष्ठा, सुख और भोग की भावना से इस प्रकार घिर गया है कि दूसरी कोई श्रेष्ठ कल्पना ही उसके मस्तिष्क मे प्रवेश नही पा रही है। वह जब भी सोचता है, अपने सम्बन्ध मे। जिधर भी उसकी दृष्टि जाती है, स्वय के स्वार्थ को ही देखता है। जब कभी मन मे भूख-प्यास के सकल्प उठते है, तो उसे अपनी भूख ही भूख मालूम पडती है। दूसरे की भूख-प्यास की कोई अनुभूति ही नही होती। बात यह है कि अपनी वेदना और पीडाओ के सिवाय उसे और कुछ ध्यान मे ही नही आता है। अपने कष्ट के सिवाय वह और किसी के कष्ट को अनुभव नही कर पा रहा है। इस क्षुद्र भावना से मनुष्य अपने अन्दर बन्द हो गया है, फलत उसे नही मालूम होता कि दूसरो पर कैसी गुजर रही है? यह विकट और भयकर घेराबन्दी है, यह स्वार्थ मोह और अज्ञान है, जिससे आज के मनुष्य का हृदय चारों ओर से घिर गया है।

जब तक मनुष्य अपनी कामनाओ और इच्छाओ की कैद से बाहर नहीं निकलता, अपने स्वार्थों के इस कांटेदार घेरे को तोड नही डालता, तब तक न उमे स्वय को शांति मिल सकती है, और न उसके पडौसी को ही। न परिवार को सुख मिल सकता है, न समाज एव राष्ट्र को। दूसरे के दुःख को देखने की दृष्टि, पराये हित को समझने की सद्भावना, जब तक मनुष्य के हृदय मे नही जगती है, तब तक यह स्वार्थों की लडाई, सघर्ष और द्वन्द्व जो चलते आए है चलते रहेगे। अपितु सघर्ष और लडाइयाँ और अधिक तीव्र होती रहेगी। चिनगारियाँ उछलती रहेगी और मनुष्य का अन्तर्मन उसमे जलता रहेगा।

बेटे ने बाप को कैद मे क्यों डाला ?

सम्राट् श्रेणिक के सम्बन्ध मे आप कुछ चर्चाएँ सुन चुके है। ढाई हजार वर्ष पूर्व के भारतीय इतिहास मे वह एक महान सम्राट् के रूप मे चमका था, भारत के राजनैतिक क्षितिज का वह एक जाज्वल्यमान नक्षत्र था। उसके राज्य की सीमाएँ ही विशाल नही थी, अपितु उसका हृदय भी बहुत विशाल था। प्रजा सुखी थी, राज्य मे सब ओर मधुमय उल्लास का वातावरण छाया हुआ था। भगवान् महावीर का प्रमुख भक्त था राजा श्रेणिक। वह कितनी बार नगे पैरो चल कर भगवान् के समवसरण मे पहुँचता रहा है। प्रभु के चरणो मे अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहा है। उसके हृदय मे प्रभु के प्रति अटलश्रद्धा और विश्वास की लौ जलती रही है। कितना अच्छा था वह सम्राट्! आप जानते है इसी सम्राट् श्रेणिक का एक पुत्र था कूणिक। उसे अजातशत्रु कूणिक भी कहा जाता है। कूणिक को इतिहासकार एक महत्त्वाकाक्षी सम्राट् के रूप मे चित्रित करते है। जब कूणिक का जन्म हुआ, तो गर्भकालीन अनिष्ट दोहद के कारण चेलणा ने उसे जन्मते ही बाहर फेकवा दिया। माँ के हृदय का कोमल मातृत्व कितना कठोर हो गया था कि अपने ही सद्य प्रसूत शिशु को दासी के हाथो मे सौप देती है, बाहर फेकने के लिए। इसलिए कि अनिष्ट दोहद के कारण भविष्य की दुष्कल्पनाओ और आशकाओ से उसका हृदय काप रहा था। किन्तु राजा श्रेणिक ने कमाल कर दिया। माँ ने जिस नवजातपुत्र को कूडे के ढेर पर यो फेंक दिया, जैसे कोई घर का कूडा-कचरा फेका जाता है, उसी पुत्र को पिता स्नेह से उठा कर लाता है। और श्रेणिक जब देखता है कि पुत्र की अँगुली मे घाव हो गया है, अँगुली सड गयी है तो अपने मुँह से मवाद चूस-चूस कर घाव को ठीक करता है। चेलणा को उपालम्भ देता है और किसी भी प्रकार की आशका न करके पुत्र को प्रेम से पालने का आग्रह करता है। मातृत्व से बढकर श्रेणिक का पितृत्व यहाँ निखरा है। एक सम्राट् पुत्र की अँगुली के सडे हुए घाव को चूस कर उसका मवाद निकालता है। किसलिए ? पुत्र की पीडा और व्याकुलता शात करने के लिए। पितृ-स्नेह का कितना ऊँचा चित्र है यह!

समय आगे बढता है, स्थितियाँ बदलती है। कूणिक युवक होता है, उसके मन

मे महत्त्वाकाक्षाएँ उठती हैं, वह राज्य-लिप्सा की उद्दाम तरगो के थपेडो मे बह जाता है। वह पिता के प्रति क्या सोचता है ?—"पिता बूढ़े हो गये हैं, किन्तु अभी भी सिहासन नहीं छोड रहे है। मैं नौजवान हूँ, मेरी कुछ आकाक्षाएँ है, इच्छाएं है। यदि इस जवानी मे ही साम्राज्य का आनन्द नही लिया, तो फिर क्या बूढा हो कर लूंगा। अभी कोई विजययात्रा नही की, देश-प्रदेश के सिंहासनो पर अपना झण्डा नही फहराया, तो क्या बुढापे मे दिग्विजय करने निकलूंगा ? और पता नही, बूढा कब मरेगा, कब सिहासन खाली होगा ? और कब मरा राजतिलक होगा ? क्या तब तक मै भी बूढा नही हो जाऊँगा ? बूढा होने पर सिहासन मिला, तो क्या आनन्द उठाऊँगा ? जवानी तो यो ही व्यर्थ बीत जाएगी।"

सोचिए, कूणिक किस प्रकार की कल्पनाओ मे बह रहा है। किन दुराशाओ और लिप्साओ की दासता मे जकडा जा रहा है। वह सिंहासन को काटो का ताज नही, फूलो की सेज समझ रहा है, जिस पर खुल कर जीवन का आनन्द लूटा जा सकता है। वह सिहासन पर अधिकार करना चाहता है। उतरदायित्व वहन करने के लिए नही, प्रजा की सुख-समृद्धि की भावना से नही, अपितु अपनी इच्छा और वासना की पूर्ति के लिए अधिकार चाहता है।

भारत के प्राचीन राजाओ का आदर्श क्या रहा है ? भारत का राजा राज्य के खजानो का धन और ऐश्वर्य का स्वामी नही होता था, वह अपने विशुद्ध सेवाधर्म के बल पर प्रजा के हृदय का स्वामी होता था, प्रजा के सुख के लिए उसका खजाना था, सेना थी और स्वय उसका जीवन भी ! राजा सिहासन पर किसलिए बैठता है ? प्रजा की सुरक्षा और समृद्धि के लिए, न कि जनता की लाश पर अपने सुख के महल खडे करने के लिए। प्रजा के रुदन पर जिसे हँसी फूटती हो, प्रजा के दु ख और पीडाओ मे जिसे सुख मिलता हो, और प्रजा के हृदय के गर्म निश्वासो पर जिसके जीवन की गर्मी टिकी रहती हो, वह राजा नही होता, राक्षस होता है, सिहासन का अधिकारी नही, धिक्कारी होता है, कलक होता है।

मै कह रहा था कि कूणिक अपनी इच्छाओ के अन्ध-प्रवाह मे बह जाता है, राज्यप्राप्ति के सपने देखता है। सिंहासन हथियाने के लिए एक बेटा बाप को मारना चाहता है, अपनी माँ का सौभाग्य-सिन्दूर पोछना चाहता है, माँ की हँसी-खुशी हाहाकार मे बदलने को तैयार हो जाता है। मनुष्य की दुर्दान्त वासना और निम्न स्वार्थ-वृत्ति उसे कहाँ से कहाँ ले जाती है कुछ पता नही। कूणिक कालीकुमार आदि दशो भाइयो को गाँठता है, राज्य का लोभ दे कर उन्हे अपने षड्यन्त्र मे शामिल करता है और एक दिन सम्राट् को सिहासन से उतार कर काठ के पिंजड़े मे पशु की तरह बन्द कर डालता है।

इतिहास की इस जघन्य घटना की प्रेरक मन स्थिति का विश्लेषण किया जाए तो पता चलेगा कि कूणिक की उद्दाम इच्छाएँ, अनियन्त्रित राज्यलिप्सा और झूठी

मानप्रतिष्ठा एव महत्ता की भावनाएँ ही उसके मूल मे थी। मनुष्य अपने यश, प्रतिष्ठा एव स्वार्थों के पीछे ऐसा पागल हो जाता है कि वह कर्तव्य और अकर्तव्य की सीमाएँ तोड़ देता है। मन का दर्प, सर्प बन कर उसे अन्दर ही अन्दर काटता रहता है, अहकार और महत्त्वाकाक्षा 'येन केन प्रकारेण' आगे बढने का रास्ता ढूंढती रहता है। उसके सामने माता-पिता के जीवन का भी कोई मूल्य नही रह जाता। इतिहास अपने पन्ने उलट कर बता रहा है कि जब-जब मनुष्य इच्छाओ का दास बना है, स्वार्थों की भूल-भुलैया मे भटका है, और 'अपनेपन' के क्षुद्र घेरे मे बन्द हुआ है, तब-तब ऐसे कूणिको का जन्म हुआ है, दुर्योधन और दु शासनो का जमाना आया है। वासनाओ के इसी पिण्ड से कस जन्म लेता है, औरगजेब जन्म लेता है। ये वे पुत्र है, जिन्होने अपने पिताओ के लिए, भाइयो और परिजनो के लिए कैदखाने तैयार किए है, उन्हे पशु की तरह पिजडे मे डाला है, कालकोठरी मे बन्द किया है और तलवार के घाट उतारा है। अपनी सुख-लिप्सा के नशे मे चूर हो कर उनके ससार को उजाडा है उन्होने स्वर्ग से नरक मे डाला है। ऐसे ही व्यक्तियो की बदौलत ससार की यह दुर्दशा है। मै सोचता हूँ कस और कूणिक एक व्यक्ति का प्रतीक न हो कर आज स्वार्थान्धता और महत्त्वाकाक्षा का प्रतीक बन गया है। अहिसा की वह कसौटी सकीर्ण तुच्छ स्वार्थ के काटेदार घेरे से घिर कर धर्म के बदले अधर्म बन गई है। भारतीय सस्कृति मे आज हजारो वर्षों के बाद भी कस और कूणिक के प्रति जनसाधारण मे तिरस्कार की भावना विद्यमान है। मैं समझता हूं, वह घृणा और तिरस्कार उनकी इच्छादासता और स्वार्थवृत्ति के प्रति है।

अत जब तक मानव अपने ही स्वार्थों और इच्छाओ का दास बना हुआ है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरो के प्राणो से खेल रहा है, वासना और विकारो के बन्धन नहीं टूटते, स्वार्थ की बेडियाँ नही टूटती, तब तक मनुष्य अपने आप मे कैद रहेगा। अपने ही क्षुद्र घेरे मे, पिंजड़े मे पशु की तरह घूमता रहेगा। ऐसा मनुष्य ससार तो क्या, अपना भी भला नही कर सकेगा, और न ही वह अहिसा भगवती की झाकी देख सकेगा।

जो आदमी अपने अन्दर बद हो गया है, स्थिर स्वार्थों से घिर गया है और जिसे अपनी ही जरूरते और चीजे महत्त्वपूर्ण मालूम होती हैं, वह उनकी पूर्ति के लिए दूसरो के जीवन की उपेक्षा करता है, और ऐसी उपेक्षा करता है, जैसी एक नशेबाज ड्राइवर। एक ड्राइवर नशा करके मोटर मे बैठ जाता है और पूरी रफ्तार मे मोटर छोड देता है। अब मोटर दौड रही है और ड्राइवर को भान नही है कि इस रास्ते पर दूसरे भी चलने वाले हैं। दूसरो के जीवन भी इसी सडक पर घूम रहे हैं, वे उसकी बेहोशी से कुचले जा सकते है। वह तो नशे की मस्ती मे झूम रहा है और मोटर तीव्रतम वेग के साथ दौडी जा रही है। क्या वह ड्राइवर सच्चा और ईमानदार ड्राइ-वर है? नही, कभी नही। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने लिए स्वार्थ या वासना का

प्याला चढ़ा लेता है और अपनी जीवन-गाडी को ऐसी उन्मुक्त एव तीव्र गति से चलाता है कि दूसरो के जीवन कुचले जा रहे हैं, वे मर रहे हैं, परन्तु इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नही है, क्या वह व्यक्ति कभी सच्चा मनुष्य हो सकता है ?

गाडी को तेज रफ्तार मे छोडने पर कोई भी दुर्घटना या खतरा हो सकता है, अत उसे ब्रेक लगा कर चलाना चाहिए। जिस मोटर गाडी मे ब्रेक न लगा हो, क्या उस गाडी को चलाने का अधिकार मिल सकता है ? बिना ब्रेक की गाडी चलाना दण्डनीय है। जीवन की गाडी मे भी सयम का ब्रेक लगना चाहिए। सयम का ब्रेक लगने पर जीवन-गाडी स्वय भी सुरक्षित रहती है और दूसरो को भी सुरक्षित रखती है।

कोई ड्राइवर सोच-समझ कर मोटर चला रहा है, नशा उसने नही किया है और दिमाग को तरोताजा रख कर चला रहा है, और मोटर को जैसे-तैसे मरते-मारते ठिकाने पहुँचा देना मात्र ही उसका लक्ष्य नही है। बल्कि वह सडक पर किसी को किसी प्रकार का नुकसान किए बिना सकुशल ठिकाने पहुँच जाता है, तो वही सच्चा और होशियार ड्राइवर है। अतएव जब वह चलाता है तो दाएँ-बाएँ बचा कर चलाता है। फिर भी मनुष्य होने के नाते उससे कभी भूल हो भी जाती है। अस्तु, बचाने का पूरा प्रयत्न करने पर भी कोई टकरा ही गया, या जब कोई सामने आया और उसने ब्रेक भी लगाया, किन्तु ब्रेक फेल हो गया और गाडी नही रुकी, तो ऐसी स्थिति मे यही कहा जा सकता है कि वह ड्राइवर उस हिंसा के पाप का भागी नही है।

हर एक आदमी जीवन की गाडी ले कर चल रहा है। मोटरगाडी को घर से बाहर न निकाल कर केवल घर के गैरेज मे बन्द कर देना ही उसका सही उपयोग नही है। मोटर का सही उपयोग तो मैदान मे चलाना है, किन्तु चलाने का उचित विवेक रहना चाहिए। इसी प्रकार जीवन मे भी मन को बन्द करके सुला देने से जीवन की सारी हरकते बन्द कर देने से और शरीर को एक माँसपिण्ड बना कर किसी एक कोने मे रख छोडने से तो कोई परिणाम नही निकल सकता। जीवन को प्रतिक्षण गतिशील रहना चाहिए। गतिहीन जीवन जीवन नही, बल्कि जीवन की जिन्दा लाश है। मुर्दे की तरह निष्क्रिय पड़े रहना, क्या कोई धर्म का लक्षण है ?[८]

जैनाचार्य कहते है—जीवन की मोटर को चलाने की मनाही नही है। यदि गृहस्थ है तो उस रूप मे गाडी को चलाने का हक है, और यदि साधु है तो भी चलाने का हक है। किन्तु चलाते वक्त उसे प्रमादी या असावधान न बनना चाहिए मस्तिष्क को साफ और तरोताजा रखते हुए सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की यह गाडी किसी से टकरा न जाए, व्यर्थ या अनुचित ढग से किसी को कुछ नुकसान न पहुँचने पाए। इन सब बातो को ध्यान मे रख कर ही जीवन की गाडी चलानी चाहिए, फिर भी कदाचित् भूल हो जाए और हिंसा की दुर्घटना हो जाए तो ऐसा होना बहुत हद तक हो सकता है। किन्तु अन्धे बन कर चलाने पर यह कभी भी क्षम्य नही हो सकता।

---

८ गीता।

अहिंसा की एक कसौटी . विवेक

एक बार गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया। उन्होने अपने लिए ही नही, किन्तु समस्त विश्व के लिए पूछा—'भगवन्! जीवन मे कही पाप न लगे ऐसी राह बताइए। क्योकि जीवन पापमय है, यहाँ चलते हुए भी पाप लगता है।

विश्व के कुछ दार्शनिको ने इस शास्वत प्रश्न का समाधान इस प्रकार करने का प्रयत्न किया है—

—चलना पाप है,

—तो खडे रहो।

—खडे-खडे भी पाप लगता है।

—अच्छा, बैठ जाओ।

—पाप तो बैठने पर भी लगता है।

—अच्छा, पड जाओ। सारे शरीर को मुर्दे की तरह पडा रखो।

—पडे-पडे भी पाप लगता है।

—तो मौन धारण कर लो, चुप रहो, बोलो मत और खाओ-पीओ भी नही!

क्या जीवन का यही अर्थ है? जैन-धर्म के समाधान करने की यह पद्धति नही है। भगवान् कभी यह नही कहते कि चलने मे पाप लगता है तो खड़े हो जाओ। यदि इस पर भी पाप लगे तो बैठ जाओ, फिर पसर जाओ, और इस तरह जीवन को समाप्त कर दो। तीर्थंकरो के धर्म मे सच्चा साधक वह नही है, जो इधर 'वोसिरे' कहे और उधर एक जहर की पुडिया खा ले। बस रामनाम सत्य! न तो जीवन रहे, और न जीवन की हरकत ही रहे। जैन-धर्म तो यही कहता है कि—अरे मनुष्य! तेरी जिन्दगी अगर पचास वर्ष के लिए है तो पचास वर्ष, अगर सौ वर्ष के लिए है तो सौ वर्ष, और यदि हजार वर्ष के लिए भी है तो हजार वर्ष पूरे कर, शान के साथ पूरे कर। किन्तु एक बात का ध्यान अवश्य रखो— प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक करो। यदि चलना है तो चलने मे यतना रखो, विवेक रखो। यदि खडे हो तो बैठने की बात नही है। यथा प्रसग खडे रह सकते हो, पर विवेक के साथ खड़े होओ। यदि बैठना हो, तो भी विवेक के साथ बैठो। यदि सोना है, तो सोओ भी विवेक के साथ। यदि खाना है या बोलना है, तब भी यही शर्त है। विवेक के साथ ही खाओ, विवेक के साथ ही बोलो। फिर पाप-कर्म कदापि नही बँधेगे।[६] पाप-कर्म तो अविवेक मे ही है।

बस विवेक ही अहिंसा की सच्ची कसौटी है। जहाँ विवेक है, वहाँ अहिंसा है और जहाँ विवेक नही है, वहाँ अहिंसा भी नही है। विवेक या यतनापूर्वक काम करते हुए भी यदि कभी हिंसा हो जाय तो वह कार्य हिंसा का नही होगा। अनुबन्ध-हिंसा नही होगी।

---

६ जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए।
जय भु जतो भासतो, पावकम्म न बधइ ॥ —दशवैकालिक सूत्र ४,८

९ | अहिंसा का मान-दण्ड

हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध म आज हमे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना है। जगत् मे असख्य प्रकार के प्राणी है और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि प्राणियो के ये असख्य प्रकार भी अपने आप मे अनेक प्रकार के है। तात्पर्य यह कि जब हम विश्व की अनन्त-असीम जीव राशि पर विचार करना आरम्भ करते ह तो एक नही, अपितु अनेक आधार ऐसे मिलते है, जिनसे समग्र जीव-राशि का वर्गीकरण होता है।

उदाहरणार्थ— कोई जीव एकेन्द्रिय है, और कोई द्वीन्द्रिय है, कोई त्रीन्द्रिय है, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पचेन्द्रिय है। इनके अतिरिक्त कोई स्थूल शरीर वाला हाथी है, ऊंट है या महाकाय मत्स्य है, तो कोई अतीव सूक्ष्म शरीरवाला है। ऐसा भी सुना जाता है कि सुई की नोक के बराबर निगोद-कार्य के छोटे से खण्ड मे अनन्त-अनन्त जीवो का विकास होता है।

हिंस्य और हिंसक की भूमिका

यहाँ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि के रूप मे जो वर्गीकरण किया गया है, वह जीवो के शरीर की बनावट के आधार पर है और साथ ही उनकी चेतना के विकास की तरतमता के आधार पर भी। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय आदि जीवो के शरीर की बनावट मे अन्तर होता है। परन्तु शरीर की बनावट का ही भेद उसमे हो, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भेद न हो, ऐसी बात नही है। उनमे क्रमश इन्द्रियो की सख्या बढती चली गई है और इसी वृद्धि के कारण उनकी चेतना का विकास भी अधिक से अधिकतर होता चला गया है।

यह तो उन जीवो की बात हुई—जिन्हे हिंस्य कहते है, अर्थात् जिनकी हिंसा होती है। परन्तु हिंसा करते समय सब हिंसक भी एक रूप के नही होते। किसी के अन्त करण मे हिंसा की भावना बहुत उग्र होती है, क्रोध की ज्वाला बडी ही तीव्र होती है, द्वेष की वृत्ति अत्यन्त बलवती होती है, और किसी के हृदय मे हिंसा की वृत्ति मध्यम होती है या मन्द होती है या जैसा कि केवल द्रव्य-हिंसा की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, हिंसा की वृत्ति होती ही नही है।

हिंस्य और हिंसक की अनेक भूमिकाओं मे तारतम्य

इस प्रकार हिंस्य और हिंसक की अनेकानेक भूमिकाएँ है और इन दोनो के

योग से ही हिंसा की निष्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सब हिंसाएँ एक ही श्रेणी की होती है या उनमे भी कुछ अन्तर है ? यदि जीवन मे होने वाली समस्त हिंसाएँ एक ही श्रेणी की होती है, तब तो शाक-सब्जी का खाना और मास का खाना एक ही श्रेणी मे होना चाहिए था ? परन्तु ऐसा नही है। यदि ऐसा नही है और हिसा मे वस्तुत किसी प्रकार का तारतम्य है, अर्थात् कोई हिंसा बडी है और कोई छोटी है--तो इस वर्ग-भेद का आधार क्या है ? कौन-से गज से हिंसा का बडापन और छोटापन नापना चाहिए ? क्या मरने वाले जीवो की सख्या की अल्पता पर ही हिसा की अल्पता, और अधिकता पर ही हिंसा की अधिकता निर्भर है ? अथवा जीवो के शरीर की स्थूलता और सूक्ष्मता पर हिसा की विपुलता और न्यूनता अवलम्बित है ? अथवा हिसक की हिसामयी मनोवृत्ति की तीव्रता और मन्दता पर हिसा की अधिकता और न्यूनता आश्रित है ? आखिर वह कौन-सा मापक है, जिससे हम हिंसा को सही तरीके से नाप सके ?

कुछ लोग कहते है—"पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव भी तो जीव ही है। उनमे भी प्राण है और उनको भी जीने का हक है। यदि करुणा की भाषा मे कहा जाए तो वे बेचारे भी जिन्दगी रखते है, किन्तु मूक है। शायद इसीलिए आपकी आँखो मे उनका मूल्य नही है ? और द्वीन्द्रिय से लगा कर पचेन्द्रिय तक जितने भी बडे-बडे प्राणी है, उन्ही की जिन्दगी का आप मोल समझते हैं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो मूक शिशु के समान बेचारे गरीब है, जो अपने आप मे कुछ सामर्थ्य नही रखते है और जो अपनी रक्षा करने के लिए स्वय योग्य नही है, ऐसे एकेन्द्रिय प्राणियो की हिंसा कम मानी जाएगी। जो पचेन्द्रिय है, समर्थ है, बोल सकते है उनकी हिसा बडी मानी जाएगी ? यह सिद्धान्त ठीक नही है। ससार मे सब जीव बराबर है, क्या एकेन्द्रिय और क्या पचेन्द्रिय। हिसा का एकमात्र आधार जीव है, जीवो मे छोटे और बडेपन का वर्ग-भेद नही है।"

प्राय हमारे बहुत-से साथी ऐसा कहते है कि—"यह जो आपका विचार करने का ढग है कि एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव की हिसा मे तारतम्य है, और आप उनकी हिसा को कम और अधिक मानते है, यह तो शास्त्र-सम्मत नही है। एकेन्द्रिय की हिसा भी हिसा है। जब दोनो प्रकार की हिंसाएँ वास्तव मे हिसा की दृष्टि से बराबर है तो कमती-बढती कैसी हो गई ? सभी हिसाएँ एक जैसी होनी चाहिए।"

कदाचित् इन्ही विचारो के फलस्वरूप राजस्थान मे एक नए पथ का जन्म हुआ है। यो तो उस पथ के जन्म लेने के और भी अनेक कारण सुने जाते है, परन्तु यहाँ उन सबके साथ उलझना आवश्यक नही। मनुष्य को विचारो का द्वन्द्व ही प्राय धोखा देता है। मूल मे कोई भी कारण रहा हो, किन्तु हिंसा और अहिसा की व्याख्याओ ने भी कुछ कम धोखा नही दिया है और उन्ही व्याख्याओ के कारण भ्रान्तियाँ

पहले भी थी, आज भी मौजूद है, और शायद भविष्य मे भी रहेगी। कुछ भी हो, यह प्रश्न गम्भीरता से विचारने योग्य है।

अब तक के विवेचन से एक नई चीज प्रकाश मे आई कि—जब सभी जीव समान है तो उनकी हिंसा भी समान होनी चाहिए। उनमे से किसी की हिंसा कम, और किसी की ज्यादा कैसे हो सकती है? इस तर्क से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सब जीवो की हिंसा समान है तो फिर कोई कम हिंसक और कोई अधिक हिंसक क्यो कहलाता है? यदि कहलाता है, तो आखिर उसका क्या कारण है?

इस नये प्रश्न का एक नया हल निकाला गया है। वह यह है कि जहाँ जीव ज्यादा मरेंगे, वहाँ ज्यादा हिंसा होगी, और जहाँ कम जीव मरेंगे, वहाँ कम हिंसा होगी। जब इस मान्यता को आश्रय दिया गया तो जीवो की गिनती शुरू हो गई। जब जीवो की गिनती शुरू हो गई तो विभिन्न प्रकार के नए-नए तर्क भी पैदा होने लगे। यथा—एक आदमी भूखा-प्यासा आपके दरवाजे पर आया है, वह प्यास से छटपटा रहा है और मरने वाला है। यदि आप उसे एक गिलास पानी दे देते है तो उसके प्राण बच सकते है। किन्तु वहाँ हिंसा की तरतमता का प्रश्न उठ खडा होता है। एक तरफ पानी के पिलाने से केवल एक जीव बचता है, किन्तु दूसरी तरफ अनेक जीव मरते है? क्योकि पानी की एक बूंद मे असख्यात जीव हैं। पानी के पी लेने पर वे सब मर जाते है। इस प्रकार केवल एक जीव बचाया जा सका, और उसके पीछे असख्यात जीव मारे गये। फिर यहाँ धर्म कैसे हुआ? और पुण्य कैसे सम्भव होगा? यह तो वही बात हुई कि एक समर्थ की तो रक्षा कर ली गई, किन्तु उसके पीछे असख्य असमर्थों को मार दिया गया। इस प्रकार जीवो को गिन-गिन कर हिंसा की तरतमता देखी जाती है।

क्या सचमुच जैनधर्म का यही दृष्टिकोण है कि जीवो को गिन-गिन कर हिंसा का हिसाब लगाया जाय? जीवो को गिन-गिन कर हिंसा और अहिंसा का मापक तैयार करना जैन-धर्म को इष्ट नही है। जब आगमो की पुरानी परम्परा का अध्ययन करेंगे तो आपको विदित होगा कि जैनधर्म जीवो की गिनती नही करता। वह तो केवल भावो को ही गिनता है। वह सख्या के बाहरी स्थूल गज से हिंसा को नही नापता। वह तो भावनाओ के सूक्ष्म गज से ही हिंसा की न्यूनता और अधिकता को नापता है।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा के प्रकरण मे तदुल-मत्स्य का शास्त्रीय उदाहरण दिया जा चुका है। बेचारा तदुल-मत्स्य एक भी मछली को नही मार सकता, फिर भी वह घोर से घोर हिंसा का भागी बन जाता है। यदि अधिक जीवो की हिंसा ही बडी हिंसा का कारण होती तो शास्त्र हमारे सामने तदुल-मत्स्य का उदाहरण प्रस्तुत न करते। परन्तु वास्तव मे ऐसा है नही। यह सिद्धान्त जैन-धर्म का नही है। यह तो हस्तीतापसो की मनगढन्त मान्यता है।[1]

---

१ हस्तीतापसों के लिए देखिए, सूत्रकृताङ्ग सूत्र और उसकी टीका—२, ६, ५२

हस्तीतापसों का मत

प्राचीन काल मे अनेकविध तपस्वी होते थे। उनमे से हस्तीतापस घोर तपस्या तथा कठिन व्रतो का पालन करते थे। जब पारणे का दिन आता, तो वे विचार करते थे कि यदि हम वन-फल खाएँगे तो असख्य और अनन्त जीव मरेगे। यदि अनाज आदि खाएँगे, तो उसमे भी जीव होते है, फलत सेर-दो सेर अन्न खाने पर अनेक जीव मारे जाएँगे। इसमे हिंसा ज्यादा होगी। तो फिर क्यो न किसी एक ही स्थूलकाय जीव को मार लिया जाए, जिसे हम भी खाएँ, दूसरो को भी खिलाएँ, और साथ ही हिंसा की मात्रा भी कम हो। यह सोच कर वे जङ्गल मे एक हाथी को मार लेते थे और कई दिन तक उसे सुविधा-पूर्वक खाते रहते थे। निस्सन्देह उनका यही विचार था कि हम ऐसा करते है तो हिंसा कम होती है।

परन्तु भगवान् महावीर ने कहा है कि ऐसा समझना बिल्कुल गलत है। तुम्हे तो जीवो के गिनने की आदत हो गई है कि वनस्पति मे जीवो की सख्या अधिक है तो हिंसा भी अधिक होगी, किन्तु एक हाथी को मार लिया तो सख्या के अनुसार हिंसा कम हो गई। परन्तु ऐसा कदापि न समझो। जब वनस्पति-स्वरूप एकेन्द्रिय की हिंसा होती है, तब भावो मे अधिक तीव्रता नही होती। उस समय मन मे उग्र घृणा और द्वेष के भाव पैदा नही होते, क्रूरता और निर्दयता की आग नही जलती। परन्तु जब पचेन्द्रिय जीव मारा जाता है तो अन्त करण की स्थिति दूसरे ही प्रकार की हो जाती है। वह हलचल करने वाला विशाल प्राणी है। जब उसे मारते है, तो घेरते है, और जब घेरते है तो वह अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जब भीतर के भावो मे तीव्रता होगी, क्रूरता एव निर्दयता की अधिकता होगी और तदनुसार भावो प्रबलता होगी, तभी उसकी हिंसा की जाएगी। एकेन्द्रिय जीव की हिंसा के परिणामो मे ऐसी तीव्रता नही होती।

भगवान् ने यही बतलाने का प्रयत्न किया है कि एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीव की हिंसा मे भाव एक जैसे नही होते है। अतएव उनकी हिंसा भी एक जैसी नही हो सकती। ज्यो-ज्यो भावो की तीव्रता बढती जाती है, त्यो-त्यो हिंसा की तीव्रता मे भी वृद्धि होती जाती है, एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव की हिंसा मे परिणाम अधिक उग्र होगे। इसलिए हिंसा का परिणाम भी ज्यादा होगा। इस क्रम के अनुसार द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय मे ज्यादा, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय मे ज्यादा और चतुरिन्द्रिय से पचेन्द्रियो मे ज्यादा हिंसा मानी जाती है। पचेन्द्रियो मे भी औरो की अपेक्षा मनुष्य को मारने मे सबसे ज्यादा हिंसा होती है।

भावों की तीव्रता-मन्दता

हिंसा करने वाले के भाव किस गति से तीव्र, तीव्रतर तथा तीव्रतम होते हैं, यह समझ लेना भी आवश्यक है। आप इस बात पर अवश्य ध्यान दे कि ज्यो-ज्यो विकसित

प्राणी मिलते हैं, जिनकी चेतना का जितना अधिक विकास होता है, उन्हे उतना ही अधिक दुःख होता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक उत्तरोत्तर दु ख ज्यादा होता है। दु ख एक प्रकार की सवेदना है। सवेदना का सबध चेतना के साथ है। जिसकी चेतना का जितना अधिक विकास होगा, उसे दु ख की सवेदना उतनी ही अधिक होगी। जबकि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की चेतना अधिक विकसित है तो यह भी स्पष्ट है कि उसे दु ख की सवेदना—अनुभूति भी अधिक तीव्र होगी, और जब दु ख की सवेदना तीव्र होगी तो अपनी रक्षा का उपक्रम करते समय आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान भी बढ़ेगा। इधर मारने वाले मे भी उतनी ही अधिक क्रूरता और रुद्रता का भाव जागेगा। जो जीव अपने बचाव के लिए जितना ही तीव्र प्रयत्न करेगा, मारने वाले को भी उतना ही तीव्र प्रयत्न मारने के लिए करना पड़ेगा। इस प्रकार पचेन्द्रिय जीव की हिंसा तीव्र भाव के बिना, अत्यधिक क्रूर परिणाम के बिना नही हो सकती। इसीलिए उसकी हिंसा एक बडी हिंसा कहलाती है और अधिक पाप का कारण होती है। यही कारण है कि भगवती और औपपातिक सूत्र आदि मे नरक-गमन के कारणो का उल्लेख करते हुए पचेन्द्रिय वध तो कहा है, किन्तु एकेन्द्रिय-वध नही।

जैनधर्म ऐसा उद्घोषित करता है कि सब जीवो को एक ही मापक से और इस दृष्टिकोण से नही नापना है कि सब प्राणी बराबर है, फलत सब को मारने मे एक जैसी ही हिसा होती है। कभी यह भी मत समझो कि एक जीव को मारने से कम हिसा होती है और अनेक जीवो को मारने से अधिक हिंसा होती है। जैनधर्म मे ऐसा कोई एकान्त नही है। यह तो हस्तितापसो का मनगढन्त मत है, जिसका स्वय भगवान् महावीर ने निषेध किया है। परन्तु दुर्भाग्य है, आज वही निषेध भगवान् के गले मढा जा रहा है। किन्तु निष्पक्ष विश्लेषण के द्वारा जब वास्तविकता सामने आती है तो सारा भेद खुलकर ही रहता है।

यदि हस्तितापसो की मान्यता को मानने वाला साधु किसी गृहस्थ के घर आहार लेने जाता है। गृहस्थ के घर मे एक तरफ उबली हुई ककडी का शाक है और दूसरी तरफ उबली हुई मछली है। दोनो ही चीजे, आहार-सम्बन्धी अनुद्दिष्ट आदि नियमो के प्रतिकूल नही है। अब बतलाइए, वहाँ वह साधु क्या निर्णय करेगा ? जो सब जीवो को बराबर मान कर चलता है, उसके लिए उबली हुई ककडी और मछली मे कोई अन्तर नही होना चाहिए। उसके मतानुसार तो जैसी पीडा एकेन्द्रिय को हुई थी, वैसी ही पीडा पचेन्द्रिय को भी होनी चाहिए। परन्तु ऐसी बात जब प्रत्यक्ष रूप से सामने आती है और वास्तविकता की कसौटी पर कसी जाती है, तभी असलियत का पता लगता है।

जब सब जीव एक समान है और सबका शरीर भी समान है तो जिस प्रकार पानी का एक गिलास पी सकते हैं, क्या वैसे ही मनुष्य का रक्त भी पिया

जा सकता है ? जब दोनो ही समानरूप से प्रासुक उपलब्ध हो तो फिर भेद करने का क्या कारण है ?

मांस या कन्दमूल ?

जो मुनि ऐसा मानता है कि कम जीवो के मरने से कम हिसा होती है और अनेक जीवो के मरने से अधिक हिंसा होती है, उसके सामने एक दिन ऐसा आदमी आता है, जो मांस खाने वाला है और जिसके यहाँ एक बकरा रोजाना हलाल हो जाता है। उसने उस मुनि से निवेदन करता है—"मैं अहिंसा-व्रत धारण करना चाहता हूँ। किन्तु पूर्ण रूप से हिसा को त्याग देना मेरे लिये शक्य नही है, क्योंकि मेरे यहाँ रोजाना एक बकरा मार कर खाया जाता है और गाजर-मूली आदि कन्दमूल भी खाये जाते हैं। इन दोनो मे से मैं केवल एक वस्तु का त्याग करना चाहता हूँ। जिसके प्रयोग मे अधिक हिंसा होती हो, उसी का त्याग करा दे। जिसमे कम हिंसा होगी, वही पदार्थ मैं खाद्यरूप मे ग्रहण करूँगा।"

हो सकता है कि वह मुनि दोनो चीजो का त्याग कराना चाहे, परन्तु त्याग तो त्याग करने वाले की इच्छा पर ही निर्भर है। वह दोनो का त्याग नही करना चाहता है। वह तो दोनो मे से केवल एक का ही त्याग करना चाहता है, जब यह गम्भीर प्रश्न उस मुनि के सामने आता है तो उसका सही फैसला वह क्या दे सकेगा ? जो इस सिद्धात को ले कर चला है कि यदि अधिक जीव मरें तो अधिक हिंसा होती है, तो क्या वह कन्दमूल मे अनन्त जीव होने के कारण, उसमे अधिक हिसा मान कर कन्दमूल का उससे त्याग करायेगा ? इधर कदमूल मे अनन्त जीव है, किन्तु दूसरी ओर केवल एक बकरा मरता है और उससे सारे परिवार की उदर-पूर्ति हो जाती है। अब बताइए वे किस सिद्धात पर चलेंगे ? जीवो की गिनती का हिसाब लगा-लगा कर हिंसा की न्यूनता और अधिकता को तोलने वाले ऐसे प्रसग पर क्या करेगे ? त्यागने वाला तो दो मे से केवल एक का ही त्याग करना चाहता है। यदि वह मुनि कदमूल के खाने मे अधिक हिंसा समझते है तो कदमूल का त्याग करा दें, यदि बकरे को मारने मे अधिक हिसा समझते है तो बकरे का त्याग करा दे। यदि मुनिराज बकरे का त्याग करवाते है तो उनकी यह मान्यता समाप्त हो जाती है कि—जहाँ अधिक जीव मरते है, वहाँ अधिक हिंसा होती है। चारो तरफ बगलें झाँकने के बाद अन्त मे वे बकरा मारने का ही त्याग करायेंगे। किन्तु दुनियाभर मे चक्कर काटने के बाद आखिर उन्हें सही सिद्धात पर ही आना पड़ेगा।

जैन-धर्म मे एकेन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय जीव तक की द्रव्य-हिंसा और भाव-हिसा मानी गई है, और साथ ही उसमे क्रमश तरतमता भी होती है। तरतमता का मूल कारण हिसा का सक्लेश परिणाम है। जहाँ क्रोध आदि कषाय की तीव्रता जितनी ही कम होती है, वहाँ हिसा भी उतनी ही कम होती है। इसी कसौटी पर हिंसा की

तीव्रता और मंदता को परखना जैन-धर्म को इष्ट है। अब इस कसौटी पर हिंसा और अहिंसा को कसेंगे तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि एकेन्द्रिय[2] की अपेक्षा पचेन्द्रिय को मारने मे हिंसक के मन मे रौद्र-ध्यान अधिक तीव्र होता है और मरने वाले जीव मे भी चेतना अधिक विकसित होने के कारण दु ख की अनुभूति अधिक ही होती है, फलत उसके आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान भी अधिक तीव्र हो जाते है। इस प्रकार जब वहाँ भाव-हिंसा तीव्र है, तो द्रव्य-हिंसा भी स्वभावत बडी ही होगी।

दयामूर्ति भगवान् नेमिनाथ

यदि ऐसा न माना जाय तो भगवान् नेमिनाथ का पशुमोचन-सम्बन्धी जटिल प्रश्न कैसे हल होगा ? वे तो वैराग्य के सागर थे, विवाह नही करना चाहते थे, किन्तु उन्हे विवाह के लिए किसी न किसी तरह मना लिया गया और बरात की तैयारी होने लगी, तब उन्हे स्नान कराया गया। कहते है, १०८ घडो के पानी से स्नान कराया गया। विभिन्न प्रकार के फूलो की अनगिनत मालाएँ पहनाई गई। यह सब कुछ होता रहा, किन्तु फिर भी उन्होने यह नही कहा कि "मेरे विवाह के लिये इतनी अधिक हिंसा हो रही है ! एक बूद मे असख्यात जीव है और एक फूल की एक पखुडी मे असख्य अनन्त जीव हैं। अत मैं विवाह नही करना चाहता।" इस प्रकार वहाँ पर उन्होने कोई विरोध प्रकट नही किया।

लेकिन बरात द्वारिका से चल कर राजा उग्रसेन के यहाँ पहुँची और जब रथारूढ हो कर नेमिनाथ तोरण पर आये तो एक बाडे मे कुछ पशु-पक्षियो को घिरा देखा। यहाँ उन पशु-पक्षियो की करुण पुकार उनके कानो से पडी और जब उसका कारण पूछा, तो उनके सारथी ने कहा—"महाराज ! ये भद्र प्राणी आपके विवाह प्रसग पर भोजनार्थ मारने के लिये एकत्र किये गये है।"[3]

सारथी की बात सुनते ही भगवान् के अन्त करण मे दया का सागर उमड

---

२ जिन जीवो के एक त्वचारूप स्पर्शन-इन्द्रिय होती है, वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति एकेन्द्रिय कहलाते है। स्पर्शन और रसन=जिह्वा वाले लट, गिडोले आदि द्वीन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसन और घ्राण=नाक वाले चीटी आदि त्रीन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु=आँख वाले मक्खी मच्छर आदि चतुरिन्द्रिय हैं। और स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एव श्रोत्र=कान वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पचेन्द्रिय प्राणी हैं।

३ अह सारही तओ भणइ एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झ विवाहकज्जमि, भोयावेउ बहुजण ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २२, २७

पडता है ।[१] वे करुणार्द्र हो कर कहते है—"एक तरफ तो आनन्द-मगल हो रहा है, मांगलिक बाजे बज रहे हैं और दूसरी तरफ इन मूक पशुओ की गर्दनो पर छुरियाँ चलाने की तैयारी हो रही है ।"

बस यह विचार उत्पन्न होते ही उन्होने सारथी से कहा—'इन पशुओ को बाडे से बाहर निकाल दो ।' जब सारथी ने पशुओ को निकाल दिया तो भगवान् प्रसन्न हो कर सारथी को अपने अमूल्य आभूषण इनाम मे दे देते है और साथ ही विवाह न करने का दृढ सकल्प कर साधना के महापथ पर चल पडते है ।

यादवजाति मानो जाग उठी । कदाचित् इससे पूर्व अहिसा के विषय मे उसकी कोई विशेष स्पष्ट धारणा नही थी । इस उदाहरण से उसे एक नया सबक मिल गया । उसे ध्यान आया कि विवाह के समय हम जो बडी-बडी हिंसाएँ करते है और मूक पशुओ की गर्दनो पर छुरी चलाते है, यह कितना बडा अनर्थ है ! कितनी बडी अमानुषिकता है !

भगवान् नेमिनाथ ने विवाह का परित्याग करके जो उच्च आदर्श समाज के सामने उपस्थित किया, उसका वर्णन भगवान् महावीर ने भी किया है । भगवान् नेमिनाथ ने स्नान करते समय, जलकाय के असख्य एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा जानते हुए भी विवाह का त्याग नही किया, किन्तु बाडे मे बद किए हुए कुछ गिनती के पचेन्द्रिय प्राणियो को देख कर और दया से द्रवित हो कर उन्होने विवाह करना अस्वीकार कर दिया । इससे क्या निष्कर्ष निकलता है ? यदि भगवान् एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा को समान समझते तो स्नान करते समय ही उसका विरोध कर देते और उसी समय विवाह करना अस्वीकार कर देते, क्योकि वहाँ असख्य जल-जीवो की हिंसा हो रही थी । यदि उस समय विवाह का त्याग नही किया तो फिर जल के जीवो की अपेक्षा बहुत थोडे पचेन्द्रिय पशु-पक्षियो की हिसा से द्रवित हो कर भी विवाह का त्याग न करते । परन्तु सख्या मे थोडे-से पचेन्द्रिय जीवो को मारने के लिये नियत देख कर उनके हृदय मे करुणा का स्रोत बह उठा । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव की हिंसा समान नही है ।

एक गृहस्थ वनस्पति पर चाकू चलाता है और दूसरा किसी मनुष्य या पशु की गर्दन पर छुरी चलाता है तो क्या दोनो समान पाप के भागी है ? क्या दोनो की हिसा समान कोटि की है ? जो लोग एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव की हिंसा को समान ही मानते है, क्या वे गृहस्थ एकेन्द्रिय के समान पचेन्द्रिय का भी वध करते हैं ? यदि वे स्वय ऐसा नही करते तो दुनिया को चक्कर मे डालने के लिये एकान्तरूप से सर्व-विध हिंसा की समानता का प्रतिपादन क्यो करते है ?

---

१ देखिए—उत्तराध्ययन सूत्र २२।१८-१९

अहिंसा और हिंसा का प्रधान केन्द्र तो व्यक्ति की भावना ही है। अतएव उसे ही आत्मा की कसौटी पर कसकर देखना होगा। जो इस प्रकार देखेंगे, वे हस्तीतापसो के युग मे विचरण करने नही जाएँगे। जीव-गणना के द्वारा हिंसा एव अहिंसा को आकना, यह जैनधर्म की अपनी कसौटी नही है, प्रत्युत भगवान् महावीर ने तो इसका प्रबल विरोध किया है। परन्तु दुर्भाग्य से यह भ्रान्ति हमारे अन्दर समाविष्ट हो गई है, अत आज के विचारशील जैनो को उक्त भ्रान्ति के सम्बन्ध मे अपना मत ससार के समक्ष स्पष्ट कर देना आवश्यक है। यह एक महत्त्वपूर्ण चर्चा है, और दया-दान-सम्बन्धी समस्त नये-पुराने वाद-विवाद इसी मे निहित है। अहिंसा को समझने के लिए हिंस्य जीवो के शरीर, इन्द्रिय, चेतना आदि के विकास के तारतम्य एव हिंसक के मनोभावो की तीव्रता-मन्दता को समझना होगा। ●

अहिंसा की त्रिपुटी | १०

धर्म के जितने भी मार्ग है, एक तरह से सभी अहिसा के ही मार्ग है। धर्म के विभिन्न रूप भी अहिंसा के ही पृथक-पृथक् रूप हैं। आचरण-सम्बन्धी जितने भी विधि-विधान है, उन सबमे अहिसा उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे समुद्र की प्रत्येक लहर मे जल। क्या सत्य, क्या अस्तेय, क्या ब्रह्मचर्य्य और क्या अपरिग्रह, सबके साथ ही अहिंसा चलती है। जीवन की किसी भी ऊची भूमिका मे, ऐसा नही है कि अहिंसा छूट जाए। यह कभी समव नही होगा कि अहिंसा बिछुड जाए और सत्य चलने लगे, या अपरिग्रह उसे छोड कर आगे चल पडे। अहिंसा-वीणा की मधुर झकार सर्वत्र सुनाई देती है। इस प्रकार अहिंसा का स्वरूप विराट् है और उसी के सहारे धर्मों के समस्त नियम और उपनियम टिके हुए है।

अब देखना यह है कि जिस अहिंसा अथवा हिसा को व्यक्ति अपने जीवन के अन्दर ले कर चलता है, तब वह कहाँ-कहाँ और किस-किस रूप मे रहती है? जब यह बात भली-भाँति समझ मे आ जाएगी तो हमारे सामने अहिसा का शुद्ध रूप भी स्वत उपस्थित हो जाएगा।

शरीर और आत्मा

एक ओर शरीर है, तो दूसरी ओर आत्मा। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जो कर्म-बध होते है, वे शरीर के द्वारा होते है या आत्मा के द्वारा? उत्तर है—जीवन मे एक प्रकार की जो चचलता और हलचल-सी रहती है, जिसे शास्त्र की परिभाषा मे योग कहते है, उसी के द्वारा कर्मों का बध होता है। यह हलचल न तो अकेले शरीर मे होती है, और न अकेली आत्मा मे, बल्कि एक-दूसरे के प्रगाढ सम्बन्ध के कारण दोनो मे समानरूप से होती है। गहराई से विचार करने पर यह मालूम हो जायगा कि न केवल शरीर के द्वारा बधन हो सकता है और न केवल आत्मा के द्वारा। यदि केवल शरीर के द्वारा ही बधन होता, तो जब आत्मा नही रहती है और शरीर मुर्दा हो जाता है, तब भी कर्म-बन्धन होना चाहिए। किन्तु ऐसा नही होता। अत ऐसा जा सकता है कि यह शरीर जड वस्तु है। यह अपने आप मे कुछ नही है, यह तो मिट्टी का ढेला है, जो अपने आप कुछ भी करने वाला नही है। जब तक आत्मा की किरण नही पडती और आत्मा का स्पन्दन नही होता, तब तक शरीर कोई क्रिया नही कर सकता। यदि वह अपने आप कुछ कर पाता तो आत्मा के निकल जाने पर भी कर्म-बध अवश्य होता।

प्रश्न उठता है, यदि शरीर कर्म को नही बाँधता है, तो क्या उसे आत्मा बाँधता है ? और यह जो शुभ या अशुभ जीवन-धारा बह रही है, वह शरीर मे नहीं तो क्या आत्मा मे बह रही है ? यदि आत्मा ही शुभ और अशुभ कर्मों का सचय कर रहा है—ऐसा मान लिया जाए तो जैन-धर्म की मर्यादा स्पष्ट नही होती। यदि आत्मा स्वय, बिना शरीर के कर्म-बध कर सकता है तो मुक्ति की दशा मे भी कर्म-बध होना चाहिए। वस्तुत मोक्ष मे क्या है ? वहाँ एकमात्र सिद्धत्वरूप है, ईश्वरीय रूप है और परम विशुद्ध परमात्म-दशा है। वहाँ शरीर नही रहता, केवल आत्मा ही रहता है। यदि आत्मा ही कर्म बध का कारण है तो सिद्धो को भी कर्म-बध होना चाहिए। वहाँ भी शुभ और अशुभ कर्म होने चाहिए। किन्तु ऐसा होता नही है। वहाँ आत्मा कर्म-बध मे अतीत, विशुद्ध ही रहती है। अतएव स्पष्ट है कि अकेला आत्मा भी कर्मों का बध नही करता।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि कर्म-बन्ध आत्मा और शरीर के सयोग से होता है। जब तक ये दोनो मिले रहते है, तब तक ससारी दशा मे कर्म-बन्ध होता रहता है। परन्तु जब ये दोनो अलग-अलग हो जाते है, न केवल स्थूल-शरीर ही, अपितु सूक्ष्म-शरीर भी आत्मा से अलग हो जाता है, तो इस अवस्था मे कर्म-बन्ध का सर्वथा अन्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा और शरीर के सयोग पर ही कर्म-बन्ध आधारित है।

कल्पना करे—भग है, और वह अधिक से अधिक तेज घोट कर रखी गई है। अब प्रश्न यह है कि उसका जो नशा है, और नशे के प्रभाव से जो पागलपन होता है, वह भग मे है या पीने वाले मे है ? यदि पीने वाले मे है तो भग पीने से पहले भी उसमे उन्माद और दीवानापन होना चाहिए था। किन्तु ऐसा तो है नही। भग पीने से पहले पीने वाले मे पागलपन नही होता। यदि पीने वाले मे और उसकी आत्मा मे नशा नहीं है, मादकता भी नही है—तो क्या भग मे ही है ? यदि भग मे ही है तो भग जब घोट-छान कर गिलास मे रखी हो, तब उसमे भी दीवानापन आना चाहिए। किन्तु देखते है, वहाँ कुछ नही है। वहाँ वह शातरूप मे, लोटे या गिलास मे पडी रहती है। परन्तु जब पीने वाले का सग होता है, तब जा कर नशा चढ़ता है, उन्माद और पागलपन भी आता है। तात्पर्य यह हुआ कि अकेली भग और अकेली आत्मा मे नशा नही है, बल्कि जब दोनो का सग होता है तभी मादकता पैदा होती है। इसलिए न अकेले शरीर पर दोषारोपण किया जा सकता है और न अकेली आत्मा को ही अपराधी समझा जा सकता है। जब आत्मा निस्सग हो जाती है और विशुद्ध बन जाती है, तब उसमे कोई हरकत या स्पन्दन नही रह जाता। इसी को योग-निरोध कहते हैं। जब तक आत्मा और शरीर का ऐहिक ससर्ग है, तब तक योग है, और जब तक योग है, तभी तक कर्म-बन्ध है।

हिंसा के द्वार . योग और करण

इस प्रकार जैनधर्म का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के द्वारा हिंसा

होती है, किन्तु वह शरीर के माध्यम से ही होती है। शरीर से ही मन और वचन की धारा भी बहती है। ये तीनों 'योग' कहलाते है।

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार हिंसा पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है? इसके लिए स्थूल शरीर को पाप करने से रोका जा सकता है, वचन को असद्भाषण से रोका जा सकता है और मन को भी अशुभ सकल्पो से हटा लिया जा सकता है। है, एक प्रकार से शरीर पर नियन्त्रण रखने से शरीर के द्वारा होने वाले पाप रुक जाते वचन पर अधिकार रखने से वचन द्वारा होने वाले पाप रुक जाते है, और मन पर अकुश लगा देने से मानसिक पाप रुक जाते है।

मन, वचन और शरीर—ये तीन हिंसा और अहिंसा की आधारभूमिकाएँ है, और आगे चल कर इन तीनो के भी तीन-तीन भेद हो जाते है। मन से स्वय हिंसा करना, दूसरे से करवाना और हिंसा करने वाले के कार्य का अनुमोदन-समर्थन करना। इसी प्रकार वचन और शरीर के साथ भी ये तीनो विकल्प चलते है।

जैन श्रावक (गृहस्थ) दो करण[1] तथा तीन योग से हिंसा का परित्याग करता है। अर्थात्—वह न तो मन, वाणी और शरीर के द्वारा हिंसा करता है और न मन, वाणी और शरीर द्वारा अन्य किसी से हिंसा करवाता ही है। गृहस्थ को अनुमोदन की छूट है। एक आदमी स्वय काम करता है और उससे पापबन्ध होता है। दूसरा स्वय करता नही, अपितु दूसरो से करवाता है और उससे पाप-बन्ध होता है। तीसरा स्वय करता भी नही, करवाता भी नही, सिर्फ करने वाले का अनुमोदन या सराहना करता है और उससे भी पाप-बन्ध होता है। अत प्रश्न यह है कि इन तीनो मे से किस स्थिति मे पाप ज्यादा होता है? अर्थात् तीनो विकल्पो से आने वाला पाप समान है या न्यूनाधिक?

हिंसा किसमे ज्यादा, किसमे कम?

जैनधर्म अनेकान्तवादी धर्म है, एकान्तवादी नही। वह प्रत्येक सिद्धान्त को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखता है। ऐसी स्थिति मे धर्म, पुण्य या पाप का निर्णय देते समय वह एकपक्षीय निर्णय कैसे दे सकता है? अस्तु, जैनधर्म इस प्रश्न का निर्णायक उत्तर विचारो की विभिन्नरूपता पर ही छोड देता है। अतएव विचारो का जो प्रवाह आता है, वह भी विभिन्न रूपो मे प्रकट होता है, अर्थात्—एक व्यक्ति को किसी रूप मे और दूसरे को दूसरे रूप मे प्रकट होता है। उसकी गति कही तीव्र होती है, तो कही मन्द। जब तक उसकी भूमिका नीची रहती है और राग-द्वेष का आधिक्य होता है, तब तक विकल्पात्मक विचारो के प्रवाह मे भी तीव्रता होती है। जैसे पृथ्वी का ढलाव पा कर पानी का प्रवाह तेज हो जाता है, उसी प्रकार जीवन की नीची भूमिका मे सकल्प और

---

१ गृहस्थ को सकल्पपूर्वक निरपराध प्राणियो की स्थूल हिंसा का परित्याग करना होता है।

विकल्पो का प्रवाह भी तीव्रता धारण कर लेता है। जैसे ढलाव मे बढ़ने वाले पानी का प्रवाह अनियन्त्रित हो जाता है, उसी प्रकार जीवन की भूमिका जब नीची होती है तो विचारो का प्रवाह भी अनियन्त्रित रहता है। इसके विरुद्ध जब साधक की भूमिका ऊँची होती है और राग-द्वेष मन्द होते है, तब साधक प्रत्येक कार्य मन्दभाव या अनासक्त-भाव से करता है और उसमे यथासम्भव तटस्थबुद्धि भी रखता है। विवेक-विचार से काम लेता है और उसका हर कदम नियन्त्रण के साथ बढ़ता है। इस तरह वह चलता भी है और रुकता भी है।

जीवन-गाडी के दो गुण प्रवृत्ति और निवृत्ति

जीवन की गाडी मे दोनो प्रकार के गुण होने चाहिए—आवश्यकता होने पर वह चल सके और आवश्यकता होने पर यथावसर रोकी भी जा सके। यदि वह मोटर है, तो उसमे चलने का, और समय पडने पर ब्रेक लगाते ही रुकने का गुण भी होना चाहिए। जीवन की गाडी को भी जहाँ साधक ठीक समझता है, वहाँ चलाता है और यथावसर रोक भी लेता है। वह अपने मन, वचन और शरीर से काम लेता है और जब चाहता है, तब उनकी गति को रोक भी सकता है। वह हरकत तो करेगा ही, जीवन को मास का पिण्ड बना कर नही रखेगा। यदि रखेगा भी तो कहाँ तक ? आखिर जीवन तो जीवन है, और वह भी मानव का जीवन। अस्तु, जीवन को जीवन के वास्तविक रूप मे ही व्यतीत करना है, जडरूप मे निष्क्रिय नही बनाना है। जगत् मे जीवन तो जीवन के ही रूप मे रहेगा, जड के रूप मे नही रह सकता। उसमे स्पन्दन का होना अनिवार्य है। यदि हठात् शरीर और वचन पर ताला डाल भी दिया जाए, तो मन का क्या होगा ? वह तो अपने चचल स्वभाव के कारण उछल-कूद मचाता ही रहेगा। वह हजारो प्रकार के बनाव और बिगाड करता रहता है। मन राजा है। भला, उस पर सहसा ताला किस प्रकार लगाया जा सकता है ? जीवन है तो ये सब हरकतें भी रहेगी ही। किन्तु साधक मे इतना सामर्थ्य आना चाहिए कि उसके जीवन की गाडी जब कभी गलत रास्ते पर जाने लगे, तब वह उसे रोक दे और यथाशीघ्र सही रास्ते पर ले आए।

एक साधक स्वय काम करता है। यदि उसमे विवेक है, विचार है और चिंतन है, तो वह यथावसर चलता भी है और इधर-उधर के पाप-प्रवाह को कम भी करता है। यदि चलते समय कोई कीडा मार्ग मे आ गया, बालक आ गया या बूढा आ गया तो उन्हे अवश्य बचा देता है। क्योकि उसे चलना है, पर विवेक के साथ।

भारतीय सस्कृति की परम्परा मे चलने के लिए भी नियम हैं। यदि सामने से बालक आ रहा है और रास्ता तग है, तो वयस्क पुरुष या स्त्री को किनारे पर खडा हो जाना चाहिए और उस बालक को पूरी सुविधा देनी चाहिए। उसका सम्मान करना चाहिए। बालक दुर्बल है और उसे इधर-उधर भटकाना उचित नहीं, क्योकि वह गडबड मे पड जाएगा। इसलिए उसे सीधे नाक की राह जाने दो। यदि कोई

बहन आ रही है तो भारतीय सस्कृति का तकाजा है कि पुरुष को बच कर एक ओर खडा हो जाना चाहिए और उस बहन को सीधी राह से चलने देना चाहिए। यदि कोई वृद्ध आ रहा है, तो नौजवान को अलग किनारे खडा हो जाना चाहिए और वृद्ध को इधर-उधर नही होने देना चाहिए। उसकी वृद्धावस्था का ख्याल रखकर उसे सुविधा के साथ चलने देना चाहिए। यदि कोई राजा आ रहा है तो प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह राजा को रास्ता दे और किनारे खडी हो जाए। पहले राजा थे, अब इस जमाने मे नेता या सरक्षक होते है। न मालूम वे कहाँ और किस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए जा रहे है। उनके रास्ते मे रोडा क्यो अटकाया जाए ? यदि सामने से साधु-सत आ रहे हो, तो राजा को भी रास्ता बचा कर सामान्य प्रजाजन की भाँति किनारे खडा हो जाना चाहिए और साधु को सीधा चलने देना चाहिए।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि साधु को भी कही रुकना चाहिए या नही ? सभ्यता और सस्कृति की आत्मा अपने आप ही बोल उठती है कि साधु चल रहा है और सामने से कोई मजदूर वजन लादे आ रहा है, तो साधु को भी रास्ता छोडकर किनारे खडा हो जाना चाहिए। जो मजदूर भार लेकर चल रहा है और एक-एक कदम बोझ से लदा चला आ रहा है, बोझ से हाँफता और पसीने से लथपथ हुआ चल रहा है, तो उसे हटने के लिए कभी नही कहना चाहिए। चाहे कोई राजा हो या साधु-सत हो, उस मजदूर के लिए सबको हटना चाहिए।

यह सब क्या है ? यही कि चलने के साथ जरूरत पडने पर 'ब्रेक' लगाना है। इसी प्रकार आवश्यकता होने पर अपने जीवन को रोक भी लेना चाहिए। यह नही कि गाडी छूट गई तो बस छूट ही गई। वह कही भी टकराये, किन्तु हम तनिक भी इधर-उधर न होगे ! नही, साधक को बच कर चलना चाहिए। आशय यह है कि जीवन की जो भी गतियाँ हैं, उनमे खाना, पीना, पहनना आदि सभी कुछ सम्मिलित हैं। उन सब मे प्रवृत्ति भी करनी है और निवृत्ति भी। प्रवृत्ति करते समय वातावरण, समय, व्यक्ति और स्थान आदि का यथोचित ध्यान रखना आवश्यक है। जीवन की गति को विवेकपूर्वक रोक कर भी रखना है और आगे भी बढाना है।

इतनी भूमिका के बाद इस प्रश्न का उत्तर सरल हो जाता है कि करने मे ज्यादा पाप है, या कराने मे, अथवा अनुमोदन मे ज्यादा पाप है ? पहले ही कहा जा चुका है कि जैन-धर्म अनेकातवादी धर्म है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ भी वास्तविकता का पता लगाया जा सकता है।

करने की अपेक्षा करवाने मे अधिक हिंसा अविवेक के कारण

जो साधक स्वय दक्षता-पूर्वक काम कर सकता है किन्तु वह स्वय न करके किसी ऐसे व्यक्ति से, जिसकी भूमिका उस काम के योग्य नही है, जो उस काम को विवेक के साथ नही कर सकता है, यदि आग्रहपूर्वक करवाता है तो ऐसी स्थिति मे करने की अपेक्षा करवाने मे ज्यादा पाप होता है।

किसी के घर नव-बधू आई। धनिक बाप की पुत्री होने के कारण वह मायके मे घरेलू काम-काज नाममात्र को ही करती थी। अत घर-गृहस्थी के काम मे उसको निपुणता प्राप्त न होना स्वाभाविक था।

घरेलू काम-काज मे निपुण न होते हुए भी कोई भी नव-बधू यह नही चाहती कि उसकी मौजूदगी मे सास या ननद भोजन बनावें। अतएव अपने उत्तरदायित्व को पहचान कर बधू ने भोजन बनाने की रुचि प्रकट की और रसोईघर मे जा पहुँची। परन्तु सास को यह मालूम था कि उसकी पुत्र-बधू भोजन बनाना नही जानती, अत उसने बहू से कहा —

—तू रहने दे बहू, मै ही खाना बना लूंगी।

बहू—मेरे रहते हुए यह कैसे हो सकता है कि आप खाना बनाएँ ?

सास—अरी! मुझे मालूम है कि तू भोजन बनाना नही जानती, इसलिए रहने भी दे!

बहू—यह कैसे मालूम हुआ कि मै भोजन बनाना नही जानती ? इस दोष को सदैव के लिए दूर करने को मैं अभी भोजन बना कर दिखाए देती हूँ।

यह कह कर बहू भोजन बनाने मे जुट गई, और आटा गूँथना शुरू कर दिया, किन्तु विचारो की अस्थिरता के कारण आटे मे पानी अधिक पड गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि पानी के आधिक्य ने आटे का लचीलापन समाप्त कर दिया। इस दृश्य को सास गम्भीरतापूर्वक देख रही थी। भला इस अवसर पर वह चुप कैसे रहती ? अस्तु, बुढिया बोली—"बहूरानी! मैंने पहले ही कहा था कि भोजन मैं ही बना लूंगी। क्योकि तुझे भोजन बनाने का अभ्यास नही है। देख ले, तेरे हाथ से आटा पतला हो गया न! घर मे और आटा भी नही है, जिससे आटे के पतलेपन को दूर किया जा सके।

सास के कथनानुसार अपनी अनुभवहीनता प्रमाणित हो जाने पर बहू सहसा सहम-सी गई। परन्तु किसी भी उपाय से पतले आटे का उपयोग करना ही था। अत धीरज धारण कर विनम्रभाव से बोली—"तो माताजी! किस उपाय से इस पतले आटे को ठीक किया जा सकेगा ?"

सास—"ऐसे पतले आटे के तो पूए ही बन सकते हैं, सो मैं बनाए देती हूँ।"

बहू—"इसके पूए तो मैं ही बना लूंगी। आप मेरे पास ही बैठी रहे और आवश्यकतानुसार सकेत देती रहे।" बहू के सादर निवेदन को स्वीकार कर बुढिया वही बैठी रही और पूए बनाने के लिए आटे को और पतला करने के लिए बहू को थोडा-सा पानी डालने को कहा। सकेत मिलते ही बहू ने पानी डालना शुरू किया और इसी सनक मे इस बार भी पानी अधिक पड गया। इस बार आटे का रूप ही बदल गया। अर्थात् सफेद रग का कोई पतला और तरल पदार्थ दिखाई देने लगा। आटे की इस दुर्दशा ने चाहे बहू को चिन्तित और खिन्नचित्त न बनाया हो, परन्तु बुढ़िया के मन को गहरी ठेस पहुँची और वह उसी गम्भीर भाव से बोली—"अरी

लक्ष्मी ! मैंने पहले ही कहा था कि तू अपनी चतुराई मत कर, किन्तु तू कब मानने वाली थी ! अब फैंकने के सिवाय इसका और कुछ नही बनेगा।"

बहू—'फैंकने का काम तो मैं बिना किसी के बताए ही कर लूँगी। भला, इसमे कौन-से शास्त्रीय ज्ञान तथा गुरु के उपदेश की जरूरत है ? यह कहते हुए आटे के बर्तन को उठा कर बहू उसे सड़क पर फैंकने चली और जब ऊपर की मजिल की खिडकी के पास पहुँच गई, तब नीचे से बुढिया ने पुकार कर निर्देश दिया—"अरी ! तू जिद् मे इसे ले तो गई है, किन्तु भले आदमी को देख कर ही फैंकना।"

आज्ञाकारिणी पुत्रवधू इस अन्तिम अवसर पर सास के उपदेश का भला कैसे उल्लघन करती ? वह किसी भले आदमी के आने और खिडकी के नीचे से गुजरने की प्रतीक्षा करती रही। इतने मे ही कोई भला आदमी आता हुआ दिखलाई दिया, और ज्यो ही वह खिडकी के नीचे आया, त्यो ही बहू ने ऊपर से उसके ऊपर आटे का पानी डाल दिया।

सचमुच यदि कोई भला आदमी होता तो शायद उसकी ओर से इतनी उत्तेजना भी पैदा न होती। किन्तु दुर्भाग्यवश वह आदमी सज्जन कहलाने वाले व्यक्तियों मे से न था। अपने को आटे के पानी से तरबतर पाकर वह उत्तेजित हो उठा और अपने स्वभाव के अनुसार बेसिर-पैर की अनर्गल बाते बकने लगा। उसकी उत्तेजनापूर्ण बकवास को सुन कर राह चलने वाले लोग इकट्ठे हो गये, और उस व्यक्ति को समझा-बुझा कर विवाद का निपटारा कर दिया।

आटे के भाग्य का अन्तिम फैसला करके जब नव-वधू ऊपर से नीचे आ गई तो सास ने पूछा—

"अरी पगली ! यह तूने क्या किया ? क्या मेरे बतलाने का यही सतोषजनक फल होना चाहिए था ?"

बहू बोली—"माताजी, व्यर्थ मे क्यो बिगडती हो ? जैसा आपने बतलाया, वैसा ही तो मैंने किया। क्या आपने यह नही कहा कि भले आदमी को देख कर ही पानी डालना ?" बहू के इस मूर्खतापूर्ण कथन को सुन कर, सास ने अपना माथा ठोक कर गहरी सास लेते हुए कहा—हाय रे भाग्य ! जो ऐसी सुलक्षणा पुत्र-वधू मिली।

एक पगडडी

हाँ, तो उपर्युक्त कथन का यही तात्पर्य है कि—कोई-स्त्री हो या कोई पुरुष सबकी जीवन-यात्रा का एक ही मार्ग है। ऐसा भूल कर भी नही है कि महिलाओ के लिए कोई अलग पगडडी बनी हो, और पुरुषो के लिए कोई दूसरी। सभी के लिए केवल एक पगडडी है, और वह है—'विवेक' की। यदि हमारा विचार सुस्थिर है, और विवेक अभीष्ट लक्ष्य-बिन्दु मे केन्द्रित है, तो किसी कार्य को स्वय करना अथवा दूसरो से करवाना, दोनो ही प्रकार के मार्ग निश्चितरूप से ठीक होगे। विवेक के द्वारा ही पापो के प्रवाह से बचा जा सकता है। किन्तु जहाँ अविवेक का बाहुल्य है,

अज्ञान है, फिर भी मनुष्य आग्रहपूर्वक काम करता या करवाता है और यथाप्रसग ब्रेक नही लगाता है, तो अधिक पापार्जन करता है ।

जब शरीर पर नही, तो वचन पर ब्रेक कैसे रह सकता है ? अस्तु, अविवेकी मनुष्य इस प्रकार काम करता है, जिससे ज्यादा हिंसा होती है और फिर उसकी प्रतिक्रिया पूरे वातावरण को अशुद्ध बना देती है । जहाँ अविवेक है, वहाँ करने मे भी ज्यादा पाप है और कराने मे भी ज्यादा पाप है । इसके विपरीत जहाँ विवेक है, वहाँ स्वय करने मे भी और दूसरो से कराने मे भी पाप कम होता है ।

एक बहिन जो विवेकवती है, यदि वह स्वय काम करती है, तो समय पडने पर जीवो को बचा लेगी, चीजो का अपव्यय नही करेगी और चौके की मर्यादा को अहिसा की दृष्टि से निभा सकेगी । सेठानी और हमारी बी०ए० तथा एम०ए० पास बहिने स्वय काम न करके यदि एक अनजान नौकरानी को काम सौंप दे, जिसे कुछ पता नही कि विवेक क्या है ? वह रोटियाँ सेक कर आपके सामने डाल देती है, पर, उसमे चौके की अहिंसा-सम्बन्धी मर्यादा की बुद्धि नही है । अहिंसा की सस्कृति के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट विचारधारा उसे नही मिली । इस स्थिति मे यदि वह भोजन बनाने के काम पर बिठा दी गई है तो समझिए कि कराने मे ही पाप ज्यादा होगा । यदि कोई बहिन स्वय विवेक के साथ कार्य करेगी, कदम-कदम पर अहिसा का विवेक ले कर चलेगी और उसके अन्तर मे दया एव करुणा की लहर उद्बुद्ध होगी, तो उसे ख्याल होगा कि खाने वाले क्या खाते है और वह उनके स्वास्थ्य के अनुकूल है या प्रतिकूल ? किन्तु उसने आलस्यवश स्वय कार्य न करके विवेकशून्य नौकरानी के गले मढ दिया तो वह कब देखने लगी कि पानी छना है या नही, आटा देखा गया है या नही, कीडे-मकौडे पडे है या नही ? इस तरह वह चौके को सहार-गृह का रूप दे देती है । किसी तरह रोटियाँ तो तैयार हो जाती है और आपके सामने रख दी जाती है । यहाँ कराने मे भी ज्यादा पाप होता है ।

इस प्रकार सत्य का महान् सिद्धान्त आपके सामने आ गया है । इसके विरुद्ध और कोई बात नही कही जा सकती, और यह सिद्धान्त जैसे गृहस्थो पर लागू होता है, उसी प्रकार साधुओ पर भी । कल्पना कीजिए—किन्ही गुरुजी के पास एक शिष्य है । गुरुजी को गोचरी-सम्बन्धी नियम-उपनियम, विधि-विधान, सबका परिज्ञान है और शिष्य को भिक्षा-सम्बन्धी दोषो का ज्ञान नही है । नियमो और विधानो को भी वह अभी तक नही सीख-समझ पाया है । वह गोचरी का अर्थ केवल माल इकट्ठा करना ही जानता है । ऐसी स्थिति मे यह समझना कठिन नही है कि गुरुजी यदि स्वय गोचरी करने जाते तो विवेक का अधिक ध्यान रख सकते थे । पर वे स्वय गोचरी करने नही गये और विवेकहीन शिष्य को भेज दिया । उसे पता नही कि किसे, कितनी और किस चीज की आवश्यकता है ? वह जिस घर से भिक्षा ले रहा है, वहाँ बूढो और बच्चो के लिए पीछे कुछ बचा है या नही ? उसे प्राणियो की हिंसा का भी कोई विशेष

ध्यान नही है। यह शिष्य गोचरी मे दोषो का भंडार ही ले कर आएगा। इस प्रकार स्वय करने की अपेक्षा दूसरो से करवाने मे ज्यादा हिंसा हो जाती है।

पाप की न्यूनाधिकता

भारतीय सस्कृति और उसमे भी विशेषत जैन-धर्म की यह शिक्षा है कि हर काम विवेक से करना चाहिए। विवेक और चिन्तन हर काम म चालू रहना चाहिए। इस प्रकार किसी कार्य को स्वय करने और दूसरो से करवाने मे पाप की न्यूनाधिकता विवेक और अविवेक पर निर्भर करती है। विवेक के साथ 'स्वय' करने मे कम पाप है, जबकि अविवेकपूर्वक दूसरे अयोग्य व्यक्ति से कराने म अधिक पाप है। दूसरी ओर अविवेक से साथ स्वय करने मे अधिक पाप है, जबकि उसी कार्य को विवेक के साथ दूसरे योग्य व्यक्ति से कराने मे कम पाप है। यह जैन-धर्म की अनेकान्त-दृष्टि है।

तीसरा करण अनुमोदन है। एक आदमी स्वय काम नही करता, दूसरो से करवाता भी नही, केवल काम करने वालो की सराहना करता है। कही लडाई हुई, इतने जोर से कि सिर फट गये। एक तमाशबीन बाजार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक लडाई और सिरफुटौव्वल का समर्थन करता जाता है। वह कहता है—'वाह! आज बिना पैसे के कैसा बढिया तमाशा देखने को मिला! बडा मजा आया। बहुत अच्छा हुआ कि उसका सिर फटा और उसकी हड्डी का कचूमर निकल गया।' यह ध्यान देने की बात है—ऐसा कह कर लडाई का अनुमोदन करने वाला कितना कर्म-बन्ध कर रहा है? वह कितने घोर अज्ञान मे फँस रहा है? उसने स्वय लडाई की नही, दूसरो से करवाई भी नही, फिर भी सम्भव है, वह लडने वालो से भी अधिक कर्म बाँध ले। लडने वाले आवेश मे लडे है। उनकी हिंसा विरोधी की और अपराधी की हिंसा हो सकती है, और सप्रयोजन भी हो सकती है। किन्तु अनुमोदन करने वाला व्यर्थ ही पाप की गठरी सिर पर लाद रहा है। अपराधी की हिंसा तो श्रावक के लिए क्षम्य हो सकती है, परन्तु इस प्रकार के अनुमोदन की व्यर्थ हिंसा श्रावक के लिए कथमपि क्षम्य नही है। यहाँ करने और कराने की अपेक्षा अनुमोदन मे अधिक हिंसा है।

जीवन मे कोई व्यक्ति एकान्त पक्ष को ले कर नही चल सकता, क्योकि कभी करने म तो कभी करवाने मे और कभी अनुमोदन म ज्यादा पाप हो जाता है।

एक भाई की बात मेरे ध्यान मे है। उसने अपने एक नौकर को फल लाने के लिए भेजा। नौकर ग्रामीण था, बालक था, अज्ञान था। वह सड़े हुए फल ले आया। वह ले तो आया, किन्तु उस पर हजार-हजार गालियाँ पडी। उस भाई ने स्वय बतलाया कि 'मुझे उस समय इतना आवेश आया कि दो-चार चाँटे भी उसके जड दिये।'

मैंने उस भाई से कहा—'तुमने ऐसे बालक को भेजा ही क्यो? जिसे ज्ञान नही था, खरीदने के विषय म जिसे कुछ भी विवेक नही था। अब कहते हो, गुस्सा आ गया, किन्तु उस समय अपनी गलती नही मालूम की कि मैं किसे भेज रहा हूँ?

तुम्हारी अपनी गलती से ही गुस्सा, आवेश और मारने-पीटने की मनोवृत्ति जगी, और फल फैंकने पड़े। दोष तुम्हारा था, किसी और का नही। तुम्हारे ही कारण इतना बवण्डर मचा। यदि विवेकपूर्वक तुम स्वय काम करते तो इतनी गलत चीजें क्यो होती तुम्हे क्यो घृणा और आवेश होता ? और मार-पीट भी क्यो करनी पडती ?"

जीवन मे इस प्रकार की जो साधारण घटनाएँ होती है, उन्ही से जीवन का निर्णय-सूत्र तैयार होता है और समझा जाता है कि विवेकपूर्वक काम करने से पाप कम होता है। अनजान से काम कराया तो उसने न जाने कितने जीवो की हिंसा की। इसके अतिरिक्त अपने और नौकर के मन मे आवेश, घृणा आदि के कारण मानसिक हिंसा या भाव-हिंसा भी हुई।

जीवन के ये दृष्टिकोण कुछ नये नही है, बहुत पुराने युग से यो ही चलते आ रहे है। इस सम्बन्ध मे जैन-धर्म के इतिहास-सम्बन्धी कुछ पुराने पन्ने मै आपके सामने ला रहा हूँ, जिन पर विचार करने से पता चलेगा कि जैन सस्कृति ने जीवन मे कभी कुछ ऐसे प्रश्न छेडे है, जहाँ कही मनुष्य कराने की अपेक्षा करने मे दोषी समझा जाता है और कही वह करने की अपेक्षा कराने मे ज्यादा पाप का भागी होता है।

करुणापति बाहुबली

जैन इतिहास का पहला अध्याय भगवान् ऋषभदेव से प्रारम्भ होता है। वही से जीवन की कला उद्‌भूत होती है। भगवान् ऋषभदेव के समय मे ही उनके बडे पुत्र भरत के चक्रवर्ती बनने का प्रसग आया। वे लडाइयाँ लडते रहे। भारत की समस्त भूमि पर उनका स्वामित्व स्थापित हो गया। किन्तु उनके भाई ने उनका आधिपत्य स्वीकार नही किया, तब भरत ने सोचा—जब तक भाई भी मेरे सेनाचक्र के नीचे न आ जाएँ, तब तक चक्रवर्त्ती का साम्राज्य पूरा न होगा। यह सोचकर भरत ने अन्य भाइयो के पास, खासकर बाहुबली के पास भी दूत भेजा। बाहु-बली प्रचण्ड बल के धनी और अभिमानी थे। उन्होने भरत की अधीनता स्वीकार करने से साफ इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भरत और बाहुबली की विशाल सेनाएँ मैदान मे आ डटी। जब दोनो ओर की सेनाएँ जूझने को तैयार थी, सिर्फ शख फूँकने भर की देर थी कि बाहुबली के चित्त मे करुणा की एक मधुर लहर पैदा हुई।

वैसे तो इस प्रसग पर इन्द्र के आने की बात सुनी जाती है। बहुत-सी लडाइयो मे इन्द्र को बुलाने के प्रसग भी मिलते है। किन्तु इतिहास के मूल मे यह बात नही है। कोई कारण नही कि लडाई से होने वाली हिंसा की कल्पना करके इन्द्र का अन्त करण तो करुणा से परिपूर्ण हो जाए और बाहुबली सरीखे अपने जीवन की भीतरी तह मे विरक्ति-भाव, अनासक्ति-भाव और करुणा-भाव धारण करने वाले के चित्त मे इन्द्र के बराबर भी करुणा न हो। आचार्य जिनदास महत्तर ने आवश्यक

चूर्णि मे इन्द्रो के आने का उल्लेख नही किया है। स्वय बाहुबली के हृदय मे ही करुणा के स्रोत का उमडना लिखा है, जिसे दिगम्बर-परम्परा भी मानती है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि बाहुबली ने देखा-भरत को चक्रवर्ती बनना है और मैं उसके पथ का रोडा हूँ। तब मेरा स्वाभिमान मुझे आज्ञा देता है कि भरत की आज्ञा स्वीकार न करूँ, क्योकि वह अनुचित आज्ञा है। भाई को, भाई से भाई के रूप मे सेवा लेने का अधिकार है। भरत बडे है, मै छोटा हूँ। इस हैसियत से मैं हजार बार सेवा करने को तैयार हू। किन्तु मै भाई बन कर ही आज्ञा उठाऊँगा, दास या गुलाम बन कर नही।

बाहुबली की वृत्ति मे यही मूल चिन्तन था। उन्होने सोचा—भरत है, जो चक्रवर्ती बनने को तैयार है, और मैं हूँ जो स्वाभिमान को तिलांजलि नही दे सकता। हम दोनो अपनी-अपनी बात पर अटल रहने के लिए ही तलवारे ले कर मैदान मे आये है। अत प्रश्न भरत का और मेरा है। बेचारी यह गरीब प्रजा क्यो कट-कट कर मरे, हम दोनो के झगडे मे हजारो लाखो मनुष्य दोनो तरफ के कट मरेगे, कितना भीषण नर-सहार होगा, न मालूम कितनी सुहागिनो का सौभाग्य-सिंदूर पुँछ जाएगा, कितनी हजार माताएँ अपने कलेजो के टुकडो के लिए विलाप करेंगी, कौन जाने कितने पिता अपने पुत्रो के लिए और कितने पुत्र अपने पिताओ के लिए हजार-हजार आसू बहाएँगे ?

बाहुबली ने भरत के पास सन्देश भेजा—'आओ भाई ! इस लडाई का फैसला हम और तुम दोनो आपस मे कर ले। यह उचित नही कि प्रजा लडे और हम लोग अपने-अपने डेरो मे बैठे दर्शको की तरह लडाई देखते रहे। अच्छा हो, सिर्फ हम दोना ही आपस मे लडे और इस व्यर्थ के नर-सहार को समाप्त करे। इसका अर्थ हुआ—कराना नही, बल्कि स्वय करना। कराने मे जो विराट् हिंसा थी, उसे स्वय करने मे सीमित कर दिया गया। इस विचार से दोनो भाई लडाई के मैदान मे उतर आए। आँखो का युद्ध हुआ, मुष्टि का युद्ध हुआ। इस सीमित युद्ध मे भी अहिंसा की उल्लेखनीय सीमा यह थी कि मरना-मारना किसी को नही था, केवल जय और पराजय का निर्णय करना था। फिर यह निर्णय तो खुन की एक भी बूंद बहाए बिना उक्त तरीके से भी हो सकता था। ससार के इतिहास मे वह सर्वप्रथम अहिंसक युद्ध था।

यहाँ जैन-धर्म का एक सुन्दर दृष्टिकोण परिलक्षित होता है जिसे देख कर बाहुबली को हजार-हजार धन्यवाद देने पडते है। उनके मन मे करुणा की वह उज्ज्वल धारा आई कि उन्होने हजारो-लाखो आदमियो को गाजर-मूली की तरह कटने से बचा लिया। उन्होने स्वय लडने की अपेक्षा दूसरो को लडवाने मे अपने जीवन को अधिक मैला देखा। जैन-धर्म का वह युग-पुरुष जब युद्ध करवाने की अपेक्षा स्वय युद्ध करने को उद्यत हुआ तो उसके उस महान् ऐतिहासिक निर्णय का अग-अग चमकने लगा।

आगे फिर जैन इतिहास मे भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी का युग आता है, जिसे रामायणकाल भी कह सकते हैं। रामायण जैन-सस्कृति की दृष्टि से पद्मपुराण के रूप मे है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी रामायण की कथा लिखी है और आचार्य विमल ने भी भगवान् महावीर के पाँच-सौ वर्ष बाद जो विमल-रामायण लिखी गई है, वह प्राकृत भाषा मे है। उसके पढ़ने से मालूम हो सकता है कि किसी युद्ध का सही फैसला किस प्रकार हो सकता है ?

बाली की अहिंसक नीति

एक ओर बाली है और दूसरी ओर रावण। बाली से अपना अधिकार मनवाने के लिए, उसे अपने सेवक के रूप म रखने के लिए रावण एक बडी सेना ले कर किष्किन्धा पर चढ जाता है। दूसरी तरफ से बाली की विशाल सेना भी डट जाती है, दोनो ओर के सेनापति इस इन्तजार मे थे कि कब युद्ध का शख बजे, तलवारे चमके और रणभूमि रक्त-स्नान करे। उसी समय बाली युद्ध के मैदान मे आ पहुँचा। सबसे पहले उसके मन मे यह तर्क उत्पन्न हुआ कि 'आखिर इन दोनो जातियो के लड-मर जाने से क्या होगा ? लाखो इन्सान मौत के घाट उतर जाएँगे। जय-पराजय का प्रश्न तो मेरा और रावण का है। यहाँ तो व्यक्तिगत दावा है और व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा है। मैं और रावण विजेता के रूप मे रहना चाहते हैं। इसमे इन गरीबो को क्या मिल जाने वाला है ? क्यो इन्हे सिर कटवाने के लिए मैदान मे खडा कर दिया गया है ?'

ऐसा सोच कर बाली ने रावण के पास सन्देश भेजा—"तू बडा है और तेरी शक्ति की दुनिया पूजा भी करती है। फिर वह शक्ति वास्तव मे है कहाँ ? तेरे अन्दर है या प्रजा मे ? और इधर मेरे मन मे भी महत्त्वाकाक्षा है। यदि मैं तुझे सम्राट् नही मानता, तो मेरी प्रजा इसके लिए क्यो उत्तरदायी हो ? अत आओ, तुम और हम दोनो ही क्यो न लड ले ? प्रजा को अकारण क्यो लडाएँ ?"

जैन रामायण कहती है कि बाली की बात स्वीकार कर ली गई। दोनो ओर की सेनाओ को तटस्थभाव से खडा कर दिया गया। रावण और बाली मे ही युद्ध हुआ। इस युद्ध मे रावण को करारी हार मिली।

जैनसाहित्य की ये कथाएँ अर्थहीन नही है। इनका अर्थ भी साधारण नही है। इन कथाओ मे युद्ध के अहिसात्मक दृष्टिकोण का कुशलता के साथ चित्रण किया गया है। एक बुराई जब अनिवार्य हो जाये तो उसकी व्यापकता को किस प्रकार कम किया जाये, हिसा की उन्मुक्त प्रवृत्ति को किस तरह सीमित करना चाहिये, यही इन कथाओ का मर्म है। इनसे साफ जाहिर होता है कि मनुष्य की हिंसा-प्रवृत्ति, करवाने की अपेक्षा स्वय कर लेने के रूप मे किस प्रकार सीमित कर दी जा सकती है, क्योंकि लडवाना महान् आरम्भ की भूमिका है, जबकि लडना अल्पारम्भ की भूमिका है।

हिटलर महान् हिंसक

जो हिटलर विश्व-युद्ध की भयकर ज्वाला मे भस्म हो गया, कहा जाता है—उसने युद्ध मे अपने हाथ से एक भी गोली नही चलाई और एक भी सैनिक का अपने हाथ से खून नही बहाया। वह फौजो को ही लडाता रहा। तब क्या उसे पाप नही लगा या कम लगा ? क्या पाप की गठरी केवल लडने वाले सैनिको के ही सिर लदती है ? हिटलर भी कह सकता था—"मैं तो अहिंसक हूँ। मैंने लडाई नही लडी, मैंने चाकू भी नही चलाया, खून की एक बूंद भी नही बहाई।" गाँव के गाँव नष्ट हो गए, शहर के शहर तबाह हो गए। फिर भी यदि हिटलर या स्टालिन यह कहे कि "हम तो लडवाने वाले थे, लडने वाले नही। पाप लडने वालो को लगता है, लडवाने वालो को नही"। क्या उनकी यह दलील किसी के दिल पर असर कर सकती है ? क्या कोई भी समझदार इस तर्क को स्वीकार कर सकेगा ? नही। वे खुद लड़े होते तो वहाँ शक्ति सीमित होती। जब दूसरो को लडवाया, तभी लाखो-करोडो आदमी इकट्ठे किये गए, महीनो और वर्षों तक लडाई भी जारी रही। इस प्रकार स्वय न लड कर दूसरो को लडवाने के द्वारा युद्ध करने मे बहुत विराट् हिसा सामने खडी हो जाती है।

इन सब बातो पर गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म ने कही पर गृह-कार्य आदि दूसरो से करवाने की अपेक्षा स्वय कर लेने मे कम पाप माना है। कही करने की अपेक्षा करवाने मे कम, और कहीं करने-करवाने की अपेक्षा अनुमोदन मे कम पाप स्वीकार किया है। ये ऐसे दृष्टिकोण है, जिनकी सचाई चिन्तन की गहरी डुबकी लगाने पर ही स्पष्ट होती है, अन्यथा नही।

एक जज है। कत्ल का मुकदमा उसके सामने है। वह विचारो की गहराई मे डुबकियाँ लगाता है और निरन्तर सोचता है। अपने कर्त्तव्य मे किसी प्रकार की अवज्ञा भी नहीं करता है।

पुलिस अभियुक्त को पकड कर लाती है। वह चाहे वास्तविक अपराधी को लाई है, अथवा छान-बीन किये बिना ही किसी निरपराध को मौत के घाट उतारने के लिए पकड लाई है। किन्तु जज विचार करता है—"अपराधी भले ही छूट जाये, किन्तु किसी निरपराध को दण्ड नही मिलना चाहिए। जज का सिहासन न्याय के अनुसार केवल दण्ड देने के लिए ही नही है, अपितु निरपराध को दण्ड से बचाने के लिए भी है।" इसलिए वकीलो की सहायता से खूब अच्छी तरह सोच-विचार कर जज ने छान-बीन की। अभियुक्त अपराधी सिद्ध हुआ और उसे कानून के अनुसार दण्ड भी मिला।

यहाँ विचार करना है कि अपराधी को दण्ड तो मिला, किन्तु क्या उसके प्रति जज का कोई व्यक्तिगत द्वेष था ? नही ! वह समाज का कानून अपराधी के सामने रखता है कि "तुमने अपना जीवन बेहद विकृत बना लिया है, अत. समाज नहीं चाहता कि तुम उसमे रहो। अब तुम्हे समाज से विदा हो जाना चाहिए।" इस प्रकार अपराधी

के प्रति जज के हृदय मे घृणा या द्वेष न होने पर भी उसे मौत की सजा सुनानी पडती है। अपराधी जल्लाद के सुपुर्द कर दिया जाता है।

जल्लाद उसे ले कर चलता है। वह सोचता है–"इसने गुनाह किया है, फलत समाज की ओर से सजा देने का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर आया है। इसके पाप का फल इसके सामने आ रहा है। मैं तो केवल आज्ञा-पालन के लिए हूं। मैं फांसी देने वाला कौन ? फांसी तो इसके दुराचरण ही दे रहे है।"

यहाँ एक हिंसा कर रहा है, दूसरा करवा रहा है और हजारो दर्शक फांसी पर झूलते अपराधी को देखने के लिए जमा है। उनमे से कुछ कहते हैं—"अच्छा हुआ जालिम पकडा गया ! अब देर क्यो हो रही है ? जल्दी ही तख्ता क्यो नही हटा दिया जाता ?" और इस खुशी मे वे उछलते-कूदते है।

अब देखना यह है कि न्यायाधीश, जल्लाद और दर्शको मे से कौन अधिक पाप बाँध रहा है ? जब मनोवृत्ति से ही पाप का गहरा सम्बन्ध है तो स्पष्ट है कि यद्यपि जल्लाद फांसी दे रहा है और न्यायाधीश दिला रहा है। फिर भी उन दोनो की अपेक्षा दर्शक अपनी क्रूर मनोवृत्ति के कारण अधिक पाप का बन्धन कर लेते है। न्यायाधीश और जल्लाद, यदि अन्दर मे पूर्ण तटस्थ रह सके, एकमात्र कर्त्तव्य-पालन की ही भूमिका पर खडे रहे, व्यक्तिगत घृणा का स्पर्श भी मन मे न होने दे, तो सभव है उनको पाप का स्पर्शमात्र भी न हो। परन्तु विवेकहीन दर्शक व्यक्तिगत घृणा की दल-दल मे फंसे हुए है, अत निश्चय ही वे पाप की तीव्रता से मलिन हो रहे है।

इस प्रकार जैनधर्म की विचारधारा इकहरी नही है। वह अनेकान्तदृष्टि से युक्त है। किन्तु कुछ लोगो ने परिस्थिति-विशेष का उचित विचार न कर, मनोभूमिका को ठीक तरह से न परखा और विवेक-अविवेक का वास्तविक विवेक भुला कर, एकान्त समझ लिया है कि करने या करवाने मे ही अधिक पाप है ! किन्तु जो जैन-धर्म की अनेकान्तदृष्टि को समझ लेता है, वह कभी एकान्त का आग्रही नही बनता।

कृत, कारित और अनुमोदित के पाप की न्यूनाधिकता को समझने के लिए अनेकान्त-दृष्टि का प्रयोग करना आवश्यक है। साथ ही यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि पाप की अधिकता या हीनता का प्रधान केन्द्र-बिन्दु यथाक्रम विवेक का न होना और होना ही है। □

अहिंसा के दो पक्ष : प्रवृत्ति और निवृत्ति-१ | ११

अहिंसा एक व्यापक और विराट् तत्त्व है। किसी की हिंसा न करना ही अहिंसा नही है, यह तो अहिंसा का एक प्राथमिक निवृत्ति—निषेध रूप है। अहिंसा की धारा इतने मे भी रुद्ध नही है। वह निषेध (निवृत्ति) की भूमि पर विधि (प्रवृत्ति) का रूप ले कर आगे बढती है और इस विधि मे ही उसकी सार्थकता है। भगवान् महावीर की अहिंसा एक ओर से प्राणिमात्र के प्रति सेवा, दया, करुणा और क्षमा सिखाती है, पीडितजनो की पीडा दूर करने, उन्हे उचित सहयोग एव सहकार देने का पाठ पढाती है, अपने प्राप्त से स्वय जीओ और दूसरो को अर्पण करके उन्हे जिलाओ की बात कहती है, वहाँ दूसरी ओर से वह कहती है—किसी को कष्ट, दुःख या पीडा न पहुँचाओ, किसी को मारो-पीटो या सताओ मत, न किसी से वैर, द्वेष रखो, न बुरा व कठोर बोलो और न अशुभ चिन्तन ही करो। इस प्रकार महावीर की अहिंसा न एकात निवृत्तिपरक है और न एकान्त प्रवृत्तिपरक। बहुत से लोग अहिंसाशब्द देख कर निवृत्तरूप ही होने की भ्रान्त धारणा बना लेते है, कि हिंसा न करो, किसी को मारो मत, झूठ न बोलो, चोरी न करो, व्यभिचार न करो, अन्याय और अत्याचार न करो। जीवन के व्यवहारक्षेत्र से आगे बढ कर जब वह अन्दर के भावजगत् को छूता है, तो क्रोध न करने को कहता है, माया और लोभ न करने का उपदेश करता है। अहकार और मात्सर्य से भी निवृत्त होने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार जहाँ-तहाँ नकार ही नकार खडे है, निषेध की ही घोषणा सुनाई देती है, इन्कार की ही आवाज उठ रही है। यह सब निवृत्ति का उपदेश है। इस प्रकार जिसकी आधारशिला निवृत्ति है, वह 'न करने के लिए' तो कहता है, किन्तु 'करने के लिए' कुछ नही कहता। मनुष्य के समक्ष परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्तरदायित्व है, सेवा का कर्मक्षेत्र है, किन्तु निवृत्तिपरक धर्म इस ओर से उदासीन है। आज के निवृत्तिमार्गी कहते भी हैं कि समाज से हमे क्या लेना-देना है ? वह सुधरे या बिगडे, हमे इससे क्या ? ये सब भ्रान्तियाँ जैन-दर्शन के केवल एक रूप को, एक पहलू को ही ले कर है। यदि दूसरे पहलू को भी देखा होता, तो यह सब कुछ भ्रान्तियाँ भी न होती।

निवृत्ति का हार्द

यह सत्य है कि महावीर ने निवृत्ति का उच्चतम आदर्श उपस्थित किया है। उनके प्रत्येक चिन्तन-चित्र मे निवृत्ति का स्वर्णिम रग भरा हुआ है। किन्तु दृष्टि जरा साफ हो, स्वच्छ हो और भावग्राही हो तो रगो का ठीक विश्लेषण करने पर यह समझा

जा सकता है कि निषेधसूत्रो की कहाँ क्या उपयोगिता है ? निवृत्ति के स्वर मे क्या मूल भावनाएँ ध्वनित हैं ? जब तक यह नही समझा जाएगा, तब तक निवृत्ति का वास्तविक हार्द समझ मे नहीं आ सकेगा। महावीर एकान्तवाद की अति मे नही जाते, वे जीवन की समग्र गति-स्थिति को अनेकान्त से सतुलित रखते हैं।

निवृत्ति और प्रवृत्ति जीवन के दो चरण हैं। पहला चरण गति करता है तो समय पर दूसरे स्थिर चरण को भी आगे गति मिलती है। निवृत्ति, प्रवृत्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती है। वह प्रवृत्ति के अगले चरण को गन्तव्यदिशा देती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रवृत्ति से पहले जो निवृत्ति की उपदेशधारा है वह मानवीय भावो के अध्ययन के आधार पर प्रकटित हुई है। यह ठीक है, कि सामाजिक चेतना के अभ्युदय के लिए आप प्रवृत्त होते है, लोककल्याण के निमित्त प्रयत्नशील होते हैं, ऐसा करना ही चाहिए। किन्तु उससे पहले महावीर एक बात कहते है कि "यह देखो कि तुम्हारी प्रवृत्ति निवृत्तिमूलक है या नही ? तुम दान कर रहे हो, दीनदुखियो की सेवा के लिये कुछ कर रहे हो, किन्तु दूसरी ओर यदि शोषण का कुचक्र भी चल रहा है, तो इस दान और सेवा का क्या अर्थ ?" किसी का एक बोतल रक्त निकाल कर बदले मे दो बूँद अपने रक्त का दान देना, यह महावीर की दृष्टि मे दान नही है। सौ-सौ घाव करके एक दो घावो पर मलहमपट्टी करना, सेवा का कौनसा आदर्श है ?

अभिप्राय यह है कि व्यक्तिगत जीवन मे जब तक निवृत्ति नही आती, तब तक समाज-सेवा की प्रवृत्ति विशुद्ध नही हो सकती। अपने मर्यादाहीन व्यक्तिगत भोगो और आकाक्षाओ से निवृत्ति ले कर समाज-कल्याण के लिए प्रवृत्त होना, जैनदर्शन का पहला नीतिधर्म है। व्यक्तिगत जीवन का परिशोधन करने के लिए असत्कर्मों से पहले निवृत्ति करनी होती है। जब जीवन मे निवृत्ति आएगी तो जीवन स्वत पवित्र और निर्मल होगा, अन्त करण विशुद्ध होगा और तब जो भी प्रवृत्ति होगी, वह लोकहिताय एव लोकसुखाय होगी। जैनदर्शन की निवृत्ति का हार्द यही है कि व्यक्तिगत जीवन मे निवृत्ति और सामाजिक जीवन मे प्रवृत्ति। लोकसेवक या जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों एव द्वन्द्वो से दूर रहे, यह जैनदर्शन की आचारसहिता का पहला पाठ है। यही उसके निवृत्तिमार्ग का मर्म है।

प्रवृत्ति की सीमाएँ

प्रवृत्ति की भी अपनी कुछ सीमाएँ है। समाज-कल्याण के लिए प्रवृत्ति करना ठीक है, किन्तु उसके पीछे भी आदर्श का आधार होना है, चरित्र-शुद्धि की सीमाएँ होती हैं। विचार कीजिए एक व्यक्ति किसी दीन-दुखी की सेवा कर रहा है, परन्तु उसकी प्रसन्नता के लिए कुछ ऐसी बातें जरूरी हो रही है, जो सामाजिक चरित्र की दृष्टि से अनुपयुक्त है, अवाछनीय हैं। यहाँ यह प्रश्न खडा हो जाता है कि ऐसी स्थिति मे क्या किया जाए ?

कबीर के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि एक बार उनके घर पर कुछ अतिथि आ गये। घर मे आटा, दाल का जयगोपाल था। कबीर ने अपनी पत्नी 'लोई' से कहा—"कुछ व्यवस्था करो। अतिथि भूखे नही रहने चाहिए।" घर मे तो कुछ था नहीं, किसी दूसरे से लाएँ तो किससे लाएँ, कैसे लाएँ ? आखिर लोई ने कहा—"एक उपाय है, पर वह है गलत। एक सेठ का लडका मुझ पर बहुत दिनो से मोहित हो रहा है, अभी तक मैंने उसे मुँह नही लगाया है, अपितु फटकारा है, कहो तो मैं उससे कुछ पैसा माग कर ला सकती हूँ।"

"बहुत अच्छा उपाय बताया तुमने। अभी जाओ, झटपट ले आओ"—कबीर ने कहा। लोई श्रेष्ठिपुत्र के पास गई तो वह बहुत खुश हुआ और बोला—"मे कितने दिनो से तुम्हारे इन्तजार म आँखे बिछाए बैठा हूँ। अच्छा हुआ, आज तुम आ गई !" लोई ने कहा—"आई तो हूँ, किन्तु अभी मुझे पैसे की बहुत आवश्यकता है, कुछ दोगे ?"

सेठ के लडके ने महर्ष अपेक्षित पैसा दे दिया। और फिर आने का वादा करके लोई चली आई। प्राप्त पैसे से ममागत अतिथियो की कबीर ने खूब सेवाभक्ति की। अतिथि लौट गए। अब वादा पूरा करने का सवाल था। कहते है—वर्षा हो रही थी, फिर भी कबीर खुद अपनी पत्नी को ले कर उसके घर पहुँचे। वचनपालन करने का दायित्व जो ठहरा। श्रेष्ठीपुत्र के मन पर इसका अच्छा प्रभाव हुआ, उसे सद्बुद्धि आ गई, और उसने लोई को माता का सम्मान दे कर विदा कर दिया। परन्तु प्रश्न है, सद्बुद्धि न आती तो ?

कहानी की सत्यता और असत्यता के सम्बन्ध मे कुछ नही कहना है। कहना केवल यही है कि यह भी एक मन स्थिति है—सेवा और प्रवृत्ति के क्षेत्र की।

महावीर का दर्शन इस बात को स्वीकार नही करता, यहाँ वह एक अलग चिन्तन पर जा खडा होता है। वह कहता है कि आपका कर्त्तव्य है, आप समाज की सेवा करे, किसी दीन-दुखी का दुख-दर्द मिटाने के लिए अपनी सुख-सुविधाओ का बलिदान करे। अपने अधिकार का भोजन और वस्त्र तक भी अर्पण कर दे, और स्वय भूखे और फटेहाल रह कर भी प्रसन्न रहे। पर, समाजसेवा के नाम पर अपना जो चरित्र है, जीवन की जो अच्छाइयाँ है, उन्हे दाव पर न रखें।

अपने चरित्र और जीवन को निर्मल रखते हुए जो कुछ दिया जाय, जो कुछ किया जाय वह सेवा है, शुद्ध प्रवृत्ति है। इस प्रकार की प्रवृत्ति समाज के अभ्युदय की स्वर्णिम सोपानपक्ति है। किन्तु जहाँ जीवन की पवित्रता का, चरित्र का त्याग करके धर्म एव समाज के नाम पर कुछ अनर्गल जैसा करने का प्रश्न आता है, वहाँ जैन-दर्शन स्पष्ट कहता है कि यह मार्ग गलत है। जीवन का कोई भी कर्म यदि स्वय अपवित्र और दूषित हो कर किसी के लिए कुछ उत्सर्ग करने को प्रस्तुत होता है, तो उस उत्सर्ग से अच्छाइयाँ जन्म नही ले सकती, पवित्रता की भावना का उदय नही हो सकता। और जिस सेवा या प्रवृत्ति मे पवित्रता और श्रेष्ठता की आधारभूमि नही

रहती, वह सेवा और प्रवृत्ति जीवन मे अवाछनीय है, समाज के लिए अशुभ है। इस प्रकार आप देखेंगे कि महावीर ने प्रवृत्ति और निवृत्ति का एक रूप निश्चित किया है, उनकी कुछ सीमाएँ बाँधी है।

अहिंसा की प्रवृत्ति—करुणा की प्रेरणा

विचार कीजिए—एक व्यक्ति को प्यास लगी है, गला सूख रहा है, वह ठडा पानी पी लेता है, प्यास शात हो जाती है। क्या इसमे कुछ पुण्य हुआ ? कल्याण का कुछ कार्य हुआ ? सातावेदनीय का कुछ बध हुआ ? कुछ भी तो नही। अब आप किसी दूसरे व्यक्ति को प्यास से तडपता देखते हैं और आपका हृदय करुणा से भर आता है। आप उसे पानी पिला देते है। उसकी आत्मा शान्त होती है, प्रसन्न होती है और इधर आपके हृदय मे भी एक शान्ति और सन्तोष की अनुभूति जगती है। यह पुण्य है, सत्कर्म है।

अब उक्त घटना की गहराई मे जा कर जरा देखिए कि यह करुणा क्या है ? यह निवृत्ति है या प्रवृत्ति ? और पुण्य क्या है ? व्यक्तिगत सुखभोग है या अन्य के प्रति आपका सद्बुद्धि से अर्पण ? महावीर ने व्यक्तिगत भोगो को पुण्य नही माना है। किसी महत्त्वपूर्ण उदात्त ध्येय के अभाव मे केवल अपनी सुखैषणाओ की पूर्ति के लिए जो आप प्रवृत्ति करते है, वह न करुणा है, न पुण्य है। किन्तु जब वह करुणा समाज के हित के लिए जागृत होती है, समाज की भलाई के लिए प्रवृत्त होती है, तब वह पुण्यकर्म एव धर्म का रूप ले लेती है। महावीर की प्रवृत्ति का यही रहस्य है। समाज के लिए अर्पण, बलिदान और उत्सर्ग की भावना उनके प्रत्येक तत्त्वचिंतन पर छाई हुई है। उनके हर चरण पर समष्टि के हित का दर्शन होता है। अहिंसा तभी सच्ची अहिंसा होगी, जब किसी दु खी को देख कर आपका अन्त करण करुणा से भर उठे। दया तभी सच्ची दया होगी, जब किसी को कष्ट मे देख कर आपकी आँखो मे आँसू छलछला उठे। जिसके हृदय मे करुणा न हो, दूसरो के प्रति सहानुभूति न हो, उस मनुष्य मे और पशु मे कुछ भी अन्तर नही रह जाता। अहिंसा ही मनुष्य और पशु मे भेदरेखा है।

मैत्री प्रवृत्तिरूप है

जैन-परम्परा के महान् उद्गाता अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने एक बार अपने शिष्य समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा था—**"मेत्तिं भूएसु कप्पए"**—प्राणि-मात्र के प्रति मैत्री की भावना ले कर चलो।" जब साधक के मन मे मैत्री और करुणा का उदय होगा, तभी स्वार्थान्धता के गहन अन्धकार मे परमार्थ का प्रकाश झलकेगा। मैत्री की यह भावना क्या है ? निवृत्ति है या प्रवृत्ति ? आचार्य हरिभद्र ने मैत्री की व्याख्या करते हुए कहा है—**"परहितचिन्ता मैत्री"**—दूसरो के हित, सुख और आनन्द की चिन्ता करना मैत्री है। जिस प्रकार आपका अपना मन अपने लिए प्रसन्नता चाहता है, उसी प्रकार दूसरो के लिए भी प्रसन्नता की भावना करना, इसी का नाम मैत्री है। मैत्री का यह स्वरूप निषेधरूप नही, किन्तु विधायक है, निवृत्तिमार्गी नही,

किन्तु प्रवृत्तिमार्गी है। जब हम अपने समान ही दूसरो के जीवन का मूल्य और महत्त्व समझते है, अपनी ही तरह उससे भी स्नेह करते है, तो इसका यही उदात्त परिणाम आता है कि वह जब कष्ट होता है, तब उसको सहयोग देना, उसके दुःख मे भागीदार बनना और उसकी पीडाएँ बाँट कर उसे शान्त और सन्तुष्ट करना—यह जो सहज प्रवृत्ति जगती है, मन मे सद्भावो की स्फुरणा होती है बस यही है मैत्री का उज्ज्वल रूप।

दान · प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप भी

भगवान् महावीर ने सातावेदनीय कर्म के बन्धहेतुओ की व्याख्या करते हुए बताया है कि ससार मे जो प्राणी है, वे चाहे तुम्हारी जाति के हो, कुल के हो या देश के हो, अथवा किसी भिन्न जाति, कुल या देश के हो, उन सबके प्रति करुणा का भाव जागृत करना, उनके दुःख के प्रति सवेदना और सुख के लिए कामना करना, यह सातावेदनीय के बन्ध का प्रथम कारण है।

महावीर की धर्म-परम्परा का एक उज्ज्वल आदर्श है कि जब एक साधु भोजन लाता है, तो यह नही कि बस, लाया और स्वय ही खा-पी कर साफ कर दिया। वह अपने से बडे और छोटे सभी साथियो को पूछता है, प्रार्थना करता है कि मेरे इस लाये हुए भोजन मे से आप कुछ स्वीकार करके मुझे अनुगृहीत करे—"**साहु हुज्जामि तारिओ।**"[1]

कितना ऊँचा आदर्श है यह, समर्पण का? देखिए, निवृत्तिमार्ग के यात्रियो मे भी इससे सामाजिक सम्बन्धो की कितनी मधुर भावना विकसित हुई है? इससे भी आगे कहा गया है कि 'जो साधु ऐसा नही करता, भोजन ला कर साथियो को निमत्रित नही करता, अकेला ही खाने बैठ जाता है, वह असविभागी है, उसकी मुक्ति नही हो सकती'—"**असविभागी न हु तस्स मोक्खो**"।[2]

कल्पना कीजिए—जो धर्म इतनी बडी प्रेरणा देता है, जिसके कण-कण मे मानवता का अमृत छलक रहा है, उसके लिए यह कहना कि उसमे सामाजिकता का अश नही है, सामूहिक चेतना का अभाव है, अपने मे कितनी बडी बौद्धिक विडम्बना है।

श्रावक भी जब गृहीत तप का पारणा करने बैठता है तो उसकी भी यही परम्परा है कि उस समय आस-पास मे जो भी उपस्थित हो, उन्हे भी भोजन के लिए सादर एव साग्रह आमत्रित करे। यदि वह बिना पूछे बिना निमन्त्रण दिए ही खाना शुरू कर देता है तो वह स्वार्थपरायण अपने व्रत की पवित्रता को दूषित करता है।

---

१ दशवैकालिक

२ वही

इस परम्परा मे भी समर्पण की एक उच्च भावना झलक रही है, और है सामाजिक जीवन के मधुर सम्बन्धो की महान् कल्पना।

सहृदयता का देवता

भगवान् महावीर का जीवन निवृत्ति का एक उत्कृष्टतम प्रतीक माना जाता है। उन्होने जीवन मे जो उग्र और निरपेक्ष साधना की, वह साधना के इतिहास मे सर्वोत्कृष्ट आदर्श रूप है। बारह वर्ष के छद्मस्थ जीवन-काल मे उनका आदर्श था—**'एगो चरे खग्गविसाणकप्पो'**—अर्थात् अकेले और सिर्फ अकेले ही साधना के महापथ पर बढते जाना। महावीर साधनाकाल मे अन्तर की गहराइयो मे उतर कर आत्म-शोधन मे लीन रहते थे। किन्तु उनके इस महान् निवृत्तिमय जीवन मे भी हम उनकी सामाजिक चेतना को स्फुरित होते हुए देखते है।

एक बार भगवान् महावीर, जबकि गोशालक उनके साथ था, विहार करते हुए कही जा रहे थे, उस समय वहाँ एक तपस्वी बडी घोर साधना कर रहा था। तापस की विशाल जटाओ से जुएँ भूमि पर गिर रही थी और वह उन्हे सुरक्षा के लिए उठा कर फिर अपनी जटाओ मे डाल रहा था। गोशालक ने यह देखा, तो खूब जोर से हँसा, और तापस को कुछ कहने लगा, इस पर तापस क्रुद्ध हो उठा, उसने गोशालक को भस्म करने के लिए तेजोलेश्या छोडी, किन्तु करुणामूर्ति भगवान् महावीर ने तत्काल शीतलेश्या का प्रयोग कर उसे बचा लिया।

महावीर के जीवन मे सामाजिक भावना की यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। जब कोई उनके अपने शरीर पर क्रूर से क्रूर प्रहार करता है, तो वे उसे शान्त-भाव से चुपचाप सह जाते है। किन्तु जब कभी किसी दूसरे की आपत्ति उनकी नजरो से गुजरती है, तो उनका हृदय करुणा से द्रवित हो उठता है और वे उसकी रक्षा के लिए तत्पर हो जाते है।

दूसरा कारण बताया गया है—व्रती-सयमी और सदाचारी पुरुषो के प्रति अनुकम्पा का भाव रखना, गुणश्रेष्ठ व्यक्तियो का आदर सम्मान करना, उनकी सेवा भक्ति करना, उनकी यथोचित आवश्यकताओ की पूर्ति का समय पर ध्यान रखना।

और तीसरा कारण है—दान। यहाँ आ कर सामाजिक चेतना पूर्णरूप से जागृत हो उठती है। आप अपने पास अधिक सग्रह न रखें, यह एक निषेधात्मक रूप है, किन्तु जो पास मे है, उसका क्या करें? उसकी ममता किस प्रकार कम करे? इसके लिए कहा है कि 'दान करे'। मनुष्य ने जो अपनी सुख-सुविधा के लिए साधन जुटाए हैं, उन्हे अकेला ही उपयोग मे न ले, बल्कि उनका समाज के अभावग्रस्त और जरूरतमद व्यक्तियो मे यथोचित वितरण करे।

दान का अर्थ यह नहीं है कि किसी को यो ही एक-आध टुकडा दे डाला कि दान हो गया। दान अपने मे एक बहुत उच्च और पवित्र कर्त्तव्य है। दान करने से पहले पात्र की आवश्यकता का मन मे अनुभव करना, पात्र के पीडाजन्य कम्पन के प्रति

अपने विचारो मे भी अनुकम्पन होना और सेवा की प्रबुद्ध लहर उठना, दान का पूर्व रूप है। "जैसा मैं चेतन हूं, वैसा ही चेतन यह भी है, चेतनता के नाते दोनो मे कोई अन्तर नही है, इसलिए अखण्ड एव व्यापक चैतन्य-सम्बन्ध के रूप मे हम दोनो सगे बन्धु हैं, और इस प्रकार एक दो ही क्यो, सृष्टि का प्रत्येक चेतन मेरा आत्म-बन्धु है, मेरी बिरादरी का है"—यह उदात्त कल्पना-पवन आपके मानस-मानसरोवर को तरगित करे और आप सहज स्नेहार्द्र बन्धुभाव से दान करे—दान अर्थात् सविभाग करें, बँटवारा करें, यह है दान की उच्चतम विधि। दान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—"**सविभागो दानम्**"—सम वितरण अर्थात् समान बँटवारा दान है। भाई-भाई के बीच जो बँटवारा होता है, एक-दूसरे को प्रेमपूर्वक जो दिया-लिया जाता है, उससे न किसी के मन मे अह जगता है और न दीनता। चूंकि भाई बराबर का एक साझीदार एव अपने समान ही सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता है, फलत देने वाले को अहकार का और लेने वाले को दीनता का शिकार होना पडे, ऐसा कोई प्रश्न ही नही रहता। ठीक इसी प्रकार आप जब किसी को कुछ अर्पण करें तो उसे "समविभागी" अर्थात् बराबर का बन्धु समझ कर जो उसके उपयुक्त हो, और जिस वस्तु की उसे आवश्यकता हो, वह प्रसन्नता के साथ अर्पण करे। बराबरी की भावना से जो दिया जाता है, उससे देने वाले के मन मे लेने वाले को तुच्छ मानने की भावना नही उठती और न लेने वाले के मन मे अपने प्रति दीनता का सकल्प ही जगता है।

दान निवृत्तिरूप भी है, और प्रवृत्तिरूप भी। वस्तु पर से अपने ममत्व का त्याग कर देना, निवृत्ति है। और जो प्रेमपूर्वक अर्पण किया जाता है, वह प्रवृत्ति है। इस प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो का ही समन्वय दान मे हो जाता है। लोभ की निवृत्ति हुए बिना दान का सकल्प नही जगता, इसलिए वह निवृत्ति रूप है। और उसमे जो दूसरे के सुख की भावना जागृत हुई है, करुणा और प्रेम की जो धारा उमडी है, वह प्रवृत्तिरूप है। उसमे सामाजिक चेतना का पवित्र स्रोत बहता दिखाई देता है।

समर्पण का उच्चतम आदर्श

भगवान् महावीर के उक्त चिन्तन मे सामाजिक भावना के उच्चतम आदर्श के दर्शन होते है। व्यक्ति को व्यक्ति के रूप मे ही नही, किन्तु समष्टिरूप मे भी देखा गया है। समाज के हृदय के साथ व्यक्ति का हृदय जुडा है, उसके सकल्पो के साथ उसके सकल्प बँधे हैं और उसके सुख-दुःख के साथ उसके सुख-दुःख भी एकाकार होते प्रतीत होते है।

भगवान् महावीर का जीवन जैनधर्म की उदात्त परम्परा का महान् प्रतीक है। उनके जीवन के अनेक प्रसग ऐसे हैं, जिनमे उनकी सामाजिक और सार्वजनीन जन-चेतना के दर्शन किए जा सकते है। समाज, परिवार और व्यक्तिगत जीवन के कटु

---

३ भगवतीसूत्र १५ वाँ शतक

संघर्षों मे पारस्परिक द्वन्द्वो एव उलझनो मे पडे हुए व्यक्तियो को वे समय पर मार्ग-दर्शन करते है, उन्हे प्रबुद्ध करते हैं, उनकी समस्याओ को सुलझाते है और यथोचित पावन प्रेरणाएँ देते है।

आपने सुना ही होगा, राजगृहनिवासी महाशतक श्रावक अन्तिम धर्म-साधना मे सलग्न थे। उस समय उनकी पत्नी जोकि आचार से हीन एव पतित थी, महाशतक के साथ दुर्व्यवहार करने पर उतारू हो गई। महाशतक ने क्रुद्ध हो कर उसे दुर्वचन कहा, जिससे उसके हृदय को गहरी चोट लगी और वह भयाकुल हो उठी। भगवान् महावीर ने गणधर गौतम को बुला कर कहा कि—"गौतम! महाशतक से जा कर कहो कि वह श्रावक है, अन्तिम धर्मसाधना की स्थिति मे है। उसे इस प्रकार दुर्वचन नही कहने चाहिए, जिससे किसी के हृदय को चोट लगे। इसकी शुद्धि के लिए वह आलोचना करे और यथोचित प्रायश्चित्त ग्रहण करे।"[४]

इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन मे भी जब कही कटुता पैदा होती है तो महावीर उसे शान्त करने की प्रेरणा देते हैं।

विचार कीजिए, प्रभु को ऐसी क्या आवश्यकता थी कि किसी के व्यक्तिगत जीवन की समस्याओ मे हस्तक्षेप करे? गौतम जैसे अपने प्रमुख शिष्य को समाधान के लिए भेजे। यदि वे नही भेजते तो उनको क्या दोष लगता था? और भेजा तो उन्हे क्या कुछ प्राप्त हो गया? वे तो कृतकृत्य हो गये थे। इस प्रकार के प्रयत्नो मे उनका अपना स्वय का तो कोई हानि-लाभ नही था। किन्तु सत्य यह है कि धर्म, समाज एव सघ की बागडोर वही महापुरुष सँभाल सकता है, जो स्वय निष्काम और निर्मल हो, साधना के उच्च शिखर पर पहुँच चुका हो। परन्तु जब भी और जहाँ भी कहीं कोई त्रुटि देखे, भूल देखे, किसी को कर्तव्य-पथ से भटकते हुए देखे तो उसे यथावसर योग्य सूचनाएँ देता रहे, अन्धकार के क्षणो मे प्रकाश देता रहे और मार्गदर्शन करता रहे।

विग्रह और व्यामोह का शमन

भगवान् महावीर के हृदय मे विराट् मानवीय चेतना की धारा सहस्ररूपो मे प्रवाहित थी। ससार के छोटे-बडे सभी प्राणियो के प्रति उनके मन मे एक समान सहृदयता और करुणा भरी थी। जब राष्ट्र एव समाज मे कही भी, किसी पर भी विग्रह एव द्वन्द्व के बादल मडराते, तो उनका करुण-मानस उसे शान्त करने के लिए सक्रिय हो उठता था। अवन्ती के सम्राट् चण्ड-प्रद्योत ने कौशाम्बी पर घेरा डाल रखा था, सम्राट् शतानीक की मृत्यु होने पर उनकी पत्नी महारानी मृगावती को वह अपने अधिकार मे ले लेना चाहता था, वह उसके रूप पर पागल हो उठा था और इसी व्यामोह मे अन्धा हो कर उसने कौशाम्बी पर आक्रमण किया था। इसी प्रसग मे भगवान् महावीर कौशाम्बी मे पधारते है, समवसरण मे ही उनकी धर्मदेशना के फल-स्वरूप चण्डप्रद्योत से रानी मृगावती छुटकारा पा लेती है।

---

४ उपासकदशागसूत्र

मान लीजिए, चण्डप्रद्योत के इस आक्रमणकाल मे भगवान् वहाँ नही गये होते, तो क्या उन्हे कोई दोष लगता था ? क्यो वे साधु के लिए निषिद्ध युद्ध-क्षेत्र मे[५] उग्र विहार करते हुए पहुँचते है और समाधान का पथ प्रशस्त करते हैं।

प्रश्न दोष का नही है। प्रश्न है—मानवहृदय की सामाजिक चेतना का। जब हृदय मे समाज के हित की बलवती प्रेरणा उठती है, उसके कल्याण की उदात्त भावना जगती है, तब अपने व्यक्तिगत दु ख या सुख का प्रश्न वहाँ नही अटकता। यह तो एक सहज मानवीय भाव है, जो मनुष्य की आत्मा के साथ जुडा हुआ है। मानव आत्मा जितनी ही ऊँचाई पर पहुचता है, यह मानवीय भाव उतना ही उच्चतम होता जाता है। भगवान् महावीर की आत्मा जीवन की समस्त ऊँचाइयो को पार कर चुकी थी, इसलिए यह मानवीय भाव भी वहाँ उच्चतम और परिपूर्णरूप मे विकसित हो चुका था। अस्तु, यह कौशाम्बी का प्रसग इस बात का साक्षी है कि भगवान् महावीर की प्रबुद्ध करुणा और सामाजिक भावना कितनी महान् थी और कितनी सक्रिय !

सदेह का निराकरण

भगवान् के निवृत्तिप्रधान जीवन मे भी हम लोककल्याण की प्रवृत्ति और सामाजिक चेतना की बहुत बडी निर्मल झलक पाते है। एक ओर इतने बड़े धर्मसघ का नेतृत्व, उसकी जिम्मेदारियाँ और साथ ही दूसरी ओर समाज के प्रत्येक अग का निरीक्षण, उसकी उलझनो का समाधान, शका और वहम का निराकरण, भूलो का शोधन और पारस्परिक विग्रह एव द्वन्द्वो का उपशमन ! विश्वजनहिताय प्रवृत्ति की हजारो हजार तरगे उनके जीवन-महासागर मे एक साथ लहराती दिखाई दे रही है।

समाज की उलझनो और समस्याओ का कितनी दूर तक उन्होने स्पर्श किया था, इनका एक उदाहरण जैनकथाओ मे मिलता है। एक बार सम्राट् श्रेणिक के मन मे अपनी पत्नी चेलना रानी के प्रति सदेह हो गया कि वह सती नही है। किसी अन्य पुरुष के प्रति आकर्षण है, उसके मन मे। बस, सम्राट् समग्र नारीजाति के प्रति ही अपवित्रता के वहम के शिकार हो गये, और आदेश दे दिया कि चेलना और अन्य सब रानियो को जला कर भस्म कर दिया जाए।

एक निराधार वहम के कारण कितनी भयकर दुर्घटना होने जा रही थी। समूचे अन्त पुर को अग्नि की दहकती ज्वालाओ मे भस्मसात् करने का कितना भयकर हत्याकाड हो रहा था ! किन्तु भगवान् महावीर ने भटकते सम्राट् को सम्बोधित किया—"राजन् ! तुम भ्रान्ति मे हो, व्यर्थ ही सदेहो के भँवर मे फँस गये हो। महाराज चेटक की सातो ही पुत्रियाँ सती है। रानी चेलना का जीवन पवित्र और निर्मल है। वहम अज्ञान के कारण होता है। सत्य को जानोगे तो वहम को दूर होते

५ "सडिम कलह जुद्ध दूरओ परिवज्जए"

—दशवैकालिक

देर न लगेगी। तुम वहम के झझावात मे मत भटको। वहम भयकर अनर्थ और विपदाओ का जनक है।"

सम्राट् घटना की वास्तविकता समझ गये, और एक भयकर अनर्थ होते-होते रह गया।

झूठे वहम के कारण आज समाज मे कितने विग्रह और कलह चल रहे है, कितनी गृहस्थियाँ उजड रही हैं, कितने परिवार इसकी चपेट मे आ कर बर्बाद हो रहे है। समाज म एक सिरे से दूसरे सिरे तक यह भयानक रोग महामारी की तरह फैला हुआ है। पति-पत्नी एक-दूसरे को सदेह की दृष्टि से देखते है, पिता-पुत्र मे वहम के कारण अनबन है, भाई-भाई मे परस्पर अविश्वास है। वहम और सदेह के कारण समाज का जीवन नीरस हो रहा है, प्रेम के तार टूट रहे है, परस्पर अविश्वास और कलह का वातावरण छाया हुआ है। आज आवश्यकता है, प्रभु महावीर जैसे तत्त्व-ज्ञानियो की, जो अपने पवित्र हस्तक्षेप से समाज की भ्रान्त चेतना को समय पर सत्य का प्रकाश दे सके।

भगवान् महावीर के जीवन का यह सामाजिक पक्ष कितना—महत्त्वपूर्ण और कितना विराट् है। समाज के हर अग को वे छूते है। पारस्परिक कलह और विग्रह जब भी जा भी उसके सामने आते है, वे उन्हे सुलझाते है। पारिवारिक उलझनो का यथोचित कल्याणकारी समाधान उनके द्वारा होता है। राजकीय विग्रह के नाजुक प्रसगो पर भी उनकी प्रज्ञामयी वाणी मुखर होती है और वहाँ भी शान्ति एव सुव्यवस्था स्थापित हो जाती है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति का मर्म

मैं समझता हूँ, महावीर के निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म को समझने के लिये ये उदाहरण काफी है। जिन्हे शिकायत है कि जैनधर्म निवृत्तिप्रधान है, उसमे लोक-हितकर प्रवृत्ति के लिये कोई स्थान नही है, सामाजिक भाव का कोई रूप नही है, वे भगवान् महावीर के इन प्रवृत्तिमय जीवनप्रसगो पर से उनके जीवन-दर्शन की वास्त-विकता समझ सकते है।

जैनधर्म ने सामाजिक जीवन से कभी इन्कार नही किया, वह तो सदा ही सामाजिक जीवन के साथ इकरार करता आ रहा है। उसने ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म[६] आदि के रूप मे समाज के प्रत्येक वर्ग का कर्त्तव्य सूचित किया है, प्राप्त उत्तरदायित्वो को स्वीकार करके उन्हे उचित और सुन्दर ढग से निबाहने का सदेश दिया है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति की इस चर्चा मे मैं पुन एक बात दुहरा देता हूँ कि इन

६ स्थानागसूत्र १०वा स्थान

दोनों की अपनी जो सीमाएँ हैं, जो अपने क्षेत्र है, उन्हे भी यथार्थदृष्टि से समझना है। जीवन मे निवृत्ति का भी उतना ही महत्त्व है, जितना प्रवृत्ति का। बिना निवृत्ति के एकान्त प्रवृत्ति एक आधारहीन अन्ध हलचल है, उनमे निर्माण जैसा पवित्र आदर्श नहीं रहता। और प्रवृत्तिशून्य निवृत्ति भी सिर्फ एक निष्क्रिय उदासीन व्यक्तिवादिता है। जब व्यक्ति केवल अपने ही ऐहिक सुख-दुःख मे बँधा रहे, अपने ही व्यक्तिगत स्वर्ग और अपवर्ग के सुखो की कल्पना मे दौडता रहे, तो यह एक प्रकार का स्वार्थीपन ही है, व्यक्तिगत सुख का राग है, अत वह बन्धन है, फिर चाहे वह धार्मिक जीवन मे हो या सामाजिक जीवन मे। इससे व्यक्ति और समाज का कोई कल्याण नही हो सकता। जैनदर्शन जीवन मे दोनो का समन्वय करता है। जैसा कि मैने पहले कहा था—मर्यादाहीन व्यक्तिगत सुखो और स्वार्थो मे निवृत्ति तथा सामाजिक हितो के लिए यथाप्रसग यथोचित प्रवृत्ति अर्थात् अपनी व्यक्तिगत भोगेच्छा से निवृत्ति और विश्वकल्याण के लिए उदात्त प्रवृत्ति—बस यही महावीर की निवृत्ति और प्रवृत्ति का मर्म है, यही महावीर का जीवनदर्शन है। □

१२ अहिंसा के दो पक्ष : प्रवृत्ति और निवृत्ति-२

'अहिंसा' शब्द के साथ जो निषेध जुडा हुआ है, उसे देखकर साधारण लोग और कभी-कभी कुछ विशिष्ट विचारक भी भ्रम मे पड जाते है। वे समझ बैठते है कि 'अहिसा' शब्द निषेध-वाचक है, और इसी कारण वे अहिंसा का अर्थ भी केवल 'निवृत्तिपरक' ही मान लेते हे। इस भ्रम ने अतीतकाल मे भी अनेक अनर्थ उत्पन्न किए है और आज भी वह अनेक लोगो को चक्कर मे डाल रहा है। अतएव अहिंसा की विवेचना करने समय यह देख लेना नितान्त आवश्यक है कि क्या वास्तव मे अहिसा कोरा निषेध ही है, और अहिंसा के साधक का कर्त्तव्य 'कुछ न करने मे' ही समाप्त हो जाता है, अथवा अहिंसा का कोई विधि-रूप भी है? और उसके अनुसार अहिसा के साधक के लिए कुछ करना भी आवश्यक है?

वास्तविक अहिंसा

जैन-धर्म की वास्तविक अहिसा क्या है? क्या वह अकेली निवृत्ति ही है? अर्थात्—क्या वह अलग खड़े रहने के रूप मे ही है? इधर से भागे तो उधर खडे हो गए, और उधर से भागे तो इधर आ कर खडे हो गए? तब क्या साधक सर्वथा अलग-अलग कोने मे खडा रह कर जीवन गुजार दे? यदि अहिंसा को कही से अलग हटना है, तो अलग हटने के साथ-साथ कही खडा भी तो रहना है या नही? कही प्रवृत्ति भी करनी है या नही? अहिसा का साधक जीवन के मैदान मे कुछ अच्छे काम कर सकता है या नही? आज का भ्रान्त ससार इन प्रश्नो का स्पष्ट उत्तर चाहता है। अहिंसा के साधको को उक्त प्रश्नो का स्पष्ट उत्तर देना होगा, और निष्पक्ष शब्दो मे देना होगा। मौन साधने से काम नही चलेगा। मानव को मानवता के उद्धार एव कल्याण के लिए कोई ठोस कदम उठाना ही पडेगा। क्योंकि मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज मे जन्म लेता है और समाज मे ही रह कर अपना सास्कृतिक विकास एव अभ्युदय करता है। उस अभ्युदय के बदले वह समाज को कुछ देता भी है। प्रवृत्तिरूप धर्म के द्वारा समाजसेवा करना उसका प्रथम कर्तव्य है।

जो अहिंसा जीवन के कार्य-क्षेत्र से अलग हो जाती है और निष्क्रिय हो कर हर जगह से भागना ही चाहती है, जिस अहिंसा का साधक भाग कर कोने मे दुबक जाता है और यह कहता है—'मैं तो तटस्थ हूँ और अहिंसा का अच्छी तरह पालन कर रहा हूँ!' तब क्या ऐसी अहिंसा किसी भी रूप मे उपयोगी हो सकती है? यह अहिंसा की निष्क्रिय वृत्ति है और इसके साधक के जीवन मे केवल निष्क्रियता ही आ सकती है।

अहिंसक प्रवृत्ति के बिना समाज का कोई कार्य चल नही सकता, क्योकि प्रवृत्तिशून्य अहिंसा समाज मे जडता पैदा कर देती है। प्रवृत्तिशून्य अहिंसा से मानव मे असामाजिकता ही पैदा होगी।

यदि आपने कोरी निवृत्ति के चक्कर मे आ कर शरीर को काबू मे कर भी लिया तो क्या हुआ? मन तो अपनी स्वभावगत चचलता के अनुसार कुछ-न-कुछ हरकत करता ही रहेगा। फिर मन को कहाँ ले जाएँगे? इसका अर्थ हुआ कि—सर्वप्रथम मन को साधना पडेगा। शास्त्रकार भी यही कहते है कि पहले मन को ही एकाग्र करो, मन को ही साधो। केवल मन को ही सासारिक विषयो से अलग करो। चाहे जीवन भले ही ससार मे उचित प्रवृत्ति क्यो न करे। किन्तु जीवन की उचित प्रवृत्ति कुछ और है, और मन की उच्छृ़ङ्खल प्रवृत्ति दूसरी वस्तु है। अकुश तो मन पर लगा रहना चाहिए। यदि मन पर काबू पा लिया, तो फिर कही भी भागने की जरूरत नही है।

कुछ लोगो का कथन है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो एक साथ नही रह सकती। ऐसी दशा मे कोई ठहरे या आगे चले? यदि आप कहे कि चलो भी और ठहरो भी, तो दोनो काम एक साथ नही हो सकते। दिन और रात, एक साथ नही रह सकते है। गर्मी और सर्दी एक जगह कैसे रह सकती है? अर्थात् दो परस्पर विरोधी चीजो को एक साथ कैसे रखा जा सकता है? किन्तु जैन-दर्शन के पास एक विशिष्ट प्रकार की चिन्तनप्रणाली है और उस अनुपम चिन्तनपद्धति से विरोधी मालूम होन वाली चीजें भी अविरोधी हो जाती है। जैसे दूसरी वस्तुओ के अनेक अश होते है, उसी प्रकार अहिंसा के भी अनेक अश है। अहिंसा का एक अश प्रवृत्ति है, और दूसरा अश है निवृत्ति। ये दोनो अश सदा एक साथ ही रहते हैं। एक-दूसरे को छोड कर अलग-अलग नही रह सकते। जब आप प्रवृत्ति कर रहे हैं तो उस समय निवृत्ति उसके साथ अवश्य होती है। यदि प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति नही है तो उसका कोई मूल्य नही है। ऐसी प्रवृत्ति बधन मे डाल देगी। प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का सग होने पर ही प्रवृत्ति का वास्तविक मूल्य है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति अहिंसारूपी सिक्के के दो पहलू

जैनदर्शन मे अहिंसा के दो पक्ष है। 'नही मारना' यह उसका एक पहलू है और उसका दूसरा पहलू है—मैत्रीकरुणा और सेवा। यदि हम अहिंसा के सिर्फ नकारात्मक पहलू पर ही सोचे तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्री सम्बन्ध रखना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी समुचित विचार करना होगा। जैनागमो मे जहाँ अहिंसा के ६० एकार्थक नाम[1] दिये गये है, वहाँ इसे दया, रक्षा,

---

१ दया, खती, बोही, रक्खा, समिई, जण्णो अभओ आदि

—प्रश्नव्याकरणसूत्र, प्रथम सवरद्वार

अभय आदि के नाम से भी अभिहित की गई है। यदि प्रवृत्ति नही है तो अकेली निवृत्ति का न तो कोई मूल्य है और न ही कोई अस्तित्व ही। इसीलिए साधक के चारित्र की जो व्याख्या की गई है, उसमे प्रवृत्ति और निवृत्ति-दोनो को समान स्थान दिया गया है। चारित्र न तो एकान्त प्रवृत्तिरूप है, और न एकान्त निवृत्तिरूप। इस सम्बन्ध मे कहा गया है—"अशुभ कार्यों से, बुरे सकल्पो से तथा कुत्सित आचरणो से निवृत्ति करना और शुभ मे प्रवृत्ति करना तथा सत्कर्मों का आचरण करना ही चारित्र है।[2] साधक एक ओर से निवृत्ति (विरति) करे और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करे। असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति करना चाहिए।"[3] असदाचरण से निवृत्त बनो और सदाचरण मे प्रवृत्ति करो, यही प्रवृत्ति और निवृत्ति की सुन्दर एव पूर्ण विवेचना है।

अनुकम्पादान, अभयदान, सेवा आदि-आदि अहिंसा के प्रवृत्तिप्रधान रूप है। यदि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक ही होती तो जैनाचार्य इस प्रकार का कथन कथमपि नही करते। 'अहिंसा' शब्द भाषा-शास्त्र की दृष्टि से निषेधवाचक अवश्य है, इस कारण बहुत-से व्यक्ति इस भ्रम मे फस जाते है कि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक है। किन्तु गहन चिन्तन करने के पश्चात् यह तथ्य स्पष्ट हुए बिना नही रहेगा कि अहिंसा के अनेक पहलू है, अनेक अग है। अत प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मे अहिंसा समाहित है। प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनो मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक कार्य मे जहाँ प्रवृत्ति हो रही है, वहाँ दूसरे कार्य से निवृत्ति भी होती है। जो केवल निवृत्ति को ही प्रधान मान कर चलता है, वह अहिंसा की आत्मा को परख ही नही सकता। वह अहिंसा की सम्पूर्ण साधना नही कर सकता। एक-दूसरे के अभाव मे अहिंसा अपूर्ण है। यदि अहिंसा के इन दोनो पहलुओ को न समझ सके तो अहिंसा की वास्तविकता से हम बहुत दूर भटक जायेंगे।

जैनश्रमण के उत्तरगुणो मे चारित्र के सन्दर्भ मे ५ समितियो और ३ गुप्तियो का विधान है। समिति की मर्यादा प्रवृत्तिपरक है और गुप्ति की मर्यादाएँ निवृत्तिपरक। अत गुप्ति का अर्थ है—निवृत्ति और समिति का अर्थ है—प्रवृत्ति। इससे भी स्पष्ट है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनो अहिंसारूपी सिक्के के दो पहलू है।

ईर्यासमिति का अर्थ है—चलना। यहाँ चलने से इन्कार नही किया गया, किन्तु अविवेक से या अनुचितरूप से चलना ठीक नही है। जहाँ हजारो 'ना' है, वहाँ एक 'हाँ' भी है। चलने के साथ यदि हजारो 'ना' है, तो वहाँ एक 'हाँ' भी निश्चित

---

२ 'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त।'

—आचार्य नेमिचन्द्र

३ "एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तण।
असजमे नियत्ति च सजमे य पवत्तण॥

—उत्तराध्ययन ३१।२

रूप से लगा हुआ है। चलना अवश्य है, किन्तु असावधानी या प्रमाद से नही, बल्कि यतना से चलना है। ऐसा करना ही शुभ मे प्रवृत्ति है और अशुभ से निवृत्ति है। बस, अशुभ अश को निकाल देना चाहिए और शुभ अश को जीवन-व्यापार का लक्ष्य-बिन्दु बनाना चाहिए। फिर भी जीवन की अभीष्ट सफलता अभिनन्दन करती हुई दिखलाई देती है।

भाषा-समिति मे बोलना बन्द नही किया गया है। वहाँ भी बहुत-से नकारो के साथ 'हकार' मौजूद है। क्रोध, मान, माया, लोभ और आवेश आदि से मिश्रित वचन कभी मत बोलो, कर्कश शब्द मत बोलो, कठोर और मर्मवेधी शब्द भी मत बोलो। किन्तु बोलो अवश्य, बोलने पर कोई प्रतिबन्ध नही है। परन्तु बोलना विवेक-पूर्ण होना चाहिए, दूसरो का हितसाधक होना चाहिए। भाषा-समिति का अर्थ है—'साधक का भाषण हर हालत म हित, मित एव सत्य हो।'

अब क्रमश एषणा-समिति आती है। यदि जीवन है तो उसके साथ आहार का भी सम्बन्ध है। शास्त्र मे यह नही कहा गया है कि आहार के लिए प्रवृत्ति ही न करो। यद्यपि उसके साथ हजारो 'ना' लग रहे है कि—ऐसा मत लो, वैसा मत लो। किन्तु फिर भी लेने के लिए तो कहा ही गया है। जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक सामग्री जनता से ग्रहण की जा सकती है, किन्तु ध्यान रहे—वह ग्रहण शोषणहीन हो, सद्भावनापूर्ण हो। 'स्व' की सुविधा के साथ 'पर' की सुविधा का सुविचार भी सतत जागृत रहना चाहिए।

इसी प्रकार आवश्यकता-पूर्ति के लिए काम आने वाली चीजो का रखना और उठाना बन्द नही किया गया है। साधु भी अपने पात्र को उठाते है और रखते हैं। कदाचित् दूसरी आवश्यक चीजो को उठाना-रखना बन्द भी कर दे, तब भी शरीर को तो उठाए और रखे बिना काम नही चल सकता। इसलिए न तो उठाने की कोई रोक-टोक है और न रखने की ही। पाबन्दी तो केवल असावधानी से उठाने पर, और असावधानी से रखने पर है। यदि किसी वस्तु को सावधानी के साथ उठाया या रखा जाए तो उसके लिए कोई निषेध नही है। इस प्रकार यदि बहुत-से 'ना' लगे है तो विवेक के साथ उठाने-धरने का एक 'हाँ' भी अवश्य लगा हुआ है। यह 'आदान-निक्षेपणसमिति' हुई।

अब **'परिष्ठापनसमिति'** को लीजिए। जब आहार किया जाएगा तो शौच भी अवश्य लगेगा। इसी प्रकार जब पानी पिया जाएगा तो पेशाब भी अवश्य लगेगा। यह तो कदापि सम्भव नही है कि कोई नियमित रूप से खाता भी चला जाए और पीता भी चला जाए, किन्तु उसके शरीर मे मलमूत्र न बने और यथावसर उसका त्याग न करना पडे। जब मल-मूत्र आदि का त्याग आवश्यक है, तो वह करना ही चाहिए। किन्तु अविवेक या असावधानी से नही, अपितु विवेक के साथ। मल-मूत्र आदि विसर्जन-योग्य पदार्थों का परिष्ठापन करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है

कि सर्वसाधारण जनता के स्वास्थ्य को हानि न पहुँचे, इधर-उधर गन्दगी न फैले, किसी को भी कुरुचि एव घृणा का भाव न हो।

देखिए, जैनाचार्य इस समिति की व्याख्या करते है कि समितियाँ प्रवृत्ति-रूप भी है और निवृत्ति-रूप भी है। जहाँ समिति है, वहाँ गुप्ति भी होती है।[४]

उपयुक्त कथन का अभिप्राय यही है कि जीवन के क्षेत्र मे चाहे साधु हो या श्रावक, दोनो के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति यथावसर समान रूप मे आवश्यक है। अशुभ आचरण एव अशुभ सकल्प से अलग रह कर शुभ मे प्रवृत्ति करनी ही होगी। यदि हम शुभ सोचेंगे, शुभ बोलेंगे और आचरण भी शुभ करेंगे तो इस रूप मे हमारी प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चलेगी। हमे यह भूल नही जाना चाहिए कि हमारे अशुभ कार्यक्रम मे निवृत्ति का लक्ष्य शुभ मे प्रवृत्ति करना है, और शुभकार्य मे प्रवृत्ति का ध्येय अशुभ से निवृत्त होना है। जहाँ हजारो 'ना' है, वहाँ एक 'हाँ' भी लगा हुआ है। अतएव प्रवृत्ति और निवृत्ति परस्परनिरपेक्ष हो कर नही रह सकती, और वस्तुत रहना भी नही चाहिए। एक उदाहरण देखिए—

जब कोई आदमी घोडे पर चढता है, तो वह चलने के लिए ही चढता है, इसलिए नही कि घोडे की पीठ पर ही जम जाए। वह घोडे पर चढता है और उसे गति भी देता है, किन्तु साथ ही घोडे की लगाम भी पकड लेता है। उसे जहाँ तक चलना है, वहीं तक चलता है और जहाँ खडे होने की आवश्यकता महसूस होती है, वहाँ खडा भी हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि घोडे पर चढ कर चलना प्रवृत्ति है, और जरूरत होने पर खडा हो जाना निवृत्ति भी है।

इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण लीजिए—किसी सेठ ने यदि ऐसी मोटर ले ली है कि एक बार स्टार्ट कर देने पर वह स्वच्छन्द गति से ऐसी चलती है कि कही पर कभी रुकती ही नही है, तब क्या ऐसी विचित्र मोटर मे कोई बैठेगा ? निश्चित है, कोई नही। सामान्यत मोटर ऐसी होनी चाहिए कि वह चले तो अवश्य, किन्तु जरूरत के समय उसे खडा भी किया जा सके और मार्ग की स्थिति के अनुसार धीमी भी की जा सके। निस्सन्देह उसी मे आप बैठना पसन्द करेंगे। हमारा जीवन भी एक प्रकार का घोडा अथवा गाडी है, जिसे समय पर चलाना भी चाहिए और समय पर रोकना भी चाहिए। जीवन की गति न तो उन्मुक्त, मर्यादाहीन एव उच्छृखल ही होनी चाहिए, और न सर्वथा निष्क्रिय ही।

जैन-धर्म ने यह एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—जहाँ तक शुभ मे प्रवृत्ति का अश है वहाँ प्रवृत्ति है, और जहाँ अशुभ से निवृत्ति का अश है, वहाँ निवृत्ति है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनो ही जगह अहिंसा की सुगन्ध महकती है।

---

४ पविचाराऽपविचाराओ समिईओ —स्थानाग सूत्र

तटस्थता या बचाव

एक आदमी किसी को मार रहा है या कोई स्वय अपनी आत्म-हत्या कर रहा है। इसी समय दो आदमी आ पहुँचते है। उनमे से एक आदमी तो उस दीन-हीन की रक्षा के लिए तत्पर होता है और दूसरा तटस्थ हो कर अलग खडा रह जाता है। ऐसी स्थिति मे तटस्थ खडे रहने वाले को कहाँ पाप लग रहा है ? वह स्वय तो किसी को मार ही नही रहा है, जिससे कि उसे पाप लगे वह तो केवल तटस्थभाव से खडा है। यदि दूसरा आदमी तटस्थ न रह कर बचाने की प्रवृत्ति करता है तो यहाँ भी प्रश्न आता है—तटस्थ रहने वाले निवृत्तिपरायण व्यक्ति को अधिक लाभ है या प्रवृत्ति करने वाले को ?

जो लोग जीवन के हर क्षेत्र मे तटस्थ ही रहना चाहते है, वे कदाचित् यही कहेगे कि जो तटस्थ रहा है, उसने पाप नही किया और उसे हिंसा भी नही लगी। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि मे तटस्थ रहना—क्रियाहीन जीवन व्यतीत करना ही जीवन का शुभ लक्ष्य है और प्रवृत्ति करना अशुभ लक्ष्य। किन्तु उनसे पूछा जा सकता है कि जैन-धर्म मे जो दया या करुणा की बात कही गई है, क्या वह केवल तटस्थ रहने की बात है ? उदाहरण के लिए—

एक साधु नदी के किनारे चल रहा है, जाते हुए फिसल गया, और नदी के प्रवाह मे गिर कर डूबने लगा। उसके साथी दो साधु किनारे पर खड़े है। उनमे से एक साधु जो किनारे पर खडा है, वह तटस्थभाव की मुद्रा म खडा है। इस प्रसग पर वह यह कहता है—मैने धक्का नही दिया, मैंने सकल्प भी नही किया कि वह गिरे। वह गिरने वाला तो अपने आप गिर गया है और डूबने लगा है—इसमे मेरा क्या दोष ? अस्तु, मैं तो अन्त तक तटस्थ ही रहूँगा। यदि पानी मे जाऊँगा तो जल के जीवो की हिसा होगी, और जल मे रहने वाले छोटे-बडे अनेक त्रस[५] जीवो की हिंसा भी होगी। ऐसा सोचकर वह तटस्थ खडा रहता है।

परन्तु दूसरा साधु उसे बचाने के लिए नदी मे उतर पडता है। डूबने वाला साधु अस्त-व्यस्त दशा मे है। उसे बचाने की कोशिश करते समय पानी मे तो हलचल अवश्य होगी और कितनी ही मछलियाँ तथा दूसरे अनेक जीव भयभीत एव परेशान भी होगे और कुछ तो मर भी जायेंगे। फिर भी वह उस डूबने वाले साधु को नदी से बाहर निकाल कर किनारे पर ले आता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन-से साधु को लाभ हुआ ? अर्थात्—जो साधु अन्त तक तटस्थ था, वह लाभ मे रहा, या जो तटस्थ न रह कर साथी साधु को बचाने के लिये नदी मे उतरा, वह लाभ मे रहा ?

तटस्थ रहने वाला साधु कहता है—"नदी मे गिरने वाले साथी साधु के पतन मे मेरा कोई निमित्त नही था, अत मैं गिराने के पाप का भागी नही हूँ। साथ ही मैं

५ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव स्थावर है। द्वीन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं।

उसे नदी से निकालने के लिये भी नही गया, अत बचाने मे जल-जीवो की तथा अन्य मत्स्य आदि त्रसजीवो की जो हिंसा हुई है, उससे भी मैं पूर्णतया मुक्त रहा हूँ। अतएव मैं अपनी तटस्थता के कारण बचाने वाले से कही अधिक अहिंसक हूँ।"

"जो साधु तटस्थ नही रहा और साथी साधु को बचाने के लिये नदी मे उतरा, वह एक प्राणी को तो अवश्य बचा लाया, किन्तु एक की रक्षा के लिये कितने प्राणियो की हिंसा का भागी हुआ ?"

इस प्रकार यह जटिल प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि उक्त प्रसग पर क्या तटस्थ रहना आवश्यक है या प्रवृत्ति करना ? इस विषय मे भगवान् महावीर का आदेश तो यह कहता है कि जब इस प्रकार की विषम परिस्थिति आ जाए तो साधु दूसरे दुर्घटनाग्रस्त साधु को निकाले[६] और यदि साध्वी डूब रही है तो उसको भी निकाले किन्तु तटस्थ होकर न खडा रहे। इस प्रकार जैनागम का मूल उल्लेख है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिंसा और अहिंसा का जो स्थूलरूप वर्णित है, कर्त्तव्य उससे भी कही ऊँचा है।

कोई प्राणी हमारे सामने मर रहा है। सम्भव है, उस समय बाह्यरूप मे हठात् निवृत्ति कर भी ली जाय, परन्तु ऐसे अवसर पर बचाने के सकल्प स्वभावत आया ही करते है। फिर भी हम यदि उनकी बलात् उपेक्षा ही करते है, रक्षात्मक प्रवृत्ति का प्रयोग नही करते हैं तो हमारे मन की दया कुचली जाती है और इस प्रकार अपने द्वारा अपने आत्मा की एक बहुत बडी हिंसा हो जाती है। इस आत्म-हिंसा को रोकना और उससे बचना अत्यधिक आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह तो स्पष्ट ही है कि बचाने के लिये पानी मे प्रवेश करने वाले का सकल्प जल के जीवो को मारने का बिलकुल नही था, उसका एकमात्र इरादा तो डूबते हुए साधु को बचाने का ही था।

जैन-धर्म ने तटस्थता को महत्त्व अवश्य दिया है, किन्तु वह हर जगह और हर परिस्थिति मे तटस्थ रहने का आदेश कदापि नही देता।

साधु को बचाने के लिये जल मे प्रवेश करने वाले सहधर्मी साधु को पुण्य-प्रकृति का बध हुआ या पाप-प्रकृति का ? अथवा उसे अन्तत निर्जरा ही हुई ? यह बात तो ध्यान मे रहनी ही चाहिए कि जब अन्त करण मे अनुकम्पा जगती है और करुणा की लहर उत्पन्न होती है, तब मनुष्य दयाभाव मे गद्‌गद हो जाता है और जब वह पूर्णतया गद्‌गद हो जाता है, तब असख्य-असख्यगुणी निर्जरा[७] कर लेता है। जब ऐसी स्थिति आती है तब हमारी भूमिका शुभसकल्प मे केन्द्रित होती है और जब हम तन्मयता के साथ किसी शुभसकल्प मे लीन होते है, तब निर्जरा के साथ-साथ

---

६ देखिये बृहत्कल्पसूत्र ६, ८।

७ पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करना, निर्जरा है।

पुण्य-प्रकृति का भी बध हो जाता है। जल मे प्रवेश करने से जो हिंसा हुई है, उससे इन्कार नही किया जा सकता। किन्तु मुख्य प्रश्न तो यह है कि उससे हुआ क्या ? क्या वह पाप का मार्ग है अथवा पुण्य का या निर्जरा का है ? इस स्थिति मे जैन-धर्म तो यह कहता है कि जो साधु पानी मे गया है, वह पानी के जीवो को मारने के लिए नही गया है और न वह मछलियो को ही पीडा पहुँचाने की भावना लेकर गया है, अपितु एक सयमी को बचाने की पवित्र भावना ले कर गया है। ऐसी स्थिति मे यदि कोई हिंसा हो गई है, तो वह किसी अनथ की सिद्धि के लिए नही हुई है। किसी जीव की स्वत हिंसा हो जाना एक बात है, और किसी की हिंसा करना दूसरी बात है। अनेक बार प्राय हम गलती से कह देते है कि अमुक की हिंसा की गई है, किन्तु होने और करने के भेद को समझने का प्रयत्न नही करते और इसी कारण किसी की स्वत हिंसा हो जाने पर उसे हिंसा का पापाचार समझ लेते है। स्वत होने मे और स्वय करने मे बहुत बडा अन्तर है और वह अन्तर भी बाहर से परिलक्षित होने वाले कार्य का नही, अपितु भावनाओ का ही विभेद है।

प्रमार्जन एव प्रतिलेखन

जैसा कि पहले कहा गया है कि साधु मकान को या जमीन को पूंजता है और पूंजते समय प्राय जीव इधर से उधर होते है, घसीटे भी जाते है, और उन्हे परिताप भी होता है। किन्तु कोई भी उससे पाप का बध होना नही कह सकता, क्योकि वह परिताप स्वत पहुच गया है, दिया नही गया है। यदि ऐसा न माना जाए तो पूंजना भी पाप हो जाएगा। हमारे पुराने आचार्यों की कुछ ऐसी धारणाएँ है कि उपाश्रय को प्रमार्जित करने वाले साधु को बेले[८] का लाभ होता है। एक बार उपाश्रय पूंजने से असख्य जीव मरते होगे। ऐसा मत समझिए कि जो आखो से दीखते है, वे ही जीव है, यहाँ पर हमारी स्थूलदर्शी आँखो का कोई मूल्य नही है, क्योकि वे तो सिर्फ स्थूल जीवो को ही देखती है। भले ही आपका आँगन रत्न-जटित क्यो न हो, आपको एक भी जीव वहाँ दिखाई न देता हो, फिर भी यदि आप सूक्ष्मदर्शक यत्र से देखेगे तो वहाँ हजारो चलते-फिरते प्राणी दिखलाई देगे। ऐसी दशा मे प्रतिदिन सुबह और शाम के समय **प्रतिलेखन** करने की आज्ञा क्यो दी गई है ? और उपाश्रय-भूमि का प्रमार्जन करना अनिवार्य क्यो बतलाया गया है ?

प्रतिदिन का प्रमार्जन हिंसा-रूप है—ऐसा सोच कर यदि प्रमार्जन करना बद कर दिया जाए तो क्या परिणाम होगा ? फिर कल और परसो क्या होगा ? जीव बढते जाएँगे या घटते जाएँगे ? जितनी-जितनी गदगी बढेगी, उसी अनुपात से जीवो की उत्पत्ति भी बढती जाएगी। ऐसी स्थिति मे आपको दो बातो मे से किसी एक के लिए तैयार रहना चाहिए। या तो आप उस मकान मे से अपने आपको हटा लें और

८ लगातार दो उपवास करना, बेला कहलाता है।

मकान छोड़ कर अन्यत्र चले जाएँ या चलने-फिरने और घूमने मे जो हिंसा हो, उसके भागी बनने को तैयार रहे।

इस दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि हमे केवल वर्तमान की ही हिंसा-अहिंसा को नही देखना चाहिए, अपितु भविष्य की हिंसा-अहिंसा का भी व्यापक दृष्टि से विचार करना चाहिए। बहुधा हमारी निगाह वर्तमान से ही चिपट कर रह जाती है और हम यह सोच लेते है कि यदि अभी प्रमार्जन करेगे तो हिंसा होगी! किन्तु यदि आप प्रमार्जन नही करेगे और मकान को यो ही गदा रहने देंगे तो दिनो-दिन गदगी बढती ही जायगी। उस गन्दगी से असख्य जीव उत्पन्न हो जायेगे और सम्पूर्ण मकान जीवो से कुलबुलाता दिखलाई देगा। फिर इसका क्या परिणाम होगा? जब आप चलेगे, फिरेगे तो आपकी इस प्रवृत्ति से कितने जीव मारे जाएँगे? तो अब आप विचार करे कि प्रतिलेखन और प्रमार्जन केवल वर्तमान की ही हिंसा को नही रोकता है, अपितु भविष्य की हिंसा से भी बचाता है। भविष्य मे जो भी हिंसा जिस रूप मे होने वाली है, उसे सर्वप्रथम रोकना और जीवो की उत्पत्ति न होने देना, एकमात्र विवेक का तकाजा है। इसीलिए तो जैन-धर्म कहता है कि पहले विवेक रखो, स्वच्छता एव सफाई रखो, और जीवो की उत्पत्ति न होने दो, तभी ठीक तरह हिंसा से बचाव हो सकता है। परन्तु खेद है कि आज का जैन-समाज केवल 'आज' होने वाली हिंसा का ही खयाल करता है और उससे बचना भी चाहता है, किन्तु वर्तमान के फलस्वरूप भविष्य म होने वाली महान् हिंसा के सम्बन्ध मे कुछ भी विचार नही करना चाहता! बस, यही गड़बडी का मुख्य कारण है। यही मूल मे भूल है।

प्राय कुछ लोग कहा करते है—प्रतिलेखन करेगे तो हिंसा होगी और प्रमार्जन करेगे तो पाप होगा। हम उनसे पूछते है—'हिंसा और पाप क्यो होगे?' तब वे कहते है—'जब पाप होता है, तभी तो आलोचना-स्वरूप ध्यान करते है! यदि पाप न होता, तो प्रतिलेखन करने के पश्चात् 'इरियावहिया' के रूप मे आलोचना की क्या आवश्यकता थी?'

जो ऐसा कहते है, वास्तव मे उन्होने जैन-धर्म के हृदय को स्पर्श नही किया, तभी वे भ्रम मे पड गये है। अब मैं पूछता हूँ कि आलोचना प्रतिलेखन की है या दुष्प्रतिलेखन की? वस्तुत सिद्धान्त तो यह है कि इस सम्बन्ध मे जो आलोचना की जाती है, वह प्रतिलेखन या प्रमार्जन की नही है, अपितु प्रतिलेखन या प्रमार्जन करते समय जो अयतना हुई हो, उसकी ही आलोचना है। प्रमार्जन तो किया हो, किन्तु उसे सावधानी के साथ नही किया हो। इसी प्रकार प्रतिलेखन किया हो, किन्तु वह भी ठीक तरह से नही किया हो, अर्थात्—इन क्रियाओ के करने मे जो अशुभाश आ गया है, उसी की आलोचना की जाती है। यदि ऐसा न माना जाए तो क्या शास्त्र-स्वाध्याय करने से भी पाप लगता है? नही, ऐसा तो नही है। वह आलोचना स्वाध्याय की आलोचना नही है, किन्तु स्वाध्याय करने मे यदि कोई असावधानी हुई हो, अशुद्ध उच्चारण किया गया हो, या कोई त्रुटि रह गई हो, तो उसकी ही आलोचना

है। इस प्रकार प्रतिलेखन के पश्चात् की जाने वाली आलोचना भी प्रतिलेखन की नही, अपितु ठीक तरह प्रतिलेखन करने की ही समझी जानी चाहिए।

जब इन बारीकियो पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाएगा तो स्वत स्पष्ट हो जाएगा कि जैनधर्म ने जो कुछ भी कहा है उसे हमने विवेक-बुद्धि से नही समझा और न ही उसे व्यवहार मे लाने की आवश्यकता अनुभव की। कुछ ऐसे भी लोग मिलते हैं जो बुहारी न देने के नियम बनाना चाहते है। यदि वे बना लें तो उसका परिणाम क्या होगा ? सुबह से शाम तक घर और द्वार मे गन्दगी फैली रहेगी। उस गन्दगी से कितने ही प्राणी उत्पन्न होगे और कितने ही इधर-उधर से आ कर जमा भी हो जायेंगे। यदि आगे भी ऐसा ही होता रहेगा तो या तो घर को कीडो-मकोडो के लिए ही छोड देना पडेगा, या चार दिन बाद बुहारी लगा कर बहुसख्यक जीवो की हिंसा का भाजन बनना पडेगा।

इस सम्बन्ध मे जैन-धर्म की स्पष्ट घोषणा है कि साधु अपने निवास-स्थान एव उपकरणो का प्रतिदिन प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करे, और यह निर्देशन केवल साधुओ तक ही सीमित नही, गृहस्थो के लिए भी है। यदि नियमित प्रतिलेखन और प्रमार्जन नही किया जाएगा, तो उससे होने वाले दो उपवासस्वरूप तप का लाभ भी नही होगा और घर की स्वच्छता भी नही रहेगी। यह नही समझना चाहिए कि धर्मस्थान के प्रमार्जन से तो बेले के तप का लाभ होता है और अपने खुद के मकान का प्रमार्जन करने से बेले का लाभ प्राप्त न हो कर उल्टा पाप ही होता है। जैन-धर्म किसी स्थान-विशेष मे धर्म नही मानता है, उसका धर्म तो कर्त्ता की भावना पर ही आश्रित है।

दृष्टि-परिवर्तन

जैन-धर्म दृष्टि-परिवर्तन की बात कहता है। वह कहता है कि यदि आप मकान की सफाई कर रहे है तो दृष्टि बदल कर कीजिए। सफाई करने मे एक दृष्टि तो यही हो सकती है कि मकान साफ-सुन्दर दिखाई देगा, साफ-सुथरा मकान देख कर लोग आपकी प्रशसा करेंगे। इस दृष्टि मे शृङ्गार की भावना है। दूसरी दृष्टि यह है कि सफाई रखने से जीवो की उत्पत्ति नही होने पाएगी, फलत जीवो की व्यर्थ की हिंसा से स्वत बचाव हो जाएगा। साथ ही प्रमार्जन करते समय विवेक रखा जाए, अधाधुन्धी न मचाई जाए, प्रमार्जन और सफाई के साधन भी कोमल रखे जाएँ, इतने कठोर न हो, जिससे उनकी चपेट मे आकर जीव मारे जाएँ। यदि कोई जीव झाडन मे आ जाए तो उसे सावधानी के साथ अलग रख दिया जाए। इस प्रकार घर की सफाई करते समय यदि वर्तमान मे भी विवेक-बुद्धि का प्रयोग किया जाए और भविष्य की अहिंसा का भी विचार किया जाए तो वहाँ धर्म होगा, पाप-कर्म की निर्जरा होगी।

एक बहन भोजन-पान आदि की समस्त सामग्री को खुला रख छोडती है। कही घी ढुल रहा है, तो कही तेल फैल रहा है, कही पानी मे मक्खियाँ गिर रही है, तो

कही दाल मे चीटियाँ घूम रही हैं । दूसरी बहन विवेक के साथ सब चीजो को व्यवस्थित रूप मे रखती है। सबको भलीभाँति ढक कर सही तरीके के साथ रखती है। ऐसी व्यवस्था करने मे भी एक वृत्ति तो यह हो सकती है कि मेरी चीजें खराब न हो जाएँ और दूसरी वृत्ति यह हो सकती है कि जीवो की हिंसा न हो जाए, किसी प्रकार की अयतना न होने पाए। सावधानी दोनो जगह रखी जाती है, किन्तु दोनो मे आकाश और पाताल के अन्तर जैसा बहुत बडा अन्तर है। पहली व्यवस्था मे वृत्ति मे मोह है, ममत्व है और स्वार्थ है। दूसरी व्यवस्था मे वृत्ति मे जीवो पर दया है, अनुकम्पा है। बस इसी भावना के भेद से ही तो फल मे भी भिन्नता आती है। जहाँ मोह, ममता और स्वार्थ है वहाँ कर्म-बन्ध है, और जहाँ अनुकम्पा है, वहाँ धर्म है, निर्जरा है। अस्तु, जैन-धर्म कहता है कि अनुकम्पा की भावना से यतना करने पर भी चीज तो सुरक्षित रहेगी ही, फिर व्यर्थ ही मोह-ममता रख कर साधना के उच्चशिखर से नीचे क्यो उतरते हो ? काम करते समय, निर्जरा-भाव की जो पवित्रगगा बह रही है, उससे क्यो वचित होते हो ?

चीजें यदि अव्यवस्थित रहेगी तो खराब होगी, उनमे मक्खियाँ गिरेगी और कष्ट पाएँगी चीजे सडेगी और असख्य जीवो की हिंसा होगी। इस प्रकार तनिक-सी असावधानी महान् हिंसा की परम्परा को जन्म देती है। इस तरह जैन-धर्म दृष्टि-परिवर्तन की सिफारिश करता है। फिर चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, वह चाहे धर्म-स्थान मे हो या अपने घर मे, दृष्टि के बदलते ही सृष्टि भी बदल जाती है। काम करते हुए भी यदि धर्म-बुद्धि रखी जाती है तो निश्चित ही वह मोक्ष के मार्ग पर बढाने वाली होती है। इस प्रकार जहाँ कही भी विवेकमय जीवन होगा, वहाँ प्रत्येक क्षण निर्जरा की जा सकती है।

जब किसी को बोलना आवश्यक हो तो बोलना चाहिए। जीभ पर ताला लगाए फिरने की आवश्यकता नही है, किन्तु बोलने के साथ सयम सदैव अपेक्षित है। बोलते समय यह ध्यान रहना चाहिए कि उसके बोलने से किसी को चोट तो नही पहुँच रही है ? किसी का अनिष्ट तो नही हो रहा है ? किसी की कुछ भलाई भी हो रही है या नही ? यदि इस प्रकार '**भाषा-समिति**' का ख्याल रख कर बोला जा रहा है तो समझा जा सकता है कि निर्जरा हो रही है।

यदि चलने की जरूरत आ पडी है तो आदमी चल सकता है। जैनधर्म उसके पैरो को बेडियो से नही जकडता। वह सबके लिए पादपोपगमन[६] सथारे का विधान नही करता। वह तो यही कहता है चलने समय देख कर चलना चाहिए। वस्तुत

६ जीवन के अन्तिम काल मे समाधिमरण के लिए वृक्ष से टूट कर नीचे गिरी हुई शाखा के समान निष्क्रियरूप से एक स्थिति मे रह कर आमरण-अनशन करना, पादपोपगमन सथारा कहलाता है।

विवेकयुक्त चलना ही गति-क्रिया की पवित्रता है। और उसके अनुसार ऐसी कोई भिन्नता भी नही है कि साधु देख कर चल रहा है तो उसे धर्म होगा और अन्य किसी से नही होगा ? देख कर चलने पर साधु की भाँति सामान्य व्यक्ति को धर्म होगा, निर्जरा होगी।

आवश्यकतानुसार साधारण व्यक्ति घर की चीजे इधर से उधर रखते है और साधु भी अपनी वस्तुएँ यथास्थान रखता है, तो क्या पात्र आदि को सयमित ढग से इधर से उधर रखने मे साधु को ही धर्म होगा और दूसरो को नही ? कदापि नही। यदि विवेक रखा जाए और जीव-दया की सद्भावना स्थिर की जाए तो साधु के समान अन्य लोगो को भी निर्जरा अवश्य होगी।

जैन-धर्म का विधान है कि यदि अहिंसा की भावना रखी जाए, प्रतिक्षण मन के अन्दर दया की झकार उठती रहे और इस प्रकार जीवन समिनिमय हो कर चलता रहे तो बाहर मे कार्य की मात्रा 'एक' होने पर भी फल 'दो' मिल जाएँगे,[१०] अर्थात् व्यक्ति के दैनिक व्यवहार की सामग्री भी सुरक्षित रहेगी और साथ-साथ वह अहिंसा का अमृत भी पीता जाएगा। इस सम्बन्ध मे कहा गया है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म यदि अहिंसा को लूली-लँगडी और एक कोने की दर्शनीय वस्तु बना कर रखने से वह जी नही सकती। निश्चय ही वह सडेगी और गलेगी। उसे क्रियात्मक रूप मे जीवन के हर क्षेत्र मे ले जाइए। यदि चलना है तो अहिंसा को उसमे जोड दीजिए। आप जीवन के जिस किसी भी क्षेत्र मे जो भी प्रवृत्ति कर रहे है, उस प्रवृत्ति के साथ अहिंसा के सकल्प को सयुक्त कर दीजिए। फिर देखिए आपकी प्रवृत्ति मे एक नया जीवन और नया प्राण आ जाएगा। अपनी अन्तरगवृत्ति को पवित्र बना डालिए, निर्जरा अवश्य होगी।

यदि किसी प्रवृत्ति मे अहिंसा की दृष्टि नही जोडी गई है, तो वह हिंसा ही कहलाएगी, चाहे उसके कारण हिंसा हो रही हो या नही हो रही हो। क्योकि प्रमाद-भाव स्वय एक प्रकार की हिंसा है, और अप्रमाद-भाव अहिंसा है।

आत्मरक्षा

इसी सम्बन्ध मे एक सुन्दर प्रकरण भी है—वर्तमान की अहिंसा के सतुलन मे भविष्य की जो बडी हिंसा आने वाली है, उसे निमत्रण दिया जाए या नही ? आचारागसूत्र मे एक प्रसग आया है।[११]—एक पच-महाव्रतधारी साधु है, जो विहार कर रहा है। पहाडो के बीच से एक सँकडी पगडडी है। वह देख-देख कर चल रहा है, किन्तु अचानक ठोकर लग जाती है, पैर लडखडा जाते है और वह गिरने लग जाता है। गिरते समय साधु क्या उपाय करे ? यदि वहाँ कोई वृक्ष है तो उसे पकड ले, बेल है तो उसे पकड ले और यदि कोई यात्री आ-जा रहे हो तो उनके हाथ के

---

१० 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा'

११ देखिये आचारागसूत्र २, ३, २

सहारे भी ऊपर आ जाए, अर्थात्—ऐसी स्थिति मे साधु वृक्ष का या लता का सहारा ले कर भी आत्मरक्षा कर सकता है।

शास्त्र का उपर्युक्त आत्मरक्षा सम्बन्धी विधान सक्षेप मे अपनी बात कह कर विराम पा लेता है। किन्तु हमारी चिन्तन-धारा मे अनेक प्रश्न खडे हो जाते हैं—जैन-साधु तीन करण तीन योग से हिंसा का त्यागी है। अत उसे बेल या वृक्ष को छूने की आज्ञा नही है, क्योकि उनको छूने से असख्यजीवो की हिंसा हो जाती है। अस्तु, वह आत्मरक्षा के लिए दूसरे प्राणियो की हिंसा कैसे कर सकता हैं ? साधु की प्राणरक्षा बडी है या अहिंसा बडी है ? साधु के लिए जो ऊपर कहा गया है कि ऐसे अवसर पर वह वृक्ष आदि को पकड कर प्राण बचा ले, यह बात कहाँ तक ठीक है ?

साधु को वृक्ष आदि पकड कर प्राण बचा लेने का विधान करने वाला यह पाठ आचाराग का है। उससे इन्कार नही किया जा सकता। आचार्यों ने भी विचार किया है कि गिरते समय साधु जो वृक्ष आदि का सहारा ले कर ऊपर आता है, उसमे हिंसा नही, अपितु अहिंसा है। वह अहिंसा कहाँ से हो गई ? निस्सन्देह साधु हिंसा के माध्यम से ऊपर आता है, किन्तु वह जीवन की लालसा से या मोह से प्रेरित हो कर नही आता है। जीवन-रक्षा के सम्बन्ध मे तो बात यह है कि मस्तक पर नगी तलवार भी क्यो न चमक रही हो, किन्तु साधु अपना धर्म नही छोडता। साधु के लिए हँसते-हँसते प्राणो का विसर्जन कर देना सहज है, किन्तु अहिंसाधर्म को छोड देना सहज नही। जब यह स्थिति है तो प्रश्न है कि फिर वृक्ष या बेल पकडने की स्वीकृति क्यो दे दी गई है ? इसका मुख्य कारण यह है कि असावधानी से जब साधु गिर पडता है तो उसका शरीर बे-क़ाबू हो जाता है। बे-काबू शरीर लुढकते-लुढकते कितनी दूर जा कर गिरेगा, यह कौन कह सकता है ? जितनी दूर भी वह लुढकता जाएगा, उतनी ही दूर तक उसके शरीर-पिण्ड के द्वारा न जाने कितने एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा होगी। इसके अलावा गिरने और लुढकने पर यदि अग-भग हो गया तो जब तक वह साधु जीवित रहेगा, तब तक सडता रहेगा, उष्ण और शीत के प्रकोप से तथा हिंसक जानवरो द्वारा पीडित होने पर उसे आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान भी पैदा होगे। यदि इसी दशा मे उसकी मृत्यु होती है, तो उसके निर्मल भावो की आत्म-हिंसा होने से वह दुर्गति मे ही जाएगा।

अतएव जिस वृक्ष का सहारा लिया गया है, वह जीवन के मोह और ममत्व से नही लिया गया है, वृक्ष या वृक्ष के आश्रित जीवो की हिंसा करने के लिए भी उसे नही पकडा गया है। उसके एक भी फल, फूल या पत्ते से साधु को कोई प्रयोजन नही है, किन्तु आगे होने वाली भयकर हिंसा को बचाने के लिए ही उसने वृक्ष को पकडा है। इस विचार की स्पष्टता निम्नलिखित दृष्टान्त पर से समझी जा सकती है—

"कोई साधु जब बीमार पडता है तो दवा खाता है। क्यो खाता है ? क्या शरीर की रक्षा के लिए ? सम्भव है, किसी मे आज यह वृत्ति भी हो, किन्तु शास्त्रकार

तो यह कहते हैं कि यह वृत्ति दोषपूर्ण है। वे दवा लेने की आज्ञा अवश्य देते हैं, किन्तु इसलिए नही कि तुम्हे शरीर-रक्षा के लिए औषधिसेवन करना है। उनका अभिप्राय तो यह है कि यदि दवा नही लोगे तो शरीर मे बीमारी फैलेगी और एक दिन वह तुम्हे बुरी तरह जकड लेगी। इतना ही नही, आखिर तुम अपना सन्तुलन भी खो बैठोगे। फलत तुम्हे आर्त-ध्यान होगा, रौद्रध्यान भी होगा और अनेकानेक दुस्सकल्प भी होगे। इस दुराशापूर्ण विषम स्थिति से बचने के लिए ही दवा ली जाती है।

इस प्रकार यदि हम सूक्ष्मदृष्टि से देखे तो ज्ञात होगा कि भविष्य की हिंसा को रोकने के लिए प्रतिलेखन किया जाता है, प्रमार्जन भी किया जाता है किन्तु यह सब क्षणभगुर जीवन की लोलुपता से नही, अपितु आगे होने वाली विराट् हिसा को रोकने के लिए किया जाना है।

जैन-धर्म अहिसा के विषय मे जो इस प्रकार विवेचन करता है और अहिसा की दृष्टि को सामने रख कर प्रवृत्ति का विधान प्रस्तुत करता है, उसका मन्तव्य प्रवृत्ति का पूरी तरह परित्याग करना नही है, अपितु जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति मे अहिंसक दृष्टिकोण पैदा करना है। जीवन-व्यापार मे प्रवृत्ति मे कोई अविवेक या भूल होती है तो उसी के लिए 'मिच्छामि-दुक्कड' दिया जाता है। इस प्रकार अब यह पूर्णतया स्पष्ट समझा जाना चाहिए कि 'अहिसा' केवल निवृत्ति म ही नही है, अपितु प्रवृत्ति मे भी विद्यमान है। □

१३ | अहिंसा की विधेयात्मक त्रिवेणी

पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व के भारत म हिंसा का उतना क्रूर और नग्न ताण्डव तो नही था कि मनुष्य के जीवन और विकास की समावनाएँ ही समाप्त हो जाएँ, किन्तु राष्ट्रीय जीवन जैसा चाहिए, वैसा शान्त नही था। एक राज्य दूसरे राज्य के प्रति सदा आशकित और भयभीत रहता था। अवन्ती का चन्डप्रद्योत जैसा तानाशाह अपनी असीम राज्य-लिप्सा और काम-लिप्सा के लिए उस समय पूरे पूर्व-दक्षिण भारत मे बदनाम था। मगध, वत्स, पाँचाल और सिन्धु-सौवीर तक के राजवशो के साथ उसके युद्ध और आक्रमण की घटनाएँ अनेक बार घट चुकी थी।

इधर मगध का महत्त्वाकाक्षी कूणिक भी अपने पिता बिम्बिसार की हत्या करके राज-सिंहासन पर बैठा। और कुछ ही दिनो बाद उसने वैशाली-गणराज्य के साथ वह भयकर युद्ध छेडा कि उस समय के दक्षिण-पूर्व भारत का अपार वैभव युद्ध की लपटो मे स्वाहा हो गया।

निरयावलिका और भगवती आदि सूत्रो से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर ने इन युद्धो का विरोध किया था। युद्धोन्माद मे पागल होने वाले सैनिको की इस अन्ध राष्ट्र-भक्ति को भी उन्होने खुल कर चुनौती दी थी कि "युद्ध मे मृत्यु प्राप्त करने वाला स्वर्ग मे जाता है।"

वे जन्मत राजकुमार थे, किन्तु राजाओ की इस अनियन्त्रित युद्ध-लिप्सा के साथ सदा उनका विरोध रहा। अनेक राजा व गणाधिनायक उनके भक्त भी थे, किन्तु उन्होने उनकी नीति के साथ कभी भी सहमति नही की, अपितु कुछ बातो मे तो सदा अपना असहयोग ही प्रगट करते रहे। राजवशो के साथ मधुर-असहयोग का ही एक उदाहरण है कि उन्होने कभी भी राजाओ के घर पर भिक्षा ग्रहण नही की। भिक्षुओ को भी उन्होने राज-पिण्ड ग्रहण करने का निषेध कर दिया। बिना किसी विशिष्ट हेतु के राज-महलो मे भिक्षुओ का आना-जाना भी निषिद्ध था।

और युद्ध से भी बडी आशका यह थी कि मनुष्य नित्य-प्रति के अपने साधारण सामाजिक जीवन मे भी आश्वस्त नहीं था। एक-दूसरे की हत्या, अग-छेदन और धार्मिक अन्धविश्वासो के कारण नरबलि, पशुबलि आदि के रूप मे हिंसा के क्रूर दृश्य मानवीय चेतना को कम्पित करते रहते थे। महावीर ने यज्ञवाद का निरन्तर विरोध किया। यज्ञो मे होने वाली नरबलि व पशुबलि को उन्होने ब्राह्मण का कर्म नहीं, किन्तु म्लेच्छकर्म (अनार्यकर्म) कहा। जब देखा कि मानव की अवस्था यज्ञ के

साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध बनाए रखना चाहती है, तो जन-मानस के ज्ञाता महावीर ने यज्ञ को अध्यात्मिक रूप मे प्रस्तुत किया और कहा—'इस यज्ञ मे अपने मन के पशुओ (दुवृत्तियो) की ही बलि दो ।'

भगवान् महावीर ने जीवन की शान्ति और विकास के लिए अहिंसा को तीन विधेयात्मक रूपो मे व्यक्त किया—

१—**समता**
२—**प्रेम**
३—**सेवा**

प्रत्येक प्राणी को आत्म-तुल्य समझो, यह समता का पहला उद्घोष था और सामाजिक भावना का मूल आधार ।

जो व्यक्ति निकट परिचय मे आते है, उनके साथ विग्रह और विरोध मत करो। प्रत्येक व्यक्ति को अपना बन्धु समझो, और उसके साथ मैत्री-भावना का विकास करो । यह प्रेम का सन्देश था ।

सेवा का तीसरा उद्घोष सामाजिक सम्बन्धो की मधुरता और आनन्द का मूल स्रोत है । जहाँ दो व्यक्तियो म परस्पर सहयोग नही, वहाँ सामाजिक सम्बन्ध कितने दिन टिकेंगे ? सेवा के क्षेत्र मे महावीर ने जो सबसे बडी बात कही, वह यह थी कि—"मेरी उपासना से भी अधिक महान् है—किसी वृद्ध, रुग्ण और असहाय की सेवा। सेवा से व्यक्ति साधना के उच्चतम पद तीर्थंकरत्व को भी प्राप्त कर सकता है ।"

अहिंसा की यह त्रिवेणी शक्ति के अहकार की कलुषता को धोती है, प्रेम और मैत्री की मधुरता सरसाती है, और सेवा-सहयोग की धरती को उर्वरा बना कर सर्वतो-मुखी विकास की बहुमूल्य फसले पैदा करती है ।

समता और प्रेम के विविध रूप

जीवन की पवित्रता के लिए व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की शान्ति एव समृद्धि के लिए अहिंसा एक अत्यन्त महत्त्व का माग है, यही लोक के अभ्युदय का मन्त्र है ।

हमारा जीवन दो परिधियो मे बँटा हुआ है । 'स्व' और 'पर' मे । एक ओर 'स्व' है, दूसरी ओर 'पर' । मनुष्य एक ओर 'स्व' को ले कर जीवन की यात्रा करता जा रहा है, सोचता है, जो कुछ भी है, वह सब उसके 'स्व' के लिए है । 'स्व' की सुख-शान्ति तथा समृद्धि ही उसके अपने लिए एकमात्र महत्त्व की चीज है ।

दूसरी ओर 'पर' है । 'पर' उसके लिए पराया है, बेगाना है । 'पर' मे उसकी कोई रुचि नही है, दिलचस्पी नही है । अपने सुख, समृद्धि तथा अभ्युदय के लिए 'पर' का बड़े से बडा, बलिदान लेने मे वह हिचकिचाता नही । पराई झोपडी मे आग लगा कर अपने हाथ सेकने मे उसे कोई ग्लानि या सकोच नही, बस यही 'स्व' और 'पर' के सघर्ष की जड है । यहाँ आ कर 'स्व' और 'पर' के बीच बहुत बडा भेद खडा हो जाता है ।

संघर्ष की जन्मभूमि

मनुष्य के जीवन मे प्रकृति की ओर से जो कष्ट एव पीडाएँ आती है, वे तो बहुत ही अल्प एव साधारण होती है, उनसे सघर्ष करना कोई कठिन नही है। किन्तु अधिकतर पीडाएँ 'स्व' और 'पर' की टक्कर से ही पैदा होती है। 'स्व' के विस्तार की कामना ही पीडाओ की जड है, वही सघर्ष की जन्मभूमि है। मनुष्य 'स्व' के सुख के लिए दूसरे के सुख को छीनना शुरू करता है। सोचता है—उसके सुख को लूट कर ही मैं सुखी हो सकता हूँ। किन्तु वह यह नही सोचता कि वस्तुत देह की दृष्टि से तू भी तो 'पर' है। यह शरीर 'स्व' कहाँ है? आत्मा से तो 'पर' ही है। यह भी तो आखिर 'स्व' के अभ्युदय मे बाधक है। आत्मा के सिवाय सभी 'पर' है।

'स्व' की अनुभूति को यदि विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया जाए तो 'स्व' व्यापक बन जाता है, 'पर' मे स्व की अनुभूति जगने लगती है। सघर्ष यही समाप्त हो जाता है और अहिंसा का जन्म होने लगता है। जिस प्रकार मेरा 'स्व' पीडाओ से, चिन्ताओ से व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार 'पर' भी पीडा और चिन्ताओ से व्याकुल होता है। जब तक मनुष्य 'पर' के चैतन्य की सत्ता स्वीकार नही करता, तब तक उसके हृदय से सघर्ष की भावनाएँ समाप्त नही होती, आक्रमण एव दूसरे के सुख को लूटने की प्रवृत्ति खत्म नही होती और न पर के आनन्द की पवित्र भावना ही जग सकती है। जो दूसरो के जीवन मे विघ्न डालना चाहता है, उद्वेग पैदा करना चाहता है, उसके स्वय के जीवन मे भी क्या विघ्न और उद्विग्नता नही आयेगी?

पाप और हिंसा क्या है? दूसरे की जीवन-यात्रा मे बाधा उपस्थित करना ही तो पाप है, यही हिंसा है। इस हिंसा से दूर रहने का उपाय है—'समता', 'सर्वत्र सम-दर्शन'। भगवान् महावीर से पूछा गया—"भगवन्! हम पापो से मुक्त होना चाहते है, किस मार्ग का अवलम्बन करें?"

उन्होने कहा—"जो[1] समस्त प्राणियो को आत्मभाव से देखता है, जिसकी दृष्टि सम अर्थात् समतामय हो गयी है, जो हर आत्मा मे अखण्ड चैतन्य का दर्शन करता है, और जिसने आश्रवो, एव पापो के सब द्वार रोक दिये है, उस इन्द्रियविजेता को पाप कर्म नही बन्धता।

पापो से मुक्त होने का यह एक सही मार्ग है। कुछ लोग कहते है—'चलो, अमुक देवता की मनौती कर लो, उस देवी को बलि चढा दो, पडित को कुछ दान-दक्षिणा दे दो और भेंट-पूजा चढा दो, बस पापो से मुक्ति हो जायेगी।'

मैं समझता हूँ, यह अपने आपसे आँखमिचौनी है। पापो से न कोई दैवी शक्ति

---

१ सव्वभयप्पभूयस्स, सम्म भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दतस्स पाव-कम्म न बधइ॥

छुटकारा दिला सकती है, और न कोई पडित, पण्डे, और तो क्या, स्वय ईश्वर भी मनुष्य को उसके पाप से मुक्त नही कर सकता।

पाप करके पाप-फल मे बचने की वृत्ति मनुष्य मे बडी प्रबल है। शरीर पर घासलेट छिडक कर आग लगा लेता है और कहता है—'भगवन्! जलाना मत!' जलने से घबराता है तो पहले शरीर मे आग ही क्यो लगाई? पाप के परिणाम से बचने की यह भावना ही मनुष्य को भटका रही है। वह सोचता रहता है, पाप करके भगवान् से क्षमा माँग लेगे।

मैंने एक बार एक मुस्लिम शायर की शायरी सुनी। वह बडे ऊँचे स्वर मे मस्ती से गा रहा था। उसका भाव था कि 'हे मुहम्मद! मैं गुनाह कर रहा हूँ। क्यो कर रहा हूँ, कि मुझे तेरा भरोसा है। तेरे भरोसे पर ही ये गुनाह किये जा रहे है। खुदा के यहाँ तू मुझे खडा मिलेगा और मेरे सब गुनाह माफ करवा देगा।'

मुझे बडा आश्चर्य हुआ इसे सुन कर। इस प्रकार की कल्पनाएँ तो ससार मे बुराई और भ्रष्टाचार को और अधिक प्रोत्साहन देती है। भगवान् की दयालुता की ओट मे ससार अपनी बुराइयाँ पालता रहता है। हजारो-हजार गुनाह करके, जीवन-भर पाप करके, दो घडी भगवान् की प्रार्थना कर ली, नमाज पढ ली, कि सब गुनाह और पाप माफ हो गए? भगवान् से कितना सस्ता सौदा कर रखा है आदमी ने?

भारत का आध्यात्मपक्षी दर्शन और चिन्तन कहता है—'तुम्हारी यह उपासना गलत है। क्षमादान का यह मिथ्या विश्वास तुम्हे भटकाता रहा है। प्रकाश की मनौती करने से कभी अधकार खत्म हुआ है? दीपक की आरती उतारने से और उसको दण्डवत् नमस्कार करने से क्या वह आपके घर मे प्रकाश फैला देगा? प्रकाश के लिए दीपक जलाना होगा। हिंसा के सामने अहिंसा का, असत्य के सामने सत्य का और वासना के सामने सत्य का दीपक जलेगा। तभी मन का अन्धकार मिट सकेगा।

भगवान् महावीर ने पाप से मुक्त होने का एक ही मार्ग बताया है और वह है—आश्रव को रोकना। आश्रव आत्मा के छिद्र है। इन छिद्रो से पाप झर कर आत्मा के छिद्र मे प्रविष्ट होता है, आत्मा को कलुषित बनाता है। जब तक आश्रव को नही रोका जाता है, पाप से मुक्ति कैसे हो सकती है?

और आश्रव क्या है? हिंसा, झूठ, चोरी, वासना, परिग्रह, मिथ्यात्व, कषाय और प्रमाद आदि ही तो आश्रव है। आश्रव को रोकने का उपाय है—समता, आत्म-दर्शन। जब प्रत्येक आत्मा मे चैतन्य का दर्शन होने लगता है, तब आत्म-दृष्टि स्फुरित होती है।

लोग परमात्मा के दर्शन की बात करते है। मैं कहता हूँ, जब तक आत्म-दर्शन नही होगा, परमात्म-दर्शन कैसे होगा? प्राणिमात्र के प्रति हमारी दृष्टि 'स्व' की होनी चाहिए। जो मेरा है, मेरा सुख है, वही सबका है, सबका सुख है और जो सबका सुख है, वही मेरा सुख है। यही आत्म-दृष्टि है। इस दृष्टि का जागरण होने से दूसरो को

पीडा देने की वृत्ति समाप्त हो जाती है। इस स्थिति मे द्वैत नही होता। कोई पराया रहता ही नही, और जब पराया नही, तो फिर भय भी नही।[२] भय दूसरे से ही होता है, पराये से होता है। आप जगत मे बैठे है और आपके मन मे विश्वास है कि यहा दूसरा कोई नही, तो भय किस बात का? मन के आकाश मे भय के बादल तब गहराते हैं, जब आपको लगता है कि यहाँ कोई पर है, दूसरा है—कोई मेरे से भिन्न है।

पर की कल्पना से भय होता है। भगवान् महावीर ने कहा है—आत्मा के लिए आत्मा दूसरा नही होता, 'पर' नही होता। 'एगे आया'—आत्मा एक ही है। यह अखण्ड चैतन्य की दृष्टि है, अद्वैत की भावना है। अद्वैत की इस भूमिका पर ही हिंसा और असत्य मे आत्मा विरत हो कर अहिंसा और सत्य से अनुप्राणित होता है। हिंसा-रूप मिथ्याचारित्र, अहिंसारूप सम्यक्-चारित्र मे परिणत हो जाता है और असत्य, सत्य का रूप ले लेता है। यही अध्यात्म की दृष्टि है।

दूसरी नैतिक दृष्टि है—प्रेम, जिसमे अहिंसा की भूमिका अद्वैत पर नही, किन्तु द्वैत पर टिकी होती है। पर यह द्वैत विभेदक नही हो कर समायोजक होता है, उसमे मित्रता और बन्धुता की भावना का आधार होता है। **'मित्ती मे सव्वभूएसु'** और **'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'** जैसे सिद्धान्तो का जन्म इसी दृष्टि से होता है। जब समस्त प्राणी हमारे मित्र हैं, तो फिर शत्रुता और विरोध की कल्पना ही नही उठती।

जीवन मे इस अद्वैत और मैत्री की दृष्टि का विकास होना बहुत आवश्यक है। हमारी धर्माराधना और अहिंसा का यही मूल आधार है।

मैं आपसे कह रहा था कि अखण्ड चैतन्य का दर्शन 'स्व' को विस्तृत करने से होगा। 'स्व' और 'पर' को दो भिन्न कोणो पर खडा रख कर नही, किन्तु उन्हे एकत्र करके देखने पर ही जीवन मे सर्वत्र प्रेम, सद्भाव और समता का विकास होगा। यही हमारे जीवन के अभ्युदय की आधारभूमि है। यह अद्वैत या मैत्री ही हिंसा से मुक्ति का राजमार्ग है, यही 'स्व' (आत्मा) मे स्थिर होने का उपाय है।

सेवा अहिंसा का विधेयात्मक रूप

मानवजीवन अनेक विशेषताओ का केन्द्र है। असख्य-असख्य दुर्लभ सद्गुणो का पिण्ड है। हमारे साहित्य मे और तत्त्वचिंतन मे इसका जो महत्त्व है, वह इन्ही विशेषताओ के कारण है। इस देह के आवरण मे अनन्त चैतन्य का दिव्यरूप छिपा हुआ है। विराट् शक्तियो का केन्द्र इसी मानव-देह मे है। इसीलिए भारतीय चिंतन ने कहा है—ईश्वर के जितने रूप है, उतने ही रूप मनुष्य के है। ईश्वरीय शक्ति जितनी व्यापक है, उतनी ही व्यापक एव विराट् मानवचेतना भी है। यही कारण है कि मनुष्य को ईश्वर का रूप माना गया है।

---

२ **द्वितीयाद् वै भय भवति**—उपनिषद्

सेवा एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण

अनेक गुणो के कारण मनुष्य-जीवन की महत्ता मानी गई है, उसमे एक महत्त्वपूर्ण गुण है—सेवा, जो अहिंसा की विधेयात्मक त्रिवेणी का एक अग है। एक-दूसरे के प्रति सद्भाव, एक-दूसरे व्यक्तित्व का आदर, समस्याओ को सुलझाने मे एक-दूसरे का सहयोग, स्नेह और समर्पण—ये सब सेवा के रूप है, ये अहिंसा और दया के ही विभिन्न पथ है।

भारतीय चिंतन न एक बहुत बडी बात कही है। वह ईश्वर को मनुष्य के भीतर देखना है और मनुष्य की पूजा को ही ईश्वरपूजा मानता है। आप जिसे ईश्वर की पूजा कहते है, उस पूजा के ये विभिन्न माध्यम हैं।

व्यक्ति जब अलग-अलग इकाइयो मे बँटा होता है, तो उसकी चेतना खडित व क्षुद्र होती है, किन्तु जब व्यक्ति अखण्ड इकाई के रूप मे समष्टि के साथ एकाकार हो जाता है, समष्टि मे समाहित हो जाता है, तो उसकी चेतना अखड व व्यापक रूप धारण कर लेती है। बंद बूंद जब तक अलग-अलग देखी जाती है, तब तक वह बूंद है, जब उसे सिंधु के साथ मिला दिया जाता है, तब बूँद सागर बन जाती है। व्यक्ति-चेतना को जब समष्टिचेतना के साथ मिला दिया जाता है, तो उसमे ईश्वरीय रूप जागृत हो जाता है। मेरे विचार मे मानवीय शक्तियो का जो अखण्ड रूप है, जो समष्टिगत चेतना है, वही ईश्वरीय रूप है। उस समष्टिगत चेतना की पूजा-सेवा ही ईश्वर-सेवा का प्रतीक है।

समष्टि-चेतना—एक प्रकार से भावनात्मक चतना है। यह तो सम्भव नही कि हम असख्य-अगणित व्यक्तियो की व्यक्तिश सेवा कर सकें, सेवा का यह व्यावहारिक रूप भी नही है। सागर मे स्नान करने का मतलब यह नही होता कि सागर के सम्पूर्ण जल का स्पर्श किया जाए, हर बूँद और हर लहर को छुआ जाए। सागर के एक कोने पर कही भी स्नान करने से, कही भी डुबकी लगाने से सागर-स्नान का महत्त्व मिल जाता है। क्योकि सम्पूर्ण सागर के साथ उसका भावनात्मक सम्पर्क है। समष्टि-चेतना से भी यही अभिप्राय है।

सम्पूर्ण समष्टिचेतना के साथ हमारा एक भावनात्मक सम्पर्क है, एक अखड सद्भाव है। हमारे सकल्पो मे—'**शिवमस्तु सर्वजगत**' का विद्युत् प्रवाह दौडता है। किन्तु इन सकल्पो का प्रारम्भ तो हम क्रमश व्यक्ति, परिवार एव समाज से ही करना होता है। व्यक्ति की सेवा करते हुए भी व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप मे नही, बल्कि समष्टि-रूप मे देख कर चलना—यह हमारे सकल्प की विराट्ता है। सकल्प मे जब इतनी विराट्ता होती है, तभी व्यक्ति की सेवा, मानव की पूजा, ईश्वर-सेवा एव ईश्वर-पूजा का रूप ले सकती है।

सेवा मनुष्य को ईश्वररूप मे देखने की दृष्टि

रामायण मे वशिष्ठ एव राम का एक बडा महत्त्वपूर्ण सवाद आता है। महर्षि

वशिष्ठ भारतीय तत्त्वचिंतन के प्रतिनिधि है, धर्मों के अधिकारी प्रवक्ता है। उनसे राम भारतीय लोकजीवन के प्रतिनिधि बन कर पूछते हैं—"महाराज! ईश्वर की पूजा कैसे की जाती है?"

राम के प्रश्न के उत्तर मे वशिष्ठ ने कहा—"जिस किसी भी रूप मे, जिस किसी भी साधन से, जिस किसी भी प्राणी की आत्मा को तृप्त करना, बस यही ईश्वर की पूजा है"[3]

महर्षि वशिष्ठ का यह उत्तर भारतीय चिंतन का एक चमकता हुआ पृष्ठ है। इस उत्तर ने ईश्वर-पूजा के सम्बन्ध मे चली आई धारणाओ को नई दृष्टि दी है। मानव-चेतना को ही क्या, प्राणिमात्र की चेतना को, बिना किसी भेद-भाव के, बिना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के ईश्वरीय प्रतिष्ठा दी गई है। ईश्वर की पूजा एव भक्ति को विराट् रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

मानवसेवा ही प्रभुसेवा

पीडित की सेवा तुच्छ नही है। वह एक महती उदात्त भावस्थिति है। रोगी, दीन, दु खी, पीडित की सेवा को भगवान् की पूजा-उपासना से कम नही समझना है, अपितु अधिक ही समझना है। यह सर्वाधिक पवित्र कर्त्तव्य है।

इस सन्दर्भ मे भारतीय सस्कृति का यही स्वर, कुछ दूसरे रूप मे महाश्रमण महावीर की वाणी से मुखरित हुआ है। गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन्! एक व्यक्ति आपकी सेवा करता है, अपना सर्वस्व आपके चरणो मे समर्पित कर देता है, और एक दूसरा व्यक्ति है, जिसे ग्लान, रोगी एव अन्य पीडितो की सेवा करते हुए आपकी सेवा मे आने की फुरसत भी नही मिलती है—तो इन दोनो मे से आप किसको अच्छा मानेगे, किसको धन्यवाद देगे?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! जो व्यक्ति ग्लान, रोगी एव पीडितो की सेवा करता है, उसे मै साधुवाद देता हूँ।"[४]

गौतम के मन को गुत्थी नही सुलझी, उन्होने पुन पूछा—"भगवन्! ऐसा क्यो? कहाँ आपकी पूर्ण विकसित भगवच्चेतना, महान् आत्मा! और कहाँ वह सामान्य प्राणी! आपकी तुलना मे उसकी सेवा का क्या महत्त्व है?"

प्रभु ने कहा—"गौतम! मुझे अपनी देह की पूजा नही चाहिए। मैं तो सर्वसाधारण चैतन्य की सेवा को ही अपनी सेवा मानता हूँ। मेरी आज्ञा की आराधना ही मेरी आराधना है, मेरा दर्शन और मेरी सेवा-पूजा है।"[५]

३ "येन केन प्रकारेण, यस्य कस्याऽपि देहिन
सतोष जनयेद् राम, तदेवेश्वरपूजनम् ॥"—योगवाशिष्ठ

४ जे गिलाण पडियरइ, से धन्ने। —आवश्यक हारीभद्री टीका

५ "आणाराहण दसण खु जिणाण"। ,, ,, ,,

आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रभु महावीर की इस दिव्यवाणी को उन्ही को सम्बोधित करते हुए वीतरागस्तोत्र मे कहा है—[६] हे वीतराग प्रभो ! तुम्हारी पूजा-उपासना से तुम्हारी आज्ञाओ का परिपालन कही अधिक श्रेय है। और प्रभु की आज्ञा है—**मैत्री** और करुणा। इन्ही का मूर्तरूप है—जनसेवा ! इसलिए कहा जाता है—'**जनसेवा ही जिनसेवा**' है।

भारतीय सस्कृति मे सेवा का यह उद्घोष आप कही भी सुन लीजिए, चारो ओर प्रतिध्वनित होता सुनाई देगा। अहिंसा, करुणा और समता आदि जितनी भी साधनाएँ है, सेवा एव समर्पण की साधना उन सब के मूल मे रही है और वह हजारो-हजार रूपो मे विकसित होती रही है। जहाँ भी धर्म का स्वर आपको सुनाई देगा, वहाँ सेवा के स्वर की अनुगूंज अवश्य ही सुनाई देगी।

जैनदर्शन के प्रथम सस्कृत सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने इस सदर्भ मे एक बडी ही महत्त्वपूर्ण स्थापना की है। उन्होने कहा है—"एक दूसरे का सहयोग, सेवा करना चेतन का स्वभाव है, उसका लक्षण है, धर्म है।[७] प्रत्येक जीव एक दूसरे के सहयोग के प्रति सापेक्ष रहता है, एक दूसरे का आधार चाहता है।"

मानवदेहधारी जीव मे यदि परस्पर सहयोग की आकाक्षा नही है, तो एक पत्थर मे और उसमे क्या अन्तर है ? एक पत्थर के टुकडे को यदि आप तोडते है, फोडते है, तो उसके पास म पडे दूसरे टुकडे मे क्या कोई प्रतिक्रिया होती है ? कोई दया या सवेदना की स्फुरणा होती है कही ? किन्तु यदि एक जीवधारी पर आक्रमण होता है तो पडोसी जीवधारी की आत्मा अवश्य कपित होती है, उसके मन मे सुरक्षा की अनुभूति जगती है। यदि उसकी चेतना कुछ विकसित है, तो सहानुभूति की स्फुरणा भी उसमे होती है, सहयोग की भावना भी उसम जन्म लेती है।

एक चैतन्य को अपने सामने पिटते देख कर, यदि पडोसी चैतन्य मे कोई अनुकपन नही होता है, तो मानना पडेगा कि उसकी चेतना विकसित नही है, यदि वह मानव भी है, तो उसम मानवीय चेतना विकसित नही हुई है। उसमे प्राणो का परिस्पन्दन भले ही हो, किन्तु मानवीय चेतना का स्पदन नही हुआ है।

जैनदशन ने प्रबुद्ध आत्म-चेतना को सम्यग्दर्शन की सज्ञा दी है। उस सम्यग्-दर्शन के लक्षण बताये गये है—'शम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा और आस्तिक्य। मैं आपसे उसके तृतीय लक्षण के सम्बन्ध मे ही अभी कहूँगा कि जिस आत्मा मे अनुकपा का भाव नही है, करुणा की धारा नही है, किसी पीडित और सतप्त आत्मा को देख कर सहानुभूति की स्फुरणा नही होती है, तो उसम सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है ?

६ तव सपर्यास्तवाज्ञा-परिपालनम् —वीतरागस्तुति

७ परस्परोपग्रहो जीवानाम् —तत्त्वार्थसूत्र

मैंने आपसे कुछ दिनो पहले बताया था कि जैनसस्कृति मे चार भावनाओ मे दूसरी भावना है—प्रमोद ! प्रमोदभावना का अर्थ है—दूसरे मे सद्गुणो का विकास होते देख कर प्रसन्न होना। दूसरे चैतन्य को हँसते देख कर उसकी खुशी मे स्वय भी खुश होना, प्रमोदभावना है। वह मानव क्या, जो दूसरो मे सद्गुणो के फूल खिलते देख कर कुम्हला जाए ? दूसरे का विकास देख कर जिसमे उल्लास नहीं जगे, उस मानव और पशु मे अन्तर ही क्या है ? हाँ, तो 'प्रमोद-भावना' मानव-चेतना की मुख्यधारा है। और उसके बाद है—[८] दु खी जीवो के प्रति करुणाभावना ! गुणी के प्रति अनुराग, और दु खी पीडित के प्रति करुणा, स्नेह एव सद्भाव ! ये दोनो ही भावनाएँ मानव-चेतना की विराट् एव व्यापक परिणति हैं। धर्म का मूल, जिसे हम सम्यग्दर्शन कहते है, वह चेतना की विराट्ता मे ही है। इसलिए करुणा एव अनुकपा को सम्यग्दर्शन का मुख्य लक्षण माना गया है।

सेवा जीवन को विराट् बनाती है

जब अपने पडोसी चैतन्य के प्रति हृदय मे करुणा एव अनुकम्पा का भाव जगता है, तभी व्यक्ति सेवा के लिए प्रेरित होता है। इसलिए सेवा को जीवन की विराट्ता का दर्शन माना गया है। सेवा से जनसपर्क विस्तृत होता है। मनुष्य का जीवन क्षुद्र से विराट् बनता है।

जीने को तो ससार मे कीडे-मकोडे भी जीते है। वे भी इधर-उधर रेंगते हुए अपने शरीर की आवश्यकतापूर्ति करते है, स्वय को आपत्ति से बचाने की चेष्टा करते है, किन्तु उनका जीवन केवल अपने तक ही सीमित है। यदि मनुष्य भी उनकी भाँति अपने सुख-दु ख की क्षुद्र अनुभूति मे ही फँसा रहा, शरीर की कैद मे ही पडा रहा, तो कीडे के जीवन मे और मनुष्य के जीवन मे अन्तर क्या रहेगा ?

पशु-पक्षियो मे भी चेतना का सामान्य विकास होता है। स्वय के जीवन के भरण-पोषण एव सरक्षण के साथ अपनी सतान के जीवन, भरण-पोषण एव सरक्षण की भावना उनमे होती है, किन्तु उस भावना को पारिवारिक एव सामाजिक भाव नही कहा जा सकता। उनमे एक-दूसरे के प्रति स्नेह एव समर्पण की उदात्त भावना का विकास नही है, सकट आ पडने पर अपने प्राण ले कर भागने की भावना तो उनमे है, किन्तु सकटग्रस्त के प्रति सहानुभूति जतलाने का सद्भाव कहाँ है ? सहयोग का सकल्प उनमे नही है। मनुष्य की चेतना भी यदि केवल अपनी ही आपाधापी मे लीन रहती है, तो मैं उसे पाशविक चेतना ही कहूँगा, मानवीय चेतना नही।

मैंने देखा है, मानव होने से ही किसी मे मानवीय चेतना का विकास हो जाता हो, ऐसी बात नही है। बहुत से मानव मानव हो कर भी इतने क्षुद्र, इतने सवेदनहीन, व इतने क्रूर होते है कि पशु को भी मात कर जाते है। चेतना

---

८ क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्—सामायिकपाठ

को विराट् और व्यापक रूप से विकसित करने मे सस्कृति एव वातावरण का भी प्रभाव पडता है। जिस सस्कृति मे जीवन के जितने विराट् सकल्प होगे, जितने उदात्त आदर्श होगे, हमारी चेतना को उतनी ही अधिक विराट्ता की प्रेरणाएँ मिलेगी।

भारतीय सस्कृति मे सेवा, समर्पण एव सद्भाव के विराट् आदर्श प्रस्तुत किए गये हैं। यहाँ व्यक्ति का मूल्याकन ऐश्वर्य एव सत्ता के आधार पर नही, किन्तु सेवा एव सद्गुणो के आधार पर किया गया है। हमारा तत्त्वचिंतन यह नही पूछता कि तुम्हारे पास सोने-चाँदी का कितना ढेर है ? किन्तु वह तो पूछता है— 'तुमने अपने ऐश्वर्य को जनजीवन के लिए कितना अर्पित किया है ?' वह तुम्हारे पद और सत्ता को भी इसलिए कोई महत्त्व नही देता कि वह अपने आप मे कोई बहुत बडी शक्ति है ? किन्तु पद और सत्ता का महत्त्व भी इसी मे माना है कि तुम जनसेवा के लिए उस प्राप्त शक्ति का कितना उपयोग कर सकते हो ? एक आचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया है—हाथ का महत्त्व हीरे और पन्ने की अगूठियाँ पहनने मे नही, किन्तु दान मे है। इस हाथ से तुम कितना अर्पण करते हो, जन-सेवा के लिए हाथो से कितना विनियोग करते हो, इसी बात से तुम्हारे हाथ का महत्त्व है।[९]

मानवशरीर का महत्त्व भी उसकी सुन्दरता एव सुडौलता मे नही, किन्तु यह शरीर जनसेवा के लिए कितना उपयोगी होता है, किसी दुखी के आँसू पोछने के लिए वह कितना तत्पर रहता है—इसी बात पर शरीर का और समूचे जीवन का महत्त्व है।

मैंने आपसे बताया कि यो तो मानव-जीवन अनेक विशेषताओ का केन्द्र है। किन्तु इस जीवन की जो सबसे बडी विशेषता है, जिसके कारण मानव-जीवन अपने आपको कृतार्थ अनुभव कर सकता है, वह है—सेवा! सेवा हमारे क्षुद्र जीवन को विराट् रूप प्रदान करती है हमारी सीमित चेतना को विकसित एव व्यापक बनाती है और सबसे बडी बात यह है कि मनुष्य को ईश्वररूप मे देखने की दृष्टि मिलती है, सेवा मे। आत्मा मे परमात्मा का दर्शन होता है—सेवा से।

सेवा मानवता का मधुरस

सेवाव्रती सबसे ऊँचा व्यक्ति माना जाता है! अखिल विश्व मे तीर्थंकर का पद एक बहुत बडा पद है। स्वर्ग के इन्द्र और धरती के चक्रवर्ती तीर्थंकर के चरणो मे ही नतमस्तक होते है। इन्द्र तीर्थंकर के चरणस्पर्श कर अपने को धन्य समझते है। और चक्रवर्ती तो उनके चरणो की धूल मस्तक पर लगाने के लिए लालायित रहते हैं। यह आध्यात्मिक और भौतिक दोनो ही प्रकार के ऐश्वर्य का पूर्ण केन्द्र है, पुण्यप्रकृतियो मे यह सबसे महान् पुण्यप्रकृति है।[१०]

---

९ दानेन पाणिर्न तु ककणेन

१० तीर्थंकरत्व हि प्रधानभूत सर्वेषु शुभकर्मसु।

—तत्त्वार्थ—राजवार्तिक ८।११।४४

तीर्थंकर कैसे बना जाता है ?

परन्तु यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि तीर्थंकर बना कैसे जाता है ? वह कौन-सी साधना है, जिसके द्वारा धरती का साधारण मानव प्राणी तीर्थंकर के सर्वोत्कृष्ट पद पर पहुँच जाए ? भगवान् महावीर ने कहा है—सेवा और शुश्रूषा (वैयावृत्य) के आधार पर तीर्थंकरपद भी प्राप्त किया जा सकता है।[११]

सेवा अहं एव सुख-वृत्ति का विसर्जन

मनुष्य बडा से बडा तथा कठोर से कठोर तप कर सकता है। एक आसन से बैठ कर हजारो मालाएँ फेर सकता है। शरीर एव इन्द्रियो को निग्रह के नाम पर अपने को ध्वस्त कर सकता है, परन्तु सेवा करना सहज नही है। सेवा के लिए अपने अह को मारना होता है, विनम्र होना होता है अपनी सुख-सुविधाओ को भी एक ओर ठोकर लगानी होती है। सेवा और बडप्पन का अहकार एक साथ नही चल सकते। सेवा और अपना वैयक्तिक सुख, अपना खुद का आराम एक साथ नही रह सकते। सेवा के लिए अपने को समर्पण करना होता है। और समर्पण मे अपना जैसा कुछ शेष नही रहता है। इसीलिए कहा गया है—[१२] "सेवाधर्म परमगहन है, वह योगियो के लिए भी अगम्य है।"

यदि पिता कही बाहर जा रहा है। साथ मे नन्हा बालक है, पिता की अगुली का सहारा लिए है। इस स्थिति मे पिता दण्डायमान तन कर सीधा चल सकता है क्या ? बालक को अगुली का अपना सहारा दे कर साथ ले चलने के लिए पिता को झुक कर ही चलना होगा। सेवा भी अह को झुका कर ही हो सकती है।

घर मे कोई बीमार है, पीडा से व्याकुल है, वेदना से कराह रहा है, बार-बार करवट बदलता है। शरीर चाहता है-कोई उसे कोमल हाथो से सहलाए। कभी दवा तो कभी पानी अपेक्षित है। कभी मूत्रबाधा तो कभी शौच जाने का चक्कर है। इस स्थिति मे रोगी की परिचर्या के लिए जो पास बैठा है, वह क्या करे ? खर्राटा ले कर सोए ? पलग पर पडा-पडा आराम करे ? नही, यह नही हो सकता। रात के गहराते सन्नाटे मे उसे अकेले बीमार के पास बैठे रहना होता है, जागना होता है, हर मिनट रोगी पर दृष्टि रखनी होती है। समय पर पानी देना, दवा देना, मल-मूत्र कराना, शरीर दबाना, मधुर और स्नेह-स्निग्ध वचनो से बार-बार सान्त्वना देना, धैर्य बँधाये रखना, रोगी का कोई एक काम होता है क्या ? रोगी बडबडाता है, कभी-कभी तो इतना उत्तेजित हो जाता है कि परिचर्या करने वाले को ही गदी गालियाँ तक

---

११ वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्तं कम्म निबधइ

—उत्तराध्ययन २९।४३

१२ सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य

—नीतिकार

बकने लगता है। बहुत से विक्षिप्त स्थिति के रोगी तो मारने तक लगते हैं। परन्तु सच्चा परिचारक प्रशान्त महासागर बन जाता है। शिव की तरह प्रसन्नभाव से गरल-पान कर जाता है। यदि परिचारक बडबडाने लगे, सेवा को आफत समझने लगे, स्वय उत्तेजित होने लगे, तो क्या सेवा होगी ? सेवा मे दूसरे के सुख का ही ध्यान रखना होता है, अपने सुख का नही। सेवा के लिए अपनी सुख-वृत्ति को तिलाजलि देनी ही होगी। कभी कहा था किसी ने—**सुखार्थिन कुतो विद्या।**' और मैं इसके बदले कहता हूँ—'**सुखार्थिन कुत' सेवा।**"

सेवा स्वय तप है

इसीलिए सेवा को सबसे बडा तप कहा है। अपनी इच्छाओ का सयमन किये बिना कोई कैसे किसी की सेवा कर सकता है ? सेवा मे अपने लोभ एव स्वार्थ को कम करना होता है, वैयक्तिक सुखवृत्ति का परित्याग करना होता है। और यह इच्छा का निरोध है। इच्छानिरोध और क्या है ? तप ही तो है ! '**इच्छानिरोधस्तप**' और यह वैयावृत्य (सेवा) का तप कौन-सा तप है ? बाह्यतप नही, अन्तरग तप[१३] है। बाहर मे परिचर्या के होने से यह बाह्यतप होना चाहिए था, परन्तु अन्तर मे इच्छानिरोध, वासनामुक्ति, निरहकार-भावना आदि कुछ ऐसी परिणतियाँ है, सेवा की आन्तरिक चेतना मे। फलत सेवा[१४] अन्तरगतप की भूमिका मे पहुँच जाती है।

तप से सेवा महान् है

पुराण की एक कथा के अनुसार एक बार स्वर्गलोक मे एक आश्रम के वासी ऋषि-मुनियो का देवत्व के रूप मे एक साथ जन्म हुआ। साथ ही उस आश्रम मे रहने वाला एक अनपढ, किन्तु सच्चे मन से दीन-दु खियो की सेवा करने वाला एक सेवक भी मर कर वही देवता बना। नये आगन्तुक देवताओ के स्वागत-सम्मान हेतु पहले के देवताओ ने एक विराट् उत्सव का आयोजन किया। देवताओ ने तपस्वी ऋषि-मुनियो को सादे स्वर्णमुकुट भेंट दिये, किन्तु सेवक को रत्नजटित स्वर्णमुकुट भेंट मे दिया। इस पर तपस्वी ऋषि क्रुद्ध हो कर कहने लगे—"बहुमूल्य रत्नजटित स्वर्णमुकुट के अधिकारी तो हम थे, किन्तु आप लोगो ने वह हमे न दे कर इस सेवक को कैसे दे दिया, जो कभी व्रत-उपवास आदि कुछ करता ही नही था। हमारी भाँति कठिन तपस्या इसने कहाँ की ?" देवो ने ऋषिमुनियो से कहा—'आप तपस्या करते थे, यह सत्य है, लेकिन यह व्यक्ति तपस्या तो नही करता था, पर दीन-दुखियो की सेवा मे तो सदा रत रहता था। जिस किसी को कष्ट मे देखता, उसे कष्ट से यथाशक्ति मुक्त करने

---

१३ प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम्।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० ९।२०

१४ 'अन्त करणव्यापारात्'

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ९।२०।२

प्रयत्न करता था। इसके जीवन का उद्देश्य निष्कामभाव से दूसरो की सेवा करना था। योग, ध्यान और तप करना आसान है, पर किसी की सेवा करना उतना आसान नहीं है। अत सेवा अपने आप मे एक बडा तप है, एक बडी साधना है तपस्या की अपेक्षा भी सेवा बडी है।"

अतिथि साक्षात् भगवान् है

आपको काफी तेज भूख लगी है, भोजन करने बैठे हैं, बहुत सुन्दर भोजन थाल मे परोस कर सामने रखा है। इतने मे ही कोई अतिथि एव क्षुधातुर व्यक्ति आ जाता है। आप अपना प्राप्त भोजन सहर्ष उसे दे देते है, स्वय भूखे रह जाते है। कोई बात नही, बाद मे खा लू गा, यह सकल्प भी नही है। सभव है—आपके लिए कुछ और रसोई मे बचा भी न हो। यह सहर्ष भोजन देना, देने के बाद भी प्रसन्नता बनाए रखना, अपने आप मे साधारण बात नही है। ऐसे समय मे मन की यह उदार भावना असाधारण उदात्त भावना है। यह गृहस्थधर्म का बारहवाँ अतिथिसविभाग व्रत है, जो सब व्रतो का शिरोमणिव्रत है, गगनचु बी व्रत-प्रासाद (महल) का स्वर्णकलश है। भारतीय इतिहास का राजा रन्तिदेव ऐसा ही दाता था। देश मे भयकर दुष्काल पडा है। राजा सब कुछ प्रजा को अर्पण कर देता है। स्वय भूखा रहता है, दूसरो को खिलाता जाता है। कहते है—लम्बे समय तक भूखे रहने के बाद राजा के लिए एक दिन भोजन जुटाया, इतने मे ही सामने एक चाण्डाल आ खडा हुआ, भूख मे व्याकुल, जर्जर शरीर, आँखो मे अटके प्राण ! जिस दुष्काल मे उच्च-कुलीन ब्राह्मणो को भी कोई भोजन नही देता, वहाँ बेचारे शूद्र चाण्डाल को कौन भोजन देता ? राजा रन्तिदेव ने चाण्डाल को देखा तो उसका सहर्ष स्वागत किया और अपना भोजन चाण्डाल को अर्पण कर दिया, ऐसे कर दिया—जैसे द्वार पर आए साक्षात् भगवान् की पूजा मे भक्त नैवेद्य अर्पित कर देता है। पुराणकार कहता है—चाण्डाल के रूप में साक्षात् विष्णु भगवान् आए थे। ठीक ही कहता है वह। घर पर आया अतिथि न ब्राह्मण है, न चाण्डाल है, न और कुछ है , वह तो साक्षात् भगवान् है।[१५]

सेवा स्वर्ग और अपवर्ग से भी महान् है

भारत का तत्त्वदर्शन स्वर्ग और अपवर्ग (मुक्ति) से भी बढ़कर सेवा को मानता है। भारत के साधक को न स्वर्ग चाहिए, न मुक्ति चाहिए। उसकी तो एक-मात्र यही कामना है कि वह पीडितो की पीडानिवृत्ति के लिए अपने जीवन का एक-एक क्षण, अपने प्राप्त साधनो का एक-एक कण पीडितो की सेवा मे अर्पण कर दे। राजा रन्तिदेव ने ही भावविभोर होकर कहा है[१६]—"मुझे धरती का चक्रवर्ती का

---

१० 'अतिथिर्भगवान् स्वयम् ।'

१६ "न त्वह कामये राज्य, न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दु खतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥"

राज्य नहीं चाहिए , न चाहिए स्वर्ग और मोक्ष ! मेरी तो यही एक कामना है कि जो प्राणी—फिर वे कोई भी हो, कैसे भी हो—दु ख से तप्त हैं, मैं उनकी पीडा दूर करूँ, उन्हें सुख-शाति पहुँचाऊँ ।"

बौद्धदर्शन के महान् आचार्य शान्तिदेव का कहना है—"वही बुद्ध होने वाला बोधि आत्मा है, जो यह भावना रखता है कि ससार के सभी प्राणियो की पीडा मैं स्वय भोग डालूँ, ताकि सब प्राणी सुखी हो सकें । जब तक धरती पर, एक भी दु खी प्राणी है, तब तक मुझे मोक्ष नही चाहिए । मेरा आनन्द पीडितो की सेवा मे है, मुक्ति मे नहीं ।[१७]

भिक्षा मे से भी भिक्षा

भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुसघ मे यह नियम प्रचलित किया था कि जो भिक्षु नगर मे भ्रमण कर भिक्षा लाए, वह अपने स्थान पर आ कर उपस्थित साधुओ को विनम्रभाव से साग्रह निमन्त्रण करे कि प्रस्तुत भोजन मे से आप यथारुचि ग्रहण कर मुझ पर अनुग्रह करें ।[१८] आपका यह अनुग्रह मुझे भवसागर से पार उतारने वाला होगा । निमन्त्रण करने पर यदि कोई भोजन करना चाहे तो उसके साथ भोजन करे ।[१९] उक्त उल्लेख कितना उदात्त है ! नगर मे घर-घर द्वार-द्वार घूमा है साधू ! अपमान मिला है, तिरस्कार मिला है, बडी कठिनाई से कुछ मिल पाया है और इधर जोरदार भूख लगी है । सम्भव है दो-चार दिन से कुछ भी नही मिला हो, कुछ भी नहीं खाया हो । यदि तपश्चरण रहा, तो महीनो से अन्न-जल ग्रहण न किया हो । फिर भी प्राप्त भोजन मे से दूसरो को सादर देना है । लेने वालो के द्वारा लेना अपने ऊपर भार नही, अनुग्रह समझना है । और अनुग्रह भी वह अनुग्रह, जो ससार-सागर से पार करने वाला है । बताया गया है कि 'निमत्रित करते समय साथियो को जब प्राप्त भोजन दिखाए, तो हर अच्छी से अच्छी एक-एक चीज को निर्दिष्ट करके दिखाए, छिपाए नही । यदि छिपाता है और बिना निमन्त्रण किए खाता है, तो यह चोरी है । परस्पर के सहयोग एव सेवाभाव का कितना उच्च आदर्श है ! भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा है[२०] कि जो प्राप्त सामग्री का उचित सविभाग नही करता है, साथियो मे एव जरूरतमदो मे समानभाव से वितरण नही करता है, वह मुक्ति-लाभ नही कर सकेगा ।' और यह ध्यान मे रखने जैसी बात है कि यह सविभाग है । सविभाग का अर्थ है—अपने प्रिय बन्धु के लिए बराबर का भाग, हिस्सा । यह कृपा नही है, जो कभी किसी असहाय बेचारे को सहायता के लिए की जाती है । एक भाई दूसरे भाई को पिता की सम्पत्ति मे से जब कुछ देता है तो क्या वह आज का तथाकथित दान है,

---

१७ 'मोक्षेणारसिकेन किम् ?'

१८ 'जइ मे अणुग्गह कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ।' —दशवैकालिक ५।१।९४

१९ 'जे इ तत्थ केई इच्छिज्जा, तेहिं सद्धि तु भुजए ।' —दशवैकालिक ५।२।९५

२० 'असविभागी न हु तस्स मोक्खो' —दशवैकालिक ९।२।२२

दया है, करुणा है, क्या है ? यह सब कुछ नही है। यह अधिकार है—अपने भाई का, और वह बराबर के सम्मान से देना होता है। सम्पत्ति भी व्यक्ति की नहीं है, समाज की है। समाज का हर व्यक्ति बन्धु है। फलत. उसे देना दया अथवा करुणा नहीं। वह तो दायभाग है, अधिकार है। यह सिद्धान्त सेवा को सहयोग का रूप देता है, अधिकार की स्थिति मे पहुँचाता है। समादर की भावना, जो सेवा का प्राणतत्त्व है, वह इसी भावना मे सुरक्षित रहता है।

सेवा गगा की त्रिपथगा धारा

सेवा तप के तीन परिणाम होते है। सेवा एक है, किन्तु वह अन्दर मे तीन धाराओ मे त्रिपथगा गगा की भाँति प्रवाहित है। अत वह तीन-तीन काम करती है। अमुक अश मे सेव्य व्यक्ति के प्रति सुख-प्रदानरूप सहानुभूति का अश होने से यह पुण्यास्रव है। वैयक्तिक सुखाभिलाषा एव सुखसाधनो की इच्छा का निरोध होने से सवर है।[२१] और इसी मे और अधिक भावविशुद्धिरूप आत्मलीनता, आत्मपरिणति होने से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा है। सवर और निर्जरा मुक्ति के द्वार है। द्वार क्या, स्वय मुक्तिस्वरूप ही हे अमुक अश मे।

सेवा महत्तर है

प्रात काल साधक गुरुचरणो मे जब प्रत्याख्यान एव तपश्चरण लेने को उपस्थित होता है, तब गुरुदेव यदि सघ मे किसी रोगी आदि की परिचर्या के लिए उसकी आवश्यकता समझे तो उससे तप नही कराते है, सेवा का कार्य बताते है।[२२] अनशन आदि तप की अपेक्षा वह सेवा का तप महान् है, अत शिष्य के लिए भगवान् महावीर का सन्देश ही नही, आदेश है कि वह तप न करके सेवा का कार्य करे। इतना ही नही, सेवा के लिए तो यहाँ तक बताया गया है कि साधक का पहले से उपवास आदि अनशन तप चालू हो, और इसी बीच यदि सेवा का कोई आवश्यक कार्य आ जाए तो तप को छोड कर सेवा का कार्य करना चाहिए। तपोभग का कोई दोष नही होता, लाभ ही होता है।[२३] क्योकि अनशनतप से सेवा का तप महत्तर है, महत्तर के लिए अल्प छूटता ही आया है।

सेवा मानव-जीवन की विशेषता

विश्व मे अनन्त प्राणी है। असख्य देव है, असख्य नारक है, असख्य पशु-पक्षी है। अन्यत्र कही भी सेवाधर्म का सौभाग्य प्राप्त नही है। नारक एक-दूसरे की क्या सेवा कर सकते है ? देव भी अधिकतर ऐसी ही स्थिति मे हैं। क्योकि न वहाँ परिवार

---

२१ आस्रवनिरोध सवर। —तत्त्वार्थसूत्र ६।१

२२ महता—प्रत्याख्यानपालनवशाल्लभ्यनिर्जरापेक्षया बृहत्तरनिर्जरालाभहेतुभूतम्। —प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

२३ महत्तरकादेशेन भुजानस्य न भग। —आचार्यनमिकृत प्रतिक्रमणवृत्ति

है, न समाज है। अत वहाँ दूसरे को सहयोग देने जैसी स्थिति कहाँ है ? पशु-पक्षियो की स्थिति भी अज्ञान की काली चादर के नीचे ढँकी है। उन्हे भी क्या पता कि सेवा क्या होती है, और वह कैसे करनी चाहिए ? मानव-जीवन ही सेवा का आधारस्तम्भ है। मानव सामाजिक प्राणी है। वह शरीर के रूप मे एक क्षुद्र इकाई अवश्य है, परन्तु भावना की दृष्टि से वह एक विराट् रूप का धर्ता है। मानव के आसपास परिवार है, समाज है, राष्ट्र है और हे धार्मिक परम्परा, सस्कृति एव सभ्यता। मानव की सद्-भावना उक्त विराट् जगत् मे सर्वत्र व्याप्त है। सबका सुख उसका सुख है, और सबका दु ख उसका दु ख है। वह अपनी उदात्त भावना के माध्यम से अपना सुख दूसरो को बाँटता है, और दूसरो का दु ख स्वय बाँट लेता है। वह दु ख-सुख को बाँटता ही नही, अपितु दूसरो के लिए सुख का सृजन करता है, दु ख का परिहार करना है। दु खमुक्ति हैं, ही भारतीय तत्त्वदर्शन का बीजमत्र है। महर्षि कपिल यही बात कहने है।[२४] दु ख-मुक्ति स्वय की ही नही, सब की अपेक्षित है। यही भारतीय जीवनदर्शन का सर्वोच्च ध्येय है। सेवा सर्वात्मवाद पर आधारित है। यह भारतीय साधना का महत्तम पुरुषार्थ है, जन-जीवन के समग्र दु खो का सर्वाङ्गीण ध्वस है।

इस प्रकार अहिंसा की विधेयात्मक त्रिवेणी—समता, प्रेम और सेवा मे डुबकी लगा लेने पर मानव आत्मा से परमात्मा बन जाता है, विश्व का सर्वोच्च वन्दनीय और पूजनीय बन जाता है। □

---

२४ "अथ त्रिविधदु खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ ।" —साख्यदर्शन

बगलादेश के सन्दर्भ में—

१४ | अहिंसा का युगसापेक्ष महत्त्व

अहिंसा मानव का सर्वोत्तम भूषण है। यह आतरिक समता-भावना पर आधारित तत्त्व है। इसका अतिक्रमण करने वाला व्यक्ति वस्तुत मानव कहलाने का अधिकारी नही। विश्व के समस्त प्राणी दुःख एव पीडाओ से मुक्ति चाहते हैं। चाहे वे छोटे हो या बडे, मानव हो अथवा पशु—सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नही चाहता।[1] सबको सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय। सबको अपना जीवन प्यारा है।[2] जिस हिंसक-व्यवहार को एक अपने लिए पसन्द नही करता, दूसरा उसे क्योकर चाहेगा? यही जिन शासन के कथनो का सार है, जो एक तरह से सभी धर्मों का सार है।[3] आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने जिस महाकरुणा (अहिंसा) का सन्देश विश्व को दिया था, आज भी उसकी महत्ता यथावत् अक्षुण्ण है, बल्कि यो कहना चाहिए, कि उसका महत्त्व आज के प्रजातान्त्रिक विश्व-शासनयुग मे और अधिक बढ गया है।

अहिंसा सिर्फ हिंसा नही करने का नामभर ही नही है, अपितु यह मैत्री, करुणा और सेवा की महान् साधना का अपर नाम है। हिंसा नही करना—यह तो अहिंसा का एक पक्ष है, समाज की दृष्टि से यह अधूरी साधना है। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्रीभाव रखना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी समुचित मनन करना होगा। जैन आगमो मे जहाँ अहिंसा के साठ एकार्थक नाम दिए गये हैं, वहाँ वह दया, रक्षा, अभय आदि के नाम से भी अभिहित की गई है।[4]

---

१ सव्वे जीवावि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ।

—दशवैकालिक सूत्र, ६।११

२ सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुहपडिकूला।

—आचाराग सूत्र, १।२।३

३ ज इच्छसि अप्पणतो, ज च न इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि, एत्तियग्ग जिणसासणय॥

—बृहत्कल्पभाष्य ४५८४

४ दया, बोही, खती, रक्खा, जयण, अभओ, जण्ण, समिई आदि

—प्रश्नव्याकरण, प्रथम सवरद्वार

जैन आगमो, दर्शनो एव साधना-पथो मे ही अहिसा को सर्वोपरि माना गया है, ऐसी बात नही, विश्व के सभी धर्मों ने अहिसा को एक स्वर से स्वीकारा है।

बौद्धधम मे अहिंसक व्यक्ति को आर्य (श्रेष्ठ पुरुष) कहा गया है। उसका अटल सिद्धान्त इसी भावना पर आधारित है कि मानव दूसरो को अपनी तरह जान कर न तो किसी को मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा करे।[५] जो न स्वय किसी का घात करता है न दूसरो से करवाता है, न स्वय किसी को जीतता है, न दूसरो से जितवाता है, वह सब प्राणियो का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नही होता।[६]

वैदिक धर्मों मे भी 'अहिसा परमो धर्म' के अटल सिद्धान्त को समक्ष रख कर उसकी महत्ता को स्वीकारा गया है। अहिसा ही सबसे उत्तम एव पावन धर्म है, अत मनुष्य को कभी भी, कही भी और किसी भी प्राणी की हिंसा नही करनी चाहिए।[७] जो कार्य तुम्हे पसन्द नही उसे दूसरो के लिए भी न करो।[८] इस नश्वर जीवन म न तो किसी प्राणी की हिसा करो और न किसी को पीडा पहुचाओ, बल्कि सभी आत्माओ के प्रति मैत्री-भावना स्थापित कर विचरण करते रहो। किसी के साथ वैर न करो।[९]

यही नही, अपने को लडाकू एव बलिदानप्रिय धर्म की दुहाई देने वाले इस्लाम-धर्म के भीतर झांक कर देखे, तो वह भी अहिसा की नीव पर टिका हुआ प्रतीत होगा। इस्लामधर्म मे भी कहा गया है—"खुदा सारी दुनिया (खल्क) का पिता (खालिक) है। दुनिया मे जितने प्राणी हैं, वे सब खुदा के बन्दे (पुत्र) है। कुरान-शरीफ की शुरूआत मे 'बिस्मिल्लाह रहिमानुर्रहीम' कह कर खुदा को रहम का देव कहा है, कहर का नही। हजरत अली साहब ने तो पशु-पक्षियो तक पर रहम करने को कहा है—'हे मानव, तू पशु-पक्षियो की कब्र अपने पेट मे मत बना।' कुरानशरीफ का एलान है कि 'जिसने किसी की जान बचाई—उसने मानो सारे इन्सानो की जिन्दगी बख्शी।'[१०]

५ सब्बे तसति दण्डस्स, सब्बेस जीवित पिय।
अत्तान उपम कत्वा न हनेय्य न घातये॥ —धम्मपद १०।१

६ यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जायते।
मित्त सो सब्बभूतेसु वेर तस्स न केनचीत॥ —इतिवुत्तक, पृ० २०

७ अहिंसा परमो धर्म सर्वप्राणभृता वर।
तस्मात् प्राणभृत सर्वान् मा हिंस्यान्मानुष क्वचित्।
—महाभारत आदिपर्व १।१।१३

८ आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।

९. न हिंस्यात् सबभूतानि, मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेद जीवितमासाद्य वैर कुर्वीत केनचित्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व २७८।५

१० व मन् अहया हा फक अन्नया अन्नास जमीअन। —कुरान शरीफ ५।३५

ईसाईधर्म को उद्बोधन देते हुए महात्मा ईसा ने कहा है—"तू तलवार म्यान मे रख ले, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सब तलवार से ही नाश किए जाएँगे।" अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—'तुम अपने दुश्मन को भी प्यार करो, और जो तुम्हे सताते है, उनके लिए भी प्रार्थना करो। यदि तुम उन्ही से प्रेम करो, जो तुमसे प्रेम करते है, तो तुमने कौन मार्के की बात की ?'

यहूदीधर्म मे कहा है—किसी आदमी के आत्म-सम्मान को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। लोगो के सामने किसी आदमी को अपमानित करना उतना ही बडा पाप है, जितना कि उसका खून कर देना। प्राणिमात्र के प्रति निर्वैरभाव रखने की प्रेरणा देते हुए यह कहा है कि—'अपने मन मे किसी के प्रति वैर या दुर्भाव मत रखो।'

पारसीधर्म के महान् प्रवर्त्तक महात्मा जरथुस्त का कथन है कि—'जो सबसे अच्छे प्रकार की जिन्दगी गुजारने से लोगो को रोकते है, अटकाते है और पशुओ को मारने की सिफारिश करते है, उनको अहुरमज्द बुरा समझते है।'

ताओधर्म के महान् नेता—लाओत्से का सदेश है कि—जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नही करते, उनके प्रति भी मै अच्छा व्यवहार करता हूँ।

कागफूत्सी ने कनफ्यूशियस धर्म का प्रवर्त्तन करते हुए कहा था—"जो चीज तुम्हे नापसद है, वह दूसरो के लिए हर्गिज मत करो।"

कहने का तात्पर्य यह है कि विश्व का कौन-सा धर्म है जो खूँरेजी को दाद देता हो ? प्राय सभी ने एकस्वर से प्राणिरक्षा, प्राणिमैत्री एव आत्मवत् सर्वभूतेषु का सन्देश दिया है।

किन्तु खेद की बात है कि आज विश्व आख मूँद कर भयकर हिंसा को प्रश्रय दे रहा है। लाखो ही निरपराध व्यक्ति गाजर-मूली की तरह काटकर समाप्त किए जा रहे है। किसी की आँखे निकाली जा रही है, तो किसी के हाथ-पैर काटे जा रहे है। किसी को सगीनो पर उछाला जा रहा है, तो किसी को जिन्दा ही जलाया जा रहा है। घायलो की मर्मातक चीत्कारे दिल को दहला देती है। हजारो घर लूटे जा रहे हैं, जलाये जा रहे है। मौत नगी हो कर नाच रही है। कुमारी कन्याओ एव सती-सुहागिनो के साथ खुले आम बलात्कार किए जाते है—जिसे देख कर शर्म की आँखे भी शर्म से नीचे झुक जाती है और फिर उन्हे गोलियो से भून दिया जाता है, छातियाँ काट डाली जाती है, गुप्तागो मे सगीनें भोक दी जाती है। और कुछ सुन्दरियो को बन्दी बना कर बेच भी दिया जाता है। इन्सान इन्सान नही रहा है, शैतान हो गया है, शैतान से भी बदतर !

सामूहिक रूप से अहिंसक प्रतीकार की आवश्यकता

आज के उक्त अमानवीय पैशाचिक कुकृत्यो को देखने के लिए कही दूर जाने की जरूरत नही है। भारत के ही निकट पडोसी बागलादेश मे, पाकिस्तान के क्रूर एव हृदयहीन शासको के हुक्म पर नित्यप्रति हो रहे उक्त कुकृत्यो को देखा जा सकता है। सैनिक पागल हो गए हैं। लगता है उनमे मानवता का कुछ भी अश नही बचा

है। और यह सब हो रहा है देश, धर्म और सस्कृति की रक्षा के नाम पर! मानव-जाति पर कुछ अत्याचार भूतकाल मे भी हुए है। इन्सान ने सुन्दर एव मोहक आदर्शों के नाम पर कुछ कम कष्ट नही भोगे है। किन्तु पाकिस्तान बागलादेश मे जो कुछ कर रहा है, उसका उदाहरण इतिहास मे खोजे नही मिल रहा है। आवश्यकता है-आज का प्रबुद्ध जनसमाज इन लोमहर्षक अत्याचारो की मुक्तभाव से भर्त्सना करे, प्रतिरोध के लिए एकजुट हो जाए। पाकिस्तान की अक्ल ठिकाने पर लाने के लिए कुछ और विशेष करने की अपेक्षा नही है। अपेक्षा है केवल सामूहिक रूप मे नैतिक आक्रमण की, असहयोग की। पाकिस्तान को जो विश्व के राष्ट्रो से सहयोग मिल रहा है, शस्त्रास्त्र और आर्थिक रूप मे, यदि वह बन्द कर दिया जाए तो पाकिस्तान तत्काल घुटने टेक सकता है। किन्तु खेद है, यह कुछ हो नही रहा है। धरती पर के अनेक राष्ट्र केवल अपने स्वार्थ की भाषा ही सोचते हैं, मानवता की भाषा मे नही। विश्व के मानवतावादी बडे-बडे राष्ट्र यह सब अत्याचार मुदी आँखो से देख रहे है, बहरे कानो से उक्त काले कारनामो की कथा सुन रहे है। रोज समाचारपत्रो के पृष्ठ के पृष्ठ रगे होते है कि बगलादेश मे जघन्य हत्याकाण्ड हो रहे है, मानवता को लजा देने वाले अत्याचार हो रहे है, फलस्वरूप अपनी जान और इज्जत बचा कर भारत मे लाखो ही स्त्री-पुरुष, बूढे-बच्चे शरण के लिए आ गये है, अब भी आ रहे है। किन्तु बडे राष्ट्र है कि देख कर भी अनदेखा कर रहे है, सुन कर भी अन-सुना कर रहे है। ऐसा भी नही कि चुप हो कर निरपेक्ष बैठे है, अपितु विपरीतदिशा मे चल रहे है। अमेरिका जैसा महान् राष्ट्र एक ओर भारत मे आए पीडित बगाली प्रवासियो के लिए लाखो डालर की सहायता दे रहा है, और दूसरी तरफ यह खबर भी है कि अमेरिका पाकिस्तान को शस्त्रास्त्रो से लदे जहाज भेज रहा है, भयानक हथियारो की मदद दे रहा है। ताज्जुब है कि एक ही देश एक तरफ घातक हथियार दे कर नर-सहार को बढावा देता है, और दूसरी तरफ वही देश जान बचा कर भारत मे भाग कर आए शरणार्थियो की रक्षा के लिए धन-प्रदान कर सहायता का हाथ बढाता है? यह कैसी विचित्र विसगति है। चाहिए तो यह था कि शस्त्रास्त्रो की सहायता तत्काल बन्द कर सर्वप्रथम पाकिस्तान की सैनिक जुटा को होश मे लाया जाता, उसके क्रूर इरादो को बदला जाता, पश्चात्ताप के लिए मजबूर किया जाता, और बगलादेश की पीडित जनता के अधिकारो का उचित सरक्षण किया जाता, और फिर प्रवासी समस्त लोगो की जान-माल की रक्षा का प्रयत्न किया जाता, एव उन्हे जल्दी ही अपनी प्रिय जन्मभूमि मे वापस भेजा जाता।

कहने की बात नही कि बगबधु मुजीब को बागलादेश की करोडो मुस्लिम, ईसाई, हिन्दू, बौद्ध जनता ने अपना नेता चुना था, मुजीब के अवामी दल को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान कर बागलादेश मे लोकतन्त्र की स्थापना की ओर कदम बढाया था। राष्ट्रपति याह्या खाँ ने चुनाव से पूर्व वायदा किया था कि चुनाव के बाद सैनिक शासन समाप्त कर दिया जाएगा और जनता के चुने हुए प्रतिनिधियो के हाथों मे

पाकिस्तान का शासन सौप दिया जाएगा। और इसी सदर्भ मे जब बगबधु मुजीब के दल ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर लिया तो याह्या खाँ ने उन्हे पाकिस्तान का भावी प्रधानमन्त्री कह कर सम्बोधित भी किया था। किन्तु जल्दी ही वे सत्तालोलुप निरकुश फौजी जनरलो के हाथो मे खेल गए। और समझौतावार्ता का नाटक खेलते-खेलते शक्तिसग्रह कर अचानक निरपराध जनता पर आक्रमण कर खून की होली खेलनी शुरू कर दी। पागलपन की भी एक सीमा होती है। किन्तु मालूम होता है—पाकिस्तान के मनमस्तिष्कविहीन शासको मे इसकी भी कोई सीमारेखा नहीं है। छहसूत्री कार्यक्रमो की सार्वजनिक घोषणा के आधार पर जिसने चुनाव लडा और भारी बहुमत से विजयी हुआ, फलस्वरूप जिसे पाकिस्तान का भावी प्रधानमन्त्री तक कहा जाता रहा, वह एक ही रात मे देशद्रोही हो गया, गद्दार हो गया, और अब उसके लिए गुप्त सैनिक अदालत मे इन्साफ का ड्रामा खेल कर फासी का फदा तैयार किया जा रहा है। यह विवेकभ्रष्टो का वह पतन है, जो शतसहस्रमुख होता है, जिसकी सीमारेखा नही होती।

आश्चर्य है—नाममात्र की हलचल के बाद विश्व के बड़े-बड़े राष्ट्र चुप है। और इससे भी अधिक आश्चर्य है उन अहिंसा, दया और करुणा के उद्घोषक धर्म-गुरुओ पर, जिनकी दृष्टि मे जैसे कुछ हो ही नही रहा है। कहाँ है वह अहिंसा, कहाँ है वह करुणा, कहाँ है वह मानवता, जिसके ये सब दावेदार बने हुए है? क्या धर्म मरने के बाद ही समस्याओ का समाधान करता है? इस धरती पर जीते जी कोई समाधान नही है उसके पास?

अहिंसा पर नये सिरे से विचार करने का अवसर आ गया है। लगता है अहिंसा के पास करने जैसा कुछ नही रहा है। वह सब ओर से सिमट कर एक 'नकार' पर खडी हो गई है। नकार की अहिंसा मे प्राणवत्ता नही रहती, वह निर्जीव हो जाती है। अहिंसा का अर्थ अब हिंसा न करना है, वह भी एकांगी, स्थूल, दिखावाभर, साथ ही तर्कहीन! जीवनचर्या के कुछ अग ऐसे है, जिनमे बाहर से तो अहिंसा जैसा लगता है, किन्तु अगल-बगल की—अन्दर की पृष्ठभूमि मे झाँक कर देखे तो हिंसा का नग्न नृत्य होता नजर आता है। दूसरी ओर अहिसा हिंसा को सहने भर के लिए हो गई है। बर्बर अत्याचार हो रहा हो, दमन चक्र चल रहा हो, बेगुनाहो का कत्लेआम हो रहा हो, और हम अहिंसावादी चुपचाप यह सब सहन करते जाएँ, उफ तक न करे। और इस पर यश के ढोल पीटते जाएँ कि हम कितने साधुपुरुष हैं, कितने क्षमा-शील सयमी है?

आज अहिंसा अन्याय एव अत्याचार के विरोध मे अपनी प्रचण्ड प्रतीकार शक्ति खो चुकी है। अहिसा हिंसा को केवल सहन करने के लिए नही है। उसे हिंसा पर प्रत्याक्रमण करना चाहिए। गाधीजी के युग मे ऐसा कुछ हुआ था, परन्तु जल्दी ही अहिंसा के इस ज्वलतरूप पर पाला पड गया और अहिसा ठडी हो गई। आज

अहिंसा ठंडी हो गई है। आज के अहिंसावादी धर्मगुरु, अपने लाखो अनुयायी होने का दावा करते हैं। यदि सामूहिक रूप मे अहिंसात्मक प्रतीकार के लिए ये लोग बागला देश की सीमाएँ पार करें, और नगी सगीनो के सामने छातियाँ खोल कर खड़े हो जाएँ, तो पाकिस्तान तो क्या, सारा विश्व हिल उठेगा। जब विश्व की ओर से उक्त हजारो लाखो बलिदानियो को ले कर पाकिस्तान पर सामूहिक नैतिक आक्रमण होगा तो पाकिस्तान का दम टूट जाएगा। पर, ऐसा नैतिक साहस है कहाँ आज अहिंसावादियो मे ! साग-सब्जी और कीडे-मकोडो की नाममात्र की अहिंसा पाल करके ही आज के ये तथाकथित अहिंसावादी सतुष्ट है और अहिंसा की यह निर्माल्य प्रक्रिया अहिंसा के दिव्य तेज को धूमिल कर रही है। यदि आपकी अहिंसा विश्व के जघन्य हत्या-काण्डो का वस्तुत कोई प्रतीकार नही कर सकती, तो फिर अहिंसा का दम्भ क्यो ? फिर तो क्यो नही, यह स्पष्ट घोषणा कर देते कि हिंसा का उत्तर हिंसा ही है, अहिंसा नही। पर इतना भी साहस कहाँ है ?

प्रत्यक्ष अहिंसक प्रत्याक्रमण की बात तो छोडिए, आज तो ये मेरे धर्मगुरु साथी मौखिक विरोध भी नही कर रहे हे। हजारो की सभा मे उपदेश होते है, वही घिसे-पिटे शब्द, जिनमे कुछ भी तो प्राण नही। वर्तमान की समस्याओ को छूते तक नही। समग्र उपदेश जीवन के पार मृत्यु के दायरे मे जा रहा है। इनके स्वर्ग और मोक्ष मरने पर है, जीते जी नही। होना तो यह चाहिए था कि हजारो धर्मगुरु प्रति-दिन के प्रवचनो मे बागलादेश के जातीय विनाश के सम्बन्ध मे खुल कर बोलते, हिंसा के विरोध मे वातावरण तैयार करते। कम से कम इतना तो हो सकता था, पर देखते है, इतना भी कहाँ हुआ है ?

मन्दिरो, मस्जिदो, गुरुद्वारो और अन्य धर्म-स्थानो मे करोडो—अरबो की सम्पत्ति जमा है। धर्मगुरुओ की प्रतिष्ठा के लिए आडम्बर के कामो मे लाखो ही खर्च हो रहे है। यदि यह सब पीडितो की सेवा के लिए खर्च होता, तो कितना अच्छा होता ? धर्म का वास्तविक रूप तो जनसेवा मे है। यही तो सच्ची अहिंसा और करुणा है। देर तो हो चुकी है, फिर भी यदि कुछ साहसिक प्रयत्न प्रारम्भ किए जाएँ तो अहिंसा का तेजस्वी दिव्यरूप चमक सकता है। □

१५ | द्रव्यहिंसा-भावहिंसा

अहिंसा को ठीक तरह समझने के लिए और उसके वास्तविक रूप को जानने के लिए सर्वप्रथम हिंसा को समझ लेना जरूरी है, क्योकि हिंसा का विरोधी अहिंसा है। अहिंसा का साधारणतया अर्थ होता है, हिंसा का होना। हिंसा का विरोधीभाव वही हो सकता है, जिसके रहते हिंसा न हो सके। इस प्रकार अहिंसा की जो मूल व्याख्या है, वह सर्वप्रथम 'न' के ऊपर ही आधारित है। अतएव[1] अहिंसा को पूरी तरह समझने के पहले, हिंसा को समझ लेना ठीक होगा। और उस स्थिति मे अहिंसा का ठीक-ठीक पता लग सकेगा।

महान तीर्थंकरो तथा जैनाचार्यों ने मूल मे हिंसा के दो भेद किए हैं—(१) भाव-हिंसा और (२) द्रव्य हिंसा। उक्त भेदो का गहराई से अध्ययन मनन करने पर मालूम हुआ कि हिंसा-अहिंसा के यथार्थ विश्लेषण या पृथक्करण के लिए उन महापुरुषो ने ससार के सामने एक महत्त्वपूर्ण बात रख दी है।

भावहिंसा और द्रव्यहिंसा

शरीर से प्राणो का अलग होना—यह मरना है, हिंसा नही है। इस दृष्टि से जैनदर्शन ने हिंसा के दो रूप कर दिये है—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। जहाँ मारने का सकल्प है, राग-द्वेष की भावना आई, और इस स्थिति मे किसी प्राणी की हिंसा हो भी सकती हो, नही भी हो सकती हो, वह निश्चय मे हिंसा है ही, उसे भावहिंसा कहा है। वह बन्धन है। किन्तु हिसा का एक दूसरा रूप भी है और जिसकी व्याख्या बहुत गहरी है वह है द्रव्यहिंसा। द्रव्यहिंसा मे किसी का प्राणघात तो होता ही है, किन्तु उक्त प्राणघात मे जो निमित्त बनता है, वह मात्र शरीर बनता है, मन की प्रवृत्ति उसके साथ नही जुडती है, उस प्राणघात मे राग-द्वेष का सकल्प नहीं रहता है, इसलिए वह बाहर मे प्राणघात जरूर है, पर अन्दर मे हिंसा नही है। उससे कर्मबन्ध नही हो सकता।

एक बात और विचारणीय है कि कर्मबन्ध मन से होता है या शरीर से। शरीर तो जड है, इसमे न विचार है, न अध्यवसाय है। अत न उसमे राग है, न द्वेष है। शरीर यदि कर्मबन्ध कर सकता है, तब तो फिर हर जडपदार्थ को कर्मबन्ध होता

---

१ 'हिंसाए पडिवियाए, अहिंसा पडिविया चेव।'

—दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन

रहेगा। पत्थर भी, काष्ठ भी—सभी कर्म बाँधते रहेंगे। जिस प्रकार शरीर से टकरा कर किसी जीव का प्राणघात हो सकता है, वैसे ही पत्थर से टकरा कर भी बहुत से प्राणी मरते हैं। जब पत्थर को हिंसा नही लगती, तो फिर शरीर को हिंसा क्यो लगेगी ? वास्तव मे हिंसा करने वाला तो राग-द्वेषग्रस्त मन है, केवल अकेला मन भी नही, केवल अकेला शरीर भी नही।

दूसरी बात है, कर्म का बन्ध किस कर्म से होता है ? यह भी एक विचारने की चीज है। कर्मबन्ध न नामकर्म से होता है, न गोत्रकर्म से। नामकर्म से कर्म का बन्ध नहीं हो सकता, तो फिर शरीर तो नामकर्म की एक प्रकृति है, उसी का फल यह दृश्यशरीर है, उससे कर्मबन्ध कैसे होगा ? आठ कर्मों मे नया कर्मबन्ध करने वाला एक ही कर्म है और वह है—मोहकर्म ! जब मोहकर्म होगा तभी नवीन कर्म का बन्ध हो सकेगा, अन्यथा नही। वीतरागी को इसीलिए तो कर्मबन्ध नही होता, इसलिए कि उनका मोहकर्म नष्ट हो गया होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस सम्बन्ध मे एक गम्भीर बात कही है कि—"वस्तुत अन्तर्मन मे रागादि का होना ही हिंसा है।"

प्राणियो को मारना और जिलाना किसी के वश की बात नही है। अनन्त बलशाली तीर्थंकर भी किसी प्राणी को अपने आयुष्य से एक क्षण ज्यादा जिला नही सकते और न चक्रवर्ती और इन्द्र ही अपनी पूरी शक्ति लगा कर भी किसी प्राणी को आयुष्य से एक क्षण पहले मार सकते है। न कोई किसी को मार सकता है, और न कोई किसी को जिला सकता है। आप पूछेंगे, तब फिर हिंसा-अहिंसा की बात ही कैसी ? जब कोई किसी को मार नही सकता, तो किसी की हिंसा भी नही हो सकती। और कोई किसी को जिला नही सकता, तो फिर दया-करुणा का आधार ही कुछ नही रह जाता। **'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी।'** किसी को जिलाना, बचाना हमारी शक्ति के बाहर है, तो फिर दया-करुणा का उपदेश भी निरथक है।

अभिप्राय यह है कि किसी को मारना और जिलाना हमारे हाथ मे नही है। किन्तु एक बात हमारे हाथ मे जरूर है और वह है—मारने का सकल्प करना, जिलाने का सकल्प करना। हिंसा और अहिंसा की धारा इसी उत्स मे से फूटती है। हमारे मन मे जब किसी को मारने का सकल्प उठता है, किसी को त्रास और कष्ट देने की भावना जगती है, तब हिंसा की ज्वालाएँ दहकने लग जाती है। किसी की हिंसा हो या न हो, पर मन की दूषित भावना के कारण हम हिंसक हो गए, हिंसा कर चुके। और जब किसी प्राणी को दया और करुणा से प्रेरित हो कर जिलाने का सकल्प जगता है उसके लिए सुख और शान्ति की भावना हमारे हृदय मे प्रस्फुटित होती है, तभी से अहिंसा का दिव्यभाव हमारे हृदय मे अवतरित हो चुका। भले ही हमारे प्रयत्नो से एक भी प्राणी न बच सका हो, किन्तु हमारी अहिंसा अपने आपमे जागृत हो गई। हमारी करुणा ही हमारी अहिंसा है। किसी को नही मारने का सकल्प अहिंसा का एक पक्ष

है। इसके दूसरे पक्ष को जब तक नहीं समझेंगे, तब तक अहिंसा की साधना पूर्ण नहीं होगी। यदि नही मारना ही अहिसा की पूर्णता होती, तो वीतरागी पुरुषो ने करुणा और दया जैसे शब्दो का आविष्कार नहीं किया होता ? जब दया और करुणा जैसे शब्द हमारे शास्त्र मे लिखे गए हैं, तो उनका कोई अर्थ भी अवश्य है और वह अर्थ यही है कि प्राणिमात्र की सुख-शान्ति की मधुर भावनाएँ हमारे हृदय को सदा पवित्र और शान्त बनाए रखे।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बन्धन मोह मे है, राग-द्वेष मे है। राग-द्वेष की भावना से किसी का प्राणवध करना हिंसा है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमने अहिंसा को भी वस्तुनिष्ठ नही, भावनिष्ठ माना है।

भाव-हिंसा

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भावहिंसा क्या है ? जब किसी की आत्मा मे किसी के प्रति द्वेष जगा तो हिंसा हो गई तथा किसी भी रूप मे असत्य का सकल्प, चोरी का सकल्प और व्यभिचार का दुर्भाव आया, इसी प्रकार कभी क्रोध, मान, माया और लोभ की भावनाएँ जगी, जो जीवन को अपवित्र बनाती है—तो हिसा हो गई और इसे ही हम भावहिसा कहते है।

भावहिंसा स्वघाती शत्रु

भावहिंसा से सर्वप्रथम हिंसक का ही नाश होता है। यदि किसी के मन मे क्रोध आया और ज्यो ही क्रोध ने उसे धर दबाया कि मन मे आग लग गई और उसने किसी का सर्वनाश करने का विचार कर लिया। बस, जिस समय यह भाव आया कि हिंसा हो गई। दूसरे को मारना या उसको पीडा पहुँचाना, किसी के लिए हर समय शक्य नही होता। यदि कोई उससे दुर्बल होगा तो उसके सामने वह अपनी शक्ति का उपयोग कर सकता है। यदि वह उससे अधिक शक्तिशाली है, तब तो वह स्वय जल कर रह जाएगा और अपने प्रतिद्वन्द्वी का कुछ बिगाड भी पाएगा। इस तरह वह बाहर से हिसा करता है अथवा नही करता है, किन्तु खुद तो अन्दर ही अन्दर जलता ही रहता है।

कुछ बच्चे एक बच्चे को चिढ़ाते हैं और गन्दा कह कर उसका मजाक करते हैं। वह खिसिया कर कहता है—मैं गन्दा हूँ ? अच्छा गन्दा ही सही। अब वह अपने हाथ मे कीचड लेता है और दूसरे बच्चो पर उछालने के लिए उनके पीछे दौडता है। बच्चे तेजी से भाग जाते हैं और वह उन पर कीचड नही उछाल पाता। यदि उछाल भी देता है तो दूसरो पर कीचड पडी या न पडी, परन्तु उसका हाथ तो कीचड से भर ही गया ! यदि कीचड उछालने वाला तेज दौडता है और दूसरो पर डाल देता है, तब भी उसका हाथ तो कीचड से भरेगा ही। अगर दूसरे बालक तेज हैं, और वह उन पर कीचड नहीं डाल पाता, तो वह अपना गन्दा हाथ लिए मन ही मन जलता है। इस

प्रकार दूसरो पर कीचड चाहे पडे चाहे न पड़े, किन्तु उछालने वाला तो हर हालत मे गन्दा हो ही जाता है।

शास्त्रकार यही बात बालजीवो के विषय मे कहते हैं। अविवेकी जीव प्राय बच्चो के जैसे खेल खेला करता है। वह अपने मन मे दूसरो के प्रति बुरे भाव, बुरे सकल्प पैदा करता है, और उनके कारण अपने अन्दर मैल भर लेता है—अन्त करण को मलिन बना लेता है और आत्मा के गुणो की हत्या कर लेता है। क्रोध आया, तो क्षमा की हत्या हो गई, अभिमान आया, तो नम्रता का नाश हो गया, माया आई, सरलता का सहार हो गया, और यदि लोभ आया तो सतोष का गला घुट गया। असत्य का सकल्प आया तो सत्य की सुगन्ध भी समाप्त हो गई। इस प्रकार जो भी बुराई आत्मा मे पनपती है, वह अपने विरोधी सद्‌गुण को कुचल डालती है।

रात को आना हो तो कैसे आए? दिन का जब तक कुचल न डाले या दिन जब तक समाप्त न हो जाए, और सूर्य की एक-एक किरण विलीन न हो जाए, तब तक रात कैसे आए? यदि रात हो गई तो इसका मतलब है कि दिन नष्ट हो गया है और सूरज छिप गया है।

मनुष्य जीवन मे भी जब अमावस्या की रात आती है, अर्थात् हिंसा, असत्य आदि की काली घटाएँ उमड-घुमड कर आती हैं, तो अहिंसा, सत्य और करुणा की जो ज्योति नष्ट हो जाती है। वहाँ दिन छिप जाता है और रात आ जाती है।

भाव-हिंसा आत्मा के गुणो की हिंसा कर डालती है। अब रह गई, दूसरो की हिंसा, सो वह देश, काल आदि पर निर्भर है। सम्भव है, कोई दूसरो की हिंसा कर सके, या न भी कर सके, किन्तु अपने आप तो जल ही जाता है।[२]

दियासलाई को देखिए। वह रगड खाती है और जल उठती है। स्वय जल उठने के बाद घास-पात आदि को जलाने जाती है। वह खुद तो जल ही जाती है, भले ही दूसरो को जलाए या न भी जलाए। वह जलाने चली और हवा का झोका आ गया तो बुझ जाने के कारण दूसरे को नही जला सकी, किन्तु अपने आप तो बिना जली नही रही।

इस प्रकार भाव-हिंसा अन्तरग मे तो जलन पैदा करती ही है। उसके बाद दूसरे प्राणियो की हिंसा करके द्रव्य-हिंसा मे परिणत हो जाती है। द्रव्य-हिंसा कदाचित् हो या न हो, पर हिंसामय सकल्प के साथ भाव-हिंसा तो पैदा हो ही जाती है।

सबसे बडा शत्रु

शास्त्रकार कहते हैं कि इस जीवन मे मूलभूत और सबसे बडी बुराई भाव-

---

२ स्वयमेवात्मनात्मान हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणा तु पश्चात्स्याद्वा न वा वध ॥

—राजवार्तिक ७, १३।

हिंसा है और इसी से मनुष्य को सबसे बडी लडाई लडनी पडती है। उसे अपने अदर के सबसे बड़े शत्रु का सहार करना होता है। राजर्षि नमि ने कहा है—'जीवन मे कितनी ही बाहर की लडाइयाँ लडी और कितना ही खून बहा और बहाया भी, किन्तु उनसे जीवन का सही फैसला नही हुआ। अब तो अपने विकारो और वासनाओ से लडना है।"[3] यदि इस सघर्ष मे सफलता प्राप्त हो जाती है, तो बाहर के शत्रु आप ही आप शान्त हो जायेंगे। उन पर शाश्वत विजय पाने वाले सद्गुण अपने अन्दर ही विराजित है, इसलिए व्यक्ति अपने आप से लडे। अपने से लडने का अर्थ है—अपने विकारो से और अपनी हिंसा-वृत्ति से लडना। द्रव्य-हिंसा की जननी, यह अन्दर की हिंसावृत्ति ही तो है।

द्रव्य-हिंसा

क्रोध, मान, माया, लोभ के कारण मन मे किसी के प्रति द्वेष-भाव जगता है और उसके फलस्वरूप व्यक्ति उसे पीडा पहुँचाना चाहता है। वह कडवी बातें कहता है, गालिया देता है और इससे भी आगे बढकर शारीरिक कष्ट देने की कोशिश करता है। किसी को मारता है, किसी अस्त्र-शस्त्र से प्रहार करता है, जान से भी मार डालता है। जैसा कि हम लोगो ने अब तक देखा है कि मन के द्वेषभाव को भावहिंसा की सज्ञा देते हैं। पर, भाव-हिंसा के परिणामस्वरूप जो भी घटनाएँ घटती हैं, वे द्रव्य-हिंसा की कोटि मे आती है। दार्शनिक या धार्मिक मान्यता के अनुसार यद्यपि हिंसा के दो रूप माने जाते है, साधारण जीवन मे सामान्य धारणा ऐसी देखी जाती है कि द्रव्यहिंसा ही हिंसा है। अर्थात् हिंसा के नाम पर द्रव्य-हिंसा ही खडी होती है। मन मे भले ही कोई कुछ विचार करे, लेकिन जब तक वह किसी को शारीरिक हानि नही पहुँचाता, तब तक वह हिंसा करने का दोषी नही समझा जाता। अत धार्मिकता या दार्शनिकता के दृष्टिकोण से भावहिंसा प्रधान है और सामान्य मान्यता के अनुसार द्रव्य-हिंसा ऊँचा स्थान रखती है।

चौभगी

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा को ले कर हिंसा के चार विकल्प किये गये है। आगम की परम्परा मे उसे चौभगी कहते है, वह इस प्रकार है—

(१) भाव-हिंसा हो, द्रव्य-हिंसा न हो।
(२) द्रव्य-हिंसा हो, भाव-हिंसा न हो।
(३) द्रव्य-हिंसा भी हो, भाव-हिंसा भी हो।
(४) द्रव्य-हिंसा न हो, भाव-हिंसा भी न हो।

---

३ अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ?
—उत्तराध्ययन सूत्र, ९, ३५

४ दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन।

कही ऐसा प्रसग आ जाता है और बहुधा आता ही रहता है कि भाव-हिंसा हो, किन्तु द्रव्य-हिंसा न हो। जैसा कि अभी कहा गया है, अन्दर हिंसा की भावना जगी, हिंसा का विचार पैदा हो गया और अपने जीवन के दुर्गुणो और वासनाओ के द्वारा अपने सद्‌गुणो को बर्बाद कर दिया, तो भाव-हिंसा हो गई। किन्तु दूसरे का कुछ बिगाड नही हो सका, तो द्रव्य-हिंसा न होने पाई।

भाव-हिंसा तन्दुलमच्छ का उदाहरण

प्रथम भंग जिसमे भाव-हिंसा तो होती है, पर द्रव्यहिंसा नही होती, उसे इस प्रकार समझा जा सकता है। महासागर मे हजार-हजार योजन के विशालकाय मच्छ रहते है और मुह खोले पड़े रहते है। जब वे सास लेते है तब हजारो मछलियाँ उनके पेट मे श्वास के साथ खिची चली आती है और जब सास छोडते है तो बाहर निकल जाती हैं। इस तरह प्रत्येक श्वास के साथ हजारो मछलियाँ अन्दर आती और बाहर जाती है। ऐसे किसी मच्छ की भौह पर या किन्ही आचार्यों के मतानुसार कान पर, तन्दुलमच्छ रहता है। वह कही भी रहता हो, उसकी आकृति चावल के बराबर होती है। वह सिर, आँखे, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियो से सम्पन्न होता है। उसके शरीर है और मन भी है। वह उस विशालकाय महामत्स्य की भौह या कान पर बैठा-बैठा देखता है कि इस महामत्स्य की श्वास के साथ हजारो मछलियाँ भीतर जाती है और फिर बाहर निकल आती है, और वह सोचता है—"ओह! इतना बडा शरीर पाया है, इस भीमकाय मच्छ ने, किन्तु कितना मूर्ख और आलसी है! इसे होश नही है कि—हजारो मछलियाँ आई और यो ही निकल गई! क्या करूँ, मुझे ऐसा शरीर नही मिला! यदि मिला होता तो क्या मै एक को भी वापस निकल जाने देता?" किन्तु जब मछलियो का प्रवाह आता है तो वह दुबक जाता है, डर जाता है कि कही मैं झपट मे न आ जाऊँ! मर न जाऊँ! वह कर कुछ भी नही पाता, किन्तु इस व्यर्थ की दुर्भावना से ही उसकी हजारो जिन्दगियाँ बर्बाद हो जाती है।

तन्दुल-मत्स्य मछलियो को निकलती देख कर हताश हो जाता है और सोचता है कि हाय, एक भी नही मरी! वह इन्ही दु सकल्पो मे उलझा रहता है और रक्त की एक बूँद भी नही बहा पाता। यहाँ तक कि वह किसी को एक चुटकी भी तो नही भर पाता। अन्तर्मुहूर्तभर की उसकी नन्ही-सी जिन्दगी है और इस छोटी-सी जिन्दगी मे ही वह सातवें नरक की तैयारी भी कर लेता है।

डाक्टर और मरीज का उदाहरण

भाव-हिंसा को सुगमता से समझने के लिए एक उदाहरण और प्रस्तुत है—

किसी डाक्टर के पास एक बीमार आया। इससे पहले वह अपनी चिकित्सा कराने के लिए जगह-जगह भटक चुका है और अपने जीवन की आशा भी लगभग छोड चुका है। डाक्टर के साथ उसका पूर्व-परिचय नही है। उसने डाक्टर से कहा—"मैं बीमार रहता हूँ। कृपा करके मेरा इलाज कीजिए। मेरा होश-हवास भी ठीक नही

रहता है। इसलिए मेरी इस चार-पांच हजार की पूंजी को आप अपने पास सुरक्षित रहने दें। रोग-मुक्त हो कर यदि जिन्दा रह गया तो मैं इसे ले लूंगा। यह बात किसी तीसरे को मालूम भी नहीं होनी चाहिए।"

डाक्टर ने इलाज शुरू कर दिया। एक दिन अचानक डाक्टर के मन मे लोभ जाग उठा। वह सोचने लगा—यह रोगी यदि मेरे इलाज से नीरोग और स्वस्थ हो जायगा, तो अपनी पूंजी ले कर चलता बनेगा।

जब मन मे दुर्विचारो का शैतान जाग उठता है, तो कभी-कभी उसे शान्त करना कठिन हो जाता है। यह वह भूत है कि जिसे एक बार जगा दिया तो फिर उसे सुलाने का मन्त्र मिलना जरा मुश्किल हो जाता है।

डाक्टर के मन मे पाप जगा और उसने रोगी से कहा—'लो, यह बडी बढिया और कारगर दवा है। आशा है इसके सेवन से तुम्हारी सारी बीमारी सदैव के लिए दूर हो जायगी।' यह कहते हुए उसने जहर का गिलास रोगी के सामने कर दिया। अर्थात्, धन के लोभ ने डाक्टर के मन को विषाक्त बनाया और फलत रोगी को जहर दे दिया गया।

रोगी का रोग विष-प्रयोग से ही ठीक होने वाला था। इस सम्बन्ध मे आयुर्वेदाचार्य भी कहते है—'**विषस्य विषमौषधम्**' अर्थात् जहर की दवा जहर है। रोगी के शरीर मे जो जहर फैल गया था, वह जहर से ही दूर हो सकता था। अस्तु, डाक्टर ने जो जहर दिया, उससे शरीर का जहर नष्ट हो गया और रोगी नीरोग हो गया।

वह रोगी अब डाक्टर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हुआ कहता है—"डाक्टर साहब! आप तो साक्षात् ईश्वर है! आप जैसा दयालु और बुद्धिमान् दूसरा कौन होगा? मैं भटकने-भटकते परेशान हो गया था, जीवन से भी निराश हो चुका था। निस्सन्देह आपने तो मुझे नया जीवन दिया है! आपके इस उपकार के बदले मे मेरी वह पूंजी बिल्कुल नगण्य है। अब उसे आप अपने ही पास रहने दीजिए।" इस प्रकार वह रोगी अपनी सबकी सब पूंजी डाक्टर को ही अर्पित कर देता है और जहाँ कही जाता है, डाक्टर की योग्यता का विज्ञापन करता है और उसका गुणगान गाता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि डाक्टर को क्या हुआ? डाक्टर ने तो बीमार को मार डालने के विचार से ही जहर दिया था। परन्तु उसे उलटा आराम हो गया। डाक्टर को चार-पांच हजार रुपये मिले, रोगी के द्वारा प्रशसा मिली, जनता मे भी उसने कल्पनातीत प्रसिद्धि प्राप्त की और लोगो ने कहा कि—डाक्टर ने बीमार को नया जीवन दिया। परन्तु इस सम्बन्ध मे शास्त्र क्या कहते हैं? शास्त्रो के अनुसार डाक्टर ने रोगी को जीवन दिया या मृत्यु? रोगी के नीरोग होने पर वह जीवन देने

के पुण्य का भागी है या विषप्रयोग के आधार पर मौत देने के पाप का भागी है ? उसने मनुष्य की हिंसा की है अथवा दया ?

इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन नही है। मनुष्य मे यदि सामान्य विवेक हो तो भी वह इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि—भले ही डाक्टर, रोगी के प्राण न ले सका और रोगी नीरोग भी हो गया, फिर भी डाक्टर तो मनुष्य की हत्या के पाप का भागी ही है ! यद्यपि वहाँ द्रव्य-हिंसा नही है, फिर भी भाव-हिंसा अन्तर मे स्थित है। क्योकि डाक्टर के मन मे तो हिंसा की भावना उत्पन्न हुई थी, फलत उसी हिंसा-भाव के कारण डाक्टर हिंसा के पाप का भागी हुआ। इस दुष्कर्म के अनुसार डाक्टर ने रोगी को जहर नही पिलाया, बल्कि अपने आपको जहर पिलाया यथार्थ मे उसने अपने आपको मार डाला। अपनी सद्भावना का, अपने सद्गुणो का, अपनी उच्चता का और कर्त्तव्य (Duty) का घात करना भी एक प्रकार का आत्म-घात ही है।

यह विचारधारा जैन-आगमो की है। भाव-हिंसा को भली-भाँति समझने के लिए उपरिलिखित दोनो रूपक बहुत उपयोगी है। यहाँ द्रव्य-हिंसा कुछ भी नही, अकेली भाव-हिंसा ही 'महतो महीयान्' है, वह तन्दुल-मत्स्य को सातवे नरक मे ढकेल देती है।

उपर्युक्त दृष्टान्त के आधार पर अहिंसा के साधको को इस भाव-हिंसा से सदैव बचना चाहिए, और तन्दुलमत्स्य के-से दुर्विकल्पो से तो अवश्य ही बचना चाहिए। अखिल विश्व की आत्माओ से सतो का यही कहना है कि—"तुम अकेले ही दुनिया-भर की सारी गति-विधि के ठेकेदार नही हो। किसी का जन्म-मरण तुम्हारे हाथ मे नही है। फिर क्यो व्यर्थ ही किसी को मारने की दुर्भावना रखते हो ?"

दूसरे प्रकार का भंग या विकल्प वह है, जिसमे द्रव्य-हिंसा तो हो, किन्तु भाव-हिंसा न हो। एक साधक अपने जीवन की यात्रा तय कर रहा है। उस समय उसके मन मे हिंसा नही है और हिंसा की वृत्ति भी नही है। यद्यपि वह सावधानी के साथ प्रवृत्ति करता है, फिर भी हिंसा हो जाती है। आखिर जब तक यह शरीर है, तब तक हिंसा रुक ही कैसे सकती है ! आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की तेरहवीं भूमिका तक भी अशत हिंसा होती रहती है। जब तक आत्मा और देह का सम्बन्ध है, तब तक यह कार्यक्रम चलता ही रहेगा। कोई बैठा है, और हवा का झोका लग रहा है, इस स्थिति मे भी असख्य जीव मर रहे है। एक पलक का झपकना, यद्यपि अपने आप मे एक अति-सूक्ष्म हरकत हैं, किन्तु उसमे भी असख्य जीव मर जाते है।[५] इस प्रकार जब तक शरीर है, तब तक हिंसा चल रही है और वह भी तेरहवें गुणस्थान तक। यह बात कोई मन-गढ़न्त अपितु आगमो द्वारा प्रतिपादित है। भगवती-सूत्र के अनुसार केवल-

५ 'पक्ष्मणोऽपि निपातेन तेषा स्यात् स्कन्ध-पर्यय ।'

ज्ञानियो से भी काययोग की चचलता के कारण कभी-कभी पचेन्द्रिय जीवो तक की हिंसा हो जाती है।[६]

केवलज्ञानी विहार कर रहे हैं और बीच मे कही नदी आ जाए तो क्या करेंगे ? उत्तर स्पष्ट है, वे नाव मे बैठेंगे। यदि नदी मे पानी थोडा है तो विधि के अनुसार पैदल भी जल मे से पार होंगे। वे चाहे नाव मे बैठ कर चलें या पानी मे उतर कर, परन्तु हिंसा से बचाव सर्वथा असम्भव है ! नाव और पानी की तो बात क्या, एक कदम रखने मे जो हरकत होती है, उसमे भी हिंसा हो जाती है।

इस सदर्भ मे कर्म-बन्ध की बात भी आ जाती है। तेरहवे गुणस्थान वाले केवलियो को कौन-सी कर्म-प्रकृति का बध होता है ? उक्त नदी-सतरण, आदि कार्य करते हुए भी वे सातावेदनीय का ही बध करते है।[७] यह कैसी बात हुई ? जीवन के द्वारा होती तो है हिंसा, किन्तु बध होता है सातावेदनीय का ! जिन जीवो की हिंसा हुई है, वे साता मे मरे है या असाता मे ? वे कुचले गये है, चोट पहुंचने पर मरे हैं, अपने आप नही मर गये है। फिर भी आगम कहते हैं कि इस स्थिति मे बध होता है—सिर्फ पुण्यप्रकृति का ही, पापप्रकृति का नही। इस जटिल समस्या पर विचार करने की आवश्यकता है।

कषायभाव हिंसा का मूलाधार

वास्तव मे हिंसा कषायभाव मे है। इस सम्बन्ध मे कहा भी गया है — किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना अपने आप मे हिंसा नही है, अपितु क्रोधभाव से, मानभाव से, मायाभाव से या लोभभाव से किसी जीव के प्राणो को नष्ट करना, हिंसा है। मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा द्वेष आदि दुर्भाव यदि मन मे हो और मारने की दुर्वृत्ति के साथ जीवो को मारा जाता हो या सताया जाता हो, तो वहाँ हिंसा होती है।[८] प्रमादपूर्वक, रागद्वेष की वृत्ति से किसी के प्राणो का नाश हिंसा है। किसी को मारना ही हिंसा की व्याख्या नही है।

---

६ अणगारस्स भते ! भावियप्पणो पुरओ जुगमायाए पेहाए रीय रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोए वा कुलिगच्छाए वा परियावज्जिज्जा,

७ तस्स ण ! इरियावहिया किरिया कज्जइ ? सपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! अणगारस्स ण भावियप्पणो जाव तस्स ण इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो सपराइआ कज्जइ।

—श्री भगवती-सूत्र, श० १८, उ०८

८ 'प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपण हिंसा।'

—तत्त्वार्थसूत्र ७, ४३

मण-वयण-कायेहि जोगेहि दुप्पउत्तेहि ज पाण-ववरोवण कज्जइ सा हिंसा'

—दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन

जब किसी को मारने मे मन का दु सकल्प जुडता है, रागद्वेष की भावना प्रेरक बनती है, तब हिंसा होती है। भले ही किसी के प्राण नही छूटें। किन्तु हमारा मन रागद्वेष के सकल्प से दूषित हो गया, तब भी हम हिंसक हो गए।

उक्त कथन का भावार्थ यह है कि हिंसा का मूलाधार कषायभाव है। अत जो साधक कषायभाव मे न हो, फिर भी यदि उसके शरीर से हिंसा हो जाती है तो वह केवल द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नही। द्रव्य-हिंसा, प्राण-नाशस्वरूप होते हुए भी हिंसा नही मानी जाती।[९] केवलज्ञानी की यही स्थिति है। वे राग-द्वेष की स्थिति से सर्वथा अलग हैं। उनके अन्दर किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भाव नही है, अपितु सर्वांगीण सद्भाव है। अत उनके शरीरादि से होने वाली हिंसा, हिंसा नही है। केवली स्वभावत हिंसा करते नही है, अपितु वह हो जाती है। इसीलिए उन्हे बाहर मे हिंसा होते हुए भी एकमात्र साता-वेदनीय का बध होता है।

शाब्दिक दृष्टिकोण से यहाँ पर दो प्रकार के शब्दो के प्रयोग देखे जा रहे है—'वे हिंसा करते नही, वह अपने आप हो जाती है। दूसरे प्रकार से इसे यो भी कह सकते है कि केवली जीवो को मारते नही, वे अपने आप मर जाते है। इन दोनो प्रयोगो मे कितना बडा अन्तर है ?

यतनापूर्वक गमन से हिंसा का पाप-बन्धन नहीं

एक साधु विवेकपूर्वक भिक्षा के लिए जाता है या कोई गृहस्थ विवेकपूर्वक गमनक्रिया करता है। उस समय उसके अतस् मे किसी भी जीव को मारने की वृत्ति नहीं है, फिर भी यदि मर जाते है, तो यही कहा जायगा कि वह जीवो को मारता नही है, किन्तु जीव मर जाते है। इस प्रकार के मर जाने मे पाप-बध नही है, किन्तु मारने मे पाप-बध है। इस सम्बन्ध मे आचार्य भद्रबाहु भी कहते है—'ईर्यासमिति से युक्त हो कर कोई साधक चलने के लिए पाँव उठाए और अचानक यदि कोई जीव उसके नीचे आ कर, दब कर मर जाए, तो उस साधक को उसकी मृत्यु के निमित्त से तनिक-सा भी बध होना शास्त्र मे नही बताया गया है। क्योकि वह साधक गमन-क्रिया मे पूर्ण-रूप से उपयोग रखने के कारण निष्पाप है।"[१०]

यही बात दिगम्बरपरम्परा के आचार्य वट्टकेर ने भी उद्घोषित की है—

---

९ यदा प्रमत्तयोगो नास्ति, केवल प्राणव्यपरोपणमेव, न तदा हिंसा। उक्त च-वियोजयति चासुभिर्न च वधेन सयुज्यते।'

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ७, १३

१० उच्चालिअम्मि पाए इरियासमिअस्स सकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज त जोगमासज्ज ॥७४८॥
न य तस्स तन्निमित्तो बधो सुहुमो वि देसिओ समए।
अणवज्जो उवओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा ॥७४९॥

—ओघनिर्युक्ति

'कमलिनी का पत्ता जल मे ही उत्पन्न होता है और जल मे ही उसका पोषण और विकास भी होता है, फिर भी वह जल से लिप्त नहीं होता, क्योकि वह स्नेहगुण से युक्त है। इसी प्रकार समितियुक्त साधु जीवो के मध्य मे विचरण करता हुआ भी पाप से लिप्त नही होता, क्योकि उसके अन्त करण मे करुणा का अखण्डस्रोत प्रवाहित है।"[११]

एक और सुन्दर उपमा के साथ आचार्य फिर इसी बात को स्पष्ट करते है—'घोर सग्राम छिडा हुआ है। योद्धागण एक-दूसरे पर प्रखर बाणो की जलधारवत् वर्षा कर रहे है। परन्तु जिसने अपने वक्षस्थल को मजबूत कवच से ढँक रखा है, उसे क्या वे बाण घायल कर सकते है ! कदापि नही। इसी प्रकार जो मुनि ईर्यासमिति के सुदृढ कवच से युक्त है, वह जीवो के समुदाय मे निरन्तर विचरता हुआ भी पाप से लिप्त नही हो सकता।"[१२]

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से नवीन पाप-कर्म का स्पर्श भी नही होता। इतना ही नही, अपितु पहले बँधे हुए कर्मों का क्षय भी होता है। वही आचार्य कहते है—"जो मुनि यतना के साथ चल रहा है, जिसके चित्त मे प्राणीमात्र के प्रति दया की भावना विद्यमान है, वह चलता हुआ भी नवीन कर्मों का बध नही करता। इतना ही नही, अपितु वह पहले बधे हुए कर्मों की निर्जरा भी करता है।"[१३]

आचार्यशिरोमणि भद्रबाहु का भी ओघनिर्युक्ति मे ऐसा ही कथन है—'गीताथ साधक के द्वारा यतनाशील रहते हुए भी यदि कभी हिंसा हो जाती है तो वह पाप-कम के बध का कारण न हो कर निर्जरा का कारण होती है। क्योकि बाहर मे हिसा होते हुए भी यतनाशील के अन्तर मे भाव-विशुद्धि रहती है। फलत वह कर्मनिर्जरा का फल अर्पण करती है।"[१४]

---

११ पउमिणि-पत्त व जहा, उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्त।
तह वद-समिदीहिं ण लिप्पदि, साहू काएसु इरियतो॥
—मूलाचार, पचाचाराधिकार

१२ सर-वासेहिं पडतेहिं जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ, साहू काएसु इरियतो॥

१३ तम्हा चेट्ठिदुकामो, जइया तइया भवाहि त समिदो।
समिदो हु अण्ण ण दियदि, खवेदि पोराणय कम्म॥
—पचाचाराधिकार

जद तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णव ण बज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि॥ —समयसाराधिकार

१४ जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स,
सा होइ निज्जर-फला, अज्झत्थ-विसोहि-जुत्तस्स॥७५९॥

यदि किसी के मन के अन्तर्जगत् मे अहिंसा का सागर लहरा रहा है, वहाँ कषायकृत दुर्भाव नहीं है, असावधानी भी नही है, अपितु जागरूकता है, फिर भी शरीर से हिंसा हो रही है, साधक किसी को मार नही रहा है, मरने वाले स्वत ही मर रहे हैं तो इसके लिए शास्त्रकार कहते है कि वहाँ द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नही। यह दूसरा भग है। जहाँ ऐसी स्थिति हो वहाँ द्रव्य-हिंसा होती है, भाव-हिंसा नही। द्रव्य-हिंसा को स्पष्ट रूप से समझने के लिए एक रूपक लीजिए—

किसी डाक्टर के पास एक बीमार आता है। उसके आमाशय मे घातक फोडा है। डाक्टर पहले तो बीमारी का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करता है और निश्चय करता है कि फोडे का आपरेशन करना अनिवार्य है। वह बीमार को सूचना दे देता है कि आपरेशन किये बिना काम नही चल सकता और आपरेशन है भी खतरनाक। बेचारा बीमार खतरा उठाने के लिए तैयार हो जाता है। तब डाक्टर, स्वय अपने हाथो से, अत्यन्त सावधानी और ईमानदारी के साथ आपरेशन करता है। उसकी प्रत्येक सास से मानो यही ध्वनि निकलती है कि बीमार किसी प्रकार अच्छा हो जाए। क्योकि बेचारा वेदना का मारा, भरोसा करके मेरे पास आया है। गृहस्थी है और बाल-बच्चो वाला है। यदि इसकी जिन्दगी बच गई तो कितनो की ही जिन्दगी बच जाएगी। यदि यह मर गया तो सारा घर तबाह और बर्बाद हो जाएगा। इस प्रकार डाक्टर के मन मे दया का प्रवाह उमडता है और करुणा का झरना बहता है। इस स्थिति मे डाक्टर आपरेशन करता है, किन्तु करते-करते कही भूल हो जाती है। नस कट जाती है और खून की धारा बह उठती है। डाक्टर की करुणाभावना और भी अधिक जागृत होती है और वह खून का बहाव रोकने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता है। परन्तु उसके प्रयत्न विफल हो जाते है और रोगी मृत्यु की शरण मे पहुँच जाता है।

यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि डाक्टर को क्या हुआ? कहने को तो यही कहा जा सकता है कि डाक्टर के हाथ से रोगी की मृत्यु हुई है। यदि डाक्टर आपरेशन नही करता, तो रोगी को प्राणो से हाथ न धोने पडते। कोई-कोई यह भी कहते है—डाक्टर मूर्ख है, लापरवाह है, अनाडी है! रोगी के घर वाले भी उत्तेजित हो जाते हैं और डाक्टर को कोसते है। उसकी प्रैक्टिस को भी धक्का पहुँचता है और गली-गली मे उसकी बदनामी होती है। दुनिया की बात जाने दीजिए, वह चाहे कुछ भी कहे। यहाँ सूक्ष्म-दृष्टि से यह देखना है कि इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार क्या कहते हैं?

शास्त्रकार कहते है कि डाक्टर मनुष्य की हिंसा के पाप का भागी नही है। उसने सद्भावना से, बीमार को शान्ति देने के शुभ सकल्प से और सावधानी के साथ कार्य किया है। बीमार तो स्वत मरा है, डाक्टर ने उसे मारा नही है। इस प्रकार द्रव्य-हिंसा हुई है, भाव-हिंसा नही। इस स्थिति मे डाक्टर को पुण्य ही हुआ, पाप

अशमात्र भी नही हुआ। पुण्य-पाप का सम्बन्ध तो कर्ता के अन्तर्जगत् से है, बाह्य जगत् से नही।

इन दोनो दशाओ की तुलना करके देखने पर विस्मय-सा होता है। पहले भग मे भाव-हिंसा है, द्रव्य-हिंसा नही, और दूसरे भग मे द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नही। दोनो के परिणाम मे और प्रयोग मे कितना अन्तर है ? एक, बाहर से हिंसक न होते हुए भी हिंसक है, और दूसरा, लोक-दृष्टि मे हिंसक होते हुए भी अहिंसक है।

जो लोग अहिंसा को अव्यावहारिक कहते है, उन्हे इस सिद्धान्त पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए। जीवन-व्यापार मे यदि हिंसा का दु सकल्प त्याग दिया जाए, निष्कषायत्व का भाव पूर्णरूप से अपना लिया जाए, तो हिंसा का परित्याग हो जाता है। जैन-धर्म मुख्यत हिंसा की वृत्ति को छोडने के लिए ही कहता है। वह कहता है कि जितनी-जितनी हिंसा की वृत्ति कम होगी, अर्थात् कषाय की दुर्भावना जिस अनुपात मे कम होती जायगी, उसी अनुपात मे अविवेक भी कम होता जाएगा। इसके फलस्वरूप विवेक जागेगा और जीवन मे पवित्रता की ज्योति उत्तरोत्तर जगमगाती दिखलाई देगी।

आचार्य भद्रबाहु ने उक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए ओघनिर्युक्ति मे कहा है। अहिंसा और हिंसा के सम्बन्ध मे यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा। जो आत्मा विवेकी है, सजग है, सावधान है, अप्रमत्त है, वह अहिंसक है। इसके विपरीत जो अविवेकी है, जागृत एव सावधान नही है, प्रमादयुक्त है, वह हिंसक है।'[१५]

तीसरा भग है—भाव-हिंसा भी हो और द्रव्य-हिंसा भी हो। अर्थात्—हृदय की अन्तर्भूमि मे मारने की वृत्ति आ गई, और बाहर मे किसी को मार भी दिया। किसी को सताने की भावना भी उत्पन्न हुई, और उसे सताया भी गया। इस प्रकार की दोहरी हिंसा का फल भी भाव-हिंसा के समान ही जीवन को बर्बाद करने वाला है।

चौथा भग है—न तो भाव-हिंसा हो, और न द्रव्य-हिंसा ही हो। परन्तु यह भग हिंसा की दृष्टि से शून्य है। यहाँ हिंसा को किसी भी रूप मे स्थान नहीं है। ऐसी सर्वाङ्ग परिपूर्ण अहिंसा अयोग एव मुक्ति की अवस्था में होती है। जहाँ न तो मारने की वृत्ति है, और न मारने का कृत्य ही है, यह सर्वोच्च आदर्श की स्थिति है।

इस प्रकार, हिंसा की बारीकियो को भलीभाँति समझ जाने के बाद अहिंसा का स्पष्ट रूप अपने आप समझ मे आ जाता है। □

---

१५ आया चेव अहिंसा आया हिंसति निच्छओ एसो,
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥७५४॥

अहिंसा के संदर्भ में धर्मयुद्ध का आदर्श | १६

युद्ध होते है, किन्तु युद्ध का अर्थ यह नही कि सभी युद्ध एक-जैसे ही होते है। एक तो युद्ध वह होता है, जो धर्म के लिए लडा जाता है, इसे धर्मयुद्ध कहते हैं, दूसरा अधम के लिए लडा जाता है, जिसे अधर्मयुद्ध कहा जाता है। धर्मयुद्ध वास्तव मे हिसा का उतना नही, जितना कि अहिसा का अग है। बगला देश की शरणागतरक्षा हेतु भारत जो युद्ध लड रहा है, यह धर्मयुद्ध ही है। इस सामयिक समस्या पर श्रद्धेय कविश्रीजी का ६-१२-७१ को दिया गया युक्ति-युक्त प्रवचन —सम्पादक]

अहिंसा और हिंसा की विवेचना बहुत पूर्वकाल से होती आ रही है। अब तक जितने भी मनीषी-विचारक हुए है, सभी ने इस पर बडी सूक्ष्मता से विचार किया है, किन्तु फिर भी बहुत बार लोग गडबडा जाते है कि वास्तव मे अहिंसा और हिंसा का सही रूप क्या है? मोटे तौर पर द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के दो रूपो मे विभाजित करके हिंसा की विवेचना की जाती है। किन्तु हिंसा के वास्तव मे चार रूप है—(१) द्रव्य-हिंसा—इसमे सिर्फ बाहर मे हिंसा होती है, (२) भावहिंसा—इसमे भावनामात्र से हिंसा होती है, (३) द्रव्य-भावहिंसा—इसमे द्रव्य और भाव—दोनो प्रकार की हिंसा होती है, यह हिंसा का प्रचण्डरूप है। और (४) न द्रव्य+न भाव हिंसा—इसमे न अन्दर मे हिसा होती है, न बाहर मे। और यह हिसा का शून्य भग अर्थात् प्रकार है। अत यह चतुर्थरूप वस्तुत अहिसा ही है।

जैनदर्शन मे अहिंसा का बोलबाला है। इसमे अहिंसा सर्वोच्च शिखर के रूप मे दीप्तिमान है। जैनसाधना म इसका बडा विशद महत्त्व है। जैनधर्म-साधना का कण-कण अहिसा से अनुप्राणित है। शास्त्र के शास्त्र इस पर लिखे गये है। "पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय" एक ऐसा ही ग्रन्थ है, जिसमे हिंसा और अहिसा का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि की रचनाओ मे भी हिसा और अहिसा की गम्भीर विवेचना उपलब्ध है।

किन्तु विचारणीय बात यह है कि जब तक जीवन है, तब तक इसमे हिंसा तो रहती ही है। हिसा का क्रम निरतर चलता ही रहता है। चलने-फिरने मे हिंसा है, खाने-पीने मे हिंसा है। धरती पर असख्य कीटाणु फिरते है, जिन्हे माइक्रो-स्कोप से स्पष्ट देखा जा सकता है, कदम रखते ही उनका सहार हो जाता है। हवा मे भी

असख्य सूक्ष्मकीटाणु है, जो शास्त्रोक्त वायुकायिक जीवो के अतिरिक्त हैं, शरीर से लगते हर झोंके के साथ उनका सर्वनाश होता रहता है। हर साँस मे प्राणी मर रहे हैं। व्यक्ति के अपने शरीर मे भी मास, मज्जा, रक्त, मलमूत्र आदि मे भी प्रतिक्षण असख्य प्राणी जन्मते-मरते रहते है। प्रश्न है, इस स्थिति मे हिंसा से कैसे बचा जा सकता है ? अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? जैनपरम्परा इसका उत्तर द्रव्य और भाव के द्वारा देती है। यदि साधक जाग्रत है, उसके मन मे अहिंसा का विवेक-बोध है, हिंसा की वृत्ति या सकल्प नही है, तो वह बाहर मे हिसा होने पर भी अन्दर मे अहिंसक ही है। यह भावशून्य द्रव्यहिसा केवल बाह्य व्यवहार मे कथनमात्र की हिसा है, पापकर्म का बन्ध करने वाली हिंसा नही है। इस प्रकार हिसा की भावना से मुक्त मन स्थिति मे द्रव्यहिंसा होने पर भी अहिसाधर्म का परिपालन अक्षुण्ण है।

अहिसाधर्म के परिपालन का एक दूसरा रूप और है। वह प्रवृत्ति मे हिसा और अहिंसा की मात्रा के आधार पर है। कल्पना कीजिए, कोई एक प्रवृत्ति है, जिसमे हिसा की मात्रा कम है, किन्तु अहिंसा का भाग अधिक है, तो वह भी अहिंसा की साधना के क्षेत्र मे आ जाती है। हिंसा और अहिसा का केवल वर्तमान पक्ष ही नही, भविष्य पक्ष भी देखना आवश्यक है। यदि वतमान मे हिसा होती है, किन्तु उसके द्वारा भविष्य मे अहिसा की विपुल मात्रा परिलक्षित होती है, तो वह वर्तमान की हिंसा भी अहिसा की साधक हो जाती है। इसके विपरीत यदि वर्तमान मे अहिसा अल्पमात्रा मे है, किन्तु भविष्य मे उससे प्रचुरमात्रा मे हिंसा फूट पडने की स्थिति है, तो वह वर्तमान की क्षुद्र अहिंसा अहिसा के साधनाक्षेत्र मे नही आती है।

अहिसा का सही रूप

गहराई से विचार करने पर हम देखते है कि हिसा के दो रूप चल रहे होते है। एक लम्बी खूखार हिसा होती है और दूसरी, उस निर्दय एव क्रूर हिसा को रोकने के लिए एक छोटी हिंसा होती है। यहाँ यही विचारणीय है कि क्या हम दोनो को एक समान हिसा कह सकते है ? नही ! स्पष्ट है कि एक लम्बी हिंसा अर्थात् एक बहुत बडी हिंसा को रोकने के लिए जो एक छोटी हिंसा होती है—भले ही इसमे प्रत्यक्षत प्रचण्डहिसा क्यो न होती हो—वह हिंसा की एकान्त श्रेणी मे नही आ सकती। कल्पना कीजिए, शरीर मे एक जहरीला फोडा हो गया है। उस फोडे को साफ करना है। यदि उसे साफ नही किया जाता है तो सारा शरीर ही बर्बाद हो जाता है। एक अँगुली के जहर को निकाल कर पूरे शरीर को बचाना होता है। इसके लिए जरूरी होने पर उस विषदिग्ध अँगुली को काट कर शरीर से अलग भी कर दिया जाता है और पूरे शरीर को समाप्त होने से बचा लिया जाता है। अभिप्राय यह है कि एक छोटे अग का विष, जो पूरे शरीर मे फैल कर जीवन को ही नष्ट करने वाला हो, तो उस समय एक हाथ, एक पैर या एक अंगुली को काटे जाने का मोह नही किया जाता। यह नही सोचा जाता कि उसे काटा जाए या नही काटा जाए। स्पष्ट है, सारे शरीर को बचाने

के लिए एक अग को काट दिया जाता है और सारे शरीर को बचा लिया जाता है। इस उदाहरण के सन्दर्भ मे जैनदर्शन के अनुसार हमारी यह परम्परा है कि जहाँ बडी हिंसा होने वाली है, या हो रही हो, तो वहाँ छोटी हिंसा का जो प्रयोग है, वह एक प्रकार से अहिंसा का ही रूप है। अहिंसा इसलिए है कि वह एक बडी हिंसा को रोकने के लिए है। वह हिंसा तो है, लेकिन इस हिंसा के पीछे दया छिपी हुई है, उसके मूल मे करुणा छिपी हुई है, और उसके पीछे एक महान् उदात्त भावना है कि यह जो बडी हिसा हो रही है, उसे किसी तरह समाप्त किया जाए। इसी कारण इसको जैन-दर्शन के अन्दर आदर दिया गया है।

युद्ध, अहिंसा और नैतिक आदर्श

विचार कीजिए कि रावण सीता को चुरा कर ले जाता है। और विरोध मे सीता के लिए रामचन्द्रजी लका पर आक्रमण करते है। इस प्रकार एक भयकर युद्ध हो जाता है। प्रश्न केवल एक सीता का है। और उसमे भी सीता को कोई कत्ल तो नही कर रहा था, सीता की कोई हिंसा तो नही हो रही थी। लेकिन विचारणीय तो यह है कि किसी को मार देना ही तो हिसा नही कही जाती, बल्कि किसी के नैतिक जीवन को बर्बाद कर देना भी हिंसा है। क्योकि अनैतिकता अपने आप मे स्वय हिंसा हो जाती है। विचार कीजिए, रावण ने एक सीता का अपहरण कर जो सामाजिक अन्याय किया है, यदि उस अन्याय को नही रोका जाता है, तो अन्याय जनमानस पर हावी हो जाता है, न्याय की प्रतिष्ठा ध्वस्त हो जाती है, और उसकी देखादेखी भविष्य मे और भी अन्याय फैल सकता है। इस दृष्टि से किया गया अन्याय का प्रतिकार धर्म के क्षेत्र मे आता है।

राजनीति के अन्दर दड की जो परम्परा है, वह भी इसलिए है कि जो अन्याय और अत्याचार का दायरा लम्बा होता है, फैलता जाता है, उस पर नियन्त्रण किया जाए, क्योकि यदि उसे नियत्रित नही किया जायगा तो वह निरन्तर फैलता ही चला जायगा। अत उसको रोकने के लिए अमुक प्रकार के कदम उठाये जाते हैं, जिससे कि एक छोटे कदम के द्वारा, वह जो बडे कदम के रूप मे अन्याय, अत्याचार होने वाला है, उसको रोका जाए। प्रस्तुत प्रसग मे यदि केवल बाहर मे ही स्थूलदृष्टि से देखा जाए, तो यही कहेगे कि राम ने एक सीता के लिए लाखो लोगो को मौत के घाट उतार दिया। यह तो बहुत बडी हिंसा हो गई! एक के लिए अनेको का सहार! लेकिन नही, यह तो एक छोटी हिंसा है। और वह जो उचित प्रतिकार न करने पर अन्याय-अत्याचार अनर्गल रूप पकडता जाता, वह बडी हिंसा होती। तो, उस बडी हिसा को रोकने के लिए ही युद्ध के रूप मे यह छोटी हिंसा लाजमी हो गई थी। इसलिए राम की ओर से जो युद्ध लडा गया था, वह धर्मयुद्ध था। इसके विपरीत रावण की तरफ से जो युद्ध लडा गया, वह अधर्मयुद्ध था। युद्ध एक ही है, और इसमे दोनो ओर हिंसा हुई है, दोनो ओर से मारे गए हैं लाखो आदमी,

लेकिन एक धर्मयुद्ध माना जाता है और एक अधर्मयुद्ध माना जाता है। ऐसा क्यो माना जाता है ? ऐसा इसलिए माना जाता है कि राम के मन मे एक उदात्त नैतिक आदर्श है। उनका युद्ध किसी अनैतिक धरातल पर नही है, किसी भोग-वासना की पूर्ति के लिए या राज्यलिप्सा के लिए नही है, बल्कि वह सतीत्व की रक्षा के लिए और अन्याय-अत्याचार की परम्परा को, जोकि जन-जीवन मे बढती जा रही है, रोकने के लिए है। इसी दृष्टि से विचार करने पर हम देखते है कि यह जो वर्तमान मे पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का युद्ध चल रहा है, उसका भी यथोचित विश्लेषण किया जाना चाहिए। विश्लेषण के अभाव मे हमारे यहाँ कभी-कभी काफी भयकर भूले हुई है। और उनके दुष्परिणाम भारत को हजारो वर्षों तक भोगने पडे है।

अहिंसा-सम्बन्धी गलत धारणाएँ

हमारे समक्ष हिन्दूसम्राट् पृथ्वीराज का ज्वलत उदाहरण है। कहा जाता है कि जब मोहम्मद गौरी भारत पर आक्रमण करने आया, उस समय भारत की शक्ति इतनी सुदृढ थी कि वह हार कर चला गया। वह फिर आया और फिर पराजित हो कर लौट गया, फिर आया और फिर पराजित हुआ। इस प्रकार वह कई बार आया और पराजित हुआ। उस समय भारत की रणशक्ति बहुत बढी-चढी थी। बडे-बडे रणबाँकुरे वीर थे यहाँ। अत बारबार उसे यहाँ आ कर पराजित हो जाना पडा। किन्तु एक बार उसे पता लग गया कि ये जो हिन्दू हैं, गाय पर आक्रमण नही करते। अत उस धूर्त ने क्या काम किया कि अपने नये आक्रमण मे सेना के आगे गायो को रखा। आगे-आगे गायें चल रही थी और पीछे-पीछे उसकी सेनाएँ युद्ध के लिए बढ रही थी। अब यहाँ के वीर राजपूत धर्माधर्म की विचित्र उलझन मे पड गये। हालाकि उनमे अद्भुत शक्ति थी लडने की, कई बार गौरी को हराया भी था। लेकिन इस बार वे गडबडा गये कि भाई, युद्ध तो कर रहे है, लेकिन यदि किसी गाय को बाण लग गया और गाय मर गई तो गोहत्या का पाप लग जायेगा और यह बहुत बडा भयकर पाप होगा। बस, इधर वीर राजपूत गायो को बचाने के विचार मे उलझ गए और उधर शत्रु को तो कोई मतलब था नही इन बातो से। लडाई होती रही। गायो को बचाने के लिये राजपूत पीछे हटते रहे, निर्णायक प्रत्याक्रमण नही कर सके। परिणाम यह हुआ कि आखिर राजपूत सेना, जो विजय प्राप्त कर सकती थी, जिसमे भरपूर ताकत थी लडने की और विजय प्राप्त करने की, वह पराजित हो गई और देश गुलाम हो गया।

यहाँ यदि आप विश्लेषण करेंगे ठीक तरह से, तो विचार करना पड़ेगा कि यह जो गो-हत्या के सम्बन्ध मे चिन्तन था, वह कितनी गलत दिशा मे था। वीर राजपूतो ने यह तो देखा कि वर्तमान मे हमारे बाणो से सम्भव है, कुछ गाये मर जाएँ, किन्तु उन्होंने भविष्य को नही देखा कि क्या होने वाला है ? आने वाले आक्रमणकारियो के लिए तो गाय-भैस जैसा कुछ भी विचारणीय न था। यह सब तो उनके भक्ष्य ही थे। उन थोडी-सी गायो को मारने या बचाने के पाप-पुण्य का अथवा हिंसा-

अहिंसा का कोई मूल्य नहीं था, उनकी दृष्टि मे । अत वे पूरी शक्ति से लड़े और जीते। इस युद्ध के सम्बन्ध मे आप विचार करके देखेंगे तो आपको मालूम होगा कि उन थोडी-बहुत गायो को बचाने का क्या अर्थ रहा ? कुछ गायो की रक्षा के काम मे वे पराजित हो गए, देश गुलाम हो गया । इतिहास पर नजर डालिए, इसके बाद कितनी गो-हत्याएँ हुई, कितनी मानव-हिंसाएँ हुई और कितने अनाचार-दुराचार और कितने पापाचार हुए हैं ? देश मिट्टी मे मिलता चला गया और भारत की भव्य सस्कृति सभ्यता, कल्चर (Culture) सब कुछ समाप्त होती चली गई। धर्म-परम्पराओ को कितनी क्षति पहुँची? धर्म-परम्पराओ को इस तरह से बर्बाद किया गया कि उनका निर्मल रूप ही विकृत हो गया। केवल गायो का ही सवाल नही रहा। हजारो माताओ और बहनो की बेइज्जतियाँ भी हुई। यह हिन्दू-मुसलमान का सवाल नही है। इस प्रकार के सवालो मे मुझे कोई दिलचस्पी नही है और न अपने आप मे ये कोई अच्छे सवाल ही है। सवाल तो सिर्फ इतना है कि समग्र पर अन्याय का उचित प्रतिकार न करने से भविष्य मे क्या होता है ? हिन्दू हो या मुसलमान, कोई भी हो, अन्याय का प्रतिकार होना चाहिए, केवल वर्तमान की हिंसा या अहिंसा को न देख कर, उसके भविष्यकालीन दूरगामी परिणामो को देखना चाहिए। वर्तमान की सीमित दृष्टि कभी-कभी सर्वनाश कर डालती है।

राजा चेटक का धर्मयुद्ध

इस बडी और छोटी हिंसा के विश्लेषण को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं एक उदाहरण आपके समक्ष रख रहा हूँ—वह है कूणिक और चेडा राजा (राजा चेटक) के युद्ध का। भगवान् महावीर के समय का यह बहुत बडा भयानक युद्ध था, जिसका उल्लेख तत्कालीन धर्म-परम्पराओ के साहित्य मे है। सुप्रसिद्ध वैशाली गणतन्त्र के मान्य अध्यक्ष राजा चेटक एक महान् बारह व्रतधारी श्रावक थे। दूसरी ओर मगध सम्राट् कूणिक था, जिसने कि वैशाली पर आक्रमण किया था। उक्त युद्ध के मूल मे एक शरणागत का प्रश्न था। प्रसग यह है कि कूणिक अपने छोटे भाई के हक को छीन रहा था, उसकी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को हडप रहा था। राजकुमार हल्लविहल्ल पर भय छा गया। वह अपने बचाव के लिए चेटक राजा के पास पहुँच गया, शरणागत के रूप मे। कूणिक को जब यह मालूम हुआ कि वह वैशाली मे चेटक-राजा के पास पहुँच गया है, तो उसने चेटक-राजा को यह कहलवाया कि—"तुम उसको यो का यो वापस लौटाओ, अन्यथा, इसके लिए तुम्हे युद्ध का परिणाम भोगना पडेगा।" राजा-चेटक ने शरणागत की रक्षा मे युद्ध का वरण किया। भयकर युद्ध हुआ, लाखो ही वीर काल के गाल मे पहुँच गए। स्वय चेटक-नरेश भी वीरगति को प्राप्त हुए। वहाँ प्रश्न था—एक शरणागत की रक्षा का। अगर राजा चेटक उस एक शरणागत को लौटा देता, भले ही उसके साथ कुछ भी करता क्रुद्ध कूणिक, तो लाखो ही लोगो के प्राणो की रक्षा हो जाती। यदि राजा चेटक हिंसा-अहिंसा का वैसा विश्लेषण करता, जैसा कि आजकल कुछ लोग

अपने मस्तिष्क मे इस प्रकार की विचारधारा रखते है, तो उसके मुताबिक वह अवश्य ही राजकुमार को वापस लौटा देता। कह देता कि—"भाई, तू यहाँ चला तो आया है। लेकिन मैं तेरी रक्षा कैसे कर सकता हूँ? तेरी एक की रक्षा मे, लाखो आदमी युद्ध मे मारे जायेगे। एक के बचाने मे लाखो आदमी मारे जाने पर तो बहुत बडी हिंसा हो जायेगी।" परन्तु राजा चेटक ने ऐसा कुछ नही सोचा, ऐसा कुछ नही कहा। उसने शरणागत की रक्षा के लिए युद्ध किया, जो महाभारत जैसा ही एक भयकर युद्ध था।

अब सवाल यह है कि राजा चेटक बारह व्रती श्रावक है, उसका हिंसा-अहिंसा से सम्बन्धित चिन्तन काफी सूक्ष्म रहा है, प्रभु महावीर की वाणी सुनने का कितनी ही बार उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह कोई साधारण नरेश नही है, तत्कालीन वैशाली के विशाल गणतन्त्र का चुना गया अध्यक्ष है। इसका अर्थ है कि वे अपने युग के एक महान् चिन्तनशील व्यक्ति थे। उन्होने हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को व्यक्तियो की सख्या पर हल नही किया। उन्होने अपने धर्म-चिन्तन के प्रकाश मे स्पष्ट देखा कि यह शरणागत है, साथ ही निरपराध है उसका कोई अपराध नही है, और उस निरपराध के हक को छीन रहा है मदान्ध कूणिक। अत यह एक शरणागत का प्रश्न ही नही है, अपितु निरपराध के उत्पीडन का भी प्रश्न है। और इस तरह मे शरण मे आये को, पीडित जन को यदि कोई वापिस लौटा दे, ठुकरा दे तो उसे कहाँ आश्रय मिलेगा? कल्पना कीजिए, एक इन्सान चारो तरफ से घिर जाता है, सब ओर से मौत आ घेरती है, भयकर निराशा के क्षण होते है। उक्त निराशा के क्षणो मे वह एक बडी शक्ति के पास पहुँचता है कि उसे शरण मिलेगी। लेकिन वहा उसे ठुकरा दिया जाता है, फिर दूसरी जगह जाता है, वहाँ से भी ठुकरा दिया जाता है। अब कल्पना कीजिए, उसको कितनी पीडा हो सकती है! उस समय उसका मन कितना हताश हो जाता है। आँखो से आँसू बह रहे है, पर कोई पूछने वाला नही कि क्या बात है, क्यो रोता है? स्पष्ट है, ऐसी स्थिति म दुनियाँ मे न्याय का कोई प्रश्न ही नही रहा, किसी पीडित की रक्षार्थ करुणा और दया का कोई सवाल ही नही रहा। तो, इस तरह पीडित एव अत्याचार से त्रस्त लोगो को समर्थ व्यक्ति भी धक्के देते रहे तो आपके इस अहिंसा और दयाधर्म का, इस धर्म और कर्मकाण्ड का क्या महत्त्व रह जाता है?

अभिप्राय यह है कि जीवन का यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यह एक का या हजार का सवाल नही है। यह एक व्यक्ति की हिंसा या दासता का सवाल भी नहीं है, बल्कि यह आदर्शों का सवाल है। यदि एक ओर एक उच्च आदर्श की हत्या होती है, दूसरी और आप हजार-लाख प्राणी बचा भी लेते है, तो उनका कोई मूल्य नहीं रहता है। क्योंकि आदर्श की हत्या सबसे बडी हत्या है। यदि आदर्श की हत्या हो जाती है, तो हजारो-लाखो वर्षों तक वह एक उदाहरण बनता चला जाता है, अन्याय और अत्याचार का। और इस प्रकार के उदाहरण यदि ससार मे बढ जाएँ, तो फिर तो ससार की कोई स्थिति ही नही रहेगी।

वैशाली के उपर्युक्त युद्ध की एक बात विचारणीय यह है कि चेटक और कूणिक दोनो युद्ध करते हैं। दोनो ओर से हिंसा होती है, भयङ्कर नरसहार होता है, लेकिन राजा चेटक भयकर युद्ध मे वीरगति प्राप्त करता है और मर कर स्वर्ग मे जाता है। और राजा कूणिक विजेता होने के बावजूद भी जब मरता है, तो कहाँ जाता है ? नरक मे। क्या है कि एक ही चीज के दो विभिन्न परिणाम होते है ? एक ही युद्ध लडा गया, लेकिन दो परस्पर विरोधी नतीजे कैसे आए ? दोनो ने भरपूर हिस्सा लिया युद्ध मे—दोनो बराबर के साझीदार है युद्ध के। और जब दोनो साझीदार है युद्ध के, तो फिर परिणाम भिन्न-भिन्न कैसे आ गए ? नतीजे अलग-अलग कैसे आए ? तो स्पष्ट है कि ये जो भिन्न-भिन्न नतीजे आये है, ये आये है हिंसा और अहिंसा के विश्लेषण के आधार पर। अभिप्राय यह है कि शरणागत की रक्षा करना धर्म है, क्योकि वह भय से त्रस्त होता है, अन्याय से आक्रान्त होता है, मौत उसके सिर पर बुरी तरह मँडरा रही होती है। वह किसी के पास रक्षा पाने के लिए आता है। अब बात यह है कि उसकी रक्षा करना क्या है ? एक आदर्श की रक्षा करना है, एक नैतिक पक्ष का समर्थन करना है। जो पीडित है, भय से त्रस्त है, दु खित है, निरपराध है, बेचारे ने कोई दोष किया नही है, उसको आश्रय देना आवश्यक है। हमारी भारतीय परम्परा का यह आदर्श है बहुत बडा। और भारतीय परम्परा ही क्यो, सारी मानवता का आदर्श है यह। आप जिसे मानवता कहते है, जिसे इन्सानियत कहते हे, यह उसका आदर्श है। तो, राजा चेटक ने इस आदर्श की रक्षा की, इसलिए वह स्वर्ग मे गया। और कूणिक जो लडा, वह किसके लिए ? अपने स्वार्थ के लिए अपने अहकार के लिए और अन्याय-अत्याचार के द्वारा अपने भाई का हक छीन कर उसे बर्बाद करने के लिए, एक सर्वथा निकृष्ट आधार पर लडा है। अत वह जैनशास्त्रानुसार नरक मे जाता है। प्रश्न है—दोनो मे से धर्मयुद्ध किसने लडा ? राजा चेटक ने धर्मयुद्ध लडा। इसलिए वह स्वर्ग मे गया है। और कूणिक ने भी युद्ध तो लडा, लेकिन वह अधर्मयुद्ध लडने के कारण नरक म गया है। यह बात यदि आपके ध्यान मे स्पष्ट हो जाती है, तो विचार कीजिए कि हिंसा और अहिंसा के प्रश्न केवल बाहर मे नही सुलझाए जाते हैं, वे सुलझाये जाते है अन्दर मे, अन्दर के चिन्तन मे। प्रवृत्ति का मूल वृत्ति मे है, अत वृत्ति मे ही हिंसा-अहिंसा का विश्लेषण होना चाहिए।

शरणागतरक्षा आज के सन्दर्भ मे

जैसा कि आपने ऊपर राजा चेटक की शरणागतवत्सलता की बात देखी है, आज भी वह बात ज्यो की त्यो है आपके समक्ष। और तब तो केवल एक शरणागत का सवाल था, लेकिन अब तो एक करोड के लगभग प्रताडित, अतएव विस्थापित बगाली शरणार्थियो का सवाल है। विचार कीजिए, इन शरणार्थियो मे माताएँ भी है, बहनें भी है, बुड्ढे भी है, बच्चे भी हैं, बच्चियाँ भी है, नौजवान भी हैं। क्रूर पाकिस्तानी सैनिको द्वारा भयकर मौत उन सबके सिर पर मँडरा रही है, और सिर्फ मौत ही नहीं

उनके नैतिक आदर्शों की भी हत्या हो रही है। मानवता को लजा देने वाले दुराचार हो रहे हैं, विभिन्न प्रकार के पापाचार हो रहे है। उन्हें एक पशु के समान भी नही समझा जा रहा है। यदि कोई पशु को मारता है, तो थोडी-बहुत दया तब भी रखी ही जाती है। पशुहत्या के सम्बन्ध मे भी कुछ नियम हैं कि उनका क्रूरतापूर्ण वध नहीं होना चाहिए। लेकिन इन विस्थापितो के प्रति तो इतनी निर्दयता की गई कि घर-बार सब कुछ छोड कर वे यहाँ आए। क्यो आए ? स्पष्ट है, भयत्रस्त व्यक्ति जाएगा कहाँ ? वही तो जाएगा, जहाँ उसे शरण पाने का भरोसा होगा। कुछ लोग कहते है कि भारत सरकार ने, प्रधानमन्त्री इन्दिराजी ने गलती की, जो इन सबको अपने यहाँ रख लिया। न रखते, न झगडा होता और न युद्ध की नौबत आती। बेकार का सिरदर्द मोल ले लिया। मैं पूछता हूँ, बगाल के विस्थापित यहाँ भारत मे कैसे आए ? पीछे से उन पर गोली चलाई जा रही थी। अत प्राण-रक्षा के लिए भारत के द्वार पर आए। और किसी तरह से तो वे रुक नही सकते थे। यदि इधर से भी बन्दूक तान दी जाती कि खबरदार इधर आए तो ! पीछे लौटो, नही तो गोली मार दी जाएगी ! विचार कीजिए, ऐसी स्थिति मे, जबकि पीछे से गोली चल रही हो और आगे से भी गोली चलने लगे, तो बेचारा शरणागत कहाँ जाए ? क्या करे ? ऐसी स्थिति मे आपका धर्म क्या कहता है ? आपकी मानवता क्या कहती है ?

भारतवर्ष की सस्कृति और सभ्यता को आदिकाल से ही अपने इस शरणागत रक्षा के धर्म पर गौरव है। इसी पर हिन्दूधर्म को गौरव है, जैनधर्म को गौरव है और जितने भी अन्य धर्म है—सबको गौरव है। और, जिसके सम्बन्ध मे हम सब लाखो वर्षों से बडे-बडे गर्वीले नारे लगाते आ रहे है तो, क्या अब वर्तमान स्थिति मे भारत अपने उस शरणागतरक्षा के पवित्रधर्म को तिलाजलि दे दे ? नही, यह नहीं हो सकता हिंसा और अहिंसा की गलत धारणाओ के चक्कर मे उलझ कर जो धर्म बगलादेश की प्रस्तुत समस्या से अपने को तटस्थ रखने की बात करते है, मैं पूछता हूँ, वे धर्म हैं, तो किसलिए है ? उनका मानवीय मूल्य क्या है ? क्या उनका मूल्य केवल यही है कि कीड़े-मकोडो को बचाओ, छापे-तिलक लगाओ, मन्दिर मे घण्टा बजाओ, भजन-पूजन करो। यह सब तो साधना के बाह्यरूप भर है। यदि मूल मे मानवता नही है तो यह सब मात्र एक पाखण्ड बन कर रह जाता है। सच्चा धर्म मानवता को विस्मृत नही कर सकता। कौन धर्म ऐसा कहता है कि द्वार पर आने वाले उत्पीडित शरणार्थियो का दायित्व न लिया जाए ? उन्हे आश्रय न दिया जाए ? कहा है कि एक व्यक्ति जो कि किसी को पीडित कर रहा है, वह तो पाप कर रहा है। लेकिन पीडित व्यक्ति अपनी प्राणरक्षा के लिए बहुत बड़े भरोसे के भाव से किसी के पास शरण लेने के लिए आए और यदि वह उस शरणागत की रक्षा के लिए प्रयत्नशील नही होता है, तो वह उस उत्पीडक से भी बडा पापी है, जिसने कि अत्याचार करके उसको मार भगाया है। एक त्रस्त व्यक्ति विश्वास ले कर आपके पास आया है कि यहाँ उसकी सुरक्षा होगी और उसी विश्वास का आपकी ओर से यदि घात हो जाए, तो कल्पना कीजिए, उसकी

कितनी भयावह स्थिति होती है ! समर्थ होते हुए भी आपने उसके लिए कुछ किया नही, उलटा उसे धक्का दे दिया, तो यह एक प्रकार का विश्वासघात ही तो हुआ ! और विश्वासघात बहुत बडा पाप है। किसी को अभय देना, एक महान् धर्म है और अभय देने से किसी भयाक्रान्त को इन्कार कर देना, बहुत बडा अधर्म है। बगलादेश के एक करोड के लगभग पीडित विस्थापितो को अभय दे कर भारत ने वह महान् सत्कर्म किया है, जो विश्व-इतिहास मे अजर-अमर रहेगा।

यह बहुत बडी दैवी कृपा हुई कि बगलादेश के पीडितो ने आपके ऊपर भरोसा किया। और, यह जानी हुई बात है कि भरोसा किसी साधारण व्यक्ति पर नही किया जाता। पास मे अन्य देश भी थे, लेकिन वहाँ पर कोई नही गया, सभी भारत मे ही आए। क्यो आए ? इसका तात्पर्य यह है कि इसका गौरव उन्होने एकमात्र आपको दिया। उनको भरोसा था कि यहाँ भारत मे उनकी ठीक-ठीक रक्षा होगी। और इतना बडा विश्वास ले कर कोई जनता आए और फिर उसे आप ठुकरा दे, धक्का दे दें, तो यह कितना बडा पाप है ? आप भाग्यशाली थे कि आपसे यह पाप न हुआ। भारत की सास्कृतिक परम्परा का उज्ज्वल गौरव आपके हाथो सुरक्षित रहा। आप वैयक्तिक तुच्छ स्वार्थों के अन्धकार मे नही भटके। बहुत बडा दायित्व अपने ऊपर लिया और उसे प्रसन्नता से निभाया।

अभिप्राय यह है कि ऐसा समय इतिहास मे कभी-कभी ही आता है। जैसा कि मैंने बताया चेटक ने तो एक शरणागत की रक्षा के लिए इतना बडा भयकर युद्ध किया, हिंसा हुई, फिर भी भगवान् महावीर कहते है कि वह स्वर्ग मे गया और आपने तो लाखो-करोडो इन्सानो की रक्षा की है, और इसी कारण आपको यह युद्ध भी करना पडा है, अन्यथा आपके सामने तो युद्ध का कोई सवाल ही नही था। भारत की प्रधान-मन्त्री श्रीमती इन्दिरागान्धी, समूची राष्ट्रशक्ति को साथ लिए आज जो जूझ रही है, उसके मूल मे उन्ही पावन भारतीय आदर्शों की रक्षा का प्रश्न है। कहना तो यो चाहिये कि ढाई हजार वर्ष बाद इतिहास ने अपने आपको दुहराया है। यानी भगवान् महावीर के युग की वह घटना आज फिर से दुहराई जा रही है और यदि महावीर आज धरती पर होते तो क्या निर्णय देते इस सम्बन्ध मे ? प्रभु महावीर आज धरती पर निर्णय देने को नही है, तो क्या बात है ? उनका जो निर्णय है, वह हमारे सामने है। आज जो फैसला लेना है, उनके द्वारा, वह फैसला पहले ही दिया जा चुका है। इसका अर्थ यह है कि वर्तमान के नये जजो के फैसले मे अतीत के पुराने जजो के फैसले निर्णायक होते है। अभिप्राय यह है कि भगवान् महावीर ने जो फैसला दिया था कि राजा चेटक स्वर्ग मे गया और कूणिक नरक मे—बिलकुल स्पष्ट है कि यदि आज के इस सघर्ष को ले कर इदिराजी के सम्बन्ध मे पूछे तो प्रभु महावीर का वही उत्तर है, जो वे ढाई हजार वर्ष पहले ही दे चुके हैं। तात्पर्य यह है कि यह युद्ध शरणागतो की रक्षा का युद्ध है, अत भारतीय चिन्तन की भाषा मे धर्मयुद्ध है और

धर्मयुद्ध अन्तत योद्धा के लिये स्वर्ग के द्वार खोलता है—'स्वर्गद्वारमपावृतम्' । यह वह केन्द्र है, जहाँ भारत के प्राय सभी तत्त्वदर्शन और धर्म एकमत हैं ।

मै यह जो विश्लेषण कर रहा हूँ, क्यो कर रहा हूँ ? इसका कारण यह है कि अहिंसा-हिंसा के विश्लेषण का दायित्व जैनसमाज के ऊपर ज्यादा है, चूँकि जैनपरम्परा का मूलाधार ही अहिंसा है । भगवान् महावीर ने अपने तत्त्वदर्शन मे हिंसा और अहिंसा का विश्लेषण किस आधार पर किया है ? भगवान् के अहिंसा-दर्शन की आधारशिला कर्त्ता की भावना है । बात यह है कि ये जो युद्ध होते है, हिंसाएँ होती हैं, आदमी मरते हे, इन सबकी गिनती करने का कोई सवाल नही है । सवाल तो सिर्फ यह है कि आप जो युद्ध कर रहे है, वह किस उद्देश्य से कर रहे है ? आपके सकल्प क्या है ? आपके भाव क्या है ? आपका आन्तरिक परिणाम क्या है ? राम युद्ध करते है रावण से, राम का क्या सकल्प है? नारीजाति पर होने वाले अत्याचारो का प्रतिकार करना ही तो ! राम के समक्ष एक सीता का ही सवाल नही है, अपितु हजारो पीडित सीताओ के उद्धार का सवाल है । राम एक आदर्श के लिये लडते है । और रावण जो युद्ध कर रहा है, उसका क्या सकल्प है ? उसका सकल्प है वासना का, दुराचार का । श्रीकृष्ण के नेतृत्व मे पाडव युद्ध कर रहे है किसलिए ? केवल अपने न्याय प्राप्त अधिकार के लिये । दूसरी ओर दुर्योधन भी युद्ध कर रहा है, किन्तु वह किस सकल्प से कर रहा है ? पाण्डवो के न्याय-प्राप्त अधिकारो को हडपने के लिए । इन सारी चीजो पर विचार करके यदि आप देखेगे तो इन सबका निर्णय अन्तर्जगत् के अन्दर जा कर हो जाता है । अन्तर्जगत् के अन्दर क्या परिणाम है, यह है विचारणीय प्रश्न ! जैसा कि मैने पहले बताया है कि कभी द्रव्यहिंसा होती है, भावहिंसा नही होती । कभी भावहिंसा होती है, द्रव्यहिंसा नही होती । कभी दोनो ही होती है । उक्त चर्चा मे भावहिंसा ही वस्तुत हिंसा का मूलाधार है और भावहिंसा मे भी हमे यह देखना पड़ेगा कि बडी हिंसा को रोकने के लिए, जो छोटी हिंसा की जा रही है, वह आवश्यक है या अनावश्यक ? स्पष्ट है कि जीवन मे कुछ प्रसग ऐसे आते है कि वह बिलकुल आवश्यक हो जाती है । बहुत बडे अत्याचार, अनाचार, दुराचार, अन्याय एव अधर्म को रोकने के लिए विचारको को छोटी हिंसा का आश्रय लेना ही होता है । समाज और राष्ट्र के प्रश्न का समाधान यो ही बेतुकी बातो से कभी नही होता है ।

हिंसा केवल शरीर की ही हिंसा तो नही है । मन की हिंसा भी बहुत बडी हिंसा होती है । विचार कीजिए कि जब देश गुलाम हो जाए और जनता पराधीनता के नीचे दब जाए, तो ऐसी स्थिति मे उसके शरीर की हिंसा ही नही, सबसे बडी मन की हिंसा भी होती है । पराधीन जनता का मानसिक स्तर, बौद्धिक स्तर, जीवन के उदात्त आदर्श, गुलामी के अन्दर इस तरह से पिस-पिसकर खत्म हो जाते हैं । नष्ट हो जाते है कि वह केवल एक मृत ढाँचाभर रह जाता है । पराधीन राष्ट्र के धर्मों,

परम्पराओ एव सस्कृतियो के अन्दर से प्राण निकल जाते हैं, और वे केवल सडती हुई लाश भर रह जाते है। भारत यह सब देख चुका है।

गांधीयुग फिर दुहराया जा रहा है

सभी जानते है कि जब विदेशी आक्रमणकारियो के द्वारा भारत पर आक्रमण हुआ, तब देश कितना पददलित हुआ था ? कितने निम्नस्तर पर चला गया था और किस प्रकार हमारी नैतिक चेतना शमित हो गई थी ? यह जो फिर से दोबारा जान आई है देश के अन्दर, आप सबको मालूम है, यह गाधीजी द्वारा आई है। अन्याय-अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए आवाज उठी, जनता मे नई प्रेरणाएँ जगी, अहिंसा एव सत्य के माध्यम से स्वतन्त्रता का युद्ध लडा गया और विश्व की एक बहुत बडी शक्ति—ब्रिटिश साम्राज्य को पराजित कर राष्ट्र स्वतन्त्र हुआ और सौभाग्य की बात है कि स्वतन्त्रता का युद्ध लडने वाला सेनापति अपने युग का एक महान् अहिंसा-वादी था। वह अहिंसावादी था और अहिंसा के मूल अर्थ को समझता था। वह अहिंसा के प्रचलित सीमित अर्थ तक ही नही रुका हुआ था, बल्कि वह अहिंसा को भूत, भविष्य वर्तमान के व्यापक धरातल पर परखता था।

अहिंसा के विस्तृत आयाम पर गाधीजी की दृष्टि थी। यही कारण है कि जब काश्मीर पर प्रथम पाकिस्तानी आक्रमण हुआ, तो उनसे पूछा गया कि काश्मीर की रक्षा के लिए सेनाएँ भेजी जाएँ या नही ? तो उन्होने यह नही कहा कि 'सेना न भेजो, यह हिंसा है! यदि कुछ करना है, तो वहाँ जा कर सत्याग्रह करो।' ऐसा क्यो नही कहा उन्होने ? इसलिए कि सत्याग्रह सभ्यपक्ष के लिए होता है। विरोधी भले ही हो, किन्तु सभ्यविरोधी सत्याग्रह जैसे सात्विक प्रयासो से प्रभावित होता है। परन्तु जो असभ्य-बर्बर होते है, उनके लिए सत्याग्रह का कोई मूल्य नही होता। खूँख्वार भेडियो के सामने सत्याग्रह क्या अर्थ रखता है ? ब्रिटिशजगत् कुछ और था, जिसके सामने सत्याग्रह किया गया था। वह फिर भी एक महान् सभ्यजाति थी! किन्तु याह्याखाँ और उसके पागल सैनिको के समक्ष कोई सत्याग्रह करे, तो उसका क्या मूल्य है ? याह्याखाँ का क्रूर सैनिकदल बाँगलादेश मे मासूम बच्चो का कत्ल करता है, महिलाओ के साथ खुली सडको तक पर बलात्कार करता है, गाँव के गाँव जला कर राख कर डालता है, हर तरफ निरपराध बच्चे, बूढे, नौजवान और स्त्रियो की लाशे बिछा देता है! इसका मतलब यह कि वह युद्ध नही लड रहा है, वह तो हिंसक पशु से भी गई-बीती स्थिति पर उत्तर आया है। प्रश्न है, इस अन्याय के प्रतिकार के लिए क्या किया जाए ? अहिंसा की दृष्टि से विचार करे तो क्या होना चाहिए ? युद्ध या और कुछ ? क्रूर दरिंदो के समक्ष और कुछ का तो कुछ अर्थ ही नही रह गया है। युद्ध ही एक विकल्प रह गया है, यह आक्रमण नही, प्रत्याक्रमण है। और, जैसा कि चेटक और कूणिक का उदाहरण आपके सामने रखा कि चेटक युद्ध करके स्वर्ग मे गया है, चूँकि उसने शरणागत की रक्षा के लिए आक्रमणकारी से धर्मयुद्ध लडा था, और

कूणिक युद्ध करके नरक मे गया है, चूँकि उसने न्यायनीति को तिलाजलि दे कर अधर्म-युद्ध लडा था। आज आपके सामने ठीक वही प्रश्न यथावत् है कि आप भी शरणागतो की रक्षा के प्रश्न पर युद्ध के लिए ललकारे गए है, युद्ध करने को विवश किये गए हैं। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने बडे धैर्य से काम लिया है, करोडो विस्थापितो का वह भार उठाया है, जो देश के अर्थतन्त्र को चकनाचूर कर देता है। आठ-आठ महीने तक प्रतीक्षा की है, कि कुछ सुधार हो जाए, विश्व के प्रमुख राष्ट्रो को जा-जा कर सही स्थिति समझाई है। परन्तु जब कुछ भी परिणाम नही आया और पाकिस्तान की दु साहसी सैनिक टोली ने रणभेरी बजा ही दी, तो इन्दिराजी ने भी उत्तर मे रणदुन्दुभी बजा दी है, भारत के नौजवान सीमा पर जूझ रहे है। युद्ध हो रहा है। भारतीय तत्त्वचिन्तन के आधार पर यह धर्मयुद्ध है और अतत विजय धर्मयुद्ध की ही होती है। **"यतो धर्मस्ततो जय"**—जहाँ धर्म है, वही विजय है। **'सत्यमेव जयते, नानृतम्'** सचाई की ही विजय होती है, झूठ की नही। □

श्रद्धेय कविश्रीजी का यह प्रवचन ६-१२-७१ को प्रात ९ बजे हुआ था। और उसी दिन ससद मे श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने ऐतिहासिक निर्णय के रूप मे भारत द्वारा "बागलादेश की मान्यता" की ऐतिहासिक घोषणा की थी।

आज स्थिति बहुत कुछ बदल चुकी है। बागलादेश स्वतन्त्र हो चुका है। युद्ध दोनो ओर से थम चुका है। हम नवोदित धर्म निरपेक्ष राष्ट्र बागला-देश की सर्वतोमुखी उन्नति की हार्दिक कामना करते है। और समय पर सर्वथा उचित निर्णय लेन के लिए प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधीजी का अभिनन्दन करते है, साथ ही देश के बहादुर जवानो पर गर्व करते हैं, जिन्होने सत्य एव न्याय की विजय के लिए सघर्ष किया। —सम्पादक

१७ | हिंसा की रीढ़ : प्रमाद

धर्म के दो रूप होते है—बाह्य, अर्थात् बहिरग रूप, और आभ्यन्तर, अर्थात्—अन्तरग रूप। बहिरग रूप का अथ होता है—क्रियाकाण्ड, बाहर के आचार-विचार, रहन-सहन और जीवन मे जो कुछ भी बाह्यरूप से करते है, वे सब काम। अन्तरग रूप का अर्थ है—वह भावना या विचार, जिससे बाह्य आचार-विचार प्रेरित होता है। कोई भी साधक अपने आप मे किस प्रकार की पवित्र भावनाएँ रखता है, किन उच्च विचारो से प्रेरित और प्रभावित होता है, उसमे जीवन की पवित्रता कितनी है, उसके अन्तरतर मे धर्म का कितना उल्लास है, वहाँ दया और करुणा की लहरे कितनी उठ रही है? यह सब भीतर का रूप ही धर्म का अन्तरग कहलाता है।

जब यह अन्तरग दृष्टिकोण विशुद्ध एव वास्तविकतावादी बन जाता है, अर्थात् दूसरो के ससर्ग या सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली विकृति या विभाव से परे हो कर आत्मा जब सर्वथा शुद्ध एव स्वाभाविक परिणति की पवित्र भूमिका मे पहुँच जाता है, तब यह धर्म कहलाता है।

बाह्य धर्म—परिवर्तनशील

बाह्य-धर्म को व्यावहारिक धम भी कहते है। इसके सम्बन्ध मे जैन-धर्म की यह धारणा है कि वह प्राय बदलता रहता है, स्थायी नही रहता। प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने युग म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जीवन के बाह्य नियमो मे परिवर्तन करते रहते हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के युग मे जैन साधुओ का रहन-सहन कुछ और रूप मे था, और बाईस तीर्थंकरो के समय मे क्रमिक परिवर्तन के फलस्वरूप दूसरे रूपो म प्रकट हुआ। फिर भगवान् महावीर आये। उन्होने देश, काल तथा साधको की बदली हुई वास्तविक स्थिति को सामने रख कर अपने पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ आदि द्वारा प्रचलित नियमो मे अनक परिवर्तन किये, जिनमे से कुछ हमे आज भी शास्त्रो मे पढने को मिलते है। जैसे भगवान् महावीर ने वस्त्रो के सम्बन्ध मे यह प्रतिबन्ध लगाया कि साधुओ को सफेद रग का ही वस्त्र पहनना चाहिए और वे भी अल्प मूल्य वाले ही हो, बहुमूल्य नही। जबकि उनसे पहले यह सैद्धान्तिक प्रतिबध नही था। भगवान् पार्श्वनाथ के युग मे जैन-साधु किसी भी रग के एव बहुमूल्य वस्त्र पहन सकते थे। भगवान् महावीर ने इस दिशा मे न केवल वेष-भूषा के विषय मे, बल्कि आहार और विहार के सम्बन्ध मे भी अनेक प्रगतिशील एव उपयोगी परिवर्तन

किए, जैसे—राजपिण्ड न लेना और एक ही स्थान पर निर्धारित अवधि से अधिक न रहना, आदि।

भगवान् महावीर के युग मे साधुओ के लिए पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे प्रहर का कार्यक्रम अलग-अलग बतलाया गया है।

साधु की दिन-चर्या चार प्रहरो मे बाँट दी गई थी।[1] पहले प्रहर मे स्वाध्याय करना, अर्थात्—पहला प्रहर सूत्र-स्वाध्याय मे व्यतीत करना। दूसरा प्रहर उसके अर्थ का चिन्तन करने मे, ध्यान मे, तर्क-वितर्क मे एव जीवन के सूक्ष्म रहस्यो को स्पष्ट रूप से सुलझाने मे गुजारना। इसी कारण पहला प्रहर 'सूत्र-पौरुषी' और दूसरा प्रहर 'अर्थ पौरुषी' कहलाता था। यह दोनो साकेतिक शब्द है, जिन्हे दुर्भाग्य से आज बिलकुल ही भुला दिया है और निष्कासित-सा कर दिया है। अत इस शब्दावली का एक दिन जो बहुमूल्य महत्त्व था, वह हमारे ध्यान से निकल गया है।

तीसरे प्रहर मे साधु को भिक्षा के लिए जाने का विधान था। इस विधान के अनुसार यह सैद्धान्तिक भाव था कि जब साधु गृहस्थ के घर जाए, तो ऐसी स्थिति मे जाए कि घर के सब लोग भोजन करके निवृत्त हो चुके हो। स्त्री, बच्चे और बूढ़े सभी खा-पी चुके हो, बचा हुआ भोजन अलग रख दिया गया हो जिसकी आवश्यकता न रह गई हो। ऐसे समय पर साधु भिक्षा के लिए जाए और उस बचे हुए भोजन मे से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए थोडा-सा ले आए।

जिस समय गृहस्थ के यहाँ भोजन बन रहा हो या घर के लोग खा-पी रहे हो, उस समय साधु भिक्षा के लिए नही जाया करते थे। क्योकि उस समय जा कर यदि साधु भिक्षा ले आता है तो सम्भव है कि घर वालो के लिए भोजन कम पड जाए और फिर दुबारा बनाने की अनावश्यक परेशानी उठानी पड़े।

भगवान् महावीर के पश्चात् कुछ काल तक यह विधान चला। उसके बाद आचार्य शय्यम्भव के युग मे नया परिवर्तन हुआ। तीसरे प्रहर की भिक्षा का नियम सिमटने लगा, लोगो का रहन-सहन भी बदला। प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ तीसरे प्रहर तक भोजन पाने की स्थिति प्राय नही देखी जाने लगी, अत उस समय साधु के जाने पर भिक्षा देने वाले और लेने वाले दोनो को ही असुविधा होना स्वाभाविक हो गया। साधुओ से प्राय गृहस्थ यही कहते थे—भोजन के समय पर तो आप आते नही, और समय बीत जाने पर आ कर व्यर्थ ही हमे लज्जित करते है! यह भी कोई गोचरी है? जब इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो गई तो आवश्यकता ने आचार्यों को नया विधान बनाने की प्रगतिशील प्रेरणा दी, जिसके अनुसार नियम बना कि साधुओ को गाँव की प्रथा के अनुसार भोजन के ठीक समय पर ही भिक्षा के लिए निकलना चाहिए

१ पढम पोरिसि सज्झाय, बीय झाण झियायई।
तइयाए भिक्खायरिय, पुणो चउत्थीइ सज्झाय॥ —उत्तराध्ययन, २६।१२

और गृहस्थो की स्थिति का ध्यान रखना चाहिए।[2] असमय मे भिक्षा के लिए जाने से गृहस्थो को अप्रीति होगी, उनके चित्त मे क्षोभ और तिरस्कार जागृत होगा और स्वय को भोजन न मिलने पर साधु के मन मे भी गाँव वालो के प्रति तिरस्कार का भाव उत्पन्न होगा। इस प्रकार दोनो ओर के सकल्पो मे गडबडी हो जाएगी। अतएव विचारधारा से यह नया विधान प्रसारित किया गया कि जिस गाव मे भोजन का जो निश्चित-सा समय हो, वही भिक्षा का समय भी निश्चित कर लिया जाए।

यह एक युगान्तरकारी परिवर्तन था। उक्त उदाहरणो की परछाई मे हम देखते हैं कि धर्म के बाह्यरूपो मे तीर्थंकरो के युग से ले कर आचार्यों के युग तक लगातार परिवर्तन होते रहे है।

अन्तरग धर्म

धर्म का अन्तरग रूप उसके बहिरग रूप से सर्वथा भिन्न होता है। उसमे कभी कुछ भी बदलने वाला नही है। वह अनन्त-अनन्त काल तक ज्यो का त्यो स्थायी रहने वाला है। वह जैसा वर्तमान मे है, वैसा ही भूतकाल मे भी था और भविष्य मे भी ऐसा ही रहेगा। चाहे कितने ही तीर्थंकर आएँ और परिवर्तनकारी प्रेरणा भी प्रसारित क्यो न करे, किन्तु अन्तरग मे अशमात्र भी परिवर्तन होने वाला नही है।

प्रतिवर्ष पतझड की ऋतु मे वृक्षो के फल, फूल तथा पत्ते सब चले जाते है, किन्तु पतझड के बाद वह फिर नवीन कोपलो से सुहावना दिखाई देने लगता है। फिर उसमे फूल-फल लगते है, वह हरा-भरा और मनोरम हो जाता है। कुछ समय बाद फिर पतझड की ऋतु आती है और वह वृक्ष फिर ठूँठ-सा दिखाई देने लगता है। इससे स्पष्ट है कि वृक्ष बाहर मे अपना रूप अवश्य बदलता रहता है, परन्तु अपने मूल रूप को नही बदलता। यदि वृक्ष का मूल रूप ही बदल जाए तो फिर फूलो, फलो और पत्तो के लिए वहाँ गुँजाइश कहाँ रहे?

उपर्युक्त कथन से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि प्रत्येक सत्य का एक स्थायी रूप होता है और शेष बदलता हुआ रूप। यदि सर्वदा स्थायी रहने वाला कुछ भी रूप न हो तो परिवतन होने वाला—बदलने वाला रूप किसके सहारे टिकेगा? क्या वह आधार-शून्य नही हो जाएगा?

इस प्रकार व्यावहारिक रूप मे धर्म बदलता रहता है—उसे देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप तीर्थंकर बदल देते है और आगे होने वाले आचाय भी द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के अनुसार उसमे यथासमय परिवर्तन ला देते है। किन्तु अन्तरग धर्म कभी नही बदलता। वह सदैव एक-सा रहता है।

---

२ अकाल च विवज्जित्ता, काले काल समायरे।

—दशवैकालिक सूत्र ५, २, ४

अहिंसा-धर्म अन्तरग धर्म है । वह निश्चय धर्म है । अहिंसा अपने आप मे बदलने वाली सासारिक वस्तु नही है । वह तो एक त्रिकाल स्थायी, सत्य एवं शाश्वत धर्म है । वह तो अनादि काल से चला आ रहा है, आज भी चल रहा है और अपनी सुनिश्चित गति से आगे भी चलता रहेगा ।

जैन-धर्म के अनुसार आत्मा कभी नही बदलती ।[3] शरीर अवश्य बदलता है, किन्तु आत्मा उसी रूप मे स्थिर रहती है । वह किसी भी परिस्थिति मे बदल नही सकती । अनन्त-अनन्त काल ससार मे रहने के बाद भी आत्मा नही बदलती । यहाँ तक कि जब मोक्ष मे जाना होता है, तब भी आत्मा का रूप वही होता है, जो पहले था । आत्मा तो सदा आत्मा ही रहेगी, वह कदापि अनात्मा नही हो सकती । हाँ, इस पचभौतिक शरीर को किसी दिन ग्रहण किया जाता है, तो किसी दिन छोड भी दिया जाता है । इस प्रकार यह परम्परा सदैव जारी रहती है ।

अहिंसा जैन-धर्म की आत्मा है । उसके मूल रूप मे किसी भी समय और किसी भी परिस्थितिवश किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नही हो सकता । अत जैन-धर्म को समझने के लिए पहले अहिंसा को भली-भाँति समझना चाहिए और अहिंसा को भली-भाँति समझने के लिए जैन-धर्म को सही दृष्टिकोण से देखना चाहिए । ये दोनो, मानो एक रूप हो गये है । इन्हे एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता ।

जब जैन-धर्म का प्रसग आता है तो अहिंसा तुरन्त याद आ जाती है । इसी प्रकार जब अहिंसा का प्रसग छिडता है तो तुरन्त जैन-धर्म की याद जाती है । अस्तु, हम जैन-धर्म के साथ ही अहिंसा का भी स्मरण किया करते है । इस प्रयोजन मे अकेले हम ही नही, अपितु हमारे अजैन साथी भी जब किसी प्रसगवश अहिंसा को याद करते है, तो साथ-साथ जैन-धर्म को भी याद कर लेते है ।

परन्तु अहिंसा-तत्त्व वास्तव मे इतना सूक्ष्म है कि उसको ठीक-ठीक समझने मे भूल और भ्रातियाँ भी हो सकती है, क्योकि सामान्य बुद्धि के लोग तो उसके स्थूल-रूप को ही पकड लेते है । उसका सूक्ष्मरूप उनकी बुद्धि की पकड मे नही आता । अतएव अहिंसा के सम्बन्ध मे तीर्थंकरो ने या आचार्यों ने क्या स्पष्टीकरण किया है ? अहिंसा के कितने विभाग किये गए है ? इत्यादि विषयो पर गहराई से विचार करने से ही अहिंसा का ठीक विचार हो सकता है ।

अहिंसा के भेदो को समझने के लिए, पहले हिंसा के भेदो को समझना पडेगा । आखिर अहिंसा का निषेधरूप अर्थ है—हिंसा का न होना । अत अब यह मालूम

---

३ आत्मा का परिवतन आत्म-रूप मे ही होता है, जडरूप मे नही । यहाँ आत्मा के न बदलने का अर्थ है—आत्मा का आत्मत्वरूप से कभी नाश नहीं होता । वह सदा अखण्ड एव अभेद्य रहती है ।

करें कि हिंसा कितने प्रकार की है ? यदि कोई व्यक्ति जैन-धर्म के माध्यम से जानना चाहता है, तब तो उसे अहिंसा के अनन्त-अनन्त भेद ज्ञात होगे। सख्यात नही, असख्यात भी नही, बल्कि अनन्त-अनन्त ! और वस्तुत यह परिमाण ठीक भी है। कोई आदमी समुद्र के किनारे खडा है और उस समय ज्वार-भाटे के कारण समुद्र मे जो लहरे उठती है और गिरती है, क्या उनकी गिनती की जानी सम्भव है ? यह घटना-चक्र तो दिन-रात निरन्तर चलता ही रहता है और इस प्रकार सारा समुद्र प्रतिपल लहरो मे नाचता रहता है।

मन को भी समुद्ररूप मे कल्पित किया जा सकता है। इस मन के समुद्र मे भी प्रतिपल विचारो का ज्वार-भाटा उठता रहता है और उसकी लहरे हिलोरें मारा करती है। इस मन म भी दिन-रात, प्रतिपल, प्रतिसेकेंड, भावनारूपी लहरे उठती हैं और बैठ जाती है और फिर नए वेग से उठती है। उस समय ऐसा मालूम होता है कि हमारा मन मानो नाच रहा है। एक क्षण के लिए भी शान्त नही होता है। इसी बात को ध्यान मे रखकर जैन-जगत् के महान् एव मर्मज्ञ विचारक श्री बनारसीदास ने कहा है—

एक जीव की एक दिन दसा होइ जेतीक,
सो कहि न सकै केवली, यद्यपि जानै ठीक !

और मन की ही क्या बात है ? जहाँ मन नही है, वहाँ भी अध्यवसाय तो होते ही हैं और उनके द्वारा अमनस्क प्राणी के जीवन भी हर समय नाचते ही रहते है। एकेन्द्रिय जीव को मन नही होता, फिर भी वह कितने कर्म समय-समय पर बाँधता है, अर्थात् सात या आठ ! सात कर्म तो नियम से बँधने अनिवार्य ही है। समय बडा ही सूक्ष्म है। इस सूक्ष्म-सूक्ष्मतम समय मे सात कर्मों के अनन्त-अनन्त परमाणु-स्कन्धो का आत्मा के साथ बँध जाना अध्यवसाय के बिना किसी भी रूप मे सभव नही है। यह तो भलीभाति ज्ञात है कि बन्ध कब होता है ? जब आत्मा मे कम्पन उत्पन्न होगा, हलचल होगी और उसके साथ क्रोध, मान, माया तथा लोभ के सस्कार जाग्रत होगे—तभी कर्म-बन्ध होना सम्भव है। जब यह सस्कार नही रहते, योगो की हलचल से आत्मा म कम्पन नही होता, तब कर्म-बन्ध भी नही होता।

जब मन, वाणी और शरीर मे कम्पन नही होता तो उस अवस्था मे आत्मा पूरी तरह शान्त और स्थिर हो जाती है। आत्मा की वह दशा 'शैलेशी अवस्था' कहलाती है और वहाँ पूर्ण निश्चल अवस्था आ जाती है। दसवें गुणस्थान तक कषायो से तथा योगो से बध होता है, और ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें गुण-स्थान मे कषाय न रहने पर केवल योगो के द्वारा ही बध होता है। चौदहवे गुणस्थान मे कषाय और योग दोनो ही नही रहते, अतएव वहाँ अबन्धकदशा प्राप्त होती है। सिद्धो को भी कर्मबध नही होता, क्योकि वहाँ भी कषायो और योगो का अस्तित्व नही रहता है।

ऊपरकथित विवेचन से क्या आशय फलित हुआ ? हमारा मन, वाणी और शरीर भी समुद्र की भाति हिलोरे मारता है और उसमे निरन्तर हलचल मची रहती है। चाहे कोई जीव एकेन्द्रिय हो, द्वीन्द्रिय हो, त्रीन्द्रिय हो, चतुरिन्द्रिय हो अथवा पचेन्द्रिय हो, परन्तु जब तक उसमे ससारी दशा का यौगिक अस्तित्व है, तब तक कम्पन होना अनिवार्य है।

नीचे की भूमिकाओ मे चर्चित मन का प्रत्येक कम्पन हिंसा है। और जब कम्पन की कोई गिनती नही की जा सकती, तो हिंसा के भेदो की गणना भी कैसे की जा सकती है ? फिर भी स्थूल रूप से उनकी गणना की गई है। इस विषय की पूरी छान-बीन करके आचार्यों ने बतलाया है कि सामान्यबुद्धि तथा सामान्यदृष्टि वाला प्राणी हिसा के अनन्तरूपो को स्पष्ट रूप से नही समझ सकता, फिर भी जो स्थूलरूप, जितने अशो मे समझ मे आ सके, उनको ध्यान मे अवश्य रखना चाहिए।

हिंसा के तीन स्तर

सबसे पहले हिंसा के तीन स्तर है[४]—(१) सरम्भ, (२) समारम्भ और (३) आरम्भ।

जितनी भी बातें है, क्रियाएँ है या हरकतें है, वे सबसे पहले मन मे जन्म लेती है और अध्यवसायो मे अकुरित होती है। हमारा सारा जीवन मानसिक अध्यवसायो द्वारा ही प्रेरित और सचालित होता है। अतएव वे अध्यवसाय ही मुख्यरूप से हिंसा की जन्म-भूमि है। इस प्रकार सबसे पहले हिसा के विचार उत्पन्न होते है और फिर हिंसा करने के लिए सामग्री जुटाई जाती है।

इस स्थिति मे हिंसा के विचारो का उत्पन्न होना 'सरम्भ' कहलाता है, और हिसा के लिए सामग्री जुटाना 'समारम्भ' कहलाता है। इन दोनो क्रियाओ के बाद 'आरम्भ' का नम्बर आता है। 'आरम्भ' का क्रम हिसा के प्रारम्भ से ले कर अन्तिम मार देने तक चलता है

इस प्रकार हिंसा के तीन भेद हुए। अब देखना चाहिए कि हिंसा का जो सकल्प या प्रयत्न किया जाता है, वह क्यो किया जाता है ? उत्तर मे कहना है कि—अन्तर्हृदय की दूषित भावनाओ की प्रेरणा से हिंसा का सकल्प होता है, हिंसा की सामग्री जुटाई जाती है और अन्त मे उन्ही भावनाओ से बल पा कर हिंसा करने का सक्रिय प्रयत्न किया जाता है।

प्रश्न उठता है, वे भावनाएँ क्या है ? उन्हे खोजने का प्रयत्न करना चाहिए। वे भावनाएँ चार प्रकार की है और वस्तुत वे दुर्भावनाएँ हैं—क्रोध, मान, माया और

---

४ तुलना—

मनोपुब्बगमा धम्मा, मनोसेट्ठामनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा ॥ —धम्मपद

लोभ। जब कभी हिंसारूप दुष्ट प्रवृत्ति की जाती है तो उसके भाव—क्रोध से, मान से, माया से, अथवा लोभ से उत्पन्न होते है। इन्ही को चार प्रकार के कषाय कहते है। इन चारो कषायो के कारण ही सरम्भ-रूप हिंसा होती है, इन्ही से समारम्भ-रूप हिंसा होती है और इन्हीं से अन्तिम आरम्भ-रूप हिंसा हुआ करती है। अतएव इन चारो के साथ सरम्भ आदि तीन का गुणन करने से हिंसा के बारह भेद बन जाते हैं। कषायो का रग जितना अधिक गहरा होगा, उतनी ही अधिक हिंसा होगी और जितना रग कम होगा, हिंसा भी उतनी ही कम होगी। अत स्पष्ट है कि हिंसा की पृष्ठ-भूमि 'कषाय' है, जिसे सदैव ध्यान मे रखना चाहिए।

हिंसा के भेद-प्रभेद

जीव प्राय कषाय से प्रेरित होकर ही हिंसा करता है। परन्तु हिंसा के मुख्य औजार है—तीन योग अर्थात्-मन, वचन और काय। यही तीन शक्तियां मनुष्य के पास है। जब मन पर, वचन पर और काय पर हरकत आती है, तभी हिंसा होती है। अतएव ऊपर कहे बारह भेदो का तीन से गुणन कर देने पर हिंसा के छत्तीस भेद हो जाते है।

मन, वचन और काय के भी तीन भेद है—स्वय करना, दूसरो से करवाना और अनुमोदना करना। इन तीनो योगो के द्वारा हिंसा करने के तीन तरीके है, जिन्हे 'करण' कहते है। इनके साथ पूर्वोक्त छत्तीस भेदो को गुणित कर देने पर हिंसा के १०८ भेद निष्पन्न हो जाते है।

हिंसा की इन १०८ प्रकार की निवृत्तियो के उद्देश्य से ही आप १०८ दानो वाली माला जपते है।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि सामान्यत हिंसा से निवृत्ति पा लेना ही अहिंसा है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य ज्यो-ज्यो हिंसा के इन भेदो से निवृत्त होता जाता है त्यो-त्यो वह अहिंसा के भेदो की साधना करता जाता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जितने भेद हिंसा के है उतने ही अहिंसा के भी है, और जितने भेद अहिंसा के हो सकते है, उतने ही हिंसा के भी समझने चाहिए।

इस प्रकार जब आप हिंसा और अहिंसा के निरूपण पर ध्यान देगे तो ज्ञात होगा कि जैन-धर्म बडी सूक्ष्मता तक पहुँचता है, अन्तरतम की गहराई मे चला जाता है। और उस गहराई को समझने के लिए साधक को अपनी बुद्धि तथा अपने विवेक को सतत साथ रखने की जरूरत है। अन्यथा वास्तविकता समझ मे नही आ सकती।

हिंसा का अर्थ

उपर्युक्त प्रस्तावना से भलीभाँति समझा जा सकता है कि हिंसा का अर्थ केवल मारना ही नही है, किन्तु हिंसा का सकल्पमात्र भी हिंसा है। किसी जीव को ले कर इधर से उधर कर देना, उसे टकरा देना या एक जीव के ऊपर दूसरे जीव को

रख देना भी हिंसा है, और क्षणिक मनोरजन के लिए किसी जीव को धूल से ढँक देना भी हिंसा है। यदि जीव आ-जा रहे है और स्वतन्त्ररूप से विचरण कर रहे हैं तो उनकी स्वतन्त्रता मे रुकावट डालना भी हिंसा है। यहाँ तक कि किसी जीव को अकारण छू लेना भी हिंसा है। यह सब मर्यादाएँ सुप्रसिद्ध 'इरियावहिया' के पाठ मे आ जाती है।

स्वतन्त्रता मे बाधा नहीं

जैन-धर्म तो यही कहता है कि किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता मे तुम बाधक मत बनो। उसके जीवन की जो भी भूमिका है, उसी के अनुसार वह क्रियाशील हो रहा है। यदि तुमने उसका रास्ता रोक दिया अथवा उसे छू दिया तो तुम हिंसा के भागी हो गए। इस रूप मे अहिंसा-धर्म की सूक्ष्म व्याख्या सुनने को अन्यत्र नही मिलती।

अहिंसा-धर्म की इन बारीकियो को देख कर साधारण जनता सहसा आश्चर्य-चकित हो जाती है। क्योकि मनुष्य अपनी जिन्दगी मे हरकत तो करता ही है, वह आता भी है और जाता भी है। इस तरह कही न कही, और किसी न किसी जीव के गन्तव्य मार्ग मे रुकावट आ ही जाती है। किसी न किसी को पीडा पहुँचे बिना नही रहती फलत वह जीव भयभीत हो ही जाता है। ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि आखिर किस प्रकार कोई व्यक्ति अहिंसक रह सकता है? यह प्रश्न सभी व्यक्तियो के समक्ष समानरूप से उपस्थित होता है। आखिर साधु से भी किसी प्राणी को पीडा पहुँच सकती है। यदि साधु के जल से भरे पात्र मे मक्खी गिर जाती है, उसे निकालने के लिए पहले तो छूना ही पडता है और तब वह निकाली जाती है।

मान लें, एक प्राणी धूप मे पडा है। अपग होने के कारण वह इधर-उधर नहीं जा सकता। वह धूप का मारा तिलमिला रहा है और मौत के मुँह मे जाने की तैयारी कर रहा है। कोई दूसरा व्यक्ति अपना उदारतावश उसे उठा कर एक जगह से दूसरी जगह रख देता है। निस्सन्देह उठाने वाले ने सोच-समझ कर ही और दया से प्रेरित हो कर ऐसा किया है, किन्तु कोई उससे कहता है कि 'जीव को एक जगह से दूसरी जगह रख देना भी हिंसा है।'[५] इस प्रकार जब किसी जीव की गति मे बाधा पहुँचाना, और यहाँ तक कि उसे छूना भी हिंसा है, तो कोई प्रमार्जन-क्रिया कैसे कर सकते है?

यदि इसी दृष्टि से विचार किया जाएगा, तो कही पैर रखने को भी जगह न मिलेगी। जीवन-व्यापार का सचालन करना भी हिंसा के बिना सम्भव नहीं है। आखिर श्वास की हवा से भी तो सूक्ष्म जन्तुओ की स्वतन्त्र गति मे बाधा पडती है।

---

५ ठाणाओ ठाण सकामिआ।

इस सम्बन्ध मे किसी ने एक आचार्य से प्रश्न किया—जल मे भी जीव है और स्थल पर भी जीव है। आकाश मे भी सर्वत्र अनगिनत जीव-जन्तुओ की भरमार है। इस तरह जब सारा ससार जीवो से व्याप्त है, कही एक इच भी जगह खाली नही है, तो भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है ?[६]

अस्तु, जो प्रश्न आज पैदा होता है, वह पहले भी पैदा हुआ था। अभिप्राय यह है कि जब आप किसी कीडे मकोडे को जाता हुआ देखते है और रजोहरण से प्रमार्जन करते है तो तनिक विचार कीजिए कि चीटियो का शरीर क्या है ? उनकी शरीराकृति बहुत छोटी-सी है। ज्यो ही आपका रजोहरण उन पर पडता है, वे भय-भीत हो जाती हैं। अपने दुःख की कल्पना वे स्वय ही कर सकती है। कदाचित् आप तो यही कह सकते है—कौन बडा बोझा उनके ऊपर पड गया ? परन्तु जब उनके ऊपर रजोहरण पडता है तो उन्हे ऐसा मालूम होता है जैसे उन पर कोई पहाड टूट पडा हो। निस्सन्देह वे त्रस्त हो जाती है और जब घसीटते-घसीटते आप उन्हे दूर तक ले जाते हैं, तो उन कोमल शरीर वाली बेचारी चीटियो को ऐसा लगता है, मानो अब जिन्दगी का अन्तिम क्षण आ पहुँचा हो। इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार भी कहते है—पृथ्वी पर रगडा हो या छूआ हो, अथवा एक-दूसरे पर डाला गया हो, तो यह सब हिंसा के ही विभिन्न रूप है।[७]

अहिंसा की भूमिका

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सब क्या है ? अहिंसा की भूमिका को हम किस प्रकार अपने जीवन मे तय कर सकते हैं ? शुद्ध अहिंसक बनने के लिए कही यह तो अनिवार्य नही है कि इधर 'करेमि भते' और 'अप्पाण वोसिरामि' बोले और उधर जहर की पुडिया खा कर ससार से ही विदा हो जाएँ ? आखिर सर्वथा निश्चल कैसे रहा जा सकता है ? जब आत्मा ससार मे रहता है और जीवन-व्यापार चलाना भी अनिवार्य है तो फिर पूरी तरह निष्क्रिय हो कर किस प्रकार मुर्दों की तरह पडा रहा जा सकता है ?

भगवान् महावीर छह मास तक हिमालय की चट्टान की तरह अचल खड़े रहे, किन्तु उसके बाद वे भी पारणा के लिए गए और हरकत शुरू हो गई। महीना, दो महीना और अधिक से अधिक छह महीना कायोत्सर्ग मे बिताये जा सकते है, किन्तु फिर भी जीवन तो जीवन ही है। उसमे गमन-आगमन किए बिना जीवन का व्यापार चल नही सकता। फिर साधुओ पर तो एक जगह अनिश्चित समय तक ठहरने के

---

६ जले जन्तु स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके, कथ भिक्षुरहिंसक ?॥

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७, १३

७ "सघाइया सघट्टिया"

लिए प्रतिबन्ध भी कड़ा है। साधुओ को निर्धारित समय से अधिक एक जगह ठहरना नही चाहिए। उन्हे तो ग्रामानुग्राम विहार करना ही चाहिए। जब यह स्थिति हमारे समक्ष है, तो हम विचार करना चाहते है कि अहिंसा और हिंसा की मूलभूमि कहाँ है ?

जब कोई जैन-धर्म के मर्मस्थल को स्पर्श करेगा तो एक बात ध्यान मे अवश्य आएगी कि जितनी भी हरकते होती है, जो भी काम किए जाते है या जो भी चेष्टाएँ उत्पन्न होती है, उन सबके मूल मे हिंसा नही उठती है और न उनके मूल मे कही पाप ही होता है। वे अपने आप मे दोषयुक्त भी नही है। किन्तु उनके पीछे जो सकल्प है, भावनाएँ है, या कषाय है , उन्ही मे हिंसा है और वही पाप भी है। अभिप्राय यही है कि जैन-धर्म के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—क्या खाने-पीने मे भी पाप है ? तब वह उत्तर देता है कि—खाने-पीने मे तो पाप नही है, किन्तु यह बतला दो कि उसके पीछे वृत्ति क्या है ? यदि खाने के पीछे अविवेक की भावना तो है, किन्तु कर्त्तव्य की भावना नही है, यदि तू खाना केवल खाने के लिये और स्वाद के लिए ही खाता है, और ऐसे खाने के बाद शरीर का क्या उपयोग करेगा—यह निर्णय नही किया है तो तेरा खाना हिंसा है। खाने के पीछे यदि विवेक है, यतना है और खाने के लिए ही नही खाता है, अपितु जीने के लिए खाता है और उसके पीछे खा कर सत्कर्म करने की भावना है तो ऐसा खाना धर्म है।

तप धर्म है या पारणा ?

अब समस्या उत्पन्न होती है कि—'तप' धर्म है या 'पारणा' ? किसी ने छह मास की तपस्या की और फिर एक दिन पारणा भी किया तो पारणे के दिन धर्म होता है या पाप ? औरो को तो जाने दीजिए, भगवान् महावीर को ही लीजिए। उन्होने छह मास तक तप किया और फिर पारणा भी किया, तो पारणा के द्वारा उनकी आत्मा ऊपर उठी या नीचे गिरी ? तप-धर्म तो उन्होने छोड दिया। फिर उसके पीछे क्या अभिप्राय है ? कौन-सी वृत्ति काम कर रही है ? उत्तर मे यही कहना होगा कि—वह आत्मा, जो तप के द्वारा ऊपर चढ चुकी थी, पारणे के दिन उसे तप से भी आगे बढना ही चाहिए था। पारणे के बाद फिर उन्होने तप साधना की और फिर पारणा किया। तब भी वे आत्म-विकास की मंजिल मे आगे ही बढ़े। साराश रूप मे यही कहना पड़ेगा कि चाहे व्रत हो या पारणा, आत्मा की ऊर्ध्वगति ही होनी चाहिए।

भगवान् महावीर ने जब तप किया, तब भी उनकी आत्मा ऊपर उठी और पारणा किया तब भी ऊपर ही उठी। उनकी चारित्र-आत्मा वर्द्धमान थी, हीयमान नही। यदि किसी भूल अथवा भ्रांति-वश इस सिद्धान्त को स्वीकार नही किया जाएगा तो भगवान् महावीर के चारित्र को भी हीयमान मानना पड़ेगा।

प्रमाद : हिंसा का कारण

एक बार मालवा के एक बड़े शास्त्रीजी ने मेरे पास यह प्रश्न भेजा था कि

"भोजन करना प्रमाद की ही एक भूमिका है। प्रमाद के बिना भोजन नही किया जा सकता, बोला भी नही जा सकता और गमनागमन भी नही किया जा सकता। अत जब कभी भोजनादि क्रियाएँ की जाती है तो आत्मा ऊँचे गुणस्थानो से नीचे उतर आता है, अप्रमाद से प्रमाद की भूमिका पर आ जाता है।"

मैंने उत्तर दिया कि—फिर तेरहवें गुणस्थान वाला केवली क्या करेगा ? वह क्षायिक चारित्र का गुणस्थान है और देशोनकोटिपूर्व तक उत्कृष्ट स्थिति मे एक-रस रहता है, उसमे न्यूनाधिक नही होता है। उस गुणस्थान वाले भूख लगने पर भोजन भी करते है, प्यास लगने पर पानी भी पीते है और आवश्यकता पडने पर गमनागमन भी करते है। वे उठने और बैठने की क्रियाएँ भी करते है। ये समस्त क्रियाएँ वहाँ होती है। यदि यह मान लिया जाए कि इन क्रियाओ मे प्रमाद अवश्य आ जाता है, और प्रमाद की प्रत्येक क्रिया नीचे दर्जे की भूमिका है—तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि भगवान् महावीर की तेरहवे गुणस्थान की भूमिका भी ऊँची और नीची होती रहती थी। अब बतलाइए कि साधारण साधु की तुलना करने पर उनमे क्या विशेषता रह जाएगी ?

हाँ, तो फिर जैन-धर्म का क्या दृष्टिकोण है ? वह क्रिया करने मे कोई पुण्य-पाप नही मानता है, बोलने आदि मे पाप-पुण्य स्वीकार नही करता है। जैन-धर्म के मूल सिद्धान्त के अनुसार बोलने आदि के पीछे जो सकल्प है, उसी मे पुण्य और पाप है। यदि उन क्रियाओ के पीछे कषाय है, तो वह पाप है, और यदि सद्बुद्धि है, तो धर्म है। यदि कोई साधक गमनागमन मे विवेक रखता है और किसी प्रकार की असावधानी भी नही रखता है, किन्तु फिर भी हिंसा हो जाती है, तो वह हिंसा पाप-प्रकृति का बध नही करती। इसी तरह यदि कोई श्रावक किसी क्रिया मे यतना रखता है, किसी प्रकार भ्रमित भी नही होता, फिर भी कदाचित् हिंसा हो जाती है, तो वह भी पाप-प्रकृति का बध नही करता। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है—'जहाँ प्रमाद है, भूल है और अयतना है—वही पाप-कर्म है।'[८] इसके विपरीत जहाँ प्रमाद नही है, अविवेक नहीं है—अपितु अप्रमत्तता है, विवेक है, जागरूकता है, और यतना है—वहाँ कोई भी क्रिया क्यो न हो, वह अहिंसा है, कर्मबन्ध का हेतु नही है, अपितु वहाँ कर्मों की निर्जरा है।

यह जैन-धर्म का सही दृष्टिकोण है। जब हम इसे ध्यान मे रखते हैं तो जैन-धर्म की जो आत्मा है, प्राण है—वह स्पष्टरूप से हमारे सामने झलकने लगता है।

प्रमार्जन हिंसा या अहिंसा

पहले प्रश्न करते हुए कहा गया है कि—जब प्रमार्जन होता है, तब अहिंसा

८ "पमाय कम्ममाहसु, अप्पमाय तहाऽवर।"

—सूत्रकृताङ्ग-सूत्र

के स्थान पर हिंसा ही होनी चाहिए , क्योकि प्रमार्जन से जीव भयभीत होते हैं, त्रस्त होते हैं। किन्तु तनिक गहराई से विचार कीजिए कि वहाँ (प्रमार्जन के समय) जो प्रवृत्ति होती है, वह उन जीवो की दया के लिए होती है या हिंसा के लिए ? यद्यपि साधक दया के लिये ही प्रमार्जन करता है, किन्तु उन जीवो को यह पता नही होता कि वास्तव मे ऐसी क्रिया उनके प्रति दया के कारण ही हो रही है। मान लें, माता अपने बच्चे को ऑपरेशन करवाने के लिए डाक्टर के पास ले जाती है और ऑपरेशन होता है, तब बच्चा माता को कितनी गालियाँ देता है और रोता है। किन्तु वहाँ माता की और डाक्टर की भावना क्या है ? यद्यपि प्रत्यक्ष मे बच्चा भयभीत हो रहा है और न मालूम कितने प्रकार के दु सकल्प अपने मन मे ला रहा है, फिर भी सिद्धान्तत॰ तो माता और डाक्टर को पुण्य-प्रकृति का ही बध हो रहा हैं। क्योकि उस क्रिया के पीछे डाक्टर और माता की दया एव विवेक की पवित्र भावना काम कर रही है।

यदि चीटियो को खेल या मनोरजन की दृष्टि से हटाया जाता है, तब तो पाप-कर्म का बध अवश्य होता है, किन्तु किसी हिंसक दुर्घटना के अवसर पर रक्षा की दृष्टि से उन्हे हटाने मे पाप नही है। इन बातो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि—जो हिंसा होती है, उसके मूल मे यदि अविवेक का अन्धकार है, अयतना है तो वहाँ हिंसा है और पाप है। इसके विपरीत यदि विवेक का पूर्ण प्रकाश है और यतना की भी पूर्णता है—तो वहाँ सच्चा धर्म है और पुण्य है।

'आरम्भिया क्रिया' छठे गुणस्थान तक रहती है, सातवें गुणस्थान मे नही रहती, क्योकि प्रमाद छठे गुणस्थान तक ही मर्यादित है और सातवाँ गुण-स्थान अप्रमत्त अवस्था का है। किन्तु हिंसा (द्रव्य-हिंसा) तो तेरहवें गुणस्थान तक रहती है[1] फिर भी जहाँ अप्रमत्त अवस्था है, वहाँ हिंसा का पाप नही लगता। सक्षेप मे इसका अर्थ इतना ही है कि अप्रमत्त अवस्था में और विवेकभाव मे होने वाली हिंसा—पाप स्वरूप नही होती।

इसके विपरीत ससार के सकषाय तथा प्रमादी जीव चाहे हिंसा करें या न करें, किन्तु यदि उनके अन्दर यतना की वृत्ति और विवेक की ज्योति नही जगी, और साथ ही दूसरो की जिन्दगी को बचाने का उच्च सकल्प नही उठा, तो वे चाहे हिंसा करे तब भी हिंसा है, और चाहे हिंसा न करे तब भी हिंसा है। उदाहरण स्वरूप—एक धीवर सोया हुआ है और उस समय मछलियाँ नहीं पकड रहा है। क्या तब भी उसे 'आरभिया क्रिया' लग रही है या नही ? हाँ, उसे अवश्य लग रही है, क्योकि उसका हिंसा का सकल्प अभी समाप्त नही हुआ है! वह अभी कषायभावो मे ग्रसित है। फिर वह चाहे हिंसा कर रहा हो या न कर रहा हो, हिंसक ही कहलाएगा।[6]

---

६ देखिए—ओघनिर्युक्ति, ७५२-५३ गाथा।

प० आशाधरजी ने इसी बात को स्पष्ट शब्दो मे कहा है—"जहाँ प्रमाद है; वहीं हिंसा है और जहाँ प्रमाद नही है वहाँ हिंसा भी नही है।"[१०]

इसी दृष्टि को अपनाते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि—यदि हम हिंसा और अहिंसा के तत्त्व को समझ लें तो जैन तो सम्प्रदायो मे आज जो दया, दान आदि विषयो पर अशोभनीय सघर्ष चल रहे है, वे बहुत कुछ अशो मे समाप्त हो सकते हैं।

किसी जीव की रक्षा करना, किसी के मरने-जीने की इच्छा भी न करना, ऐसी अस्पष्ट बातो को ले कर और इन्हे तूल देते हुए हमारे कुछ साथी जो ऊपर ही ऊपर भटक-से रहे है, इसका प्रमुख कारण यही है कि उन्होने हिंसा और अहिंसा का मर्म समझने का प्रयत्न नही किया है। उनकी मान्यता के अनुसार यदि धूप मे पड़े हुए जीव को छाया मे रख दिया तो हिंसा हो गई! किन्तु इस क्रिया के पीछे कौन-सी मनोवृत्ति काम कर रही है? इसका उन्होने कोई विचार ही नही किया। यदि मनोवृत्ति-विशेष का विचार न किया जाए तो साधु अपने पात्र मे पडी हुई मक्खी को भी कैसे निकाल सकते है? कैसे उसकी चिकनाई को राख से सुखा सकते हैं? शास्त्र तो किसी जीव को ढँकना भी पाप कहते है, फिर साधु उसे राख से क्यो ढँकते है?

वास्तविकता तो यह है कि जब मनोवृत्ति को भुला दिया जाता है और केवल शब्दो की ही पकड-पकड से काम लिया जाता है तो उसके फलस्वरूप हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व सामने आता है और सघर्ष पैदा होते है। इनसे बचने का एकमात्र उपाय यही है कि हम शास्त्रो की शब्दावली को ही पकड कर न रह जाएँ, बल्कि शब्दावली के सहारे उस तथ्य की आत्मा को शोधने का प्रयास भी करे। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के बाहरी कार्य को देख कर ही जल्दी मे अपना कोई अभिमत न बना लें, अपितु उस कार्य के पीछे जो भावना छिपी हुई है, उसे परखने का भी भरसक प्रयत्न करे। ऐसा करने वाला कभी भी भ्रम मे नही पडता। यदि उसे कोई भ्रम होता भी है तो वह शीघ्र ही उससे मुक्त हो जाता है। □

---

१० घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चै पापोऽघ्नन्नपि धीवर ।

—सागारधर्मामृत, ८२

१८ | मानवता का भीषण कलंक

'अहिंसा' का रूप बहुत व्यापक है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के विविध रूपो मे हिंसा परिलक्षित होती है। जिस किसी भी क्षेत्र मे और जिस किसी भी रूप मे, जो भी ज्ञात या अज्ञात, सूक्ष्म या स्थूल, बाह्य या आन्तरिक हिंसा हो रही है, उस क्षेत्र मे और कुछ रूप मे हिंसा का व्यापक विरोध, प्रतिरोध एव निरोध होना ही 'अहिंसा' है। इस दृष्टिकोण से देखने पर भलीभाँति ज्ञात हो सकेगा कि अहिंसा का स्वरूप बहुत व्यापक है और उसके रूप भी अनेक है। यही कारण है कि अहिंसा को अनेक वर्गों मे विभक्त करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अहिंसा के विराट् स्वरूप का चिन्तन करते हुए यह सभव नही है कि उस पर पूर्ण प्रकाश डाला जा सके। फिर भी जब हमने अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार किया है, उसके औचित्य को अपने जीवन का आदर्श माना है, और उसकी परिधि मे रह कर ही जीवन-व्यवहार चलाने का सत्य सकल्प किया है, साथ ही यह भी मान लिया है कि अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति, समाज और विश्व का त्राण सभव है, तो हम पर यह कर्त्तव्य और दायित्व आ जाता है कि हम अधिक गहराई मे उतर कर अहिंसा को समझे और दूसरो को भी समझाएँ।

हिंसा के दो रूप

अहिंसा को भली-भाँति समझने के लिए पहले हमे हिंसा के दो रूपो पर विचार करना होगा। उनमे से एक रूप वह है, जिसे हम 'आन्तरिक' कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि एक हिंसा वह होती है—जो क्रोध, मान, माया, लोभ एव वासना के रूप मे भीतर ही भीतर सुलगती रहती है। हम अपने ही कुप्रयत्नो से अपनी आत्मा की हत्या करते रहते हैं। उदाहरणस्वरूप—एक व्यक्ति दूसरे के बड़प्पन को नही सह सकता है। वह मन ही मन उसे देख कर जलता है और उस जलन मे वह अपनी ही हिंसा कर लेता है। यदि किसी के सद्गुणो को देखता है और किसी की प्रशसा सुनता है, तो भी वह मन ही मन जलता है और अपने अहंभाव मे दूसरे के सद्गुणों को स्वीकार नही करता। इतना ही नहीं, बल्कि वह दूसरे के सद्गुणो से घृणा भी करने लगता है। ऐसा करने वाला एक प्रकार से अपनी आत्म-हत्या ही कर रहा है।

जब कोई आदमी बदूक या पिस्तौल से अपने को गोली मार लेता है तो यह समझा जाता है कि आत्म-हत्या की गई है, परन्तु वह तो शरीर की हत्या है, आत्मा की नही। किन्तु मनुष्य जब किसी बुराई को अपने अन्दर डाल लेता है और उसी मे

निरन्तर गलता है और सड़ता रहता है तो यह बदूक या पिस्तौल से गोली मार लेने की अपेक्षा भी बहुत बडी हिंसा है, क्योकि यह बुराई हमारे सद्गुणो का सर्वनाश कर डालती है। इस प्रकार भीतर ही भीतर होने वाली हिंसा 'आन्तरिक' है और यह भाव-हिंसा की परिचायिका है।

हिंसा का दूसरा रूप 'बाह्य' (बाहरी) है। वास्तव मे हमारे अन्दर की ही बुराई बाहर की हिंसा को प्रेरित करती है।

इस प्रकार जैन-धर्म के अनुसार हिंसा के दो नाले हैं, दो प्रवाह हैं। एक अन्दर ही प्रवाहित होता रहता है, और दूसरा बाहर। हिंसा को यदि अग्नि कहा जाए तो समझना चाहिए कि हिंसा की अग्नि भीतर भी जल रही है और बाहर भी।

भ्रान्तियाँ

यदि इस दृष्टिकोण को सामने रखकर विचार करते हैं तो अहिंसा का सिद्धान्त बहुत व्यापक प्रतीत होता है। किन्तु यह जितना व्यापक है, उतना ही जटिल भी है। जो सिद्धान्त जितना अधिक व्यापक बन जाता है, वह प्राय उतना ही अटपटा भी हो जाता है और साथ ही उलझ भी जाता है। यही कारण है कि जीवन-क्षेत्र मे कभी-कभी अहिंसा के सम्बन्ध मे भाँति-भाँति की विचित्र भ्रान्तियाँ देखी जाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि लोग कभी हिंसा को अहिंसा, और अहिंसा को हिंसा समझ बैठते है। इस प्रकार की भ्रान्तियो ने प्राचीन काल मे और आधुनिक काल मे भी अनेक प्रकार के मतमतान्तरो को जन्म दिया है। जहाँ सेवा है, अहिंसा है, करुणा एव दया है, दुर्भाग्य से वहाँ हिंसा समझी जा रही है और एकान्त पाप समझा जा रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि सिद्धान्त के अनुसार जो वास्तविक 'अहिंसा' है, उसी को मनुष्य के भ्रान्त मन ने 'हिंसा' समझ लिया है।

इसके विपरीत कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हिंसा हो रही है, बुराई पैदा हो रही है और गलत काम से किसी को कष्ट पहुँचाया जा रहा है, जिसके फलस्वरूप दूसरे प्राणियो के अन्दर प्रतिहिंसा की प्रतिशोधनकारी लहर पैदा हो रही है, किन्तु दुर्भाग्य से उसे 'अहिंसा' का नाम दिया जाता है। यही कारण है कि जब धर्म के नाम पर या जात-पाँत के नाम पर हिंसा प्रदर्शित होती है, तो उसे हम अहिंसा समझ लेते है। इस तरह मानव-जाति का चिन्तन इतना उलझ गया है कि कितनी ही बार हिंसा के कार्यों को अहिंसा का, और अहिंसा के कार्यों को हिंसा का रूप दे दिया जाता है।

हिंसा और अहिंसा-सम्बन्धी इस प्रकार की उलझने होने पर भी विचार तो करना ही होगा। बल्कि ये मुख्य उलझने है, इसलिए इस विषय मे क्रमश विचार करना और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। हम इन विचारो पर अपने आप मे चिन्तन कर लेना चाहते है। हालाँकि हमारी बुद्धि बहुत सीमित है, किन्तु जहाँ तक शास्त्रो का सद्-सहयोग काम देता है और हमारा चिन्तन-मनन हमारी सहायता करता है, वहाँ तक

तो हमे आगे बढ़ना ही चाहिए। इसके विपरीत यदि हम शास्त्रो का सहारा न ले कर केवल अपनी बुद्धि और शुष्क तर्क के बल पर ही खड़े हो जाते है, तो हमे न तो शास्त्रो का ही उचित ज्ञान हो सकता है, न अपना ही पता रह सकता है और न हम देश तथा समाज के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पूर्णरूपेण पालन कर सकते हैं।

इस प्रकार सामाजिक हिंसा का रूप स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है। आपके सामने जो इन्सानो की दुनिया है उसके साथ आपका क्या सम्बन्ध है? आप अपने पार्श्ववर्ती मनुष्यो के साथ कैसा व्यवहार करते हैं? वह व्यवहार घृणा और द्वेष का है अथवा सम्मान और सत्कार का? वह दूसरो को घायल करने की क्रूरता है या घाव पर मरहम लगाने की उदारता?

इन प्रश्नो पर ईमानदारी के साथ विचार करना चाहिए। वह हिंसा, जो समुदाय के रूप मे होती है, आज विराट् बन गई है। और इसके बावजूद भी अधिकांश लोग हिसा करते हुए भी उसे हिंसा नही समझते। इस तरह आज के जीवन मे एक बहुत बडी गलतफहमी फैल गई है।

चौडी खाई

एक अखण्ड मानव-जाति अनेकानेक जातियो, उपजातियो मे बँट गई है और उसके इतने टुकड़े हो गए है कि यदि गिनने चलें तो गिनते-गिनते थक जाएँगे फिर भी पूरे भेद-प्रभेदो को गिन न सकेगे। यद्यपि कही-कही एक जाति का दूसरी जाति के साथ ऊपर से प्रेमभाव मालूम होता है, किन्तु उनकी तह मे ऊँच-नीच की चौडी खाई देखी जाती है। भीतर ही भीतर सघर्ष चलता रहता है। फलत हर कोई अपने को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझने का मिथ्या अहकार प्रदर्शित करता है। बाहर के सुरभित फूलो मे ही अन्दर-अन्दर काँटे बिछे होते है। यो तो जीवन मे सब साथ-साथ चलते है और एक-दूसरे को सहयोग भी देते है, किन्तु मन के काँटे दूर नही होते और वे निरन्तर एक-दूसरे को चुभोते रहते है।

पारस्परिक जातीय संघर्ष

दूसरी साधारण जातियो का तो क्या कहना, ओसवाल और श्रीमाल जातियाँ जो एक डठल के ही दो फल के समान हैं, उनमे भी आपस मे सघर्ष जारी है, फलत कही-कही उन्हे परस्पर लडते भी देखा जाता है। ओसवाल और श्रीमाल परस्पर मे अपने आप को ऊँचा और दूसरे को हीन समझ कर कभी-कभी एक-दूसरे के साथ रोटी और बेटी का व्यवहार भी तोड बैठते है। भीतर की जलन कभी-कभी विस्फोट के रूप मे बाहर आ जाती है तो परिवार के परिवार लड पडते हैं और आपस के मधुर सम्बन्ध कटुता मे बदल जाते हैं, सबके बीच विद्वेष की आग सुलग उठती है। यह आग ओसवालो मे या अग्रवालो मे, या दूसरी जातियो मे जहाँ भी जल रही है, वहाँ बड़े-बड़े विचारक भी कभी-कभी उसमे हिस्सा लेने के लिए विवश हो जाते हैं और उसमे

कुतर्क का घी डाल कर बुझती शिखा को अधिक प्रज्वलित कर देते हैं। इस प्रकार जाति के नाम पर हिंसा होती है और इस पर हम सोचते है कि जो लोग अपने जाति-बान्धवो के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करते है और उनसे लडते है, वे छह करोड शूद्रो या अछूतो के साथ इन्सानियत का सद्-व्यवहार किस प्रकार कर सकेंगे ?

छूत-अछूत

भगवान् महावीर ने जो कठिन साधना की और जब परिवर्तन का प्रवाह आया, तब बड़े-बड़े पुरोहितो ने अपनी उच्चता का अहकार छोड दिया और भगवान् के चरणो मे आ कर सारे भेदभाव भुला दिए। उनके दिलो मे अपार करुणा प्रवाहित हो गई, दया का सागर लहराने लगा। किन्तु खेद है कि उस महान् तत्त्व को आगे चल-कर स्वय जैनो ने भी नही पहचाना, फिर दूसरो का तो कहना ही क्या ? दूसरो ने तो इस दिशा मे हमारा सदैव विरोध ही किया है और निहित स्वार्थों की पूर्ति के लोभवश अछूतो का पक्ष लेने के कारण हमे भी एक प्रकार से अछूत करार दे दिया गया है।

एक समय की घटना है। मै एक जगह ठहरा हुआ था। पास ही एक हलवाई की दूकान थी। वहाँ एक कुत्ता आया और मिष्टान्नो मे मुँह लगाने लगा तो हलवाई ने डडा उठाया और कहा—'दूर हट सरावगी !' यह शब्द सुन कर मैने विचार किया —यह 'दूर हट सरावगी' क्या चीज है ? और इस हलवाई के मन मे यह अप-प्रेरणा क्यो आई ? मेरा मन इतिहास के पन्ने उलटता गया। तब अन्त मे मालूम हुआ कि किसी जमाने मे हमने अछूतो के पक्ष मे नारा लगाया था और कहा था कि इन्सान के साथ इन्सान का-सा व्यवहार होना चाहिए। इस पर हमे भी अछूत ही करार दे दिया गया था और सरावगी (श्रावक) को कुत्ते की पशु-श्रेणी मे रखा गया था।

जब आप गहराई मे उतर कर इस विषय मे सोचेगे तो मालूम होगा कि आप अपने को भले ही ऊँचा समझते हो, परन्तु दूसरे लोग आपको भी घृणा की दृष्टि से देखते है, अपवित्र समझते है और चौके मे बिठाने से परहेज करते है। यहाँ तक कि हम साधुओ को भी चौके मे नही जाने देते। दिल्ली जैसे शहरो से दूर किसी देहात मे जाने पर यही सुनना पडता है "अलग रहिए महाराज, हम बाहर ही ला कर दे देगे।"

जब इस प्रकार की विपरीत भावनाएँ नित्यप्रति देखने को मिलती है, तो हम सोचते है कि इसमे जनता का दोष नही है। हम स्वय भी तो इन्ही सकीर्ण भावनाओ के शिकार है।

यहाँ तक कि आप जिन्हे नफरत की निगाह से देखते है, वे भी छूत-अछूत के भेदभाव से भरे हुए है। आप छोटी जाति से घृणा करते हैं और वह छोटी जाति भी अपने से छोटी समझी जाने वाली जाति से घृणा करती है। इस दु खद दृश्य को देख-कर हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

देखा जाता है कि एक ऐसा रोग है, जो ऊपर से नीचे तक फैल गया है,

जडो मे जम गया है। फलत इसका पूरी तरह परिमार्जन करने के लिए बहुत बडी क्रान्ति की अपेक्षा है। इस जटिल प्रश्न को हल करने के लिए गांधीजी को अपना बलिदान देना पडा। गोडसे के साथ उनका कोई व्यक्तिगत द्वेष नही था, किन्तु दूसरी जाति वालो से प्रेम करने के कारण ही उन्हे गोली का शिकार बनना पडा। गांधीजी ही नही, हमारे अनेक पूर्वजो को भी इसी प्रकार के अनेक आत्म-बलिदान देने पड़े हैं।

हमारे अनेक साथी साधुओ मे जातिगत या सम्प्रदायगत विचार घर किए हुए है, फलत वे भी इन सामाजिक सकीर्णताओ मे फँसकर जातिवाद का कट्टर समर्थन करते है। हमे उनके विचारो को मांजना है।

इस प्रकार की घृणा और द्वेष की भावना को जातिगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत और समूहगत हिंसा का रूप दिया गया है। मनुष्य को मनुष्य के रूप मे न देख कर जात-पाँत के नाते घृणा और द्वेष की सकुचित दृष्टि से देखना, हिंसा नही तो और क्या है ?

इन्सान की आँखें

कभी-कभी मनुष्य अपने दैनिक नीतिमय व्यवहार मे भी उक्त जातीय विचारो के कारण भ्रमित हो जाता है। एक बालक ठोकर खा कर रास्ते मे गिर पडता है और एक व्यक्ति उसे उठाने चलता है। जब उसके ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि उच्च होने का पता चलता है, तब तो वह उसे खुशी-खुशी उठा लेता है, परन्तु जब उसे यह मालूम होता है कि यह तो भगी का बालक है तब उसका मन दुविधा मे पड जाता है। वह उसे उठाए या नही ? यदि कोई ऐसा उदारमना भाग्यशाली है, जो उसे उठा लेता है तो वह निश्चित ही आदर का पात्र है, ऐसा समझा जा सकता है, उसकी आँखों मे मनुष्य की दृष्टि है। किन्तु जहाँ इन्सान की आँखे नही है, वहाँ आदमी दुविधा का शिकार हो जाता है और सोचने लगता है कि क्या किया जाए और क्या न किया जाए ?

कोई कष्टपीडित या आपत्तिग्रस्त है, और दूसरा उसका उद्धार करने चलता है, किन्तु यदि वह जात-पांत को पूछ कर चलता है, तब तो वह उसके कष्ट को कभी नही देख सकेगा, उसकी जात-पांत को ही देख पाएगा। क्योंकि यह ऐसी विषमता है, जिसने हमारे सामाजिक जीवन को एक सिरे से दूसरे सिरे तक विकृत कर दिया है। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर का विचार एकदम स्पष्ट था। वे तो गुणो की पूजा करने वाले गुणग्राही थे, जाति की पूजा करने वाले नही। उनके पास ब्राह्मण आता है और यदि वह योग्य है तो उसका स्वागत होता है, क्षत्रिय है और उसमे गुण हैं तो उसका भी आदर होता है, और यदि कोई साधारण जाति मे जन्म लेने वाला शूद्र या अछूत है, किन्तु अहिंसा और सत्य की सुगन्ध उसके जीवन मे महक रही है तो शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य तो क्या देवता भी उसके चरण छूने को लालायित हो उठते हैं। अस्तु, देवता भी उसके लिए जय-जयकार के नारे लगाते हैं। और स्वय भगवान् महावीर ने भी ऐसे लोगो का हृदय से स्वागत किया है।

चाण्डालपुत्र मुनि हरिकेशी

हरिकेशी मुनि के सम्बन्ध मे आगमो मे जो सुन्दर वर्णन है, वह जैनो के पास बहुत बडी सम्पत्ति है, एक बडी नियामत है और एक सुन्दर खजाना है। हमने कितनी ही गलतियाँ की हैं और अब भी उनकी पुनरावृत्ति करते जा रहे है, किन्तु हमारे पूर्वज उन गलतियो के शिकार नही बने थे। उन्होने मनुष्य को मनुष्य के रूप मे पहचाना था, मनुष्य के गुणो की ही प्रशसा की थी, धनवान् होने के नाते कभी किसी का आदर नही किया और जात-पाँत के लिहाज से भी कभी किसी का सत्कार-सम्मान नही किया। तभी तो उत्तराध्ययन मे कहा गया है—हरिकेशी मुनि श्रेष्ठ गुणो के धारक और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले आदर्श भिक्षु थे। उनके गुणो का उल्लेख करने के साथ ही साथ शास्त्रकार इस बात का भी उल्लेख करने से नही चूके कि वह मुनि 'श्वपाक चाण्डाल' कुल मे उत्पन्न हुए थे, बल्कि सबसे पहले इसी बात का उल्लेख किया है।[१] यह उल्लेख हमे शास्त्रकार के हृदय तक ले जाता है और इसके द्वारा हम समझ सकते है कि शास्त्रकार के मन मे क्या भावना रही होगी। जिनके नेत्र निर्मल है, वे इस उल्लेख मे सम्पूर्ण भारतवर्ष की और विशेषत जैनो की प्राचीन सस्कृति को भलीभाँति देख समझ सकते है।

जीवन-यात्रा मे कभी-कभी बडी अटपटी घटनाएँ आती है, सावधान रहने पर भी मनुष्य कदाचित् ठोकर खा ही जाता है और गिर भी पडता है, किन्तु सच्चा बहादुर वही है, जो गिर कर भी उठ खडा होता है और होश-हवास को दुरुस्त कर लेता है। हरिकेशी उन्ही वीरो मे से एक थे। कही भूल हो गई और गिर गए, यानी पूर्व-सस्कारो के कारण उन्हे चाण्डालकुल मे जन्म लेना पडा, किन्तु उन्होने अपने जीवन को और आत्मा को फिर सभाला और ऊपर उठ गए। जब वे गृहस्थ थे, सब ओर से उन्हे अनादर और धिक्कार मिला, किसी ने भी उनका सम्मान-सत्कार नही किया, किन्तु जब उन्होने मन को साफ किया तो वही श्रेष्ठ गुणो को धारण करने वाले जितेन्द्रिय भिक्षु बन गए।

इस सन्दर्भ मे एक बार पण्डित लोग वाद-विवाद करते है, शास्त्रार्थ करते है और जन्मगत जाति की उच्चता का यह दावा करते है कि मानव-सृष्टि मे केवल ब्राह्मण ही पवित्र और श्रेष्ठ है। शास्त्रार्थ लम्बा चलता है और अन्त में हरिकेशी का गुणकृत ब्राह्मणत्व ही श्रेष्ठ प्रमाणित होता है। फलत देव-दुन्दुभियाँ बजने लगती हैं और देवगण जय-जयकार की ध्वनि से पृथ्वी और आकाश को गुँजा देते है। रत्नो की वर्षा होती है, और साथ ही साथ सुन्दर विचारो की भी अमृतवर्षा होती है। उसी जयघोष के स्वरो मे भगवान् महावीर ने कहा है—"प्रत्यक्ष मे तुम देख सकते हो कि

---

१ सोवागकुलसमूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसी भिक्खू जिइंदिओ॥ —उत्त० १२, १

विशेषता तप मे है, विशेषता गुण मे है और विशेषता जीवन की पवित्रता में है। जाति में कोई विशेषता दिखाई नही देती, वह तो केवल उच्चता के अहकार से पैदा होने वाली कोरी कल्पना है। हरिकेशी साधु चाण्डाल का लडका था और उसने चाण्डाल के कुल मे जन्म भी लिया था, किन्तु उसके ऐश्वर्य को देखिए! उसके यश-सौरभ को परखिए कि देवगण भी उसका जयघोष कर रहे है।[२]

एक-एक शब्द मे चिरन्तन सत्य की गगा बह रही है। एक-एक शब्द मे गुणों के प्रति अनुरागरस भरा है! शताब्दियो से इस गाथा मे से अमृत का झरना बह रहा है, किन्तु दुर्भाग्य से अपने भीतर उसे समा लेने की शक्ति हम मे नहीं रह गई है। हम उसे पढ़ते है और आगे चल देते है। विचारो के इस अमृत-निर्झर को हम अपने जीवन मे नही उतार पाते है। शास्त्रकार कितने प्रभावशाली शब्दो मे चुनौती देकर, मानो कह रहे हैं!

उत्तराध्ययन की यह पवित्र वाणी आज भी मौजूद है और हमारे पक्ष का पूर्णत समर्थन करती है। जात-पाँत के विरुद्ध इससे बडा और क्या प्रमाण चाहिए? यदि इतने पर भी किसी को समझ नही आती, तो उसके लिए दूसरे प्रमाण भी क्या निरर्थक ही सिद्ध न होगे?

यदि किसी ने नीची समझी जाने वाली जाति मे जन्म ले भी लिया तो क्या हो गया? वह उसी जीवन मे दूसरी बार फिर जन्म ले सकता है। दूसरा जन्म गुणो के द्वारा लिया जाता है, मनन और चिन्तन के द्वारा लिया जाता है। पुरुषार्थ एव प्रयत्न के द्वारा अपने हाथो अपने जीवन का जो निर्माण होता है, वही सबसे बडा निर्माण समझना चाहिए। अलकार की भाषा मे वही दूसरा जन्म है।

सूतपुत्र दानी कर्ण

महाभारत मे एक कथा आती है—कर्ण एक रथचालक बढई का लडका सूतपुत्र है, यह बात प्रसिद्ध थी। जब वह युद्ध के मैदान मे उतरता है तो जन्म-जात क्षत्रिय उसका उपहास करते हैं और चिढाते हैं कि—"आप यहाँ कैसे आ पहुँचे? यह तो युद्ध-क्षेत्र है। यहाँ तो तलवारो का काम है! अत युद्धक्षेत्र मे वही आ सकता है, जो तलवार का सचालन कर सकता हो, साथ ही उसे इसका अधिकार भी प्राप्त हो, किन्तु सूत-पुत्र को तो युद्ध करने का अधिकार नहीं है।" इस प्रकार का मजाक सुन कर भी वह दृढ-सकल्पी और आत्म-विश्वासी वीर कर्ण न किंचित सहमा और न शर्माया ही। वह उन जन्म-जात क्षत्रियो को ललकारता है।

हाँ, तो कर्ण युद्ध-क्षेत्र मे पहुँच कर कहता है—"तुम जन्म-जात क्षत्रिय हो और

---

२ सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोवि।
सोवागपुत्त हरिएससाहु, जस्सेरिसा इड्ढी महाणुभावा॥

—उत्तराध्ययन १२, ३७

तलवारो को सदियो से उठाते भी आ रहे हो। और इधर मैंने तो अपने कुल मे, मात्र अपने पुरुषार्थ पर, बस यही एक तलवार उठाई है। किन्तु यही तलवार तुम्हे बतलाएगी कि युद्ध मे किसकी तलवार ज्यादा चमकती है ? उसने निर्भीकभाव से घोषणा की—"मैं सूत हूँ या सूत का लडका हू, तो क्या हुआ ? मैं कोई भी हूँ, तुम्हें इससे क्या प्रयोजन है ? पुराने जन्म के सस्कारो के कारण मैंने कहीं भी जन्म लिया है, उसे क्या देखते हो ? अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न के द्वारा मैंने अपने जीवन का जो यह नव-निर्माण किया है, यदि साहस रखते हो तो इसे परखने की कोशिश करो। तुम लोग जन्म से क्षत्रिय हो, और मै पुरुषार्थ-कर्म से क्षत्रिय बना हूँ। रण-क्षेत्र बतला देगा कि वास्तव मे कौन सच्चा क्षत्रिय है ?"[3]

कर्ण की इस ज्वलन्त वाणी को हमे अपने मन मे सुरक्षित रख लेना चाहिए। कर्ण के इस निर्भीक भाव को हमे अपने अन्त करण की गहराई मे ले जाना चाहिए कि—"कोई किसी भी जाति मे पैदा हुआ हो अथवा रहता हो, किन्तु अपने गुणो के द्वारा वह ऊँचा उठ सकता है और पवित्र बन सकता है।"

वाल्मीकि पहले किस रूप मे थे ? दस्यु ही थे न ! परन्तु जब उनका जीवन बदला तो आखिर उन्हे महर्षि के पद पर प्रतिष्ठित करना ही पडा। हरिकेशी कुछ भी रहे हो, किन्तु जब उन्होने आदरणीय गुण प्राप्त कर लिए तो उनका आदर किया ही गया। आखिर, गुण कब तक ठुकराए जा सकते है ? कभी न कभी तो उनकी चमक बाहर आएगी ही, और जीवन मे दिव्य प्रकाश पैदा हो कर रहेगा ही।

जैनो मे उच्चगोत्र और नीचगोत्र की बात चलती है। कुछ लोग इस विषय मे पूछ लेते है और कई मन मे ही घुटते रहते है। कोई पूछे या न पूछे, जब हम विचार-क्षेत्र मे कूद पडे है तो कभी-कभी कोने मे और कभी मैदान मे भी विचार कर ही लेते है। स्वय विचार करके और जैन-शास्त्रो का अध्ययन करके जो कुछ सचय किया है, उस तत्त्व-ज्ञान को स्पष्टरूप से जनता के सामने रख देना और उलझी हुई गुत्थियो को सुलझाने का भरसक प्रयत्न करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

यदि कोई प्रतिष्ठित माने जाने वाले कुल मे पैदा हो गया है तो वह उच्च-गोत्रीय कहलाया और यदि अप्रतिष्ठित समझे जाने वाले कुल मे उत्पन्न हो गया तो नीचगोत्रीय कहलाने लगा। इस सम्बन्ध मे पहली बात जो ध्यान देने योग्य है, यह है कि कुल की प्रतिष्ठा क्या सदैव एक-सी रहती है ? नही, वह तो उस कुल के व्यक्तियों के व्यवहार के द्वारा बदलती भी देखी जाती है। एक व्यक्ति का श्रेष्ठ आचरण कुल की प्रतिष्ठा को बढाता है, और इसके विपरीत किसी दूसरे व्यक्ति का नीच और गलत आचरण कुल की प्रतिष्ठा मे धब्बा लगा देता है, सारी प्रतिष्ठा को धूल मे मिला देता

---

३ सूतो वा सूतपुत्रो वा, यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्त कुले जन्म, ममायत्त हि पौरुषम्॥

है। ऐसी स्थिति मे किसी भी कुल की अप्रतिष्ठा या प्रतिष्ठा कोई शाश्वत वस्तु नहीं है। वह तो जनता के विचार-कल्पना की चीज है, वास्तविक वस्तु नही है।

गोत्र-परिवर्तन

दूसरा प्रश्न यह है कि गोत्र बदला जा सकता है या नही ? मान लीजिए कि किसी को नीच गोत्र मिला है , किन्तु उसने तत्त्व का चिन्तन और मनन किया है और उसके फलस्वरूप उच्चश्रेणी का आचरण प्राप्त किया है, तो उसी जीवन में उसका गोत्र बदल सकता है या नही ? यदि तर्क द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि गोत्र नही बदल सकता तो मुझे अपने विचारो को समेट कर एक कोने मे डाल देना पडेगा। किन्तु यदि गोत्र का बदलना प्रमाणित हो जाता है तो आपको भी अपना विचार बदल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। सत्य सर्वोपरि है और बिना किसी आग्रह के हम सबको उसे अपनाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

कल्पना करे—एक उच्चगोत्री है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, अग्रवाल अथवा ओसवाल है, परन्तु आज वह बुरा काम करता है और मुसलमान बन जाता है। हालांकि मैं मुसलमान को भी घृणा की दृष्टि से नही देखता हूँ, किन्तु रूपक ला रहा हूँ और आपको भी उसी दृष्टि से उस रूपक को समझना चाहिए। यदि एक ओसवाल या अग्रवाल मुसलमान बन जाता है तो क्या आप उसे उस बदले हुए दूसरे रूप मे समझते हैं या उसी पहले के रूप मे स्वीकार करते हैं ? आप उसे दूसरे रूप मे स्वीकार करते हैं। अर्थात् वह आपकी निगाहो से गिर जाता है और उसका गोत्र भी उच्च नही रह जाता है। अब आप उसे पहले की तरह अपने साथ बिठा कर एक साथ भोजन नही करते। इसका अर्थ यह है कि न उच्चगोत्र स्थायी रहता है और न जन्मगत जातीय धारणा ही। जब तक वह ऊँचाई पर कायम रहता है, तब तक उच्च बना रहता है और जब उसका पतन हो जाता है और वह अपने आचरण मे एक बडी बुराई पैदा कर लेता है और तदनुसार किसी दूसरे रूप मे चला जाता है, तो इसे गोत्र बदलना ही कहा जा सकता है। पहले वह व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या और कुछ भी क्यो न रहा हो, किन्तु अब तो वह प्रत्यक्षरूप मे बदल गया है और इस कारण उसका गोत्र भी बदल गया है।

अस्तु, जो बात उच्चगोत्र के सम्बन्ध मे है, वही बात नीचगोत्र के सम्बन्ध मे क्यो नही स्वीकार करते ? जब गोत्रकर्म का एक हिस्सा—उच्चगोत्र बदल जाता है और नीचगोत्र बन जाता है तो दूसरा हिस्सा क्यो नही बदल सकता ? नीचगोत्र को उच्चगोत्र मे बदलने से रोकने वाला कौन है ? चाहे जितनी सचाई और पवित्रता को अपनाने पर भी नीचगोत्र बदल नही सकता और वह जन्मभर नीचा ही बना रहेगा, यह कहाँ का न्यायसगत सिद्धान्त है ? जब उच्चगोत्र स्थायी नही रहता है, तब फिर नीचगोत्र किस प्रकार स्थायी रह सकता है ?

अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य बुराई का शिकार होता है, तब नीचगोत्र मे

रहता है, और जब अच्छाइयाँ प्राप्त कर लेता है, तो वही 'भगतजी' के नाम से या और किसी अच्छे नाम से प्रसिद्ध हो जाता है।

अब जरा सैद्धान्तिक दृष्टि से भी विचार करे। सिद्धान्त की मान्यता है कि साधु का गुणस्थान छठा है[४] और छठे गुणस्थान मे नीचगोत्र का उदय नही होता। हरिकेशी नीचजाति मे उत्पन्न हुए थे और साधु बन गए। अब प्रश्न यह है कि साधु बन जाने पर वह नीचगोत्र मे रहे या नही? यदि वे नीचगोत्र मे ही रहे तो उन्हे छठा गुणस्थान नही होना चाहिए और साधु का दर्जा भी नही मिलना चाहिए। किन्तु शास्त्र यह बतलाता है कि वे तो महामहिम मुनि थे और उन्हें छठा गुणस्थान प्राप्त था। छठे गुणस्थान मे नीचगोत्र नही रहता है। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि हरिकेशी नीचगोत्र से बदल कर उच्चगोत्र मे पहुँच चुके थे। तो अब आपको स्वय ही यह फैसला करना पड़ेगा कि नीचगोत्र भी उच्चगोत्र के रूप मे बदल जाता है। उच्च गोत्र और नीचगोत्र दोनो गोत्र-कर्म की अवान्तर प्रकृतियाँ है। अवान्तर प्रकृतियो का एक-दूसरी के रूप मे सक्रमण हो सकता है। यह बात उस सिद्धान्त को जानने वाले भलीभाँति समझ सकते है।

हरिकेशी मुनि नीचगोत्र की गठरी अपने सिर पर रख कर छठे गुणस्थान की ऊँचाई पर नही चढ़े थे। यह बात इतनी ठोस और सत्य है कि जब तक कोई शास्त्र की प्रामाणिकता मानने से इन्कार न कर दे, तब तक वह इससे भी इन्कार नही कर सकता। यदि कोई शास्त्र के निर्णय को स्थायीरूप से कायम रखना चाहता है तो उसे उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र के आजीवन स्थायित्व की मान्यता को खत्म करना ही होगा।

गोत्र के साथ छुआछूत का सम्बन्ध नहीं

उच्च-गोत्र और नीचगोत्र का छुआछूत के साथ कोई सम्बन्ध नही है। छुआछूत तो केवल लौकिक कल्पनामात्र है। जो कष्ट मे पडा है और बेहोश हो रहा है, आप उसके पास खड़े-खडे देखते हैं और अछूत समझ कर उसे हाथ नही लगा सकते, कोई भी सच्चा सिद्धान्त इस धारणा का समर्थन नही करेगा। सच्चे शास्त्र इस निन्द्य व्यवहार का अनुमोदन कभी नही करते। जब हम छुआछूत के सम्बन्ध मे विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि छुआछूत की कल्पना के साथ गोत्र-कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। गाय, भैस, घोडा, हाथी जितने भी पशु हैं, उनको शास्त्रो के अनुसार आजन्म नीच-गोत्र रहता है। किसी भी पशु मे उच्च-गोत्र नही माना गया है। यदि नीच-गोत्री होने मात्र से कोई अछूत हो जाता है तो सभी पशु अछूत होने चाहिए। गाय और भैस भी अछूत होने चाहिए। किन्तु उनके दूध को तो आप हजम कर जाते

४ आध्यात्मिक विकासक्रम की भूमिकाओ मे से एक सर्वविरतिरूप पूर्ण चारित्र की भूमिका, जो साधु की भूमिका कहलाती है।

हैं और फिर मनुष्य के लिए छुआछूत की बातें करते हैं ! जो घोडे पर सवार होते हैं और हाथी पर बैठने मे भी अपना सौभाग्य मानते हैं ! उस समय वे क्यो भूल जाते हैं कि ये पशु नीच-गोत्री हैं और इस कारण अछूत है— यदि इन्हे छुएँगे तो धर्म डूब जाएगा और जाति विजाति हो जाएगी ।

कितने आश्चर्य और खेद की बात है कि पशुओ को छूने वाले, उनका दूध पीने वाले, उन्हे मल-मल कर स्नान कराने वाले और उन पर सवारी करने वाले लोग ही जब मनुष्य का प्रश्न सामने आता है तो नीच-गोत्र की बात कह कर और अछूतपन की कल्पना करके अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होते हैं , अपने विवेक का दिवाला निकालते हैं, न्याय और नीति का गला घोटते हैं, और धर्म से दूर भागते है ! किन्तु सिद्धान्त की जो वास्तविकता है, उसी को सर्वतोभावेन अगीकार करना, हमारा मुख्य कर्त्तव्य है ।

सम्यक्त्वसम्पन्न चाण्डाल भी देवता

जैन-धर्म एक ही सत्य-सदेश ले कर आया है और वह सन्देश सद्‌गुणो का है । चाहे कोई कितना ही पापी क्यो न रहा हो, वह जब तक दुराचारी है, तभी तक पापी है । किन्तु ज्यो ही वह सदाचार की श्रेष्ठ भूमिका पर आता है, और उसके जीवन मे सदाचार की सुगन्ध फैल जाती है तो वह ऊपर उठता है और उसके लिए मोक्ष का दरवाजा भी खुल जाता है । जैन-धर्म यह कभी नही कहता कि मोक्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को ही मिलेगा, और शूद्र के लिए मोक्ष के मन्दिर पर कडा प्रतिबन्ध है । इस सम्बन्ध मे हमारे आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—"अगर कोई चाण्डाल से भी पैदा हुआ है, किन्तु उसे सम्यग्‌दृष्टि प्राप्त हो गई है तो वह मनुष्य नही, बल्कि देवता है ! तीर्थंकरदेव उसे देवता कहते हैं । उसके भीतर भी दिव्य ज्योति ठीक उसी प्रकार झलक रही है, जैसे राख से ढँके हुए अङ्गार मे ज्योति विद्यमान रहती है और भीतर ही भीतर चमकती है ।"[५]

मिथ्यादृष्टि देवता की तुलना मे भी सम्यग्‌दृष्टि शूद्र कही अधिक ऊँचा है । यदि ऐसा न माना जाएगा तो सद्‌गुणो की प्रतिष्ठा समाप्त हो जाएगी । लोग जाति और सम्पत्ति को ही पूजेंगे और गुणो की उपेक्षा करेंगे, गुणो की कक्षा नीची हो जाएगी और उसके प्रति आदर का भाव भी समाप्त हो जाएगा ।

जिस जाति मे गुणो का आदर होता है, उसमे सद्‌गुण, सदाचार और अच्छाइयाँ सर्वत्र पनपती है । दुर्भाग्य से हम उच्च-जाति वाले तथाकथित सदाचारी नीच-जाति वालो को समाजसेवा और धर्मसाधना मे भी अग्रसर नही होने देते और उन्हें मजबूर करते हैं कि वे वहीं के वही सर्वथा अलग-अलग खड़े रहे ।

वेश्या के सदाचारी बनने पर भी घृणा

५ सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देव विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥ —रत्नकरण्डश्रावकाचार

एक घटना है—एक बार मैं विहार कर रहा था। धूप कुछ तेज पड रही थी, फलतः विश्राम कर लेना चाहा। रास्ते में एक तिबारा आया। तिबारे के सामने ही कुछ वृक्ष थे। विश्राम करने के लिए मैं उन वृक्षो की छाया मे बैठने लगा तो साथ के एक श्रावक भाई ने कहा—"महाराज! आपको छाया मे बैठना हो तो आगे बैठिए, यहाँ मत बैठिए!"

मैंने कहा—'यहाँ ऐसी क्या बात है?'

तब वह बोला—'आपको मालूम नही कि यह तिबारा, वृक्ष और कुँआ एक वेश्या की सम्पत्ति से बने हैं। वेश्या पहले वेश्यावृत्ति करती थी, किन्तु बाद मे वह प्रभु की भक्त पुजारिन बन गई और जब ईश्वरभक्ति मे लग गई तो उसने सोचा कि कुछ परोपकार का काम करूँ। इसी विचार से प्रेरित हो कर उसने वेश्यावृत्ति से कमाए हुए अपने धन से ये सब बनवाए है। जब ऐसे निकृष्ट धन से बनवाए गए है तो फिर आप सरीखे सत को यहाँ नही बैठना चाहिए।"

मैंने सोचा—'एक तरफ तो यह कहता है कि वेश्या बदल गई, भक्त बन गई और जब उसमे सद्बुद्धि जागृत हो गई तो उसने अपने पिछले आचरण के प्रायश्चित्त के रूप मे यह सत्कार्य किया और दूसरी ओर यहाँ बैठने से भी परहेज करने को कहता है! दुर्भाग्य है हमारे समाज का कि सैकडो लोग उस कुँए का पानी भी नही पीते और तिबारे मे बैठने तथा वृक्ष की छाया मे विश्राम लेने मे भी पाप समझते है। ऐसे अभागे लोगो को आप दान और पुण्य भी नही करने देते। क्या उनका दान और पुण्य भी अपवित्र है? बस, आपके ही हाथ की कमाई पवित्र है, चाहे वह जनता का रक्त-शोषण करके ही क्यो न एकत्र की गई हो?

वास्तव मे वेश्या की कमाई, गलत कमाई थी, किन्तु बाद मे उसके अन्दर जब सद्बुद्धि जागृत हो गई और उसने प्रायश्चित्त के रूप मे सारा धन सत्कर्म मे लगा दिया, तो क्या हमे अब भी उससे घृणा करनी चाहिए?

वेश्या का पिछला जीवन पापमय अवश्य रहा, किन्तु जब उसने अपने जीवन को साध (माज) लिया और वह उस पाप से मुक्त भी हो गई, तब फिर उससे घृणा करने वालो, उसे घृणा की दृष्टि से देखने वालो को क्या कहा जाए? ईर्ष्या और घृणा यदि पाप है, तो वे लोग वर्तमान मे भी पाप मे पडे हुए हैं और आन्तरिक हिंसा के शिकार हो रहे है। विवेकशील पुरुषो की दृष्टि मे तो उस वेश्या की अपेक्षा भी वे विचार-दरिद्र अधिक दया के पात्र हैं।

अभिप्राय यह है कि जहाँ ईर्ष्या है, द्वेष है, घृणा है, मिथ्या अहकार है और मनुष्य के प्रति अपमान की हीन भावना है, वहाँ हिंसा है। जब हम हिंसा के स्वरूप पर विचार करें तो इस भयानक हिंसा को न भूल जाएँ और जब अहिंसा की साधना के लिए तैयार हो तो पहले इस आन्तरिक हिंसा को दूर करें, तभी चित्त पूर्णत निर्मल होगा, समता की धारा मे अवगाहन करेगा। कम से कम समग्र मानव-जाति को प्रेम एव मैत्री की दृष्टि से देखेंगे, तभी हम उच्च अहिंसा की आराधना कर सकेंगे। □

१६ | वर्ण-व्यवस्थागत सामाजिक हिंसा

अब तक हिंसा और अहिंसा की जो व्याख्या की गई है, वह जीवो की प्रत्यक्ष हिंसा-अहिंसा को ले कर की गई। अब हम एक दूसरे प्रकार की यानी परोक्ष हिंसा और अहिंसा पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

परोक्ष या सामाजिक हिंसा

हिंसा के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्षहिंसा और (२) परोक्षहिंसा। प्रत्यक्ष हिंसा मनुष्य की समझ मे जल्दी से आ जाती है, जब वह सोचता है कि आज एकेन्द्रिय से लगा कर पचेन्द्रिय तक के जीवो मे से कौन और कितने मेरे हाथो से मारे गए हैं ? किन्तु दूसरे प्रकार की जो परोक्ष हिंसा है, उसका रूप बडा व्यापक है और उसके सम्बन्ध मे शीघ्र कल्पना नही की जा सकती है। प्राय उसकी तरफ ख्याल भी नही जाता। उसकी गहराई को लोग समझ भी कम ही पाते है। इस परोक्षहिंसा की ओर ध्यान दिलाने के उद्देश्य से ही इस नए प्रकरण का प्रारम्भ किया जा रहा है, जिसे सामाजिक हिंसा कहना उपयुक्त होगा।

कदाचित् पाठको को यह शब्द नवीन-सा प्रतीत होगा और वे सोच सकते हैं कि यह कौन-सी नयी हिंसा आ टपकी है ? किन्तु हिंसा का रूप एक नही है। हिंसा के विविध रूप हैं और अलग-अलग अगणित प्रकार है। हम ज्यो-ज्यो उन पर चिन्तन और मनन करेंगे, त्यो-त्यो जैनधर्म के अहिंसा-सम्बन्धी विचारो की सूक्ष्मता एव व्यापकता का हमे ज्ञान होता जाएगा। तभी हम समझ सकेंगे कि जैन-धर्म विचारो की कितनी गहराई तक पहुँचा है।

सामाजिक हिंसा का मतलब क्या है ? भारत का समाज और सामाजिक जीवन क्या है ? वह कैसे बना है ? जमीन के अनेक टुकडो को समाज नही कहते। मकानो का, ईंटो का या पत्थरो का ढेर भी समाज नहीं कहलाता, और न गली-कूचे का, या दूकान का या सडक आदि का नाम ही समाज है। ब्यावर का समाज या दिल्ली का समाज जब कहा जाता है तो उसका अभिप्राय होता है—ब्यावर या दिल्ली मे रहने वाला मानव-समुदाय।

एक समाज का दूसरे समाज के साथ कैसा व्यवहार है ? कैसी पारस्परिकता है—सम्बन्ध मीठा है या कडवा ? एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ और एक मुहल्ले का दूसरे मुहल्ले के साथ घृणा और द्वेष का

सम्बन्ध तो नही चल रहा है ? यदि कही घृणा चल रही है तो वह 'सामाजिक हिंसा' कहलाएगी। इसी प्रकार यदि एक प्रान्त की दूसरे प्रान्त के साथ, और एक देश की दूसरे देश के साथ घृणा चल रही है तो वह भी एक प्रकार की 'सामाजिक हिंसा' ही कहलाती है।

जैन-धर्म एक विराट् धर्म है। जन-कल्याण के लिए वह महान् सन्देश ले कर आया है। उसका मूलभूत सन्देश यह है कि—"विश्व के जितने भी मनुष्य है, वे सभी मूलत एक हैं। कोई भी जाति अथवा कोई भी वर्ग मनुष्य-जाति की मौलिक एकता को भग नही कर सकता।" इस सम्बन्ध मे आचार्य जिनसेन ने स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की है—"मनुष्य-जाति मे जो अलग-अलग वर्ग दिखलाई देते है, वे बहुत कुछ कार्यों के भेद से धन्धो के भेद से हैं।"[१] कुछ त्रुटियो और भूलो के कारण भी चल रहे है। परिवर्तन ने समाज की परिस्थितियो को इतना बदल दिया है कि वह अखण्ड मानव-जाति आज खण्ड-खण्ड हो गई है और न जाने कितने वर्गों एव वर्णों मे विभाजित हो गई है।

वर्ग-व्यवस्था

भगवान् ऋषभदेव के समय मे जब समाज की स्थापना की गई थी तो हमारी मान्यता के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ग या वर्ण कायम हुए।[२] इन वर्गों का एकमात्र आधार उद्योग-धन्धा था। समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही ये वर्ग स्थापित किये गये थे।

एक वर्ग का काम था कि वह समाज को शिक्षित करने के लिए अध्यापक का काम करे, जनता को सही रास्ता दिखलाने का प्रयत्न करे और यदि समाज मे भूल और भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो तो उन्हें उचित ढग से ठीक करे। इस प्रकार यह वर्ग ब्राह्मणवर्ण कहलाया। आज की भाँति इस ब्राह्मणवर्ग को निमत्रण दे कर जिमाने के लिए तैयार नही किया गया था और न यह कहन के लिए ही कि—"मैं बहुत ऊँचा एव पवित्र हूँ और सब मुझसे नीचे हैं, अपवित्र हैं। ससार के साथ मेरा जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह देने का नही, सिर्फ लेने ही लेने का है।" इस मनगढ़न्त सिद्धान्त पर ब्राह्मणवर्ण की स्थापना नही हुई थी।

जैसे बडी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार शक्तिशाली लोग अशक्तो एव असमर्थों का शोषण करना चाहते हैं। यदि शक्तिमान् लोग न्याय और अन्याय को कभी तोलते भी हैं तो उनकी तराजू अपनी बुद्धि होती है और बाट

१ 'मनुष्य-जातिरेकैव, जातिकर्मोदयोद्भवा।' —आदिपुराण

२ भगवान् ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, ये तीन वर्ण स्थापित किए थे। तत्पश्चात् उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की।
—आचार्य जिनसेन-कृत आदिपुराण

अपने स्वार्थ का होता है। अपनी बुद्धि की तराजू पर, अपने स्वार्थ के बाटो से तोलने वाला कब न्याय-अन्याय को सही तौर पर तोल सकता है ? वह न्याय की रक्षा नहीं कर सकता और न उचित-अनुचित का विवेक के साथ विश्लेषण ही कर सकता है। इसीलिये समाज की स्थापना के साथ ही साथ राजनीति का भी प्रवेश हुआ। सबलों द्वारा निर्बल पीडित न किए जाएँ, दुर्बलो को भी जीवित रहने का उतना ही अधिकार है जितना कि बलवानो को, अत उनकी समुचित रक्षा की जाए। इसी प्रयोजन से क्षत्रिय-वर्ग की स्थापना हुई और राजा उनका सरक्षक बन कर आया, पहरेदार के रूप मे उसने आपको प्रस्तुत किया। क्षत्रिय-वर्ग और उनका मुखिया 'राजा' महलों मे बैठ कर ऐश-आराम करने के लिए नही था, अपितु इसलिए था कि देश के किसी भी कोने मे जब अत्याचार होता हो और कोई वर्ग किसी दूसरे वर्ग द्वारा कुचला जाता हो तो वह अपने प्राणो की आहुति दे कर भी उसकी रक्षा करे। क्षत्रियो की स्थापना मे यही दृष्टि प्रमुख थी। महाकवि कालिदास ने भी यही कहा है—[3] इसके बाद वैश्य-वर्ग स्थापित हुआ। वह इसलिए नही कि दुनियाभर का शोषण करके अपने ही पेट को मोटा बनाए और दुनिया की जेब खाली करके अपनी ही जेब भरता रहे। उसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि प्रजा को जीवन-निर्वाह की सामग्री सर्वत्र सुलभता से उपलब्ध हो। कोई वस्तु कही बहुतायत से पैदा होती है, कही कम, या कही होती ही नही है। जहाँ जो चीज बहुतायत से होती है वहाँ वह उपभोग के बाद भी पडी सडती रहती है, और जहाँ पैदा नही होती वहाँ के लोग उसके अभाव मे असुविधा अनुभव करते है और कष्ट सहते है। इस विषम परिस्थिति को दूर करना और यथावश्यक सुविधाएँ सर्वत्र सुलभ कर देना, वैश्य-वर्ग का कर्त्तव्य था। इस कर्त्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करते हुए अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए वह उचित पारिश्रमिक ले लिया करता था। वैश्य-वर्ग की स्थापना मे यही मूल उद्देश्य सन्निहित था।

चौथा शूद्र-वर्ग था, जिसका कार्य भी बडा महत्त्वपूर्ण था। समाज की सेवा करना ही उसका दायित्व था। उसकी सेवा की बदौलत समाज स्वस्थ रहता था और प्रजा का जीवन सुख-सुविधा के साथ व्यतीत होता था। शूद्र-वर्ग की स्थापना मे किसी प्रकार की मानसिक सकीर्णता तथा हीनभावना काम नही कर रही थी। तब फिर यह कल्पना की जा सकती है कि वर्ण-व्यवस्था कायम करते समय शूद्र-वर्ग को यदि किसी भी अश मे अन्य वर्णों की तुलना मे हीन माना गया होता, तो फिर कौन इस वर्ण-व्यवस्था मे सम्मिलित होने को तैयार होता ? वस्तुत उन समाजस्रष्टाओ मे ऐसी कोई विकृत भावना नही थी। जैसे अन्यान्य वर्ग समाज की सुविधा के उद्देश्य से

---

३ क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्र
क्षत्त्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ ।

—रघुवश महाकाव्य

कायम किये गए थे, उसी प्रकार यह वर्ग भी समाज की सुविधा के लिए ही बनाया गया था।

सही मान्यता

प्राचीन साहित्य मे ब्राह्मणो को 'मुख' कहा है। आमतौर पर यह उक्ति प्रचलित है कि—ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्रह्मा की भुजाओ से, वैश्य की उत्पत्ति ब्रह्मा के उरु या पेट से, और शूद्र ब्रह्मा के पैरो से उत्पन्न हुए।[४]

आज ब्राह्मण-समाज इस बात को तो बडे गौरव के साथ दोहराता है कि हम ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुए हैं, किन्तु इसके वास्तविक रहस्य को समझने का वह स्वप्न मे भी प्रयत्न नही करता। ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने का मूल अर्थ इतना ही है कि आप जो चिन्तन और मनन करते हैं, उसका उपयोग मुख द्वारा कीजिए। आप अपने ज्ञान को पवित्र वाणी के द्वारा प्रकाशित करके मानव-समाज की सेवा कीजिए! इस भ्रम मे कदापि न रहिए कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से बाहर निकल पडे है। जिस तरीके से अन्य लोग पैदा होते है, उसी तरीके से ब्राह्मण भी पैदा होते है। भला यह कौन नही जानता? मुख से पैदा होने की बात तो केवल रूपक है और उसका आशय इतना ही है कि ब्राह्मणो का मुख्य कर्त्तव्य शिक्षा-ज्ञान के द्वारा समाज की सेवा करना है। वह अलकार जीवन की पवित्रता का सन्देश ले कर आया था।

क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजाओ से उत्पन्न हुए, यह भी आलकारिक भाषा है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि क्षत्रिय-वर्ग अपनी भुजाओ के बल से निर्बलो की रक्षा करे, जो कि सबलो द्वारा सताये जाते है और जो अन्याय एव अत्याचार के शिकार बन रहे है। जहाँ शोषको के क्रूर हाथो से अन्याय-अत्याचार बरस रहे हो, वहाँ क्षत्रिय का हाथ चोट पहुँचाने के लिए नही, अपितु उन दुर्बलो को अपनी छाया प्रदान करने के लिए पहुँचना चाहिए।

हम लोग जो भोजन करते है, वह पेट मे जमा हो जाता है। किन्तु पेट मे जमा हुआ भोजन रस के रूप मे सारे शरीर मे पहुँचता है। ऐसा कदापि नहीं होता कि पेट मे पहुँचा हुआ भोजन पेट मे ही रह जाए और अकेला पेट ही उसे हजम कर जाए और किसी दूसरे अवयव को अणुमात्र भी न मिलने पाए। हमारे शरीर का प्रत्येक अवयव क्रिया कर रहा है, वह पेट मे पहुँचे भोजन की बदौलत ही तो है! यदि पेट सम्पूर्ण शरीर को शक्ति न दे, तो हमारे शरीर का अस्तित्व टिक ही नही सकता। फिर जब शरीर ही नष्ट हो जाएगा तो क्या अकेला पेट टिक सकेगा? पेट की बदौलत यदि सम्पूर्ण शरीर टिका हुआ है तो सारे शरीर की बदौलत पेट भी टिका हुआ है।

---

४ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत,
उरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्र अजायत। —यजुर्वेद, पुरुषसूक्त

आशय यही है कि पेट मे जो भोजन पहुँचता है वह रस, रक्त, मांस, चर्बी आदि के रूप मे सारे शरीर को जीवन प्रदान करता है और शक्ति पहुँचाता है ।

वैश्य-वर्ण समाज का उदर है । कृषि एव वाणिज्य उसका मुख्य उद्योग बतलाया गया है । कृषि के द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुएँ उत्पन्न कर वाणिज्य के द्वारा उन्हें स्थानान्तरित करके सम्पूर्ण समाज को भोजन देना, शक्ति पहुँचाना तथा जीवित रखना उसी का कर्त्तव्य है । उसके इसी महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य को सुन्दर ढग से प्रतिपादित करने के लिए यह कहा गया है कि वैश्य-वर्ण ब्रह्मा के पेट से उत्पन्न हुआ है ।

हृदयहीनता

वैश्य-वर्ण की स्थापना का यह आशय कितना पवित्र था ! किन्तु समाज का दुर्भाग्य है कि 'वैश्य' अपनी पवित्र प्रतिष्ठा को सुरक्षित नही रख सका । वाणिज्य के नाम पर वह लालच के चगुल मे बुरी तरह फँस गया । बगाल और बिहार मे जब भयानक दुर्भिक्ष फैला हुआ था, सर्वत्र हाहाकार मच रहा था, सडको पर चलते हुए भूखे बच्चे और बूढ़े इस तरह गिर जाते थे, जैसे झझावात मे वृक्ष की टहनिया ! उसी समय मे एक व्यापारी के विषय मे मुझे बतलाया गया कि बडी तादाद मे उसके पास चावलो का सग्रह था । उसने जगह-जगह से खरीद कर भारी स्टॉक जमा कर लिया था । उसके मुनीम बाजारो मे चक्कर लगा कर आते और कहते—"तीस रुपया मन चावल बिकते है, क्या बेच दिए जाएँ ?"

सेठ कहता – "अभी नही, प्रभु की कृपा हो रही है ।"

मुनीमो ने कुछ ही दिनो बाद चालीस रुपया मन का भाव बतलाया ।

सेठ बोला—"मन्दिर मे घी के दीपक जलाओ ।"

जब चावलो का भाव चढते-चढते सत्तर रुपया हो गया तो सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा । उसने कहा—"गोशाला मे घास डलवा दो ।"

कितना अज्ञान, कितनी जडता और कैसी हृदय-हीनता है ! क्रूरता की कैसी काली कहानी है ! इस मूढ स्वार्थपरता की भी कोई सीमा है ! पर्याप्त भोजन होते हुए भी भुखमरी का ताडव है !! भूखो का भोजन चारो ओर से बटोर लिया गया है और जब भाव बढते जाते है तो खुशियाँ मनाई जाती हैं, उल्लास का अनुभव किया जाता है । इस पर भी दौडते हैं धर्म करने के लिए । मन्दिर मे घी के दीपक जल रहे है ! गोशालाओ मे गायो को घास डलवाई जा रही है !! धर्म के आवरण मे अधर्म को ढाँपने की कैसी दुस्साहसिकता है !!! मैं पूछता हूँ कि मदिर मे घी के दीपक तो जलेंगे, किन्तु किससे द्वारा ? उनसे ही तो जलेंगे, जिनका मनमाना शोषण किया जा रहा है ? इस प्रकार के दीपको मे घी नही बल्कि भूखो की चर्बी जला करती है ।

व्यापारी वर्ग ससार मे इसलिए नही आया कि अर्थ-पिपासा की पूर्ति के लिए वह निरीह जनता का शोषण करे ! पर आज तो यही हो रहा है । सेठजी की कोठी से

सड़क पर जूठन का पानी डाला जाता है और उस जूठन मे मिले हुए चावलो के कणो को उठाने के लिए भूखे और गरीब, कुत्तो की तरह उन पर झपटते है। यह सारी स्थिति वे अपनी आँखो से देखते हैं, फिर भी उन्हे तरस नही आता। वे अपने हिसाब मे मस्त रहते है—दो लाख से पाँच लाख हो गए, और पाँच लाख से दस लाख हो गए। मन्दिर मे तो घी के दीपक जलाते है, किन्तु किसी भूखे को अन्न का दाना भी नही दिया जाता।

ठीक है, व्यापारी जब व्यापार करता है तो धन का सग्रह भी उसके पास होगा ही। परन्तु आचार्यों ने कहा है—'तू सौ हाथो से बटोर और हजार हाथो से बिखेर"[५] अर्थात्—सग्रह करने की शक्ति जो तुममे है, उससे दसगुनी शक्ति उस सम्पत्ति को बाँटने की होनी चाहिए। जब सौ हाथो से कमाने की शक्ति है तो हजार हाथो से बाँटने की शक्ति भी प्राप्त कर। जब इस ओर लक्ष्य नही दिया जाता है और स्वार्थ ही जीवन का एकमात्र केन्द्रबिन्दु बन जाता है, तो वहाँ सामाजिक हिंसा आ जाती है।

चौथा वर्ग शूद्रो का है। उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरो से मानी गई है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि आज तो 'शूद्र' शब्द घृणा और तिरस्कार का पर्यायवाची-सा बन गया है। शूद्र का नाम लिया कि लोगो की त्यौरियाँ चढ जाती है और अपने आपको ऊँचा मानने वाले लोग नाक-भोह सिकोडने लगते है। आप समाज-सेवा के अपने पवित्र दायित्व को भुला कर सिर्फ व्यक्तिगत लाभ के लिए काम करते है, जबकि अधिकाश शूद्र आज भी समाज-सेवा का कठिन उत्तरदायित्व सेवा के लिए ही वहन कर रहे है। किन्तु जब वे इन्सान की तरह आपके पास बैठना चाहते हैं तो आप उन्हे पास बैठाना भी नही चाहते। यह कितने आश्चर्य की बात है!

इन्सान को नहीं

आपकी मोटरो मे कुत्ते और बिल्ली को तो जगह मिल सकती है। आपकी गोद मे कुत्ते को स्नेहपूर्ण स्थान मिल सकता है। बिल्ली, भले ही कितने चूहो को मार कर आ गई हो, पर वह आपके चौके के कोने-कोने मे बेरोक-टोक चक्कर लगा सकती है और आप उसे प्यार भी कर सकते हैं, किन्तु मानव-देहधारी शूद्र को यह हक हासिल नही है! इन्सान को इन्सान के पास बैठने का भी हक नहीं है! पास बैठने का हक देते हैं या नहीं, उसका फैसला बाद मे करेंगे, किन्तु आप तो धर्मस्थान मे भी उसे प्रवेश नहीं करने देते! जब ऐसी विषमता है तो मैं सोचता हूँ कि इससे बढ़कर और क्या सामाजिक हिंसा होगी कि एक ओर तो आप अपनी पवित्रता का ढोल पीटते रहे और दूसरी ओर दूसरो की छायामात्र से भी नफरत करते जाएँ।

एक जगह एक हरिजन भाई आता है और बड़े प्रेम से उच्च विचार ले कर

---

५ "शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सकिर।"

आता है । उसने मांस खाना और मदिरा पीना छोड दिया है । वह जैन-धर्मानुसार अष्टमी और चतुर्दशी का व्रत भी करता है । आपके धार्मिक जीवन की प्रमुख क्रियाएँ—'सामायिक' और 'पौषध' भी वह करता है । सन्तो के दर्शन भी करता है । परन्तु जब वह व्याख्यान सुनने आता है तो उसे निर्देश दिया जाता है—'नीचे बैठ कर सुनो !'

वह बेचारा नीचे बैठ कर सुनता है और आप चौक की ऊँचाई पर बैठ जाते है । अब इसमे अन्तर क्या पडा ? जो हवा उसे छूकर आ रही है, वह आपको भी लग रही है । तो अब आप ईश्वर के दरबार मे फरियाद ले जाइए कि हवा हमे भ्रष्ट कर रही है, अत उसे इधर बहने से रोक दीजिए ! सूर्य का भी जो प्रकाश उस पर पड रहा है, वही आप पर भी पड रहा है ! सन्त की जो वाणी उसके कानो मे पड रही है, वही आपके कानो मे भी पड रही है ! शास्त्र का जो पाठ बोला जा रहा है वह इतना पवित्र है कि जिसकी कोई सीमा नही है । तो उस पाठ की पवित्र ध्वनि को आप अपने ही कानो मे सुरक्षित रख लीजिए । दीवार खींच दीजिए, जिससे कि वह उद्घोष उसके कानो मे पड कर अपवित्र न हो जाए । भला, यह भी कोई युक्तिसगत बात है कि एक वर्ग अपनी मनमानी विशिष्टता को प्रदर्शित करने के लिए दूसरे वर्ग के समान अधिकारो पर अवांछनीय प्रतिबन्ध लगाए और सामाजिक नियमो का दुस्साहस के साथ उल्लघन करे ।

अस्पृश्यता

आज के इस प्रगतिवादी युग मे भी ऐसे सकीर्ण विचार के लोग देखे जाते है कि यदि हरिजन आया और सन्त के पैर छू गया तो वे दूर खड़े-खडे ही वन्दना कर लेते है और साधु के चरण नही छूएंगे, क्योकि वे चरण अछूत जो हो गए है ! किन्तु इसी बीच यदि कोई दूसरा आ गया और उसने चरण छू लिए तो वे सेठजी आए और उन्ही चरणो को छू गए । बीच मे दूसरे के छूने से शायद उनकी अछूत उतर गई और अब वे चरण छूने योग्य हो गए ।

मैंने जब एक हरिजन भाई के साथ ऐसा व्यवहार होते देखा तो चेतावनी दी कि यह तो भगवान् महावीर की पवित्र वाणी का अपमान है कि एक हरिजन तो जूतियो मे बैठकर सुने और आप अपनी मनमानी विशिष्टता के कारण दरियो पर बैठ कर सुने । मेरी चेतावनी पर इन्होंने भगवान् महावीर की वाणी का आदर करके उक्त हरिजन बन्धु को दरी पर बिठलाना शुरू किया । फिर भी कुछ भाई तो ऐसे थे, जो उसे दरी पर बैठा देख स्वय नीचे बैठ जाते और नीचे बैठे-बैठे ही व्याख्यान सुनते थे । इसमे भी कोई आपत्ति नही, परन्तु घृणा से किया हुआ यह त्याग भी वास्तविक नही है । आशा है, वे भाई भी धीरे-धीरे इस बात को भलीभांति समझ जाएँगे ।

आज का मानव अपने मन की सकीर्णता मे कितना बुरी तरह उलझा हुआ है ? भगवान् महावीर ने अपने युग मे इस मानसिक सकीर्णता को सुलझाया था किन्तु वह

आज भी पूरी तरह नही सुलझ पाई। उनके बाद ढाई हजार वर्ष की लम्बी परम्परा गुजरी और आचार्यों ने समय-समय पर अस्पृश्यता का तीव्र विरोध भी किया, फिर भी वह उलझन आज तक भी बनी हुई है। दुर्भाग्य से कई ऐसे भी साधु आए, कि जिन्होने जनता की रूढिवादी आवाज मे आवाज मिला दी और अस्पृश्यता को प्रोत्साहन देने लगे। जिसके लिए जैन-सस्कृति को एक दिन घोर सघर्ष करना पडा था, जिसके लिए वास्तिकता का उपालम्भ तक भी सहना पडा था। दुर्भाग्य से आज वही पवित्र सस्कृति घृणित अस्पृश्यतावाद के दलदल मे फँस गई। यहाँ तक कि अस्पृश्यता के पक्ष मे शास्त्र के प्रमाण भी आने लगे। कहा जाने लगा कि वह ऊँचा है, वह नीचा है और जो नीचा है वह अपने अशुभ कर्मों का फल भोग रहा है। किन्तु शास्त्र ने आरम्भ मे ही इतनी बडी बात कह दी थी कि—सब मनुष्यो की जाति 'एक' ही है।[६] मनुष्यो मे दो जातियाँ हैं ही नही। फिर भी सकीर्णतावश उसमे उच्चता और नीचता खोजी जाने लगी। इस वर्ग-भेद ने अखण्ड मानवपरिवार को विभिन्न टुकडो मे बाँट दिया और जातिमद ऐसा चढा कि शास्त्रो की पवित्र आवाज क्षीण हो गई। हमने वास्तविकता को भुला दिया और अपने मिथ्याभिमान के कारण दूसरे मनुष्य का अपमान करने को उतारू हो गए।

यदि एक हरिजन भाई पवित्र विचारो का अनुयायी हो चुका है। वह भगवान् महावीर के उपदेशो को स्वीकार कर चुका है, उसके हृदय मे जैन-धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा और अटूट प्रीति है, फिर भी एक जैन उसकी कोई परवाह नही करता और इन्सान की तरह बैठने का हक भी उसे नही देना चाहता। क्या यही आपका सहधर्मी-वात्सल्य है ? भगवान् महावीर ने आपको सहधर्मी के साथ क्या ऐसा ही व्यवहार करना सिखाया था ? जब वह सहधर्मी के प्रति ऐसा व्यवहार कर सकता है तो फिर दूसरो के साथ वह कटु व्यवहार क्यो न करेगा ?

उत्तर प्रदेश मे पहले ओसवाल और अग्रवाल एक दूसरे के यहाँ भोजन नही करते थे। समय और समझ के प्रभाव से अब कुछ ठीक-ठीक समझौता होता जा रहा है। यह सक्रामक रोग तो यहाँ तक फैला हुआ है कि ओसवालो और अग्रवालो मे भी अनेक टुकडे हो गए है और वे मूलत एक वर्ग के होते हुए भी एक-दूसरे उपवर्ग के हाथ का भोजन नही करते।

वस्तुत मध्यकालीन सस्कृति मे कुछ एसी जडता आ गई थी कि वह सब जगह से हट कर एकमात्र चौके मे बन्द हो गई। लोग न जाने कैसे समझ बैठे कि 'अमुक का छुआ खा लिया तो धर्म चला जाएगा।'

एक ओर अद्वैत के उपासक, उद्घोषक तथा बड़े-बड़े आचार्य वेदान्त के सूत्र भी जनता के सामने लाते रहे कि सारा ससार पर-ब्रह्म का ही रूप है—"एक ब्रह्म ही

---

६ "मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।"

सत्य है और ससार के अन्य सब रूप मिथ्या हैं।"[७] दूसरी ओर अछूत की छाया-मात्र से उनका ईश्वर और धर्म भागता है।

वेदान्त तो यह कहता है—पानी से भरे हजार घड़े रखे हैं। उनमे कुछ सोने के है, कुछ चाँदी के हैं, कुछ पीतल और तांबे के है और कुछ मिट्टी के हैं। परन्तु उन सब मे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब एक समान ही पडता है। इसी प्रकार ससार के सारे पदार्थों मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब समानरूप से पड रहा है।

हमारे साथी कितने प्रगतिवादी है ? जब कभी वे धर्म-सम्बन्धी बातें करते है और उमङ्ग मे आते है तो ऐसा मालूम पडता है कि सच्चा ब्रह्म-ज्ञान इन्ही को मिल गया है और वे हिमालय के ऊपर बैठ गए हैं। किन्तु जब खान-पान की बात सामने आती है तो उनका ब्रह्म-ज्ञान न जाने कौन-सी कन्दरा मे छिप जाता है ? उस समय ऐसा लगता है, मानो उनकी एक टाँग हिमालय की ऊँची चोटी पर है और दूसरी पाताललोक के अतल गह्वर मे। वास्तविक प्रगति की ऐसी स्थिति नही होती। जीवन इस तरह प्रगति नही कर सकता।

इस प्रकार एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर या एक समूह का दूसरे समूह पर घृणा-द्वेष प्रदर्शित करना, सामाजिक हिंसा है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि आज बहुतेरे लोग सामाजिक हिंसा को पाप या अधर्म नही, बल्कि धर्म मानते हैं। गृहस्थो की तो बात दूर रही, साधु-समाज भी इस सामाजिक अपवाद से अछूता नही रहा है। उनकी गोचरी के विषय मे भी यह खटराग चल रहा है। शास्त्रो की दिव्य सूचनाएँ हमे प्रकाश पर प्रकाश दे रही हैं, फिर भी सारा समाज कल्पित मान्यताओ के अन्धकार मे बुरी तरह भटका हुआ है।

किसका पानी ?

मेरे एक ब्राह्मणभक्त है। वे मिल-मालिक भी हैं। पहले वे जैन-धर्म के कट्टर विरोधी समझे जाते थे, किन्तु जब वे मेरे सम्पर्क मे आए तो उनका वह विरोध नही रहा। कार्यक्रम के अनुसार मैं जहाँ कही होता हूँ, बहुधा वे भेंट के लिए आया करते है। जब वे एक बार बिहारप्रान्त से लौट कर आये तो बोले—"महाराज, धर्म का तो नाश हो गया ! धर्म नाम का कोई चिन्ह अब रहा ही नही !"

मैंने पूछा—"क्या बात हुई ?"

वे बोले—"कुछ पूछिए ही नही ! स्टेशन पर मैंने पानी माँगा तो पानी वाले ने कहा—लीजिए ! मैंने पूछा—कैसा पानी है ? तब उसने कहा—पीने का साफ पानी है। मैंने फिर पूछा—अरे भाई, साफ तो है, पर है कैसा ? वह बोला-ठडा है साहब !' विवश हो कर मुझे पूछना ही पडा—'किसका पानी है ?' उसने धीरे से कह दिया कि कुएँ का है और ताजा है। फिर मुझे साफ शब्दो मे कहना ही पडा—मैंने

---

७ 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या।'

कुएँ या तालाब का नही पूछा है—मैं पूछता हूँ कि यह पानी हिन्दू का है या मुसलमान का ? तब वह बोला—पानी कौन होता है साहब ? पानी न तो हिन्दू होता है और न मुसलमान ही, पानी तो पानी है। अतएव आप यह पूछ सकते है कि पानी नदी का है, तालाब का है या कुए का ? ठडा है या गरम है ? साफ है या गन्दा है ? किन्तु पानी न तो हिन्दू है और न मुसलमान।" तो महाराज, जब उसने यह कहा तो मैंने पानी लिया ही नही। दो, चार स्टेशनो तक मैं प्यासा ही रहा। आखिर कब तक प्यासा रहता ? जब नही रहा गया तो अन्तत वह पानी पीना ही पड़ा।'

मैंने उन सज्जन से पूछा—"अब क्या करेंगे ?"

वे बोले—'गङ्गाजी जाएँगे और स्नान करके शुद्ध हो जाएँगे।'

मैंने कहा—"गगाजी जाने से क्या होगा ? वह पानी तो अन्दर चला गया और पेशाब के द्वारा बाहर भी निकल गया और आपकी मान्यता के अनुसार तो सस्कार चिपक ही गये है। फिर आप क्या करेंगे ? और भाई, इस जमीन पर चलना कब छोडेगे, क्योकि इसी पर शूद्र भी चला करते है ? शूद्रो की चली जमीन पर चलने से भी तो बुरे सस्कार चिपक जाते है न ?"

जब उन्हे विचार आया तो गम्भीरभाव से बोले—'क्या वे पुरानी परम्पराएँ गलत थी ?" मैने कहा—हाँ, ऐसी परम्पराए निस्सन्देह गलत और निराधार है।

मानसिक दुर्बलता

अपनी गलतियो को, चाहे वे एक हो या हजार, सबके सामने हम स्पष्टत स्वीकार करेंगे। दुर्भाग्यवश साधुओ मे भी यह मानसिक दुर्बलता है, जो उन्हे आगे नही बढने देती। गृहस्थो की गलतियाँ और भूले उन्हें भी तग कर रही है। इसके परिणामस्वरूप समाज विभिन्न टुकडो मे बट गया है और उसके कारण होता ऐसा है कि हम अनेक बार धर्म-स्नेहियो का भी यथोचित आदर नही कर पाते। कई वर्ष हो जाते है, वे मांस और शराब को हाथ तक नही लगाते। हमारे प्रत्येक धार्मिक आयोजन मे भी शामिल होते है, फिर भी उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नही होता। यहा तक कि पानी और रोटी का भी सम्बन्ध नही होता। फिर भी हम जैन-धर्म के विश्वधर्म होने का दावा करते है और गर्व के साथ कहते है कि नरक मे, स्वर्ग मे और तिर्यञ्च-योनि मे भी सम्यक्त्वी भाई है, जो जिन-धर्म का पालन कर रहे है।

एक ओर तो हमारा यह सास्कृतिक सौहार्द एव व्यापक दृष्टिकोण है, और दूसरी ओर हमारा यह सकीर्ण मनोभाव और क्षुद्र व्यवहार है। क्या दोनो मे अशमात्र भी सामजस्य है ? नरक और स्वर्ग के धर्मात्माओ की, स्वधर्मी भाइयो की बाते करने वाले अपनी ही बगल मे बैठे इन्सान को, जो कि धर्माराधन कर रहा है, अपनाने मे ही हिचक जाते है। अरे, उसको तो स्वधर्मी बन्धु के रूप मे गले लगाना चाहिए। यदि आपके हृदय मे उसके प्रति अशमात्र भी प्रेम नही जगा, अपितु उसे दुरदुराते ही रहे, तो समझना चाहिए कि आपके हृदय मे अभी तक धर्म के प्रति सच्चा प्रेम जागृत नहीं

हुआ है। जो धर्म से प्रेम करता है वही सच्चा धर्मनिष्ठ है और वह धर्मात्माओ से प्रेम किए बिना कभी नही रह सकता।

जाति नहीं, पानी चाहिए!

इस प्रसग मे बुद्ध के एक शिष्य 'आनन्द' की बात प्रस्तुत की जा सकती है। 'आनन्द' किसी गाँव मे गये तो उन्हे प्यास लग आई। उन्होने देखा कि एक बालिका कुएँ पर पानी भर रही है। वे उसके पास पहुँचे और उससे कहा—"बहन, पानी पिला दो।"

बालिका ने कहा—"मैं चाण्डाल की कन्या हूँ।"

उस बालिका के इस स्पष्ट कथन के उत्तर मे आनन्द ने बहुत ही सुन्दर बात कही है। इतनी सुन्दर और आदर्शयुक्त कि २५०० वर्षों मे फिर कभी वैसी बात सुनने को नही मिली। 'आनन्द' ने अपने स्वाभाविक सहजभाव से कहा—"बहन, मैंने जाति तो नही माँगी, केवल पानी माँगा है। मुझे तुम्हारी जाति नही पीना है, पानी पीना है!" आनन्द के इस आदर्शपूर्ण स्पष्टीकरण से शूद्र बालिका का जाति-सकोच विलीन हो गया और उसने पानी पिला दिया।

आनन्द ने आनन्दपूर्वक पानी पिया। शूद्र बालिका सोचने लगी—"भारतवर्ष मे क्या अब भी ऐसे व्यक्ति मौजूद है जो जाति नही, पानी पूछते है। और तब उस बालिका ने साहस के साथ पूछा 'क्या भूतल पर कोई ऐसी जगह भी है, जहाँ हम भी दूसरो की भाँति बैठ कर अपना जीवन प्रशस्त कर सकें?"

आनन्द ने कहा—"क्यो नही? सम्पूर्ण भूमण्डल पर प्रत्येक जाति और वर्ण का समान अधिकार है। जहाँ एक ब्राह्मण जा सकता है, वहाँ तुम भी जा सकती हो। बुद्ध के समवसरण मे जितना आदर एक ब्राह्मण को मिलता है, उतना ही चाण्डाल को भी मिलेगा।

अन्त मे वह चाण्डालकन्या बुद्ध की शरण मे जाती है और भिक्षुणी बन जाती है।

जब ऐसी आदर्श की बाते आती हैं तो नि सन्देह हृदय गद्‌गद् हो जाता है। हम अपने जैन-सघ की गौरव-गाथाएँ भी सुनते और जानते है कि उसने भी कितना उदार एव व्यापक दृष्टिकोण अपनाया था। महात्मा हरिकेशबल और मुनिवर मेतार्य की कथाएँ जैन-धर्म और जैन-सघ की अतिभव्य एव उज्ज्वल कथाएँ है, जो हमे आज भी प्रकाश दे रही है। किन्तु दुर्भाग्य से हमने अपनी आँखे मूँद ली है और कूपमण्डूक की भाँति हम अन्धकार मे ही अपना कल्याण खोज रहे हैं। हमने अहिंसा के व्यापक स्वरूप की ओर कभी नजर नही डाली। जिसका दु खद परिणाम यह हुआ कि इस सामाजिक हिंसा से आज भी हम चिपके हुए हैं। समय और परिस्थितियो के परिवर्तन ने अब हमारे सामने गहराई से सोचने और समझने का सुअवसर प्रदान किया है। जिसका सदुपयोग इस रूप मे करना है कि हम सत्य के दिव्यप्रकाश मे प्रचलित सामाजिक परम्पराओ को देखें, उनकी शव-परीक्षा करें और उनके अभिशापरूप सामाजिक हिंसा से बचने की चेष्टा करे। ☆

घृणा : समग्र समाज में व्याप्त हिंसा का मूल | २०

ससार मे दो प्रकार के विष है—एक विष वह है, जो बाहर मे रहता है। और दूसरा विष वह है, जो हमारे भीतर मे रहता है। जो विष बाहर मे रहता है, उसके हजारो रूप है, हजारो नाम है, मनुष्य को मौत देना उसका काम है, वह ससार को अनेक रूपो मे मौत बाँटता रहता है। पर, सारे ससार भर के जहरो को एकत्र करके यदि इनका विष-तत्त्व निकाल लिया जाए, मारने की शक्ति को एक बिन्दु मे केन्द्रित कर दिया जाए, तब भी वह हमारे अन्दर के जहरो की तुलना मे एक नगण्य बिन्दुमात्र होगा। अन्दर के जहर की एक बूँद के बराबर भी ससार के समस्त जहरो की शक्ति नही है। इतना भयकर है भीतर का यह हलाहल जहर !

बाहर का विष कब मारता है ? जब वह प्रयोग मे लिया जाता है, खाया जाता है। किन्तु अन्दर का यह हिंसारूपी जहर तो प्रतिक्षण और प्रतिपल मारता रहता है और वह हिंसारूपी विष द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि अनेक रूपो मे प्रकट होता रहता है तथा मानव-जाति को अपनी विष-ज्वालाओ से दग्ध करता रहता है। इस जहर के लाखो-करोडो ही क्यो, असख्यरूप है। कभी वह पारिवारिक जीवन मे आता है तो कभी जातिगत जीवन मे, तो कभी साम्प्रदायिक रूप मे और कभी राष्ट्रीय रूप मे आता है। कभी किसी रूप मे, तो कभी किसी रूप मे, वह मानव-जाति के विनाश का परवाना ले कर आता है। अपने भयकर परिणामो से वह ससार को त्रस्त-ध्वस्त कर डालता है। अन्दर के जहरो मे एक घृणा का जहर है, जो सबसे भयानक जहर है। इसे कालकूट जहर कह सकते है। घृणा और नफरत के जहर ने ससार मे जो विनाश-लीला की है, उसका चित्र आँखो के सामने आते ही हृदय कपित हो उठता है, मस्तिष्क शून्य हो जाता है।

व्यक्ति के प्रति घृणा, वैर को जन्म देती है, हिंसा को बढ़ावा देती है। दूसरो की बदनामी, तोड-फोड, निन्दा यह सब घृणा के कुपरिणाम है। जीवन और जगत् मे जब इसकी जहरीली हवाएँ फैलती है तो ससार को जला डालती है। भाई-भाई के बीच दीवारे खडी कर देती है, पिता-पुत्र के बीच गहरी खाइयाँ पैदा हो जाती है। मनुष्य इसके प्रभाव मे पड जाता है तो अपना और अपने परिपार्श्व मे आने वाले परिवार, समाज और धर्म तथा देश का विनाश करता चला जाता है, प्रेम, सौहार्द एव मानवता के टुकडे-टुकडे कर डालता है। अतएव भगवान् महावीर के दर्शन ने कहा है—'घृणा जीवन का सबसे बडा शत्रु है। जिसने घृणा पर विजय पा ली

उसने संसार पर विजय पा ली। घृणा पर विजय पाने वाला विश्व का सबसे बड़ा विजेता है।"

बुराई घृणा से नहीं, प्रेम से मिटती है

घृणा कब और क्यो पैदा होती है ? इस प्रश्न पर जब विचार करते हैं, तो ऐसा लगता है कि यह एक प्रकार का मानसिक उन्माद है, एक दुराग्रही वेग है, जो विनाश के मार्ग पर बह रहा है, मानवजीवन को बर्बाद कर रहा है।

जीवन मे बुराइयाँ और गलतियाँ होती है, भूलें होती हैं और उनका परिमार्जन भी किया जाता है, प्रतिवाद भी किया जाता है, उन्हे सुधारने के प्रयत्न भी होते है। जब रोग है, तो उसे दरगुजर नही किया जा सकता, उसका प्रतिकार और उपचार करना ही पड़ेगा। बुराई के साथ सघर्ष करने का मनुष्य को अधिकार है और यदि वह अधिकार छीन लिया जाए तो ससार मे रावणो का राज्य छा जाएगा। मनुष्य की नैतिकता और सच्चरित्रता का फिर कुछ भी मूल्य नही रह पाएगा। जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाएगा और एक दिन धीरे-धीरे वह समाप्त ही हो जाएगा। अतएव भूलो के साथ सघर्ष तो होना चाहिए और वह जीवट के साथ होना चाहिए। मनुष्य अपनी भूलो से सघर्ष करे, अपनी बुराइयो से लड़े। यदि बुराई परिवार मे है तो उसे सुधारने के लिए कटिबद्ध रहे। समाज का क्षेत्र तो भूलो का एक केन्द्र ही बन रहा है। व्यक्तियो के जीवन की बहती हुई अनेक भूले वहाँ आ कर एकत्र हो जाती है। *यदि समय पर उनका परिहार या परिष्कार नही किया जाए तो समाज मे* अव्यवस्था, अशान्ति और अनास्था का वातावरण पैदा हो जाता है।

हम भूलो को परिष्कृत करने की बात करते है, इससे पहले अपने परिष्कार की बात भी सोच लेनी चाहिए। जिस व्यक्ति, परिवार या समाज की भूलो की हम बात करते है, उनके प्रति हमारे मन मे घृणा का भाव तो नही है ? व्यक्तिगत द्वेष या घृणा से प्रेरित हो कर तो हम उसकी ओर अगुली नही उठा रहे है ? यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यदि मन मे घृणा है तो बुराई साफ नही होगी, भूलो का सुधार नही हो सकेगा, अपितु और अधिक गदगी फैलेगी, भूलें और अधिक उलझ जाएँगीं। नफरत से कभी बुराई मिटती नही, बल्कि और अधिक बढती है। वस्त्र पर लगे खून के दाग को धोने का यह तरीका नही है कि उसे खून से साफ किया जाए। खून का दाग खून से नही, अपितु पानी से साफ किया जाता है। आग को आग से नहीं बुझाया जाता, वह पानी से बुझाई जाती है। बुराई मे एक और बुराई डाल कर हम उसे मिटाना चाहे, तो वह मिट नही सकेगी, बल्कि एक के बाद एक बुराइयो की एक लम्बी परम्परा खड़ी होती चली जायेगी। इसलिए बुराई को मिटाने का प्रयत्न करने से पहले यह देखना चाहिए कि हमारे मन के किसी एक कोने मे वह गन्दगी छिपी तो नहीं है, जिसे हम बाहर से मिटाना चाहते है। यदि भीतर मे कही गन्दगी दबी रही, तो बाहर की सफाई निरर्थक होगी।

घृणा से किया गया त्याग, त्याग नहीं

भगवान् महावीर का दर्शन इस सम्बन्ध मे एक बहुत ही विलक्षण बात कहता है । आप किसी वस्तु का त्याग करते है, उससे अपना रागात्मक सम्बन्ध तोडते हैं, पर यदि वह त्याग किसी घृणा या द्वेष से प्रेरित हो कर करते है, तो वह मानसिक शुद्धि का हेतु न हो कर उलटा पतन का कारण बन जाता है। त्याग का अर्थ वस्तु का प्रयोग न करना ही नही है, अपितु उसके साथ आपकी मनोवृत्ति कैसी है, आपका मानसिक लगाव किस प्रकार का है, यह भी मुख्य बात है । मान लीजिये, परिवार मे किसी से झगडा हो गया, एक दूसरे से तन गए और ऐसे तने कि बोलना भी बन्द कर दिया । चाहे भाई-भाई हो या पति-पत्नी परस्पर 'अबोला' हो गया । अहग्रस्त क्रोध मे दिन-भर चुपचाप पड़े रहे, किसी से कुछ बोले नही, किसी से कुछ कहा नही, तो यह क्या मौनव्रत की साधना हुई ? यह कलहजन्य 'अबोला' का मौन क्या आत्मा की विशुद्धि का कारण हो सकता है ? भगवान् महावीर ने कहा है, यदि क्रोधवश किसी से अनबन हो गई हो, अबोला हो गया हो, तो सबसे पहले उस मौन को तोड कर क्षमायाचना करो । क्रोध या द्वेष के कारण किया हुआ कोई भी त्याग त्याग नही है, कोई भी 'पच्चक्खाण' पच्चक्खाण नही है, राग का त्याग वीतरागभाव से होना चाहिए, द्वेष-भाव से नही । द्वेषभाव से किया गया राग का त्याग कर्मबन्ध का हेतु है । अत वह आत्मशुद्धि का साधक नही, अपितु बाधक है ।

'विवित्तचरिया'—एकान्तवास तप है, किन्तु किसी से कलह एव झगडा करके यदि कोई कमरा बन्द करके सो जाए, एकान्त मे कही अकेला चुपचाप पडा रहे, तो क्या इसे विवित्तचरिया कहेगे ? क्या यह एकान्तवासरूप तप कहा जायेगा ? इस प्रकार कलह मे एकान्तवास होगा भी कहाँ ? आदमियो से दूर रहे, भीड से दूर रहे, पर, मन के विकारो से तो घिरे रहे, क्रोध और घृणा के भाव तो आत्मा से चिपटे रहे । यह एकान्तवास नही है । आत्मा की शुद्धि का कारण नही है । मौन हो, उपवास हो, या एकान्तवास हो, यदि ये सब घृणा, क्रोध एव द्वेषबुद्धि से किये जाते है, तो देहदण्ड हो सकते है, कष्ट एव दुख हो सकते है, पर तप नही हो सकते, त्याग नही हो सकते, उससे कर्मो की निर्जरा नहीं होती । अपितु कर्मों का तीव्रबन्ध होता है, पूर्व स्थिति से भी भयकर ।

त्याग, राग-द्वेष से परे हो कर

आध्यात्मिक क्षेत्र मे जैसे कि राग से बच कर चलने को कहा है, वैसे ही द्वेष से भी बच कर चलने का उपदेश दिया है । दोनो से ही दूर तटस्थवृत्तिपूर्वक चलना है, ग्रहण और त्याग दोनो ही तटस्थभाव से होने चाहिए । जो भी प्रवृत्ति करो, वह वस्तुनिष्ठ नही, उपयोगितानिष्ठ हो कर करो । उपयोग करने मे न राग का भाव होना चाहिये और न द्वेष का । वस्तु के साथ राग का भाव जुडा रहा तो उपयोग मे आने के बाद भी उससे राग नही छूटेगा । वस्तु छूट जाने पर, आवश्यकता पूर्ण हो जाने पर

भी मनुष्य उसके साथ यदि रागपूर्वक चिपटा रहता है, तो फिर वह उपयोग आनन्द की जगह सताप और कष्ट का कारण बन जाता है।

भोजन किया जाता है। किसलिए ? भूख की निवृत्ति के लिये। भूख लगी तो भोजन कर लिया, भूख शान्त हुई तो उससे निवृत्त हो गए। भोजन की उपयोगिता भूख-निवारण के लिये है या भोज्यवस्तु की स्वादिष्टता के लिए ? भूख-निवारण के लिये भोजन करना नैतिक है, किन्तु स्वाद या राग के वश हो कर भोजन करना अनैतिक है। भूख मिटाने के लिये खाने वाला व्यक्ति जब तक जरूरत होती है, खाता रहता है, जब देखता है कि अब जरूरत नही है, तो तुरन्त भोजन बन्द कर देता है। कितने ही स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ क्यो न हो, वह नही खाएगा। किन्तु जब भोजन आवश्यकता एव उपयोगिता की दृष्टि से हट कर राग की दृष्टि से जुड जाता है तब वह जरूरत न होने पर भी खाया जाता है। पेट मना कर रहा है महाराज ! बस कृपा करो, अब जगह नही है, पर वह खाता चला जाता है। उससे पूछिए इतना क्यो खाते रहे, तो कहेगा—"क्या करें भाई ! अच्छी चीज थी, खाते चले गये, जीभ से छूट नही सकी।" मतलब यह कि भूख तो नही थी, जरूरत भी नही थी, किन्तु चीज स्वादिष्ट थी, इसलिये छोड नही सके, ज्यादा खा गये, और अब कष्ट पा रहे है। यह राग का लक्षण है। इसी प्रकार द्वेष से भी कष्ट उठाना पडता है। भोजन करने बैठे हैं, पर उसी समय किसी पर क्रोध आ गया, अथवा वस्तु स्वादिष्ट न होने से उसी पर द्वेष उमड पडा। ग्रास मुंह मे डाल तो रहे है, पर वह बाहर आ रहा है, निगला नही जा रहा है। मन मे सताप हो, द्वेष की आग दहक रही हो, तो भोजन चल नही सकता। आधे पेट ही आप उठ जाते हैं, भूखे रह जाते है तो यह भूखा रहना भी कोई तप नही हुआ, उपवास नही हुआ। दोनो ही जगह दोष है, राग मे भी और द्वेष मे भी ! राग और द्वेष से परे हो कर तटस्थभाव से जो किया जाता है, वह धर्म है, त्याग है।

इस प्रकरण मे दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार भोजन ग्रहण करने मे राग और द्वेष निमित्त बनते है, उसी प्रकार भोजन छोडने मे भी बन सकते है। भोजन का त्याग किया जाता है तो किसलिए ? जैनदर्शन ने एक विलक्षण बात कही है कि ज्ञानी पुरुष (साधक) भोजन करते हुए भी कर्म निर्जरा करता है। आप पूछेंगे—यह कैसे ? यही तो साधना है। जिस कार्य को करते समय दूसरे हजारो-लाखों मनुष्य कर्मबन्ध करते है, उसी कार्य को करते हुए साधक आत्मा की शुद्धि करता चला जाता है इसमे बाह्य कार्य या महत्त्व नही, अपितु अन्दर मे कर्म मे अकर्म की साधना का महत्त्व है। साधक भोजन करता है, तब भी आत्मा की शुद्धि के लिए, और छोडता है, तब भी आत्मा की शुद्धि के लिए। क्यो ? यही कि न उसके करने मे राग है और न उसके छोडने मे द्वेष ! राग-द्वेष से मुक्त हो कर वह सिर्फ उपयोगिता और आवश्यकता की दृष्टि से कर रहा है, इसलिए आत्म-साधक का भोजन करना भी धर्म कहा गया है। साधना का ही एक अग माना गया है।

जिस प्रकार राग से वस्तु का अधिक उपयोग किया जाता है उसी प्रकार राग से प्राप्त वस्तु का उपयोग नही भी किया जाता है। उपयोग मे लाएँगे तो वस्तु खराब हो जाएगी, अत उसको सँभाल कर, सहेज कर रखने की भावना भी राग से ही सम्बद्ध रहती है। इस प्रसग मे मुझे स्व० श्रीगणेशप्रसादजी वर्णी का एक सस्मरण याद आ रहा है। श्रीवर्णीजी जैनसमाज के एक अच्छे गम्भीर चिन्तक रहे हैं। उनसे मेरा निकट का सम्पर्क रहा है, बडे ही सरल उदार एव भव्य प्रकृति के मानव थे वे। उन्होने अपनी एक बात सुनाई थी कि एक बार अपनी माँ[1] के साथ चाँदी के बर्तनो की दुकान पर चले गये। चाँदी के बर्तन देखे तो लेने के लिए मन चचल हो उठा। माँ ने समझाया कि भोजन करने के लिए तो कासे और पीतल के साधारण बर्तन ही चलते हैं, और वे ही काम मे आते हैं, चाँदी के बर्तनो का क्या उपयोग है? पर नहीं माने, आखिर ले ही आए। ला कर चाँदी के बर्तनो को सन्दूक मे बन्द करके रख दिया।। माँ ने कहा—"बेटा, लाओ न, काम मे लाएँ चाँदी के बर्तन। जब लाए हो तो उनका उपयोग करो, पडे-पडे क्या काम आएगे?" तो बोले—"माँ, अभी जो चमक है चाँदी की, वह काम मे लेने से खराब हो जाएगी। इसलिए काम मे लेने का मन नही हो रहा है।"

माँ ने कहा—"पहले तो अनावश्यक बर्तन लेने नही चाहिए थे और जब ले लिए तो उनका उपयोग करना चाहिए। सदूक मे बन्द करके किसलिए रखे है? तुम नही लाते हो तो मैं निकाल कर ले आती हूं! वह खाना खाने के लिए ही तो हैं, पूजा करने के लिए तो नही?"

मन की यह विचित्र स्थिति है। राग मे प्रयोग किया भी जाता है और नही भी। अच्छी और सुन्दर चीज को काम मे न ला कर सँभाल-सहेज कर रखने की जितनी प्रवृत्ति है, वह सब राग के ही कारण है। राग से वस्तु पर ममत्व का आवरण छा जाता है और मनुष्य वस्तु को शरीर से भी अधिक प्रिय मान बैठता है। जिस प्रकार राग से भोग भी होता है और त्याग भी, उसी प्रकार द्वेष से भी यदि त्याग होता है तो भोग भी होता है। राग और द्वेष की भावना से ग्रस्त हो कर किया गया भोग जिस प्रकार सतापकारी है, उसी प्रकार त्याग भी सक्लेश और कष्ट का कारण बन जाता है।

ये विष-बीज किसने बोए?

जब तक दर्शन की इस धुरी को नही समझ लिया जाता कि घृणा से त्याग करना त्याग नही है, जब तक तटस्थवृत्ति का उदय नही होता, तब तक धर्म और दर्शन की चर्चाएँ करके भी, त्याग और क्रियाकाण्ड की गहराइयो मे डूब कर भी उसमे सूखे ही रहेंगे।

मुझे यह देखकर बडा आश्चर्य होता है कि—हमारे सामने धर्म और दर्शन

१ धर्ममाता थी, सगी माता नही।

की इतनी ऊँची धारणाओं, इतने महान् आदर्शों के रहते हुए भी घृणा और द्वेष का विष इतने भयकर रूप मे क्यो फैला हुआ है ? एक धर्म-सम्प्रदाय दूसरे धर्म-सम्प्रदाय से घृणा और नफरत करता है, विग्रह एव सघर्ष करता है। हजारो वर्षों से साथ-साथ रहते हुए भी हम एक-दूसरे को अभी तक अच्छी तरह समझ नही सके है। भाई और पडोसी की दृष्टि से देख नही सके है। आखिर "मित्ती मे सव्वभूएसु" का पाठ बोलने वाले जैन और "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे" का मन्त्र-जप करने वाले वैदिक परस्पर एक-दूसरे के प्राणो से क्यो खेले ? बुद्ध के धम्मपद ने "नहि वेरेण वेराणि, समतीध कदाचन" का शखनाद करके भी अपने अनुयायियो को घृणा, और द्वेष के अधकार से बचाने मे कुछ नही किया ? यह सब क्यो, और कैसे हुआ ?

साम्प्रदायिक हिंसा का जहर

मध्ययुग मे जैनो और बौद्धो पर जो अत्याचार हुए, उसकी कहानियाँ पढ कर आज भी मन सत्रस्त हो जाता है। उस समय के जो उल्लेख मिलते हैं, उनमे यह आदेश दिया मिलता है कि "हिमालय से ले कर रामेश्वरम् तक कोई भी जैन और बौद्ध मिले तो उसे मौत के घाट उतार दिया जाए। यह कितना उग्र एव नृशस रूप है घृणा का ? इतिहास के पन्ने साक्षी हैं कि पुष्यमित्र के समय मे यह आदेश प्रसारित किया गया था कि जो एक बौद्धभिक्षु का सिर काट कर लाएगा, उसे सौ स्वर्ण मुद्राएं पुरस्कार मे दी जाएँगी।" प्रश्न है—ये विष-बीज क्यो बोए गए ? इसका एक ही उत्तर है—मनुष्य के अन्दर की घृणा और नफरत ही इसका मूल कारण है। घृणा ने ही मनुष्य को मनुष्य से लडना सिखाया, उसका सिर काटना सिखाया, भाई को भाई का खून बहाना सिखाया। खूनी हाथी के पैरो के नीचे कुचल कर भले ही मर जाए, पर प्राण बचाने के लिए भी पास के जैन मन्दिर मे न जाए,[1] यह पाठ किसने सिखाया ? किसी जैन, बौद्ध या शैव, वैष्णव ने नही, अपितु उस घृणा-राक्षसी ने, जो धर्म एव जातीयता के नाम से मनुष्य के अन्दर छिपी बैठी थी और नररक्त के लिए जिसकी जीभ सदा लपलपाती रहती थी।

सत्य, अहिंसा का सिद्धान्त जितना जैनो को प्रिय था, उतना ही बौद्ध और वैदिको को भी प्रिय था। किसी ने उस पर गहराई से चिन्तन-मनन किया है और किसी ने कुछ स्थल पहलुओ पर ही, यह बात दूसरी है, किन्तु प्रेम, सदाचार, अहिंसा दया और करुणा का सदेश प्रत्येक धर्म ने दिया है। फिर उनमे यह राक्षसी विचार क्यों जन्म ले रहे हैं, कहीं जैनो की होली जल रही है, तो कही बौद्धभिक्षुओ के सिर के लिए स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कार मे दी जा रही है। कहीं शैव और वैष्णव ही एक-दूसरे पर निर्मम प्रहार कर रहे है। एक वृन्त के ही फूल एक-दूसरे को काट रहे है। यह लडाई, यह विग्रह, यह आपस की कटुता और संघर्ष किस आधार पर चले हैं ? बस

---

१ हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्

एक ही उत्तर मिलता है—घृणा और विद्वेष । हजारो वर्षों से सबने एक-दूसरे के प्रति यही घृणा का प्रचार किया है ।

जातिवाद के नाम पर हिंसा का विष

भारत मे धर्म और दर्शन ने एक ओर बडी ऊँची-ऊँची बातें की हैं । हर आत्मा को परब्रह्म का रूप माना है । हर जीव को ईश्वर का अश माना है । किन्तु खेद है, दूसरी ओर यह भी कह डाला कि—"यदि कोई शूद्र भूल से भी वेदमत्र का उच्चारण कर दे, तो उसकी जीभ काट ली जाए । पास गुजरते हुए किसी शूद्र के कानो मे वेदमत्र की ध्वनि भी पड जाए तो उसके कानो मे खौलता हुआ शीशा डाल दिया जाए ।" और यह सब एक ऐसे विद्वान् मनीषी आचार्य के मुँह से कहलाया गया है, जो मुक्तकठ से कह रहा है कि—'प्राणिमात्र मे ईश्वर के चैतन्य का प्रतिबिम्ब है । जिसकी दृष्टि मे हर जीव ईश्वर का अश है । अश क्या, ईश्वर ही है ।' और इन सब आदर्श वचनो पर ससार आज भी मुग्ध है । किन्तु आश्चर्य है, ये ही महापुरुष अन्यत्र किसी के जीवन की पवित्रता की बात नही पूछ रहे है, व्यक्ति की आत्मिक शुद्धि का और तत्त्वज्ञान का कोई मूल्य नही हैं उनकी दृष्टि मे । सिर्फ एक ही बहाव मे बहे जा रहे है' बेबस तिनको की तरह, और वह बहाव है—**अर्थहीन जातिपाँत के नाम पर मनुष्य को मनुष्य के प्रति घृणा का ।** हमारी बौद्धिक चेतना दो विरोधी धाराओ मे बह रही है, जिसका कोई समाधान नही मिल रहा है ।

गुरुवाद के नाम पर हिंसा का विष

मध्ययुग का हमारा इतिहास मनुष्य के इन लज्जास्पद आचरणो से इतना गदा हो गया है कि कुछ पूछिए नही । जैन समाज मे ही इतने खण्ड एव प्रखण्ड है जो नगण्य-से भेदो के आधार पर आज वज्रकाय बन गए हैं । हम देखते हैं—एक ही गुरु के दो शिष्य परस्पर गुरु-भाई प्रतिद्वन्द्वी की तरह अखाडे मे उतरते है, विग्रह करते है और अपनी सम्प्रदाय अलग से खडा करते हैं, तो किस आधार पर ? अपनी प्रशसा और दूसरो की निन्दा के सिवाय उनके पास और क्या आधार हो सकता है ? उनके पास ससार को देने के लिए साम्प्रदायिक घृणा के सिवाय और क्या होगा ? भगवान् महावीर का उपदेश उन्हे इस प्रकार चेले बटोरने के लिए कहता है क्या ? गृहस्थवर्ग पर भेड-बकरियो की तरह अपनी-अपनी सम्प्रदाय की छाप लगाने के लिए कहता है क्या ? भगवान् महावीर का उदात्त धर्म इन प्रपचो से सर्वथा परे है । उसका आधार गुणीजनो की बिना किसी अपने-पराये के विभेद के प्रशसा है, निन्दा नही । अपने दोषो की आलोचना है, पराई निन्दा नही ।

प्रतिष्ठा का प्रश्न अवश्य महत्त्वपूर्ण है । सभव है, वह किसी को अपेक्षित हो, पर वह प्रतिष्ठा सात्त्विक होनी चाहिए, अपने कर्त्तव्य और त्याग के आधार पर मिलनी चाहिए । दूसरो की प्रतिष्ठा के भव्य महल को गिरा कर, जिस किसी भी तरह उनकी प्रसिद्धि की ईंटो को तोड-फोड कर अपनी प्रतिष्ठा का महल खडा करने

की चेष्टा घातक है। एक-दूसरे की निन्दा का कुचक्र चल रहा है, कभी प्रत्यक्ष तो कभी परोक्ष, दिगम्बरो और श्वेताम्बरो की लडाइयाँ आप देख ही रहे हैं। एक-दूसरे को मिथ्यादृष्टि कहता है, जैनाभास कह कर सम्बोधित करता है। श्वेताम्बरो मे भी स्थानकवासी और तेरापथी घृणा के आधार पर ही तो अब तक लडते रहे हैं। 'भेखधारी', 'मिथ्यात्वी' और 'पाखण्डी' के सिवाय कौन से शुभ शब्दो का प्रयोग हुआ है एक-दूसरे के लिए ? प्राय सब अपनी-अपनी महत्ता को प्रस्थापित करने के लिए दूसरो को नीचा दिखाते आए है।

घृणा और द्वेष के ये बीज जब धर्म-सम्प्रदायो मे पनपे तो उनका जहरीला प्रभाव समाज पर भी पडा। समाज और जातियाँ परस्पर घृणा की शिकार हुईं, एक जाति ने दूसरी जाति के प्रति विष उगला, घृणा फैलाई ! घृणा की ये बाते कहावतो मे आज भी चली आ रही है—"बनिये के लिए स्थान-स्थान पर ब्राह्मण के मुँह से कहलाया गया कि वह चोर है, झूठा है, पानी छान कर पीता है मगर खून अनछाना ही पी जाता है"—"**पानी पीवै छाण लोही अणछाण्यो पीवै**"। बनिये के मुँह से ब्राह्मण को भी कोसा गया—'कि वह पेटू है, बुद्धिहीन होता है '**ब्राह्मण सप्पमपाट**।' इस प्रकार निन्दात्मक कहावतें एक जाति ने दूसरी जाति के प्रति जनता मे फैला रखी है। और इसके परिणामस्वरूप परस्पर सघर्ष की चिनगारियाँ उछलती रही है, आपस मे एक-दूसरे के शत्रु बनते रहे हैं। जहाँ एक-दूसरे वर्ग के प्रति विषाक्त वायुमडल बना हुआ है वहाँ प्रेम और भ्रातृभाव के स्वस्थ विचार किस प्रकार जन्म ले सकते थे, राष्ट्रीय एकता और सगठन की नीव किस आधार पर टिक सकती थी ?

पारिवारिक जीवन मे हिंसा

धर्म-सम्प्रदायो और जातियो के मनो का यह विष परिवार के बीच भी अपना जहरीला प्रभाव डाले बिना नही रहा। नाते-रिश्तेदारियाँ, जोकि परस्पर स्नेह और प्रेम के सूत्र मे बँधी होती हैं, उनमे भी कटुता, अविश्वास और घृणा के बीज डाल दिए गए। निन्दा के प्रहारो से मामा, भानजा और जँवाई को भी नहीं छोडा गया। किसी को मतलबी और घरखाऊ बतलाया, तो किसी को दशवाँ ग्रह भी बना डाला। 'जामाता दशमो ग्रह'। मतलब यह कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे जिधर देखो उधर घृणा के काँटे ही काँटे बिछा दिए गए है। द्वेष और अविश्वास की विषैली हवाएँ भर कर जीवन के स्नेह और सौहार्द को खत्म कर दिया गया है। माताओ के प्रति भी कहा गया है कि "सौतेली 'माँ' माँ नही है। उसके मन मे तो स्नेह और प्रेम होता ही नही ! वह तो पहली के बच्चो को डाइन की तरह घूरती रहती है।" इस प्रकार की बातें बच्चो के समक्ष कही जाती हैं और उनके स्वच्छ मन मे सौतेली माँ के प्रति स्नेह-सद्भाव के स्थान मे अनादर एव घृणा का विष भरा जाता है।

एक वृद्ध सज्जन मेरे पास बैठे थे। इतने मे एक बच्चा आया तो उसे बड़े प्रेम से अपने पास ले लिया। सिर पर हाथ फिराते हुए इतना स्नेह जताने लगे कि मैंने सोचा—कितना प्रेम और स्नेह है इनके मन मे ! इतने मे मुँह बना कर वे महाशय बोले—"महाराज ! कितना अच्छा लडका है ! पर बिचारे का भाग्य फूट गया, माँ मर गई। अब सौतेली माँ है। कुछ भी संभाल नही रखती। अच्छी तरह खाना भी नसीब नही है, कितना दुबला हो गया है !" मैंने सोचा—यह प्यार और दया की भाषा मे बच्चे के दिल मे अभी से घृणा के काँटे क्यो बो रहा है, माँ के प्रति अभी से नफरत क्यो पैदा कर रहा है ? क्या सभी सौतेली माँ बुरी होती है ? जब तक ससार मे सुमित्रा जैसी सौतेली माँ का आदर्श जीवित है, तब तक क्यो यह सोचा जाता है कि सौतेली माँ मिल गई तो तकदीर ही फूट गई !

रामायण का प्रसग कितना मार्मिक है ! जब राम वन जाने की तैयारी कर रहे है। राम वन को जा रहे है और सुमित्रा खडी देख रही है कि राम अकेले ही क्यो जा रहे है ? लक्ष्मण कहाँ रह गया ? वह भाई के साथ वन मे क्यो नही जा रहा है ? तभी लक्ष्मण आ जाते है और माता को नमस्कार करके राम के साथ वन मे जाने की आज्ञा माँगते है, तो सुमित्रा कहती है—"बेटा ! तू इतनी देर कहाँ रहा ? राम वन को जा रहे है और तू अभी तक घर म बैठा है ?" लक्ष्मण कहते है—"मे माता कौशल्या को नमस्कार करके अब आपकी आज्ञा लेने आया हूँ माँ !" ता सुमित्रा कह उठी—"मेरी तो आज्ञा कभी मे हो गई है। जल्दी जा, देर न कर। राम क साथ वन मे रहते हुए यह मत समझना कि "मैं व्यर्थ ही जगल म भटक रहा हूँ। मेरे माता-पिता यहाँ नही है। राम को तू अपने पितातुल्य समझना। पिता के प्रति पुत्र की जो आदर और भक्ति होनी चाहिए, उसी भक्ति और आदर की दृष्टि से राम को देखना। और मेरे प्रति जो तेरा मातृस्नेह और श्रद्धा है, वही स्नेह और श्रद्धा सीता के प्रति रखना। सीता को सीता नही, माँ सुमित्रा समझना और वन को अयोध्या मानना।"[२]

मै पूछता हूँ—यह कौन बोल रही है ? एक सौतेली माँ बोल रही है, जो अपने प्राणो से प्रिय पुत्र को सौतेले भाई के साथ निर्जन वनो की ठोकरें खाने के लिए भेज रही है ? क्या वह यह नही कह सकती थी—'राम जाए तो जाए, तुझे क्या पडा है ? तू वहाँ उसके साथ वनो मे क्यो मारा-मारा फिरता है ?" पर नही, सुमित्रा के हृदय का स्नेह, प्रेम और सौहार्द राम और लक्ष्मण को दो सौतेले भाई नही, सगे भाई समझता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोग किसी माँ की अच्छाई को नही देखते, सुमित्राओ को नही देखते, वह तो एक स्वर से सौतेली माँ की बुराइयो का ही प्रचार

---

२ "राम दशरथ विद्धि, मा विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवी विद्धि, गच्छ पुत्र ! यथासुखम्॥"

करते चले आ रहे हैं। गगाजल को सिर पर नही डालते, नाली का गन्दा जल ही उछाल रहे है।

ससार मे एक ओर सूर्यकान्ताएँ जन्म लेती हैं, तो दूसरी ओर सीता और सावित्री भी तो जन्म लेती है। क्या हम सीता-सावित्री की उज्ज्वल परम्परा को भुला कर सूर्यकान्ता का ही ढिंढोरा पीटते रहे कि—ससार के पतियो, सावधान रहना। कहीं ये पत्नियाँ सूर्यकान्ता की तरह तुम्हे जहर न पिला दे, गला न घोट दें! क्या यही जहर सुरक्षित है—हमारे पास जनमानस मे फैलाने के लिए? अमृत की एक बूँद भी नही, जिससे किसी का कुछ भला हो सके। समाज को इसी प्रकार घृणा और द्वेष की दहकती ज्वालाओ मे जलाते रहने का ही उपदेश है हमारे पास? मैं कहता हूँ, जीवन मे यह घृणा का जहर जब तक रहेगा, तब तक भाई-भाई, पिता-पुत्र, पति-पत्नी कोई भी सुख और स्नेहपूर्वक नही रह सकेंगे। सब एक-दूसरे को घृणा और विद्वेष की दृष्टि से देखेंगे, और देखेंगे परस्पर जानलेवा दुश्मन की निगाह से।

धर्म-सम्प्रदाय के नाम पर हिंसा

ये दूर की बाते जाने दीजिए। गाँधीजी कैसे मारे गए? पिस्तौल की गोली से? नही-नही, गाँधीजी के प्रति गोडसे के मन मे जो नफरत का भूत सवार था, उसी ने वहाँ गोलियाँ गाँधीजी को मारी! गाँधीजी का हत्यारा गोडसे नही, बल्कि वही घृणा और विद्वेष थी, जो हिन्दुस्तान की नसो मे युगो-युगो से भरी गई है। जिसका जहर कभी भी मनुष्य को उन्मत्त और पागल बना डालता है। हिन्दुस्तान के दो टुकड़े किसने करवाए? जिन्ना ने या अँग्रेजो ने? न जिन्ना ने और न अँग्रेजो ने। हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच छाई हुई जातीय घृणा और विद्वेष ने ही भारत के दो टुकड़े कर डाले। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का बँटवारा धर्म के आधार पर नही, अपितु धर्म के चोले मे छिपी हुई घृणा और विद्वेष के आधार पर हुआ है। इसीलिये अलग हो कर भी आज तक ये शान्ति से रह नही सके है। बँटवारे के समय क्या-क्या अत्याचार हुए हैं, कैसे-कैसे हत्याकाड हुए है—आप से छिपे नही है? हजारो-लाखो नौनिहाल बच्चे, जो अभी न हिन्दू बने थे, न मुसलमान, अभी तो वे अबोध जीवन की यात्रा प्रारम्भ ही कर रहे थे कि उनके इसलिए टुकड़े-टुकड़े कर डाले कि वे हिन्दू और मुसलमान के घर मे पैदा हो गए थे। हजारो अबलाओ को जीते जी अग्नि मे होम दिया गया, सिर्फ इसलिए कि वे हिन्दुओ की पुत्रियाँ थी, या पत्नियाँ थी। क्या यह सब जिन्ना और अँग्रेजो ने सिखाया था? यह उसी घृणा-राक्षसी का नग्न नृत्य था, उसी विद्वेष के विषैले परिणाम थे, जो धर्म के पवित्र नाम पर वर्षों से जनजीवन मे फैल रही थी।

सभी हिंसाओं के मूल घृणा और विद्वेष

आज भी जो कभी धर्म के नाम पर, मन्दिरो तथा गुरुद्वारो के नाम पर, प्रान्तो तथा जातियो के नाम पर गालियाँ चल रही हैं, छुरे चल रहे है, तोडफोड हो रही है, आग लगाई जा रही है, यह सब क्या है? घृणा और विद्वेष की आग फैलाने

वालो के ही ये हथकडे है। क्रूरता और नृशसता का यह खूनी इतिहास जब भी कभी लिखा गया है, घृणा और विद्वेष की कलम से ही लिखा गया है। ससार को बर्बाद करने वाला, उसका सर्वनाश करने वाला यदि कोई जहर है, तो वह यही घृणा का जहर है। यह घृणा और विद्वेष का जहर मानव-जाति को पीढी-दर-पीढी मारता चला आ रहा है, हजारो-लाखो वर्षों तक मानव-जाति को आग की भयकर लपटो म झुलसाता आ रहा है।

समग्र समाज मे व्याप्त इस हिंसा से मुक्त हो

जीवन मे जब तक परिवारो, समाजो, जातियो, सम्प्रदायो, वर्गों या प्रान्तो मे पारस्परिक घृणा, द्वेष, वैरविरोध, तिरस्कार आदि कषायभाव नही मिटेगे, तब तक यह भावहिंसा (सामाजिक हिंसा) नही जाएगी। इस भावहिंसा से मुक्त हुए बिना अहिसा की वास्तविक आराधना नही हो सकेगी और न ही तब तक शान्ति और स्नेह की सरिता समाज मे बह सकेगी। अत व्यापक सामाजिक जीवन मे प्रेम, सौहार्द और शान्ति के लिए आवश्यक है कि हम इस जहर को अपने हृदय से मुक्त करे। हम घृणा और वैर के व्यापारी नही, अपितु शान्ति और प्रेम के देवदूत बन कर रहे। □

२१ | जातिवाद : सामाजिक हिंसा का अग्रदूत

जीवन मे हिंसा का रूप एक ही नही होता है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। वह सामाजिक, राष्ट्रीय धार्मिक तथा अन्य देशो मे विभिन्न रूपो मे देखी जाती है। अतएव जहाँ कही और जिस किसी भी रूप मे हिंसा हो रही है, उसे वहाँ उसी रूप मे समझने की आवश्यकता है। इसके बिना अहिंसा के राज-मार्ग पर ठीक तरह से चला नही जा सकता। अपने बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा जो अन्धकार को अन्धकार समझ लेता है और साथ ही यह भी जान लेता है कि वह अन्धकार जीवन को प्रगति की प्रेरणा देने वाला नही है, वह प्रकाश म आने का प्रयत्न कर सकता है और फिर अपनी जीवन-यात्रा अच्छी तरह तय भी कर सकता है। जहाँ अन्धकार है वहाँ भाँति-भाँति की गडबडी पैदा होती रहती है। घर मे चोरो के घुस आने पर घर वाले लडने को तैयार होते है चोरो से, किन्तु लाठियाँ बरसाने लगते है, अपने ही घर वालो पर।

हिंसा एक अन्धकार

अन्धकार मे अपने-पराये का कोई भेद मालूम नही देता। इस प्रकार के अन्धकार को जीवन न मान कर मृत्यु का सन्देश समझना चाहिये। सफल जीवन के लिए तो दिव्य प्रकाश ही चाहिए। हिंसा भी एक प्रकार का अन्धकार है और आज वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे फैला हुआ है। किन्तु यह निश्चित है कि जब तक यह जीवन को किसी भी रूप मे स्पर्श किये रहेगा, तब तक जीवन का सही मार्ग नही मिलेगा। अतएव यदि प्रकाश मे प्रवेश करना है, तो इसके लिये अन्धकार का भी समुचित ज्ञान प्राप्त करना होगा। जब तक हम हिंसा के अन्धकार को भलीभाँति न समझ ले, तब तक अहिंसा के प्रकाश की उज्ज्वल किरणें हमे प्राप्त नही हो सकती।

ये विकल्प तुच्छ हैं, हिंसाजनक है

जैनधर्म एक अध्यात्मवादी धर्म है। उसकी सूक्ष्मदृष्टि मानव-आत्मा पर टिकी हुई है। वह दृष्टि मनुष्य के शरीर, इन्द्रिय, बाह्यवेष, लिंग, वंश और जाति—इनकी दीवारो को भेदती हुई, सूक्ष्म आत्मा को ग्रहण करती है। वह आत्मा की बात करता है, आत्मा की भाषा बोलता है। सुख-दुःख के विकल्प, उच्चता-नीचता के मान-दण्ड और यहाँ तक कि लोक-परलोक की चिन्ता से भी परे, वह शुद्ध अध्यात्म की बात करता है। इसका मतलब यह है कि ससार के जितने भी बाह्य विकल्प है, ऊँच-नीच के, चाहे वे जाति की दृष्टि से हो, चाहे धन की दृष्टि से हो, शासन-अधिकार की दृष्टि से हो अथवा अन्य किसी भी दृष्टि से हो, वहाँ ये विकल्प तुच्छ पड जाते हैं, ये सब

धारणाएँ उसकी दृष्टि से निष्प्राण-निर्माल्य एव निरर्थक है । आत्मा के साथ इन धारणाओ का कही कोई मेल नही बैठता । भले ही पश्चाद्वर्ती व्यक्तियो ने कुछ ब्लेकमेल किया हो, किन्तु जैनधर्म के महान् उद्गाता भगवान् महावीर के वचनो का जो महाप्रकाश हमे मिला है, उसके आलोक मे देखने से पता चलता है कि जैनधर्म का शुद्ध रूप आत्मा को छूता है । जाति, सम्प्रदाय, वश और लिंग का 'ब्लेकमेल' साँठ-गाँठ करने वाले, जैन धर्म की आत्मा के साथ अन्याय कर रहे है ।

अमीर-गरीब—सबमे समान आत्मा है

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, अपने जीवन मे जो विलक्षण कार्य किये, वे इस बात के साक्षी है कि जैनधर्म का सन्देश आत्मा को जगाने का सन्देश है । उसकी दृष्टि मे राजा और रक की आत्मा मे कोई भेद नही है । उसके समक्ष जितने आत्म-गौरव के साथ एक कुलीन ब्राह्मण आ सकता है, उतने ही गौरव के साथ एक नीच और अन्त्यज कहा जाने वाला शूद्र चाण्डाल भी आ सकता है । वह ब्राह्मणकुमार इन्द्रभूति गौतम का स्वागत करता है, तो श्वपाक पुत्र हरिकेशीबल और चाण्डालसुत महर्षि मेतार्य का भी उसी भाव और श्रद्धा के साथ स्वागत, सम्मान एव आदर करता है । आत्मा किसी भी परिस्थिति मे चल रही हो, किसी नाम, रूप और जाति की सीमाओ मे खडी हो, पर उसमे भी वही आत्मज्योति जल रही है, जो तुम्हारे भीतर भी है । भगवान् महावीर ने कहा—'तुम्हारे सामने कोई आता है तो तुम उसकी आत्मा को देखो, उसे जागृत करने का प्रयत्न करो । उसके नाम, रूप आदि मे मत उलझो । तुम आत्मवादी हो तो आत्मा को देखो । शरीर को देखना, नाम, रूप, जाति को देखना, शरीरवादी या भौतिकवादी दृष्टि है । आत्मवादी इन प्रपचो मे नही उलझता है, उसकी दृष्टि मे तेज होता है । अत वह सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप को ग्रहण करता है, स्थूल पर उसकी दृष्टि नही अटकती । वह सूक्ष्म तत्त्व को पहचानता है और उसी का सम्मान करता है ।'

भगवान् महावीर के, जो प्राचीनतम भाषा मे उपदेश प्राप्त होते है, वे बहुत कुछ आज भी आचाराग मे उपलब्ध है । भाषा और शैली की दृष्टि से वह सब आगमो म प्राचीन है और महावीरयुग के अधिक निकट प्रतीत होता है । उसमे एक स्थान पर कहा गया है—"तुम्हारे सामने यदि कोई सम्राट् आता है, जिसके पीछे लाखो-करोडो सेवको का दल खडा है, धन-वैभव का अम्बार लगा है, स्वर्ण-सिंहासन और शासन-शक्ति उसके पीछे है, यदि उसे उपदेश देने का प्रसग आता है, तो उसके धन और शक्ति पर दृष्टि न डालो, उसके सोने के महलो की तरफ नजर मत उठाओ, बल्कि उसे एक भव्य समझ कर उपदेश करो । और, यह देखो कि उसकी सुप्त आत्मा जागृत हो, उसमे विवेक की ज्योति प्रज्वलित हो । बस, यही ध्येय रख कर उपदेश करो, और निर्भीक हो कर करो ।"[1]

१ "जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ,
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ ।"

"और, यदि तुम्हारे समक्ष कोई दरिद्र भिखारी गली-कूचो मे ठोकरे खाने वाला श्वपाक या अन्त्यज चाण्डाल, जो ससार की नजर मे नीच कहा जाता है, वह भी आ जाए, तो जिस प्रकार से तथा जिस भाव से सम्राट् को उपदेश दिया है, उसी प्रकार से और उसी भाव से उस तुच्छ और साधारण श्रेणी के व्यक्ति को भी देखो, उसके बाहरी रूप और जाति पर मत उलझो। यह देखो कि वह भी एक भव्य आत्मा है, और उसकी आत्मा को जागृति का सन्देश देना हमारा धर्म है।"

आप देखेगे कि जैनधर्म का स्वर कितनी ऊँचाई तक पहुँच गया है! साधारण जनता जिस प्रकार एक सम्राट् और एक श्रेष्ठी के प्रति सम्मान और सभ्य भाषा का प्रयोग करती है, एक कगाल भिखारी और एक अन्त्यज के प्रति भी जैनधर्म उसी भाषा और उसी सभ्यता का पालन करने की बात कहता है। जितनी दृढता और निर्भयता मन मे होगी, सत्य का स्वर भी उतना ही स्पष्ट एव मुखर होगा। अत भिखारी और दरिद्र के सामने तुम जितने निर्भय और स्पष्टवादी हो कर सत्य को प्रकट करते हो, उतने ही निर्भय और दृढ बन कर एक सम्राट् को भी सत्य का सन्देश सुनाओ। तुम्हारा सत्य और सुदृढ सत्य स्वर्ण की चमक के सामने अपनी तेजस्विता कम न होने दे, सोने के ढक्कन से उसका मुँह बन्द न हो जाए। जैसा कि ईशोपनिषद् मे कहा गया है— "सोने के पात्र से सत्य का मुँह ढका हुआ है।"[२] सम्राट् और तुम्हारे बीच मे सम्राट् के धन और वैभव शक्ति और साम्राज्य का विचार खडा मत होने दो। और न दरिद्र और तुम्हारे बीच मे दरिद्र की नगण्यता एव तुच्छता का क्षुद्र विचार ही खडा हो। दोनो की आत्मा को समान समझो, अत दोनो को समानभाव से धर्म का सदेश दो, निर्भय और निरपेक्ष हो कर, निष्काम और तटस्थ हो कर।

जाति नहीं, चरित्र ऊँचा है

मै आपसे कह रहा था—जैनधर्म शरीरवादियो का धर्म नही है। अष्टावक्र ऋषि के शब्दो मे कहूँ तो वह 'चर्मवादी' धर्म नही है। वह शरीर, जाति या वश के भौतिक आधार पर चलने वाला 'पोला धर्म' नही है। अध्यात्म की ठोस भूमिका पर खडा है। वह यह नही देखता कि कौन भगी है, कौन चमार है और कौन आज किस कर्म तथा किस व्यवसाय मे जुडा है? वह तो व्यक्ति के चरित्र को देखता है, पुरुषार्थ को देखता है और देखता है उसकी आत्मिक पवित्रता को।

जाति-वश-धर्म-भाषागत अहकार हिंसा का मूल

भारतवर्ष का इतिहास, जब हम देखते है, तो मन पीडा से भारी हो जाता है। और, हमारे धर्म एव अध्यात्म के प्रचारको के चिन्तन के समक्ष एक प्रश्नचिन्ह लग जाता है कि वे क्या सोचते थे? और कैसा सोचते थे? प्राणि-मात्र मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखने वाले भी श्रेष्ठी और दरिद्र की आत्मा को, ब्राह्मण

---

२ 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यपि हित मुखम्' —ईशोपनिषद्

और चाण्डाल की आत्मा को एक दृष्टि से नही देख सके। उन्होने हर वर्ग के बीच भेद और घृणा की दीवारें खडी कर दी थी। शूद्र की छाया पडने से वे अपने को अपवित्र समझ बैठते थे। क्या इतनी नाजुक थी उनकी पवित्रता, कि किसी की छाया-मात्र से वह दूषित हो उठती ? कोई भी शूद्र धर्मशास्त्र का अध्ययन नही कर सकता था ! क्या धर्मशास्त्र इतने पोचे थे कि शूद्र के छूते ही वे भ्रष्ट हो जाते ? जरा सोचें तो लगेगा कि कैसी भ्रान्त धारणाएँ थी कि जो शास्त्र ज्ञान का आधार माना जाता है, जिससे प्रवाहित होने वाली ज्ञान की धारा अन्तरग के कलुष को, अनन्त-अनन्त जन्मो के पापो को धो कर स्वच्छ कर देती है, प्रकाश जगमगा देती है, ससार को दासता और बन्धनो से मुक्त करके आत्म-स्वातन्त्र्य और मोक्ष के केन्द्र मे प्रतिष्ठित करने मे समर्थ है, वह शास्त्र और उसकी ज्ञानधारा उन्होने एक वर्ग के हाथो मे सौंप दी और कह दिया कि दूसरो को इसे पढने का अधिकार नही। पढने का अधिकार छीना सो तो छीना, उसे सुनने तक का भी अधिकार नही दिया। जो शूद्र पवित्र शास्त्र का उच्चारण कर दे, उसकी जीभ काट दी जाय, और जो उसे सुन ले, उसके कानो मे खौलता हुआ शीशा डाल कर शास्त्र सुनने का दण्ड दिया जाय ! कैसा था यह मानस ? मनुष्य-मनुष्य के बीच इतनी घृणा ! इतना द्वेष ! जो शास्त्र महान् पवित्र वस्तु मानी जाती थी, उसमे भाषा को ले कर भी विग्रह पैदा हुए। एक ने कहा—सस्कृत देवताओ की भाषा है, अत उसमे जो शास्त्र लिखा गया है, वह शुद्ध है, पवित्र है और प्राकृत तथा अन्य भाषाओ मे जो भी तत्त्वज्ञान है, शास्त्र है, वह सब अपवित्र है, अधर्म है, तथा दूसरे ने प्राकृत को ही महत्त्व दिया। उसे ही देवताओ की भाषा माना, पवित्र माना। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ इतिहास के पृष्ठो पर आज भी अकित है, जिनसे ज्ञात होता है कि मनुष्य के अन्दर जाति, वश, धर्म और भाषा का एक भयकर अहकार जन्म ले रहा था और ऐसा अहकार, जो ससार मे अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए दूसरो की श्रेष्ठता, प्रतिष्ठा और सम्मान को खण्ड-खण्ड करने पर तुल गया था। दूसरो की प्रतिष्ठा का महत्त्व गिरा कर प्रतिष्ठा एव श्रेष्ठता के महल, उन खण्डहरो पर खडा करना चाहता था। उन्होने मनुष्य के सम्मान का, उसकी आत्मिक पवित्रता का और आत्मा मे छिपी दिव्यज्योति का अपमान किया, उसकी अवगणना की और उसे नीचे गिराने एव लुप्त करने की अनेक चेष्टाएँ की। उन्होने चरित्र का, सदाचार का मूल्य जाति और वश के सामने गिरा दिया। इस प्रकार अध्यात्मवाद का ढिंढोरा पीट कर भी वे भौतिकवादी बने रहे। भगवान् महावीर ने यह स्थिति देखी, तो उनके अन्दर मे क्रान्ति की लहर लहरा उठी, उनके अन्त -स्फूर्त स्वर गूंज उठे—[3]श्रेष्ठता और पवित्रता का आधार जाति नही है, बल्कि मनुष्य का अपना कर्म है, अपना आचरण है। कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। वैश्य और शूद्र भी

३ "कम्मुणा बभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

कर्म के आधार पर ही होता है। ससार मे कर्म की प्रधानता है। समाज के वर्ण और आश्रम कर्म के आधार पर ही विभक्त है। इसमे जाति का कोई कारण नही है। मनुष्य की तेजस्विता और पवित्रता उसके तप और सदाचार पर टिकी हुई है, न कि जाति पर ?[४] 'जाति का कोई कारण नही दीख रहा है।' मनुष्य कर्म के द्वारा ऊँचा होता है, जीवन की ऊँचाइयो को नापता है और कर्म के द्वारा ही नीचे गिरता है, पतित होता है। इस प्रकार हम देखते है कि इस युग मे मानव के मन मे—जातिवाद और वर्गवाद का जो एक काँटो का घेरा खडा हो गया था, उसे जैनधर्म ने तोडने की कोशिश की, मनुष्य-मनुष्य और आत्मा-आत्मा के बीच समता एव समरसता का भाव प्रतिष्ठित करने का सक्षम प्रयत्न किया।

जैनधर्म ने आपको सन्देश दिया है कि 'प्रत्येक आत्मा समान है। तुम यह भावना मन से निकाल दो कि कोई व्यक्ति जन्म (जाति) से ऊँचा या नीचा है, बल्कि यह सोचो कि उसकी आत्मा कैसी है ? प्रश्न जाति का नही, आत्मा का करो। आत्मा की दृष्टि से वह शुद्ध और पवित्र है या नही, इस प्रश्न पर विचार करो।

पूर्वाचार्यों ने विश्व की आत्माओ को समत्व दृष्टि देते हुए कहा है कि—ससार की समस्त आत्माओ को हम दो दृष्टियो से देखते है—एक द्रव्यदृष्टि से और दूसरी पर्यायदृष्टि से। जब हम बाहर की दृष्टि से देखते है, पर्याय की दृष्टि से विचार करते है, तो ससार की समस्त आत्माएँ अशुद्ध मालूम पडती है। चाहे वह ब्राह्मण की आत्मा हो अथवा शूद्र की आत्मा, यहाँ तक कि तीर्थंकर की ही आत्मा क्यो न हो, वह जब तक ससार की भूमिका पर स्थित है, अशुद्ध ही प्रतीत होती है। जो बन्धन है, वह तो सबके लिए ही बन्धन है। लोहे की बेडी का बन्धन भी बन्धन है और सोने की बेडी का बन्धन भी बन्धन ही है। जब तक तीर्थंकर प्रारब्ध-कर्म के बन्धन से परे नही होते है, तब तक वह भी ससार की भूमिका मे होते है, और ससार की भूमिका अशुद्ध भूमिका है। आत्मा जब विशुद्ध होती है पर्याय की दृष्टि से भी विशुद्ध होती है, तब वह मुक्त हो जाती है, ससार की भूमिका से ऊपर उठ कर मोक्ष की भूमिका पर चली जाती है। इस प्रकार तीर्थंकर और साधारण आत्माएँ ससार की भूमिका पर पर्याय की दृष्टि से एक समान है। आप सोचेंगे, तो पायेंगे कि जैनधर्म ने कितनी बडी बात कही है। जब वह सत्य की परतें खोलने लगता है, तो वहाँ किसी का भेद नही मानता, सिर्फ सत्य को स्पष्ट करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य रहता है।

यदि हम द्रव्यदृष्टि से आत्मा को देखते है—तो द्रव्य अर्थात् मूलस्वरूप की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा ज्ञानमय है, शुद्ध एव पवित्र है। जल मे चाहे जितनी मिट्टी मिल गई हो, कोयले का चूरा पीस कर डाल दिया गया हो, अनेक रग मिला दिये गए हो, जल कितना ही अशुद्ध, अपवित्र और गन्दा क्यो न प्रतीत होता हो, पर यदि

---

४ "न दीसई जाइविसेस कोई"

आपकी दृष्टि मे सत्य को समझने की शक्ति है, तो आप समझेंगे कि जल अपने आप मे क्या चीज है ? जल स्वभावत पवित्र है या मलिन ? वह मलिनता और गन्दगी जल की है या मिट्टी आदि की ? यदि आप इस विश्लेषण पर गौर करेंगे तो यह समझ लेंगे कि जल जल है, गन्दगी गन्दगी है। दोनो भिन्न-भिन्न पदार्थ है, एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए भी, अभिन्न सम्पर्क मे रहते हुए भी दोनो अलग-अलग है। इसी प्रकार अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ कर्म का सम्पर्क चला आ रहा है, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध जुडा आ रहा है, पर वास्तव मे आत्मा आत्मा है, वह कर्म नही है। और, कर्म जो पहले था, वह अपनी उसी धुरी पर आज भी है, उसी स्थिति मे है, वह कभी आत्मा नही बन सका है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मूलस्वरूप की दृष्टि से विश्व की प्रत्येक आत्मा पवित्र है, शुद्ध है। वह जल के समान है, उसमे जो अपवित्रता दिखाई पड रही है, वह उसकी स्वय की नही, अपितु कर्म के कारण है—असत् कर्म, असत् आचरण और असत् सकल्पो के कारण है।

आत्मा परम पवित्र है

यह बात जब हम समझ रहे है कि आत्मा की अपवित्रता मूल आत्मा की दृष्टि से कर्म के कारण है, तब हमे यह भी सोचना होगा कि वह अपवित्र क्यो होती है और फिर पवित्र कैसे बनती है ?

हमारे मन मे जो असत् सकल्प की लहरे उठ रही है, दुर्विचार जन्म ले रहे है, घृणा, वैर और विद्वेष की भावनाएँ जग रही है, वे असत्कर्म की ओर प्रवृत्त करती हैं। अपने अहकार की पूर्ति के लिए मनुष्य सघर्ष करता है, इधर-उधर घृणा फैलाता है। इस प्रकार लोभ और स्वार्थ जब टकराते है, तब विग्रह और युद्ध जन्म लेते है। वासना और व्यक्तिगत भोगेच्छा जब प्रबल होती है, तो वह हिंसा और अन्य बुराइयो को पैदा करती है। आज के जीवन मे हिंसा और पापाचार की जो इतनी वृद्धि हो रही है, वह मनुष्य की लिप्सा और कामनाओ के कारण ही है। ऐसा लगता है कि ससारभर के पाप आज मनुष्य के अन्दर आ रहे हैं और सवर्ण की तरह अपने नये-नये रूपो से ससार को आक्रात करना चाहते है। मनुष्य इतना क्रूर बन रहा है कि अपने स्वार्थ के लिए, भोग के लिए वह भयकर से भयकर हत्याएँ कर रहा है। और, इस कारण कभी-कभी इस पर सन्देह होने लगता है कि उसके हृदय भी है या नही ? एक जमाना था, जब देवी-देवताओ के नाम पर पशु-हत्या की जाती थी, मूक और निरीह प्राणियो की बलि दी जाती थी। युग ने करवट बदली, अहिंसा और करुणा की पुकार उठी और वे हत्याकाड काफी बन्द हो गए। पर, आज जिस उदर देवता के लिए लाखो पशु प्रतिदिन बलि हो रहे है, क्या उसे कोई नही रोक सकता ? पहले देवताओ को खुश करने के लिए पशु-हत्याएँ होती थी, आज इस देवता (?—या राक्षस ?) के भोजन और खाने के नाम पर पशु-हत्या का चक्र चल रहा है। आज का सभ्य मनुष्य भोजन के नाम पर अपने ही पेट मे जीवित पशुओ

की कब्र बना रहा है। कहना चाहिए, वह आज पशुओ की जीवित कब्र पर ही सो रहा है। यह भयकर पशु-सहार तब तक नही रुक सकता, जब तक मनुष्य के अन्दर शुद्ध देवत्व जागृत न हो, शुद्ध दृष्टिकोण न जगे, ससार के प्रत्येक जीवधारी मे अपने समान ही आत्मा के दर्शन न करे।

मनुष्य की भोगेच्छा आज इतनी प्रबल हो रही है कि उसकी बुद्धि कर्त्तव्य से चुंधिया गई है। अहकार जागृत हो रहा है, फलत वह सृष्टि का सर्वोत्तम एव सबसे महान् प्राणी अपने को ही समझ रहा है। उसकी यह दृष्टि बदलनी होगी, आत्मा की समानता का भाव जगाना होगा। उसे यह अनुभव कराना होगा कि जिस प्रकार की पीडा तुझे अनुभव होती है, वैसी ही पीडा की अनुभूति प्रत्येक प्राणी मे है। किन्तु यह एक विचित्र बात है कि हम सिर्फ उपदेश दे कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते है, अध्यात्मवाद और अध्यात्मदृष्टि का गम्भीर विश्लेषण करके उसे छोड देते है, विचारो से उतर कर अध्यात्मवाद आचार मे नही आ रहा है, मुंह से बाहर निकल रहा है, मन की गहराई मे नही उतर रहा है। जब तक अध्यात्म की चर्चा करने वालो के जीवन मे इसका महत्त्व नही आंका जायेगा, तब तक अध्यात्म को भूत-प्रेत की तरह भयानक समझ कर डरने वालो को हम इस ओर आकर्षित कैसे कर सकेंगे ? इसके लिए आवश्यक है कि हमारी धर्म-दृष्टि, हमारा अध्यात्म, पहले जीवन मे मुखर हो। इसका प्रचार हमे अपने जीवन से शुरू करना चाहिए, तभी हमारी अध्यात्मदृष्टि की कुछ सार्थकता है, अन्यथा नही।

जातिभेद शरीर मे नहीं दीखता

गत प्रवचन मे सामाजिक हिंसा का विवेचन करते हुए बतलाया था कि 'मनुष्य जाति एक है और वह प्राणि-ससार की सर्वश्रेष्ठ जाति है। मनुष्य का जीवन बहुत बड़े सौभाग्य से प्राप्त होने वाली एक बहुमूल्य निधि है। जैनशास्त्र और दूसरे शास्त्र भी यही कहते है कि देवता बनना आसान है, किन्तु मनुष्य बनना कठिन है। चौरासी लक्ष जीव-योनियो मे भटकते हुए बडी कठिनाई से मनुष्य का चोला मिलता है। इन्सान की ऊँचाई, वस्तुत बहुत बडी ऊचाई है।

ज्यो ही मानव-जीवन की महत्ता का विचार हमारे मन मे आता है, त्यो ही एक अतिमहत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने उपस्थित हो जाता है। प्रश्न यह है कि—मनुष्य का मनुष्य के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए ? मनुष्य यदि मनुष्यता का मूल्य समझता है तो उसे दूसरे मनुष्यो के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ?

इन्सान का चोला मिल जाने पर भी इन्सान को यदि इन्सान की आत्मा नही मिली, हाथ-पैर आदि अवयव इन्सान के मिल गए, किन्तु यदि भीतर हैवानियत ही भरी रही तो यह बाहर का मानवीय चोला किस काम का ? घृणा, द्वेष, अहकार—ये सब पशुता की भावनाएँ हैं, मनुष्यता की नही। मनुष्य के चोले में भी यदि ये

सब भावनाएँ भरी है, तो समझ लेना चाहिए कि वहाँ वास्तविक मनुष्यता नहीं आ पाई है ।

मानव-जाति का विभाजन

अखण्ड मानव-जाति पहले-पहल उद्योग-धन्धो की भिन्नता के कारण अनेक टुकडो मे विभक्त हुई । कहना तो यह चाहिए कि मनुष्य जाति की सुविधा के लिए ही उद्योग अलग-अलग रूपो मे बाँटे गये थे और अलग-अलग पेशा करते हुए भी मनुष्य-मनुष्य मे कोई भेद नही था । किन्तु जब अहकार और द्वेष की भावनाएँ तीव्र हुई तो धन्धो के आधार पर बने हुए विभिन्न वर्गों मे ऊँच-नीच की भावना अकुरित होने लगी । फिर वह फूली और फली । उसके जहरीले फल सर्वत्र फैले और उन्होंने मानव-जाति की महत्ता और पवित्रता को नष्ट कर दिया । मनुष्य समझ बैठे कि अमुक धन्धा करने वाला वर्ग ऊँचा है और अमुक धन्धा करने वाला वर्ग नीचा ।

क्या वह भेदभाव यही खत्म हो गया ? नही, वह बढता ही चला गया और एक दिन उसने बहुत विचित्र एव विकृत रूप ग्रहण कर लिया । धीरे-धीरे धन्धो की बात उड गई और जन्म से ही उच्चता और नीचता, पवित्रता और अपवित्रता की बात जोड दी गई ।

जब तक धधे का प्रश्न था, समस्या विकट नही थी और भेद-भाव भी स्थायी नही था, क्योंकि मनुष्य इच्छा होते ही अपना धधा बदल भी सकता था । किन्तु जन्म कैसे बदले ? परिणाम यह हुआ कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद करने वाली फौलादी दीवारे खडी कर दी गई और मानव-परिवार का सघटन छिन्न-भिन्न हो गया । निस्सन्देह उसी विघटन का यह दु खद परिणाम है कि आज 'शान्ति' और प्रेम' के स्थान पर 'अशान्ति' एव 'घृणा' का साम्राज्य है ।

पवित्रता जन्म से या कर्म से ?

हमारे सामने आज यह जटिल प्रश्न उपस्थित है कि इस सम्बन्ध मे जैन-धर्म क्या प्रकाश देता है । वह 'जन्म' से पवित्रता मानता है या 'कर्म' से? किसी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के कुल मे जन्म ले लिया तो क्या वह जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो गया ? और क्या जन्ममात्र से उसमे श्रेष्ठत्व आ गया ? अथवा ब्राह्मण आदि बनने के लिए और तदनुरूप उच्चता प्राप्त करने के लिए क्या कुछ कर्त्तव्य-विशेष भी करना आवश्यक है ?

इन्सान जन्म से क्या ले कर आया है ? वह हड्डी और माँस का ढेर तो ही साथ मे लाया है ! क्या किसी की हड्डियो पर 'ब्राह्मणत्व' की, किसी के माँस पर 'क्षत्रियत्व' की या किसी के चेहरे पर 'वैश्यत्व' की मोहर लगी आई है ? या ब्राह्मण किसी और रूप मे, और दूसरे वर्ण किसी और रूप मे आए है ?

आखिर, शरीर तो शरीर ही है । वह जडपुद्गलो का पिण्ड है । उसमे जाति-

पाँति का किसी भी प्रकार का कोई नैसर्गिक भेद नही है । यह मृत्-पिण्ड तो आत्मा को रहने के लिए मिल गया है और कुछ समय के लिए आत्मा रहने के लिए उसमे आ गया है । वस्तुत यह अपने आप मे पवित्र या अपवित्र नही है । पवित्रता और अपवित्रता का आधार आचरण की शुद्धता या अशुद्धता है । आचरण ज्यो-ज्यो पवित्र होता जाता है, त्यो-त्यो शुद्धता भी बढती जाती है । इसके विपरीत अपवित्रता के आचरण से अशुद्धि ही बढती जाती है ।

यह आवाज, आज की नई आवाज नही है । भारत मे जब जन्मगत उच्चता और नीचता की भावनाएँ घर किए बैठी थी, तब भी विचारक लोग प्राय यही कहते थे और तब से आज तक भी वे यही कहते आ रहे है । निस्सन्देह उस आचरणमूलक उच्चत्व की प्रेरणा का ही तो यह फल प्रकट हुआ है कि इन्सान ने किसी भी उच्च या नीच जाति म जन्म लिया हो, फिर भी उसने श्रेष्ठ होने और उच्चता प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न किया । उसने विचार किया कि मैं जन्म से उच्च नही बन गया हूँ । यदि मैं सत्प्रयत्न करूँगा, जीवन को सदाचार के पथ पर अग्रसर करूँगा, और अपनी प्राप्त सामग्री को अपने आप मे ही समेट कर नही रखूँगा, बल्कि दूसरो के कल्याण मे भी उसका यथाशक्ति उपयोग करूँगा तो जीवन की पवित्रता को प्राप्त कर सकूँगा ।

वह पवित्रता शुभ कर्म द्वारा ही प्राप्त होगी, जन्म से नही, यह आवाज भारत की जनता के हृदय मे निरन्तर गूँजती रही और भारतीय जन-समाज उस पवित्रता की ओर दौड भी लगाता रहा । जो ब्राह्मण के कुल मे जन्मा था, वह भी दौडा और जो क्षत्रिय-कुल मे पैदा हुआ था, वह भी दौडा । क्योकि उसे मालूम था कि पवित्रता अकेले जन्म लेने से नही आएगी, उसे तो उच्च कर्त्तव्यो द्वारा ही प्राप्त करना होगा । वह प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकेगी, अन्यथा नही ।

एक श्रावक इन्सान के रूप मे ही जन्म लेता है और एक साधु भी इन्सान के रूप मे ही जन्म लेता है । क्या श्रावक का 'श्रावकपन' और साधु का 'साधुपन' शरीर के साथ ही आया था ? नही, शरीर उसे साथ मे लाद कर नही लाया । उसे तो आचरण और साधना के द्वारा यहाँ पर ही प्राप्त करना होता है ।

पुरुषार्थ

इस प्रकार उस युग मे कोई किसी भी धर्म का अनुयायी क्यो न रहा हो, प्राय सभी ने पुरुषार्थ की साधना के द्वारा ही अपेक्षित पवित्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसे पाने के लिए सदाचार के पथ पर निरन्तर दौड लगाते रहे । किन्तु दुर्भाग्य और परिस्थितियो के प्रकोप से विचार उलट गये और ऐसी विचित्र धारणा बन गई कि ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेने मात्र से 'पवित्रता' प्राप्त हो गई और जैनकुल मे जन्म लेने मात्र से ही 'जैनत्व' मिल गया । जब इस प्रकार जन्म लेने मात्र से पवित्रता मिल जाने का विचार दृढ हो गया तो फिर नैतिक पवित्रता के लिए

कौन प्रयत्न करता ? और पवित्रता के लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही क्यो अनुभव की जानी चाहिए ? इस सम्बन्ध मे हमारे यहाँ कहा गया है कि यदि गाँव के बाहर खडे हुए अकौवा (आकडे) के पौधे की टहनियो पर ही शहद का छत्ता मिल जाए तो नदी-नालो को कौन लांघे ? पर्वतो पर जा कर कौन टक्करे खाए ?[१] क्योकि पुराने जमाने मे शहद के लिए पर्वत पर टक्करे खानी पडती थी और बहुत कठिनाई से शहद प्राप्त किया जाता था।

मनुष्य का स्वभाव है कि पुरुषार्थ के बिना ही यदि इच्छित वस्तु मिल सकती हो तो फिर कोई पुरुषार्थ क्यो करेगा ? यह एक लोक-स्वभाव के सिद्धान्त की बात है। हम साधु भी जब अनजान गाँवो मे गोचरी के लिए जाते है, तब यदि सीधे रूप मे अनायास ही कुछ घरो से गोचरी मिल जाए और गोचरी के लिए कदम बढाते ही 'पधारिये महाराज' कहने वाले खडे मिल जाएँ तो व्यर्थ ही दूर-दूर के गली-कूचो मे चक्कर क्यो लगाते फिरेंगे ? जगह-जगह भटक कर अलग क्यो जगायेंगे ? कथन का अभिप्राय यही है कि जब सहजरूप से, गम्भीर पुरुपार्थ किए बिना ही साधु-मर्यादा मे इच्छित वस्तु मिल जाती है तो व्यर्थ ही दूर नही जाने वाले है। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए इतना पुरुपार्थ करना पडे कि सारा जीवन ही उसके लिए खर्च कर देना आवश्यक हो, किन्तु वही चीज जब बिना पुरुषार्थ के ही प्राप्त हो जाए तो किसे पागल कुत्ते ने काटा है जो उसके लिए दूर-दूर भटकता फिरे, कठिनाइयाँ झेलता रहे और साधना की मुसीबतें उठाए ?

इस मानव-स्वभाव के अनुसार जब से हमने पवित्रता का सम्बन्ध जन्म के साथ जोड दिया, तभी स मानवीय सद्गुणो की ऊँचाई प्राप्त करने के सभी प्रयत्नो मे शिथिलता आ गई। वही से जनता का नैतिक पतन आरम्भ हुआ। तभी से मनुष्य इतना गिरा कि ऊँचा उठ ही नही सका।

गणिका

वैदिक धम मे एक कहानी आती है। एक वेश्या थी, जिसकी कोई जाति-पाँत नही होती। वह ससार की उलझनो मे उलझी हुई थी। उसने एक तोता खरीद लिया और उसे 'राम-राम' रटाना शुरू किया। केवल इसलिए कि आने वालो का मनोरजन हो। इस सम्बन्ध मे पुराणकार कहते हैं—जब वह वेश्या मरी तो यम के दूत भी उसे लेने आए और विष्णु के दूत भी। यम के दूत तो नरक का यह परवाना ले कर आए थे कि इसने दुनियाभर के पाप किए हैं और अपनी तथा दूसरो की तरुणाई को नरक की नाली मे डाला है, इस कारण इसे नरक मे ले जाना है।

परन्तु विष्णु के दूत उसे स्वर्ग मे ले जाने का परवाना ले कर आये थे। वे उसे

---

१ "अर्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं पर्वत व्रजेत् ?"

स्वर्ग मे इसलिए ले जाना चाहते थे कि वह प्रभु की भक्त है। वह तोते को 'राम-राम' रटाती रही है, अत उसकी सीट स्वर्ग मे रिजर्व हो चुकी है।

इस प्रश्न को ले कर दोनो तरफ के दूतो मे सघर्ष हो गया। यम के दूतो ने कहा—'तुम करते क्या हो ? पागल तो नही हो गए ? अरे यह तो वेश्या है, दुराचारिणी है ! भला, इसको स्वर्ग मे कौन बुला सकता है ?'

विष्णु के दूत कहने लगे—'इस वेश्या ने जो अनगिनत 'राम-राम' बोला है; क्या वह सब व्यर्थ ही जाएगा ? राम के भक्तो के लिए तो स्वर्ग मे स्थान निश्चित है, नरक कदापि नही। भगवान् विष्णु इसे स्वर्ग मे बुला रहे है।'

यमदूत बोले—'तुम बडे नादान मालूम होते हो ! इसने 'राम-राम' कहाँ जपा है ? यह तो सिर्फ तोते को ही रटाती रही है और वह भी इसलिए कि इसका अनैतिक व्यवसाय सफलता के साथ चलता रहे ! यदि तुम इतने सस्ते भाव मे आदमी को स्वर्ग मे ले जाओगे तो स्वर्ग को भी नरक बना डालोगे।'

आखिर, यम के दूतो और विष्णु के दूतो मे सघर्ष छिड गया। किन्तु विष्णु के दूत बलवान् थे, अत उन्होने यम-दूतो को भगा दिया और वेश्या को स्वर्ग मे ले गए। इस कथानक की पुष्टि मे कहा भी गया है—

"सुआ पढावत गणिका तारी।"

इसी तरह किसी तीर्थ मे पहुँचने मात्र से यदि स्वर्ग मिल जाए तो फिर कोई कर्त्तव्य क्यो करे ? मुह से भगवान् का जरा नाम ले लिया और स्वर्ग मे सीट रिजर्व हो गई ! बस, छुट्टी पाई, कैसा सीधा और सस्ता उपाय है। धर्म और स्वर्ग जब इतने सस्ते हो जाएँ, तब कौन उनके लिए बडा मूल्य चुकाए ? क्यो प्रबल पुरुषार्थ किया जाए ? साधना का सकट भी कौन झेले ?

मानव-समाज मे यह जो भ्रमपूर्ण धारणा फैली हुई है, उसी का यह परिणाम हुआ कि पवित्रता स्वय नीचे गिर गई और पवित्रता के स्थान पर मनुष्यो के हृदयो मे, अहकार, द्वेष, घृणा आदि विकार पैदा हो गए। इसके लिए भगवान् महावीर स्पष्ट शब्दो मे कहते है—"तुम जो सस्कृत-भाषा और प्राकृत-भाषा आदि के मनचाहे फब्बारे अपने मुख से छोड रहे हो और यह समझ भी रहे हो कि इनका पाठ कर लेने मात्र से ही मोक्ष मिल जाएगा, वस्तुत यह एक भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ नही है। सारे ससार की नाना प्रकार की विद्याएँ और भाषाएँ सीख लेने पर भी तुम्हारा परित्राण नही हो सकता। यदि तुम कल्याण चाहते हो और निर्वाण पाने की उत्कट अभिलाषा भी रखते हो तो तुम्हे सदाचरण करना पडेगा।[2] एक उदाहरण देखिए—

---

२ भणता अकरेन्ता य, बन्ध-मोक्ख-पइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पय॥
न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासण।
विसन्ना पाव-कम्मेहिं, बाला पडियमाणिणो॥ —उत्तराध्ययन ६, ६-१०।

कोई बीमार किसी वैद्य से एक नुस्खा लिखवा लाए, जिसमे उत्तम से उत्तम औषधियाँ लिखी हो और उसे सुबह-शाम पढ लिया करे, तो क्या उसकी बीमारी दूर हो जाएगी ? नही, नुस्खा पढ लेने मात्र से बीमारी दूर नही हो सकती। यदि कही ऐसा पाया जाए, तब तो यह भी माना जा सकता है कि शास्त्रो के पाठ रट लेने और उगल देने से ही पवित्रता प्राप्त हो जाती है, किन्तु ऐसा होना कभी सम्भव नही है, और न होगा ही। एक साधक ने कहा है—'जो भी शास्त्र मुझे पढना है, उसे मैं जीवन से पढूँगा, केवल जीभ से ही नही पढूँगा, भला, जिह्वा के उच्चारण मात्र से क्या होने वाला है ? आयुर्वेद की पुस्तको के रट लेने और चरक तथा सुश्रुत को सीख लेने मात्र से कोई नीरोग नही हुआ है।[3] हजार वर्ष तक रटते रहिए तब भी उससे साधारण-सा बुखार और जरा-सा सिर-दर्द भी दूर नही होगा, उल्टा शरीर गलता जाएगा और सडता जाएगा।

जैसे इस बात को हम सभी भली-भाँति समझते हैं कि आयुर्वेद को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से रोग दूर नही होता। यही बात ससार के धर्म-शास्त्रो के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिए। जितने भी धर्म-शास्त्र है, सब हमारी चिकित्सा करने के लिए ही है। जिस प्रकार आयुर्वेद से शरीर की चिकित्सा-विधि जानी जाती है, उसी प्रकार धर्म-शास्त्र से मन और आत्मा की चिकित्सा का ज्ञान होता है। हमारे भीतर जमी हुई वासना और विकार ही मन और आत्मा की बीमारी हैं। किसी को क्रोध की, किसी को मान की, किसी को माया की, और किसी को लोभ की विभिन्न बीमारियाँ सता रही हैं। किसी भी धर्म-शास्त्र को ले लीजिए, उसमे इन सभी बीमारियो की चिकित्सा का समुचित विधान है, परन्तु उन शास्त्रो को पढ लेने मात्र से कुछ भी हाथ लगने वाला नही है। शास्त्रो को व्यावहारिक जीवन मे उतारने से ही लाभ हो सकता है। हरिश्चन्द्र की कहानी पढ़ने या सुनने मात्र से सत्यवादी नही बना जा सकता, किन्तु हरिश्चन्द्र के सत्याचरण का अनुसरण करने से ही सत्यवादी बन सकेंगे।

आपने सुदर्शन की कथा तो सुनी होगी ? भला, उसने अपने जीवन की पवित्रता के लिए क्या नही किया ? सती सीता और सती मदनरेखा ने कितनी आपत्तियाँ सहन की ? फिर भी वे सही रास्ते को पकडे रहे और उसी रास्ते पर दृढता के साथ कदम बढाते गए ! इसीलिए वे इतिहास के पृष्ठो मे आज भी अमर है।

अभिप्राय यह है कि जीवन की उच्चता और पवित्रता की मजिल पर जो भी पहुच चुके है और जिनकी स्तुति तथा आराधना करके हम अपने आपको आज भाग्य-शाली समझते है वे केवल पुरुषार्थ के द्वारा ही महान् बने थे। बडी-बडी साधनाओ के

---

३ कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत् ?
चिकित्सापाठमात्रेण, न हि रोग शम व्रजेत् ॥

—बोधिचर्यावतार

बल पर ही उन्होने सफलता पाई थी। वे अहिंसा और सत्य के आदर्श आचरण के द्वारा ही महत्ता, गुरुता, उच्चता और पवित्रता को प्राप्त कर सके थे। जन्म से किसी को पवित्रता और उच्चता प्राप्त नही हुई, और हो भी कैसे सकती है ? साधना के सिवाय महत्ता प्राप्त करने का और कोई मार्ग नही है।

जो लोग अमुक कुल मे जन्म लेने मात्र से पवित्रता-प्राप्ति के भ्रम मे हैं, वे अपने आपको और दूसरो को भी धोखे मे रखते है। जो धन को ही उच्चता प्राप्त करने का साधन मानते हैं, वे भी गलत मार्ग पर चल रहे है। इन गलत विचारो का नतीजा यह हुआ है कि समाज से उच्च चारित्र का प्राय लोप-सा हो गया है और जन-जीवन मे सदाचार और सत्य के चिन्ह भी धूमिल हो गए है। आज एक ही व्यापक मनोवृत्ति सर्वत्र दिखाई दे रही है और वह यह कि—यदि बडा बनना है तो खूब धन कमाओ, तिजोरियाँ और तहखाने भरो ! जो जितनी बडी धनराशि का स्वामी होगा, उतना ही बडा माना जायेगा !! इस तरह परमात्मा की उपासना का तो केवल नाम रह गया है और सर्वत्र धन की उपासना होने लगी है, चाहे न्याय से मिले या अन्याय से, किसी की जेब काटने से मिले या गला घोटने मे, बस, धन मिलना चाहिए। यदि धन मिल गया तो बडप्पन मिल गया, समाज मे और बिरादरी मे सम्मान बढ गया और ऊँचा आसन भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार धन ने आज भगवान् का आसन छीन लिया है और पूँजी ने प्रभु का रूप धारण कर लिया है। वस्तुत भगवान् का नाम ले कर लोग धन की ही उपासना मे लीन हो रहे है।

उच्चता को नापने का आधार धन

समाज मे जो गुरुकुल, विद्यापीठ, विद्यालय या विश्वविद्यालय चल रहे है, उनका मुख्य उद्देश्य विद्या-प्रसार के द्वारा अविद्या का उन्मूलन करना है, जिससे कि मानव-समाज सभी प्रकार के दुराचारजन्य सामाजिक अपवादो से सर्वथा मुक्त हो कर मनुष्यत्व की अभिवृद्धि, व्यक्तित्व का विकास तथा चारित्र का निर्माण कर सके। सत्-शिक्षा के द्वारा जब मनुष्य तथाकथित सद्गुणो का समुचित सग्रह कर लेता है, तब उसकी अन्त प्रेरणा धार्मिक अनुष्ठान की ओर स्वत प्रेरित हो जाती है। परन्तु उनके प्रबन्ध-अधिकारी भी धन की पूजा से ऊँचे नही उठ पाते। जब कभी इन शिक्षा-सस्थाओ मे कोई उत्सव या समारोह होता है तो सर्वप्रथम पूंजीपतियो की तरफ ही अधिकारी वर्ग की याचक-दृष्टि दौडती है। सभापति बनाने मे शिक्षा-ज्ञान को कोई मापदण्ड नही बनाता। यह जानने की कोई परवाह भी नही करता कि वह जनता को क्या देने चला है या सिर्फ धन की ही आग ले कर खडा है ! आज बडप्पन के नाप-तौल का एकमात्र मापक धन रह गया है। जिसके पास ज्यादा धन है, वही ज्यादा बडा है। हजार बार प्रयत्न करके शिक्षा-सस्थाओ के अधिकारी उसी धनिक के पास जाएँगे, उसे ही सभापति बनाएँगे। उसके आचरण के सम्बन्ध मे कुछ मालूम भी नहीं करेंगे और यहाँ तक कि उसके सम्पूर्ण दुराचरणो पर पर्दा डाल देंगे, उसके समस्त दुर्गुणो को प्रशसा के फूलो के ढेर से ढँक देने की भरसक कोशिश करेगे।

परन्तु दुर्गुणो की दुर्गन्ध क्या कभी प्रशसा के फूलो की सुगन्ध से पवित्र हो सकती है ? ऐसा सोचना भी जड-बुद्धि का परिचायक है। गहराई से विचार करना चाहिए कि एक जगह मैला पडा है। किसी ने उसे फूलो से ढंक दिया है। थोडी-सी देर के लिए दुर्गन्ध भले ही छिप गई है, किन्तु आखिर तक वह छिपी नही रहेगी और वह गन्दगी फूलो को भी गन्दा करके ही रहेगी। सदाचार-विहीन व्यक्ति के विषय मे भी यही बात है। फिर जो व्यक्ति दुराचारी ही है, उसे केवल धन की बदौलत सम्मान दे कर और उसके अभिनन्दन म मानपत्र भेट करके आप भले ही सातवे आसमान पर चढा दे, किन्तु इससे वह अपनी या समाज की भलाई नही कर सकेगा। वह उस सम्मान को पा कर अपने दुर्गुणो के प्रति अरुचि और असन्तोष अनुभव नही करेगा, अपने दोषो को घृणा की दृष्टि से नही देखेगा उनके परित्याग के लिये भी तत्पर नही होगा, अपितु अपने दोषो के प्रति उत्तरोत्तर सहनशील ही बनता जाएगा। इस प्रकार यदि उसके दोषो को और आचरणहीनता को प्रकारान्तर से प्रतिष्ठा मिलेगी तो समाज मे वे दोष घर कर जाएँगे।

कथन का आशय यही है कि आज समाज मे व्यक्तित्व को नापने का मापक 'पैसा' बन गया है। जिसके पास जितना अधिक 'पैसा' है, वह उतना ही बडा आदमी है। साधारण आदमी, जिसके पास पैसा नही है, किन्तु जीवन की अपेक्षित पवित्रता है, अच्छे विचार हैं और विवेक-बुद्धि है, क्या उसे कभी कुर्सी पर बैठे देखा है ? सभापति बनते देखा है ? समाज मे आदर पाते देखा है ? यह बात रहस्यपूर्ण इसलिए है कि समाज मे 'धन' की कसौटी पर ही बडप्पन को परखा जाता है और सदाचारी निर्धन की कोई पूछ नही होती।

मैने तो अनेक बार देखा है और आए दिन इस तरह की अशोभनीय घटनाएँ हर कोई भी देख सकता है। एक व्यक्ति के घर मे सुन्दर और सुलक्षणी पत्नी मौजूद है, सारी व्यवस्था है और गृहस्थी की गाडी भी ठीक-ठीक चल रही है, किन्तु उसने किसी तरह पैसा कमा लिया तो तुरन्त दूसरा विवाह कर लिया। समाज मे कुछ हल-चल हुई तो किसी सभा या समिति को दस-बीस हजार रुपया फेंक कर सभापति बन गए। बस, सारी काली करतूतो पर कलदार (धन) की सफेद कलई पुत गई और समस्त दुर्गुण छिप गए। समाज के वायुमण्डल मे जितनी हवाएँ उसके प्रतिकूल चल रही थी, सब अनुकूल दिशा मे बहने लगी और उसे वही पहले-सा आदर-सम्मान मिलने लगा। उसकी पहली पत्नी अपनी आज की दशा पर कोने मे बैठी किस तरह आँसू पोछ रही है और उसकी क्या व्यवस्था चल रही है ? उधर दूसरी पत्नी क्या-क्या गुल खिला रही है ? इन सब बातो को अब कोई नहीं पूछता।

हाँ तो, अभिप्राय यही है कि आज मनुष्य के सामने उच्चता को नापने का मापक केवल धन रह गया है। जिसने धन कमा लिया, वही श्रेष्ठ बन गया। धन यदि न्याय से प्राप्त किया जा सकता है तो अन्याय से भी प्राप्त किया जाता है। पर, क्या

सद्‌बुद्धि और सदाचार भी कभी अन्याय से प्राप्त किये जा सकते हैं ? इन्हें प्राप्त करने का एक ही मार्ग है और वह है कांटो का मार्ग। जो अपने जीवन को जितना-जितना कठिन मार्ग पर बढ़ाता जाएगा वह उतना ही ऊँचा उठता जाएगा। सत्य और सदाचार की राह पर जाने वालो को शूली की सेज मिलेगी और उन्हे अपना सारा जीवन कांटो का मार्ग तय करने मे ही गुजारना पडेगा।

आमतौर से जब कोई अपरिचित व्यक्ति सामने आता है तो यह प्रश्न किया जाता है—कौन है आप ? वह शीघ्र ही उत्तर देता है—ब्राह्मण हूँ, या क्षत्रिय हूँ, या वैश्य हूँ, या अग्रवाल अथवा ओसवाल हूँ। परन्तु यह ब्राह्मणपन आदि क्या किसी की आत्मा के साथ अनादिकाल से चला आ रहा है ? क्या यह क्रम अनन्त-काल तक इसी तरह चलता जाएगा ? जब मोक्ष प्राप्त होगा, तो जाति की इन गठरियो को क्या वहाँ भी सिर पर लादे हुए लेता जाएगा ?

जाति की निस्सारता

यद्यपि वैदिक धर्म जाति-पाति का प्रमुख समर्थक समझा जाता है, पर वहाँ भी ऐसे उदात्त विचार प्रचुरमात्रा मे मिलते है, जिनमे जाति या वर्ण की निस्सारता प्रकट की गई है। गुरु और शिष्य का एक छोटा-सा सवाद इस प्रकार आता है—

ससार-सागर से पार जाने की इच्छा रखने वाला कोई मुमुक्ष शिष्य किसी गुरु के पास जाता है। गुरु उससे पूछते है–'सौम्य, तुम कौन हो ? और क्या चाहते हो ?'

शिष्य—'मैं ब्राह्मण का पुत्र हूँ। अमुक वश मे मेरा जन्म हुआ है। मैं ससार-सागर से तिरना चाहता हूँ।'

गुरु—'वत्स, तुम्हारा शरीर तो यही भस्म हो जाएगा, फिर ससार-सागर मे किस प्रकार तिरोगे ? नदी के इसी किनारे पर जो भस्मीभूत हो गया हो, फिर वह तिर कर उस किनारे पर कैसे पहुँच सकता है ?'

गुरु के इस प्रकार कहने पर शिष्य का ध्यान आत्मा की ओर उन्मुख हुआ। उसने कहा—'देव, मैं अलग हूँ और शरीर अलग है। मृत्यु आने पर शरीर ही भस्म होता है, मैं अर्थात्—आत्मा नही, क्योकि वह तो नित्य है। वह भस्म नही होगा। केवल शरीर ही जन्म धारण करता है, मरता है और वह मिट्टी भी बन जाता है। शस्त्र उसे छेद सकते है, अग्नि उसे जला सकती है, पर आत्मा तो सनातन है। जिस प्रकार पक्षी घोसले मे रहता है, उसी प्रकार मैं (आत्मा) भी इस शरीर मे रहता हूँ। जैसे पक्षी एक घोसला छोडकर दूसरे घोसले मे रहने लगता है, मैं भी एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे प्रवेश करता हूँ। केवल शरीर ही आते और जाते रहते है, किन्तु मैं (आत्मा) ज्यो का त्यो अविचल रहता हूँ।'

इस प्रकार शिष्य ने जब शरीर और आत्मा का स्पष्ट भेद समझ लिया तो गुरु कहते है—'वत्स, तुम ठीक कहते हो। तुम शरीर नही, वस्तुत आत्मा हो। तुम घोसला

नही, वास्तव मे पक्षी हो। फिर तुमने पहले मिथ्या भाषण क्यो किया था कि मैं ब्राह्मण हूँ और अमुक वश मे मेरा जन्म हुआ है ?'

अन्त मे, शिष्य भलीभाति समझ जाता है कि—'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह विचार गलत है और जब तक जाति का अभिमान बना रहेगा, तब तक आत्मा संसार-सागर से नही तिर सकती।

जाति-कुल का मद त्याज्य है

जैनपरम्परा मे भी जाति और कुल के मद को त्याज्य बतलाया गया है और जब तक इनका मद दूर नही होता, तब तक साधक की दृष्टि सम्यक नहीं हो सकती। परन्तु इस तथ्य को साधारण जनता कब समझती है ?

अनेकान्तवाद की मजाक

कहा जा सकता है कि जैनधर्म अनेकान्तवादी धर्म है। वह जाँत-पात को भी मोक्ष का कारण मान सकता है। पर ऐसा कहना अनेकान्त की मजाक बनाना है। क्या अनेकान्तवाद यह भी सिद्ध कर देगा कि आदमी के सिर पर सीग होते भी है और नही भी होते हैं ? यदि कोई कहे कि सीग नही होते तो क्या वह एकान्तवादी बताया जाएगा। कोई यह प्रश्न करे कि साधु के लिए व्यभिचार करना अच्छा है या बुरा है तो क्या यहाँ भी अनेकान्तवाद का आश्रय ले कर ऐसा कहा जा सकता है कि व्यभिचार करना अच्छा भी है और बुरा भी है ? यदि कोई साधु पैसा रखता है और कोई कहता है कि यह गलत चीज है तो क्या वहाँ भी अनेकान्तवाद का प्रदर्शन होगा ?

वास्तव मे अनेकान्त का सिद्धान्त सच और झूठ को एक रूप मे स्वीकार कर लेना नही है। जिन महापुरुषो ने अनेकान्त की प्ररूपणा और प्रतिष्ठा की है, उनका आशय यह नही है। उन्होने अनेकान्तवाद को भी अनेकान्तवाद कह कर इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है कि हम 'सम्यक् अनेकान्त' को तो सहर्ष स्वीकार करते है, किन्तु मिथ्या 'अनेकान्त' को स्वीकार नही करते। इस प्रकार '**सम्यक् एकान्त**' को भी स्वीकार करते है, किन्तु 'मिथ्या एकान्त' को अस्वीकार करते हैं।[४]

प्रश्न हो सकता है कि यदि जैन-धर्म मे जाति और कुल का अपने आप मे कोई महत्त्व नही है, तो शास्त्र मे "जाइसपन्ने" और "कुलसपन्ने" पाठ क्यो आये हैं ? इस प्रश्न पर सूक्ष्मबुद्धि और विवेक शीलता के साथ विचार करना है।

जातिकुल-सम्पन्नता शुद्ध सस्कार व वातावरण से

"जाइसपन्ने" और "कुलसपन्ने" का अर्थ यह है कि सस्कार और वातावरण से

---

४ "अनेकान्तोऽप्यनेकान्त प्रमाणनय-साधन ।
अनेकान्त प्रमाणात् ते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।।"

—आचार्य समन्तभद्र

कोई 'जातिसपन्न' और 'कुलसपन्न' हो सकता है। कोई जाति ऐसी होती है, जिसका वातावरण प्रारम्भ से ही ऐसा बना रहता है कि उस जाति मे उत्पन्न होने वाला व्यक्ति माँस नही खाता और मदिरा-पान नही करता। ऐसी जाति मे यदि कोई प्रगति तथा विकास करना चाहता है तो वह जल्दी आगे बढ सकता है, क्योकि उसे प्राथमिक तैयारी के उपयोगी साधन अपने समाज के वातावरण मे ही मिल जाते है। फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसे व्यक्ति का वह महत्त्व माँस न खाने और मदिरा न पीने के ही कारण है, उस जाति मे जन्म लेने से नही। कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते है, जो मास-मदिरा का सेवन न करने वाली जाति मे जन्म ले कर भी सगति-दोष से माँस-मदिरा का सेवन करने लगते है। उनके लिए जाति का प्रश्न कोई महत्त्व नही रखता है।

यह समझना निरी भूल है कि केवल वातावरण के द्वारा ब्राह्मण का लडका बिना पढे ही सस्कृत का ज्ञाता बन सकता है। हजारो ब्राह्मण ऐसे भी है जो पथ-भ्रष्ट हो कर दर-दर भटक रहे है और प्रथमश्रेणी के वज्र-मूर्ख है। उनमे शूद्र के बराबर भी सस्कृति, सदाचार और ज्ञान नही है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जातिगत वातावरण या सस्कार एक सीमा तक ही व्यक्ति के विकास मे सहायक होते है, सर्वाङ्ग विकास इनसे नही होता।

बहुतेरे ओसवाल, अग्रवाल और जन्म के जैन अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण गाँव के गाँव दूसरे धर्मो के अनुयायी हो गए। जब हम वहाँ पहुचे तो मालूम हुआ कि तीस-तीस वर्ष हो गए, और जैन-धर्म का कोई उपदेशक वहाँ पहुँचा ही नही। उन्हे जैसा वातावरण मिला, विवश हो कर वे वैसे ही बन गए। जब उनमे भी जाति के सस्कार आ रहे थे, फिर वे कहाँ भाग गए ? वास्तव मे उन्हे जातीय सस्कार तो मिले थे, किन्तु अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण वे पथ-भ्रष्ट होने के लिए विवश हुए।

इसके विपरीत मनुष्य का जन्म किसी भी जाति मे क्यो न हुआ हो, यदि वातावरण अनुकूल मिल जाए तो मनुष्य प्रगति कर लेता है। इस प्रकार जाति को कोई महत्त्व नही दिया जा सकता है, क्योकि हड्डी, माँस और रक्त मे कोई फर्क नही है। वह तो प्रत्येक जाति मे एक समान ही होता है।

जैन-धर्म के अनुसार दया, अहिंसा या कोई दूसरे पवित्र गुण हड्डियो मे रहते है या आत्मा मे ? और एक जाति मे जन्म लेने वाली सभी आत्माएँ यदि एक-से सद्-गुणो से सम्पन्न है तो उनमे विभिन्नता क्यो दिखाई देती है ? पवित्र जाति मे जन्म लेने वाली सब आत्माएँ पवित्र क्यो नही होती ? जाति-भेद के कारण जिसे अपवित्र कहा जाता है, उस जाति मे जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपवित्र क्यो नही होते ? महात्मा हरिकेशी जाति से चाण्डाल थे, उन्हे अपने माता-पिता से कौन-से उच्च सस्कार मिले थे ? क्या वे हड्डियों मे पवित्रता ले कर जन्मे थे ? नही, उनके जीवन का मोड चिन्तन, मनन और सुन्दर वातावरण से हुआ, जन्मगत जातीय सस्कारो से नही। वास्तव मे मनुष्य वातावरण से बनता है और वातावरण से ही बिगडता भी है। मनुष्य के उत्थान

और पतन के लिए यदि किसी को महत्त्व दिया जा सकता है तो वह 'वातावरण' ही है। जातिगत जन्म के आधार पर पवित्रता या अपवित्रता मानना बहुत बड़ी भूल है।

जैन-धर्म की परम्परा मे देखा जाता है कि शूद्र भी साधु बन सकता है और वह आगे का ऊँचा से ऊँचा रास्ता तय कर सकता है। सैकड़ो शूद्रो को मोक्ष प्राप्त होने की कथाएँ आज भी मौजूद है। कथन का अभिप्राय यह है कि हजारो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य साधु बन कर भी जीवन की पवित्रता कायम नहीं रख सके, फलत वे पथ-भ्रष्ट हो गए, तो फिर 'जाइसपन्ने' होने से ही क्या लाभ हुआ? इसके विपरीत हरिकेशी और मेतार्य जैसे शूद्र पवित्र एव अनुकूल वातावरण मे आ कर यदि जीवन की पवित्रता प्राप्त कर सके और मुक्ति के अधिकारी भी बन सके तो 'जाइ-सपन्ने' न होने पर भी कौन-सी कमी उनमे रह गई? प्रश्न होता है कि जैन-धर्म किस को वन्दनीय और पूजनीय मानता है?

जाति-कुल से सम्पन्नता का रहस्य

'जाइसपन्ने' और 'कुलसपन्ने' पदो मे जाति और कुल का अर्थ यह नही है, जिसे आजकल सर्वसाधारण लोग जाति और कुल के रूप मे समझते है। ओसवाल या अग्रवाल आदि टुकड़े शास्त्र मे जाति नही कहलाते। शास्त्र मे जाति का अर्थ है— 'मातृ-पक्ष' और कुल का अर्थ है – 'पितृ पक्ष'।[५]

जिस माता के यहाँ सुन्दर वातावरण होता है, उसके बालक का निर्माण सुन्दर होता है। जिस प्रकार माता के उठने-बैठने, खाने-पीने और बोलने आदि प्रत्येक कार्य का बच्चे पर अवश्य ही असर पड़ता है, इसी प्रकार कुल अर्थात्—पितृ-पक्ष का वाता-वरण भी अच्छा होना चाहिए। जिस बालक के मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष का वातावरण ऊँचा, पवित्र और उत्तम होता है, वह बालक अनायास ही अनेक दुर्गुणो से बच कर सद्गुणी बन सकता है।

हालाँकि एकान्तरूप से यह नही कहा जा सकता कि ऐसा बालक सद्गुणी ही होगा। कई जगह अपवाद भी पाए जाते है। फिर भी आमतौर पर यह होता है कि जिस बालक के माता और पिता का पक्ष सुन्दर, सदाचारमय वातावरण से युक्त होता है और जिसे दोनो तरफ से अच्छे विचार मिलते है, वह जल्दी प्रगति कर सकता है और वही 'जातिसम्पन्न' तथा 'कुलसम्पन्न' कहलाता है।

इसके लिए ऐसा कोई सुनिश्चित नियम नही है कि जिसकी जाति, अर्थात्– मातृ-पक्ष (अर्थात्—ननिहाल) उत्तम वातावरण वाला है, उसका व्यक्तित्व उत्तम ही होगा, और जिसका मातृ-पक्ष गिरा हुआ होगा, उसका व्यक्तित्व भी गिरा हुआ ही होगा। किसी बालक और युवा पुरुष का व्यक्तित्व इतना प्रबल और प्रभावशाली होता है कि उस पर मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष का कोई प्रभाव नही पड सकता। वह स्वय ही अच्छे या बुरे वातावरण का निर्माण कर लेता है। इस प्रकार कभी-कभी उल्टे पासे

५ "जातिर्मातृपक्ष, कुल पितृपक्ष ।।

भी पड जाते है। बहुतेरे ऐसे व्यक्ति भी होते है कि उनके लिए चाहे कैसा ही वातावरण तैयार किया जाए, वे उसमे आते ही नहीं, अपितु सदैव उसके प्रतिकूल ही चलते है।

हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को बदलने के लिए भरसक प्रयत्न किये थे। उसने सोचा था कि जैसा नास्तिक और राक्षस मैं हूँ, प्रह्लाद को भी वैसा ही बना लूं। इसे ईश्वर का नाम सुनने को भी न मिले। इसके लिए हिरण्यकश्यप ने कितना अथक प्रयत्न किया ? किन्तु प्रह्लाद ऐसे प्रगाढ सस्कार ले कर आया था कि वह बदल नही सका, उसकी ईश्वर-भक्ति मे कोई दखल नही दे सका और वह अपनी दिशा की ओर निरन्तर बढता ही गया। इस प्रकार प्रह्लाद उस दैत्य के कुल मे भी देवता के रूप मे आया था। उग्रसेन के यहाँ कस का जन्म लेना प्रह्लाद के सर्वथा विपरीत उदाहरण है। कस के समान और भी अनेक व्यक्ति ऐसे हुए है, जिनके माता-पिता के यहाँ का वातावरण बहुत उत्तम रहा, उत्तमता बनाए रखने के लिए अथक प्रयत्न भी किए गए, किन्तु फिर भी ऐसे बालको ने जन्म लिया कि उन्होने अपने आचरण से सब को अपवित्र बना दिया और अपनी जाति और कुल के उज्ज्वल मस्तक पर कालिमा पोत दी।

अस्तु, अभिप्राय यही है कि मातृ-पक्ष (ननिहाल) और कुल (पितृ-पक्ष) का वातावरण यदि पवित्र है तो व्यक्ति जल्दी प्रगति कर सकता है। यही 'जातिसम्पन्न' और 'कुलसम्पन्न' का रहस्य है।

शास्त्र मे जीवो का वर्गीकरण करने के लिए भी 'जाति' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसके अनुसार शास्त्रकारो ने ससार के समस्त जीवो को पाँच जातियो मे विभक्त किया है। वे जातियाँ है—एकेन्द्रिय-जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और पचेन्द्रिय-जाति। शास्त्र के इस वर्गीकरण के हिसाब से प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र हो, एक ही पचेन्द्रिय-जाति मे आता है।

इस प्रकार जब शास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया जाता है तो मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेदभाव नही रह जाता। फिर भी कुछ लोगो ने एक वर्ग को जन्म से ही पवित्र और श्रेष्ठ समझ लिया है, चाहे उसका आचरण कितना ही निम्न स्तर का क्यो न हो ! दूसरे वर्ग को जन्म से ही अपवित्र और नीच मान लिया गया है, चाहे उसका आचरण कितना ही उत्तम क्यो न रहा हो। इस प्रकार जो वाछनीय उच्चता सदाचार म रहनी चाहिए थी, उसे जाति वा वर्ण मे कैद कर दिया गया है। वस्तुत यही सामाजिक हिसा है। इस प्रकार की सामाजिक हिंसा व्यक्ति से किसी भी अश मे कम भयानक नही है। आज भी अधिकाश लोग इस हिंसा के शिकार देखे जाते है। हिंसा के स्वरूप का विचार करते समय इस सामाजिक हिंसा को भूल नही जाना चाहिए। अन्यथा, यह भयकर हिंसा साधक जीवन को खोखला कर देगी और अहिंसा के पालन का भ्रम रहेगा, अहिंसा के नाम पर वहाँ आन्तरिक (सकल्पी) हिंसा हो जायगी।

□

पवित्रता से सामाजिक अहिंसा की प्रतिष्ठा | २२

जब कभी हम अपने जीवन के अन्तरग मे पहुँचते है और अपने जीवन के मर्म को छूने की चेष्टा करते है तो प्रतीत हुए बिना नही रहता कि जीवन की पगडडियाँ भिन्न-भिन्न नही है । सब की एक ही राह है और वह है—जीवन की पवित्रता । बाहर मे भले ही हम अलग-अलग रूप मे चलते है और अलग-अलग रूप मे अपनी मजिल भी तय कर रहे है—सम्प्रदाय के रूप मे, धर्म, मत, पथ और जातियो के रूप मे बाहर की राहे बहुत-सी हैं, किन्तु, जीवन के अन्दर की राह तो एक ही है ।

पवित्रता की राह

जीवन की पवित्रता के पथ पर जो पथिक हैं, वे अपना उत्थान करते है । जो इस राह के राही नही है, वे बाहर मे चाहे जैसा जीवन बिताएँ, अन्तरग मे यदि पवित्रता की भावना नही है, तो जीवन-विकास की सही दिशा मे दृढता के साथ कदम नही बढा सकते ।

वस्तुत अहिसा ही पवित्रता की सबसे बडी एव सुनिश्चित पगडडी है । हमे जो मनुष्य-जीवन मिला है वह सुगमता से नही मिला है, अपितु पूर्व-जन्म के सचित पुण्य-कर्मों तथा कठिन साधना के प्रतिफल मे मिला है । अत इसकी सार्थकता के लिए उस पर विचार करना जरूरी है कि इसकी उपयोगिता तथा उद्देश्य क्या है ? हमे इस जीवन का उपयोग ससार के कल्याण के लिए करना है, जनता के दु ख-दर्द को कम करने के लिए करना है, अपने जीवन को सद्गुणो की सुगन्ध से पूर्ण कर दुनिया मे फैली सामाजिक कुरीतियो की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए करना है, अथवा हमे इस नर-जन्म के द्वारा ससार की प्रगति मे रोड़े अटकाना है और समाज की कठिनाइयो मे अपनी ओर से एक नई बढा कर कठिनाइयो के जाल को सुदृढ करना है ?

कांटे चुन कर अलग करो

इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर का एक ही सुनिश्चित मार्ग है जिसके लिए उन्होने कहा है—"तुमने जो जीवन पाया है उसका उपयोग प्राणि-ससार की अन्तरग और बाह्य, दोनो ही तरह की समस्याओ को सुलझाने के लिए करो । यदि समस्याएँ पारिवारिक भूलो से पैदा हुई है तो उन भूलो की खोज करो । यदि वे समाज की भूले है तो उन्हे भी ठीक करो । इसी प्रकार से तुम्हारे देश मे या आस-पास के संसार

मे जो भूलें या गलतियाँ हो गई हो और जिनके कारण मानव-जीवन मे काँटे पैदा हो गए हो, उनको भी एक-एक करके चुनना और जीवन-मार्ग से अलग करना है। जीवन-मार्ग को स्वय अपने लिए और दूसरो के लिए भी साफ एव सुदृढ बनाना ही मनुष्य जीवन का मूल ध्येय है।"

इस प्रकार अहिंसा अपनी महती उपयोगिता के अनुसार फूलो की राह है, काँटो की नही। कहने को तो हमे कठिनाई मालूम होती है और जब-जब हम अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते है और चलते है तो ऐसा मालूम होता है कि यह जीवन की सहज सुखद राह नही है। किन्तु यह निश्चित सा है कि जीवन यदि चलेगा तो अहिंसा के मार्ग पर ही चलेगा। हिंसा के द्वारा जीवन मे कठिनाइयाँ ही बढ़ती है, उसके द्वारा किसी कठिनाई को किसी भी अश म हल कर सकना बिलकुल सम्भव नही है।

जैन-धर्म का सन्देश

जैन-धर्म ससार को एक सन्देश देने के लिए आया है कि—'जितने भी मनुष्य है, वे चाहे ससार के एक छोर से दूसरे छोर तक कही भी क्यो न फैले हो, सब मनुष्य के रूप मे एक है। उनकी जाति और वर्ग मूलत अलग-अलग नही है। उनका अलग-अलग कोई समूह नही है। विभिन्न जातियो के रूप मे जो समूह आज बन गए है, वे सब विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धो को ले कर ही बने है। आखिर, मनुष्य को जिन्दगी गुजारनी है, तो उसे पेट भरने के लिए कोई न कोई उपयोगी धन्धा करना ही पडता है। कोई कपडे का व्यापार करता है, कोई अन्न का व्यापार करता है, कोई दफ्तर जाता है और कोई कुछ और कर लेता है। यह तो जीवन की सामान्य समस्याओ को को हल करने के सामान्य तरीके है। किन्तु इन तरीको के विषय मे मनुष्य ने जो पवित्रता और अपवित्रता के भाव बना लिए है कि—अमुक जाति पवित्र है और अमुक जाति अपवित्र है, यह कैसी अभद्रता है? इस सम्बन्ध मे तो ऐसा कहा जा सकता है कि यह कोरा मिथ्या अहकार है, और कुछ भी नही है।

वृत्तियाँ

मनुष्य के जीवन मे अपने आपको श्रेष्ठ और उँचा समझने की एक वृत्ति है, और वह वृत्ति छोटे से छोटे मे, प्रत्येक नौजवान मे और बूढे मे भी एक-सी देखी जाती है, जिसके कारण जहाँ कही वह अपने अभिमान को चोट खाते देखता है, वहीं वह सही मार्ग से विचलित हो जाता है और आपे मे नही रह पाता। किन्तु भारतवर्ष मे कुछ लोगो मे एक बात और पाई जाती है। वे अपने आपको तुच्छ और दीन-हीन समझने की ही मनोवृत्ति से घिरे रहते है। वे अपने मे दुनियाभर के पाप और बुराइयाँ समझ कर चलते है। इसी भावना का यह दुखद परिणाम है कि ऐसे लोग जब चलते है, तब रोते और गिडगिडाते हुए दिखाई देते है। उनमे आत्म-विश्वास नही होता। आत्मा की आध्यात्मिक शक्ति के प्रति उनके मन मे दृढ आस्था का

अभाव रहता है। फलत मानव की यह हीन वृत्ति अभीष्ट लक्ष्य की ओर दृढता से कदम बढाने मे सदैव बाधक होती है।

अहम्

मनुष्य के भीतर जो 'अहम्' है अथवा 'मैं' है, वह स्वय आत्मा है। आप 'अहम्' को अलग नही कर सकते, 'मै' को त्याग नही सकते 'अहम्' को त्याग करने का विचार करने वाला तो आत्मा है, और आत्मा भला आत्मा का त्याग कैसे कर सकता है? त्याग करने वाला और जिसे त्याग करना है, अर्थात्—त्यागी और त्याज्य वहाँ दोनो एक ही है। अतएव अपने 'अहम्' को त्यागना न तो शक्य है, और न वाँछनीय ही है। अपने आपको उत्कृष्ट समझने की बुद्धि शुद्धरूप मे यदि आपके अन्दर उत्पन्न हो जाएगी, तो वह आपके जीवन मे अनेक अच्छाइयो का स्रोत बहा देगी। किन्तु जब वही 'अहम्' विकृत और दूषित रूप मे आपके अन्दर उदित होता है तो आपको गिरा देता है। अपने आपको श्रेष्ठ समझने के कारण जब अपनी उच्चता का प्रदर्शन करने के लिए दूसरो को नीचा समझने की वृत्ति अन्त करण मे उत्पन्न हो जाती है और तदनुसार दूसरो को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, और फलत उनको अपवित्र भी मान लिया जाता है, तो समझना चाहिए कि 'अहम्' शुद्ध रूप मे नही जगा है। वह पूर्णत विकृत और दूषित हो गया है। वह जीवन को ऊचा नही उठाएगा और पवित्र भी नही बनाएगा।

जब कोई दूसरो को नीचा समझ कर ही अपनी उच्चता मान लेता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसके अन्दर अपनी कोई उच्चता नही है और मनमानी उच्चता पर उसने अपने को सतुष्ट कर लिया है। बस, वही सतोष उसका प्रबल शत्रु है। वह अपने आपको आगे बढने से रोकता है और ऊँचा भी नही चढने देता। अत निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि उसके जीवन मे उच्चता और अपवित्रता यदि सचमुच आने वाली है तो वह दूसरो को नीच और अपवित्र समझने से कभी नही आएगी, बल्कि वह स्वय नीचे गिरता जाएगा और एक दिन अपने आप को अध पतन के गर्त मे पाएगा।

आत्म-विश्वास

जैन-धर्म मनुष्य के सामने सदैव यही सन्देश रखता आया है—"मनुष्य! तू अपने को पवित्र समझ और श्रेष्ठ मान! तू, ससार मे भूलने, भटकने के लिए नही आया है! तेरा जीवन रेंगने और रगड खाते चलने के लिए नही है। तू, ससार मे बहुत श्रेष्ठ बनकर आया है! अनन्त-अनन्त पुण्यो का सचय होने पर ही तूने मानव का रूप पाया है। तुझे मानव-जीवन की जो पवित्रता प्राप्त हुई है वह इतनी महान् और दिव्य है कि देवताओ की पवित्रता भी उसके सामने नगण्य है।"

अस्तु, जैन-धर्म ने आत्म-विश्वास का यह सदेश दे कर मनुष्य के अन्दर से तुच्छ दीन, हीन और अपने को कुछ भी न समझने की वृत्ति को निकालने का सफल प्रयत्न

किया है और उसके शुद्ध 'अहम्' को जगाया है। मानव-जीवन के चारो तरफ जैन-धर्म की एक ही आवाज गूंज रही है—

'आत्मा ही परमात्मा है और पवित्र आत्मा ही ईश्वर का साक्षात् रूप है।'[1]

आत्मा से परमात्मा

इस प्रकार जैन-धर्म ने मनुष्य को एक बहुत बडा आदर्श मन्त्र यह प्रदान किया है—"तू नीचे आने के लिए नही, अपितु ऊपर उठने के लिए है। तेरे भीतर असीम सम्भावनाएँ भरी है, असख्य ऊँचाइयाँ विद्यमान है और तू आत्मा से परमात्मा बनने के लिए है। तेरे अन्तरतर मे परमात्मा की दिव्य ज्योति जगमगा रही है। गलतियाँ करके तूने अपनी अन्तर्ज्योति पर धूल डाल रखी है। इसलिए वह दिव्यप्रकाश मन्द हो गया है। तेरा काम कोई नई चीज प्राप्त करना नही है। तुझे अपने अन्त पट के ऊपर जमी हुई धूल को ही अलग कर देना है, और ज्यो ही वह धूल अलग होगी, तुझे जो पाना है वह अपने अन्दर ही प्राप्त हो जाएगा। वह बाहर से नही मिलेगा। तुझे यदि भगवान् महावीर बनना है तो बन सकता है, और महात्मा बुद्ध, राम या कृष्ण जो भी बनना है वही बन सकता है। बस, अन्त पट पर जमी हुई धूल को विवेक के झाडन से झाड दे। निरालाजी ने भी कहा है कि मनुष्य अपने पास पडी हुई अमूल्य निधि पर ध्यान न दे कर नासमझ की तरह भटकता रहता है।'[2]

यह बात हमारे सामने प्राय निरन्तर आती रही है कि जैन-धर्म और भारतीय दर्शन ने मानव-जाति के समक्ष बहुत बडी पवित्रता का भाव उपस्थित किया है। मनुष्य अपने असली स्वरूप को भूल गया था और अपनी दिव्यज्योति को उसने भुला दिया था। जैन-धर्म ने पुकार कर कहा—'तू जीवन की राह का भूला हुआ राही है। सही पगडडी को पहचान ले और उस पर बढा चल, फिर तो तेरी मजिल दूर कहा है?'

राह—भूला राही

वस्तुत मनुष्य एक राह-भूला राही है। परन्तु उन भूलो की नीची तह मे अनन्त ज्योतिर्मय चेतना का जो पुञ्ज दबा पडा है, उससे यदाकदा पवित्रता की श्रेष्ठ और सुन्दर ध्वनि उठा करती है। दुर्भाग्य से मनुष्य उस आवाज को सुन कर भी गलत समझ लेता है। वह अपने पुरुषार्थ से और सत्प्रयत्नो से ऊँचा उठने की चेष्टा तो कम करता है, किन्तु दूसरो को नीच और उनकी तुलना मे अपने को उच्च समझने की उत्कट कामना करता है। इसी भूल ने जाति-पाँत की भावना को पैदा किया है। इसी भूल ने एक वर्ग को ऊँचा और दूसरे वग को नीचा समझने की भ्रामक प्रेरणा दी

---

१ 'अप्पा सो परमप्पा।'

२ "पास ही रे हीरे की खान,
खोजता उसे कहाँ नादान?" —निराला

है, दूसरो को नीचा समझ लेने से वास्तव मे वे नीचे नही हो जाते, अपितु नीचा समझने वाला ही नीचा बन जाता है, क्योंकि वह जीवन की वास्तविक उच्चता को प्राप्त करने का प्रयत्न नही करता। वह तो अपनी कल्पित ऊँचाई मे भूला रहता है। अतएव जिसे वास्तव मे ऊपर उठना है उसे अपनी यह भूल सुधार लेनी चाहिए। इसके बिना न तो कोई व्यक्ति श्रेष्ठत्व पा सकता है, और न समाज अथवा कोई देश ही उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।

जैन-धर्म कहता है कि मनुष्य-जाति अपने आप मे पवित्र है, फलत सभी मनुष्य पवित्र है। जो भूले है, गलतियाँ है, वे ही अपवित्र है। इसलिए वह दुराचारी से भी घृणा करना नही सिखाता। उसने बताया है कि चोर से घृणा मत करो, अपितु चोरी से घृणा करो। चोर तो आत्मा है और आत्मा कभी बुरा नही होता। जो तत्त्व तुम्हारे अन्दर है, वही चोर के अन्दर भी है। जो अच्छाइयाँ अपने मे मानते हो, वही चोर मे भी विद्यमान है। उसकी अच्छाइयाँ यदि चोरी के कारण छिप गई है, तो आप अपनी अच्छाइयो को घृणा और द्वेष से छिपाने का, दबाने का क्यो प्रयत्न करते हो? इसके द्वारा आपके अन्दर कोई पवित्रता आने वाली नही है। हाँ, यदि आप चोरी को बुरा समझेगे और चोर को घृणा की नही, किन्तु दया की दृष्टि से देखेंगे तो आप मे अवश्य ही पवित्रता जागृत हो उठेगी।

अच्छाई-बुराई का आधार व्यक्ति नहीं, कार्य

एक आदमी शराब पीता है। आपकी दृष्टि मे वह गिर जाता है, किन्तु कल शराब छोड देता है और सभ्यता एव शिष्टता के सही मार्ग पर आ जाता है, अपने जीवन को ठीक रूप से गुजारने लगता है तो वह अच्छाई की दृष्टि से देखा जाता है या नही? अवश्य ही, जब वह बुराई को छोड देता है तो ऊँची निगाह से देखा जाता है। वास्तव मे शराब बुरी चीज है, वह कभी अच्छी होने वाली नही है। चाहे वह ब्राह्मण के हाथ मे हो या शूद्र के हाथ मे, महल मे रखी हो या झोपडी मे, बुरी वस्तु, बुरी ही रहेगी। वह पवित्र बनने वाली नही है। किन्तु शराब पीना छोड कर आदमी पवित्र बन सकता है। चोर यदि चोरी करना छोड देता है तो पवित्र बन जाता है। इसी प्रकार दुराचारी भी दुराचार को त्याग कर पवित्र बन सकता है।

इस तरह जैन-धर्म ने बताया कि मनुष्य की घृणा व्यक्ति के गलत कार्यों पर हो, व्यक्ति पर नही। चोर ने चोरी करना छोड दिया है, शराबी ने शराब पीना त्याग दिया है और दुराचारी भी दुराचार से दूर हो गया है, फिर भी उसके प्रति जो घृणा का भाव है उसे नही त्यागा जा सकता है तो समझ लेना चाहिए कि इससे अहिंसा के मार्ग पर अनुगमन नही हो रहा है। अहिंसा की दृष्टि तो इतनी विशाल है कि हम पापी से पापी और दुराचारी से दुराचारी के प्रति भी अपने मन मे घृणा का भाव नही ला सकते। किन्तु दुर्भाग्य से आज समाज के पास अहिंसा की वह दृष्टि नहीं है, फलत ऐसी बुराइयाँ पैदा हो गई है जिनके उन्मूलन के लिए हमे घोर सघर्ष करना पड रहा है, और यह सघर्ष सफलताप्राप्ति के अन्तिम क्षण तक जारी रहेगा।

आज जिधर भी दृष्टि दौडाते हैं, उधर ही घृणा और द्वेष के अशुभ चिन्ह दिखाई देते हैं। वस्तुत मन की सकीर्णता ही सबसे बडी और व्यापक हिंसा है। मनुष्य मनुष्य से घृणा और द्वेष कर रहा है यह हमारे दूसरे वर्ग का है तो द्वेषभाव प्रदर्शित करेंगे। जात-पाँत के नाम पर, प्रान्त के नाम पर घृणा प्रसारित कर चुके है, कि यदि शीघ्र ही उनको दूर न कर सके तो हमारे जीवन का मार्ग प्रशस्त नही होगा।

जन्म नहीं, कर्म

मनुष्य जन्म से ऊँचा-नीचा होता है या कार्य से ? यदि कोई जन्म से श्रेष्ठ होता है तो जैन-दृष्टि से रावण क्षत्रिय था और वैदिक दृष्टि से ब्राह्मण था, अत उसमे जन्मजात पवित्रता और उच्चता विद्यमान थी। फिर भी उसे सामाजिक घृणा क्यो मिली ? भारत का इतिहास लिखने वाला प्रत्येक इतिहासकार रावण के प्रति क्यो व्यापक घृणा व्यक्त करता आ रहा है ? अभिप्राय यह है कि जन्म से कोई ऊँचाई नहीं आती। यही कारण है कि जब भी कभी जन्मजात उच्च कहलाने वाला व्यक्ति गलत मार्ग पर चलता मालूम होता है, भारतीय इतिहासकार उस दुराचार की निन्दा करने को तैयार होता है और उस बुराई का तिरस्कार करने मे अणुमात्र भी सकोच अनुभव नही करता। इतिहास ने यह नही देखा कि रावण क्षत्रिय था या ब्राह्मण ? उसका जन्मजात क्षत्रियत्व या ब्राह्मणत्व सामने नही आया, किन्तु उसका कर्म ही प्रकाश मे आया। वही जाचा और परखा गया।

इसके विपरीत बाल्मीकि का जीवन-चरित्र देखा जाता है। बाल्मीकि अपने प्राथमिक जीवन मे लुटेरे थे। उन्होने दूसरो को मारना और दूसरो की जेब टटोलना ही सीखा था। इसके सिवाय उसके सामने जीवन-यापन का दूसरा रास्ता नही था और उसी पर बिना किसी हिचकिचाहट के चले जा रहे थे। उनके हाथ खून से भरे रहते थे। किन्तु जब जीवन की पवित्र राह मिली और उन्होने उस पर पदार्पण किया तो अपनी परम्परागत सभ्यता और सस्कृति के नाते भारतीय समाज ने उन्हे ऋषि और महर्षि की पदवी दी और सत-समाज मे उन्हे आदर का स्थान मिला।

जैन-दर्शन के अनुसार हरिकेशी चाण्डाल-कुल मे उत्पन्न हुए और सब ओर से उन्हे भर्त्सना और घृणा मिली। वे जहाँ कही भी गए अपमान-रूप विष के प्यालो से ही उनका स्वागत हुआ। कही भी समभाव-सूचक अमृत का प्याला नही मिला। पर जब वे जीवन की पवित्रता के सही मार्ग पर आए तो वन्दनीय और पूजनीय हो गए। देवताओं ने उनके चरणो मे मस्तक झुकाया और तिरस्कार करने वाले ब्राह्मणों ने भी उनकी पूजा और स्तुति की।

अर्जुन माली की जीवन-कथा भी किसी से छिपी हुई नही है। नरहत्या जैसा जघन्य कर्म करने वाला और हिंसक वृत्ति मे आकण्ठ डूबा हुआ अर्जुन माली, एक दिन मुनि के महान् पद पर प्रतिष्ठित होता है, भगवान् महावीर उसे प्रेम से अपनाते

हैं और वह जीवन की पवित्रता प्राप्त करके महान् विभूति बन जाता है। यह सब किसकी विशेषता थी ? यह विशेषता जन्म की नहीं, अपितु कर्म की ही थी।

अनुचित प्रश्न

सन्त जब मिलते हैं तो कई लोग सर्वप्रथम उनकी जाति पूछ बैठते है, और कोई बात पूछना उन्हे नही सूझता। कोई-कोई उनका खानदान और कुल भी पूछ लेते है। पर सोचना यह है कि क्या ये सब बाते साधु से पूछने की है ? साधु तो अपनी पहली दुनिया को भूल ही जाता है। उसे स्मरण करने का अधिकार भी नही, कि वह पहले क्या था ? किस रूप मे था ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य क्या शूद्र क्या था ? इन सभी शृंखलाओ से मुक्त हो कर उसने नया जन्म लिया है। जब कोई मनुष्य यहाँ जन्म लेता है, तो उसे अपने पिछले जन्म की जाति, खानदान और कुल आदि का स्मरण नही रहता। प्रकृति उसे पूर्वजन्म की स्मृति नही रहने देती, मात्र वर्त्तमान का दृश्य ही उसके सामने खडा पाया जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति दीक्षा लेता है तो वह भी एक प्रकार से नया जन्म पाता है, नए क्षेत्र मे प्रवेश करता है। नई जिन्दगी पा कर वह पुरानी जिंदगी को भुला देता है। वह जिस महल को छोड कर आया है, यदि उसे अपने दिमाग से नही निकाल सका है, और जिस कुल से आया है, यदि उसे नही भुला सका है तो जैन-धर्म कहता है कि उसका नया जन्म नही हुआ है, वह साधु नही बन सका है। सच्चा साधु दीक्षा लेने के बाद 'द्विजन्मा' हो जाता है। पर आज तो वह उसी पुराने जन्म के सस्कारो मे उलझा हुआ देखा जाता है। उन्ही सस्कारो को अपने जीवन पर लादे हुए चलता है और जब यही प्रक्रिया चालू है तो जीवन का जो महान् आदर्श आना चाहिए, वह नही आ पाता।

'अप्पाण वोसिरामि'[3] कह कर साधु ने पुरानी दुनिया के खोल को तोड फेंका है। उसके सामने चाहे महल हो, या झोपडी हो, दोनो समान है। कोई उसे अपमानित करता हो या कोई सम्मान देता हो, दोनो ही उसकी दृष्टि मे एक समान है। उसके लिए मानापमान की ये सब खाइयाँ कभी की पट चुकी है और अब वह इन सबसे अलग हो चुका है। साधु ही एकमात्र उसकी जाति है। साधु की दूसरी कोई जाति ही नहीं होती है। किन्तु पूछने वाले वही पुरानी दुनिया की कहानी पूछते है और पुराने सस्कारो की याद ताजा करते है, जिन्हे बिल्कुल भुला देना चाहिए। सही तो यह है कि ऐसी निरर्थक बातो को सारा भारत ही भुला दे। परन्तु यह तो विवेक-बुद्धि पर आश्रित है, जो अभी दूर की बात है। वर्तमान मे जब साधु भी इन्हे नही भुला सके हैं, तो फिर दूसरे सर्वसाधारण से क्या आशा की जाए? इसकी पुष्टि मे सत कबीर कहते है —किसी साधु की जाति मत पूछिये कि वह ब्राह्मण है, या क्षत्रिय ? जाति पूछ कर करोगे भी क्या ? यदि पूछना ही है तो उसका ज्ञान पूछो, उसका आचरण पूछो

---

३ मुनि-दीक्षा लेते समय प्रतिज्ञा के रूप मे बोले जाने वाले एक पाठ-विशेष का अश।

और यह पूछो कि जीवन की राह पर चल कर उसने क्या पाया है ? उसमे महक पैदा हुई है या नहीं? जीवन-फूल खिला है या नही ? वह जीवन का फूल महक दे रहा है या नही ? जब तलवार म्यान मे पडी है, तो तलवार खरीदने वाला तलवार का मोल करता है या म्यान का ? लडाई तलवार से होगी या म्यान से ? म्यान तो म्यान ही रहेगी, उसका अपने आप मे क्या मूल्य है ? चाहे म्यान सोने की ही क्यो न हो, किन्तु यदि उसमे काठ की तलवार रखी है तो उस म्यान की क्या कीमत होगी ?[४]

कर्त्तव्य की दृष्टि से जैन-धर्म एक ही बात कहता है कि मनुष्य तेरे विचार और आचार कितने ऊँचे और अच्छे है, और तूने जीवन की पवित्रता पा कर उन्हे जीवन मे कितना साकार किया है ? जिसके पास पवित्र विचार का वैभव है और पवित्र आचार की पूँजी है, निस्सन्देह वही भाग्यशाली है और जैन-धर्म उसी को आदरणीय स्थान देता हे ।

जैन-धर्म जो बारह भावनाएँ आती है, उनमे एक अशुचि-भावना भी है । वह भावना निरन्तर चिन्तन के लिए है और वह चिन्तन अपने शरीर के सम्बन्ध मे है । इस भावना मे अपने शरीर के अशुचिस्वरूप का विचार किया जाता है । ब्राह्मण हो या शूद्र, सभी के लिए समानरूप से इस भावना के चिन्तन का विधान है । शास्त्र मे कही यह नही बतलाया गया है कि ब्राह्मण का शरीर शुचि-पवित्र है और उसे इस भावना की कोई आवश्यकता नही है, और सिर्फ शूद्र के लिए ही यह भावना आवश्यक है ! मनुष्य-मात्र का शरीर एक-जैसा है । ऐसा कदापि नही कि शूद्र के शरीर मे रक्त हो, और ब्राह्मण के शरीर मे दूध भरा हो या गगाजल हो ! यह बात तो इतनी स्पष्ट है कि इसकी सच्चाई आंखो से दिखाई देती है । इसी कारण अशुचिभावना का विधान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र सभी के लिए समानरूप से मान्य बतलाया गया है । फिर भी लोगो के दिलो मे यह मिथ्या अहकार बैठ गया है कि मेरा शरीर पवित्र है, और दूसरे का अपवित्र है ! मैं शूद्र को छू लूँगा तो मेरा शरीर अपवित्र हो जाएगा !

घिनौनी से घिनौनी चीज देह

ससारभर मे अपवित्र से अपवित्र और घिनौनी से घिनौनी चीज यदि कोई है, तो वह शरीर ही है । दुनियाभर की अशुचि और गन्दगी इसमे भरी पडी है, यह हड्डियो का ढांचा और मास का लोथ चमडे से ढंका हुआ है और मल-मूत्र आदि घृणित पदार्थों का भडार है । फिर इसमे पवित्रता कहाँ से आ गई ? यह शरीर जब कभी किसी वस्तु को ग्रहण करता है, तो उसको भी अपवित्र बना देता है । चाहे भोजन कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यो न हो, जैसे ही वह शरीर के सम्पर्क मे आता है, गन्दा और

४ जात न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान ।
मोल करो तलवार का, पडी रहन दो म्यान ॥

दूषित बन जाता है और सड जाता है। मनुष्य जिस मकान मे रहता है, उसके चारो तरफ गन्दगी बिखेरता रहता है और वह गन्दगी शरीर के द्वारा ही तो फैलती है। जब मनुष्य शहर मे रहता है तो वहाँ के गली-कूचो की क्या स्थिति होती है ? इतनी गन्दगी, मलिनता और अपवित्रता वहाँ भर जाती है कि एक वर्ग सफाई करते-करते थक जाता है। मनुष्य अपने आचरण से हवा, पानी, मकान आदि सभी चीजो को दूषित कर देता है और सडा देता है। यह सारे कर्म मनुष्य ही करता है। वह जिस ओर चलता है, गन्दगी बिखेरता चलता है।

भगवान् महावीर ने अशुचि को अपने शरीर मे ही देखा है। मनुष्य के शरीर से बढ़कर कही अशुचि नही है। अपने शरीर से चिपटी उस अशुचि को न देखकर शरीर को पवित्र मानना भूल है और सिर्फ दूसरे के शरीर को अपवित्र मान कर अपनी शारीरिक पवित्रता के मिथ्या अहकार को प्रश्रय देना तो जीवन की एक महान् भूल है।

मनुष्य का शरीर अपवित्र है और वह कभी पवित्र नही हो सकता। हजार बार स्नान करके भी आप उसे पवित्र नही बना सकते। एक आदमी कुल्ला करता है। एक बार नही, सौ बार कुल्ला करता है और समझ लेता है कि मेरा मुह शुद्ध हो गया। किन्तु उसी मुँह मे कुल्ला भरकर यदि वह दूसरे पर थूकता है तो लडाई शुरू होगी या नही ? ऐसी स्थिति मे लाठियाँ बजने लगती हे और कहा जाता है कि झूठा पानी मुझ पर डाल दिया। ससार की सारी अपवित्रता इस शरीर मे भरी पडी है। जीवन की वास्तविक पवित्रता तो आपके मन मे और आपकी आत्मा मे ही हो सकती है, शरीर मे नही। जीवन की शुचिता आप अपने आचार और विचार द्वारा पैदा कर सकते है। और जब तक यह बात नही आएगी, आप चाहे हजार बार गगा मे स्नान कर ले और लाख बार सम्मेतशिखरजी की यात्रा कर आएँ, वह पवित्रता आने वाली नही है।

स्नान से क्या होता है ? पानी का काम तो शरीर के ऊपर फैल कर ऊपरी गन्दगी को दूर कर देना है। मन की गन्दगी को दूर करना उसकी शक्ति से सर्वथा बाहर का काम है। शरीर के भीतर की गन्दगी भी उससे साफ नही हो सकती। ऐसी स्थिति मे जैन-धर्म हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित करता है कि तुम आचार-विचार को महत्त्व देते हो या जात-पाँत को ? यदि जात-पाँत को महत्त्व देते हो, तब तो वह महत्त्व शरीर को ही प्राप्त होता है और शरीर सबका समान है, जैसा ब्राह्मण का है, वैसा ही शूद्र का है। यदि ब्राह्मण का शरीर पवित्र है, तो शूद्र का भी पवित्र है, और यदि शूद्र का अशुचिरूप है, तो ब्राह्मण का भी अशुचिरूप है।

वेदान्त-दर्शन

भारत का वेदान्तदर्शन आत्माओ मे कोई भेद नही करता। वह प्रत्येक शरीर मे अलग-अलग आत्माएँ न मान कर, सब आत्माओ को एक इकाई के रूप मे ग्रहण करता है। वह सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म का ही स्वरूप मानता है और कहता है—"इस

ससार मे परब्रह्म ही सत्य है और उसमे कोई अनेकरूपता नही है। अलग-अलग जातियो की जो धारणा है, वह मोक्ष का मार्ग नही, यह तो आसुरी मार्ग है।"[५] वेदान्त के आचार्यों ने इतनी बडी बात कह दी है, फिर भी पुरानी वृत्तियाँ अभी तक मर नही रही है। आचार्य आनन्दगिरि ने बतलाया है कि आचार्य शकर एक बार बनारस मे थे और गगा मे स्नान करके लौट रहे थे। रास्ते मे एक चाण्डाल, अपने कुत्तो को साथ लिए, मिल गया। रास्ता सकरा था, उसी पर वह सामने की ओर से चला आ रहा था। आचार्य शकर पवित्रता के चक्र मे पड गए। मुझ पर कही चाण्डाल की छाया न पड जाए, इस विचार से वे खडे हो गए। पर, आचार्य के मनोभाव का अध्ययन कर चाण्डाल भी खडा हो गया। आचार्य ने कुछ देर इन्तजार किया, किन्तु जब चाण्डाल माग से अलग नही हुआ तो विवश हो कर आचार्य ने कहा—"अरे हट जा, रास्ता छोड दे! तुझे दीखता नही कि मैं स्नान करके आया हूँ, पवित्र हो कर आया हूँ और तू रास्ता रोक कर खडा हो गया है।"

चाण्डाल ने कहा—"महाराज, एक बात पूछना चाहता हूँ। आप हटने को कहते है, पर मैं हटूं कैसे ? मेरे पास दो पदार्थ है—एक आत्मा और दूसरा शरीर। आत्मा चेतन है, और शरीर जड है। तब इनमे से आप किसे हटाने को कहते है ?[६] यदि आत्मा को हटाने के लिए कहते है तो आपकी आत्मा और मेरी आत्मा—दोनो एक ही समान है। परब्रह्म के रूप मे जो आत्म-ज्योति आपके अन्दर विराजित है, वही मेरे अन्दर भी विद्यमान है, तो फिर मैं आत्मा को कहाँ ले जाऊँ, और कैसे ले जाऊँ ? आत्मा तो व्यापक है और सम्पूर्ण ससार मे समानरूप से व्याप्त है। आप उसे हटाने को कहते तो हैं, किन्तु उसे हटाने की बात मेरी कल्पना से बाहर है।[७]

यदि आप शरीर को हटाने के लिए कहते है तो शरीर पचभूतो से बना है और वह जैसा मेरा है, वैसा ही आपका भी है। ऐसा तो है नही कि मेरा माँस काला हो और आपका गोरा हो। जो रक्त आपके शरीर मे बह रहा है, वही मेरे मे भी बह रहा है। अत यदि आप शरीर को अलग हटने की बात कहते है तो वह मेरी समझ मे नही आती कि उसे कैसे अलग किया जाए, और क्यो अलग किया जाए ?"

आचार्य आनन्दगिरि कहते है कि जब यह बात शकर ने सुनी तो वे आश्चर्य मे पड गए और उन्होने अपने कान पकडे! बोले—'अभी तक वेदान्त की ऊँची-ऊंची

---

५ "ब्रह्म सत्य, जगन्मिथ्या।
नेह नानास्ति किञ्चन॥"

६ अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्,
द्विजवर! दूरीकर्तुं वाञ्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति। —मनीषापञ्चक

७ आचार्य शकर वेदान्तमत के अनुयायी थे। वेदान्त की मान्यता के अनुसार, समस्त जड-चेतनमय विश्व, एक आत्म-तत्त्व का ही नानारूप से प्रसार है। वस्तुत व्यापक आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ है ही नही। "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, नेह नानास्ति किञ्चन।"

बातें केवल कहने मात्र ही थी। "ससार मे एकमात्र परब्रह्म की ही सत्ता है", यह उपदेश ससार को तो खूब अच्छी तरह सुनाया, पर अपने मन का काँटा आज तक नही निकल सका था। मन का विष विकार नही गया था। उसे आज आपने निकाल दिया। अतएव आप ही मेरे सच्चे गुरु है। आपने मेरे नेत्र खोल दिये हैं।[८]

वह सत्य का चमत्कार था, जिसके कारण चाण्डाल को मार्ग से हटाने वाले आचार्य शकर जरा-सी बात सुनते ही सन्मार्ग पर आ गए, सामान्य लोग उसकी अवहेलना करते है।

कल्पित दीवारें

इस प्रकार जातीयता के नाम पर ऊँच-नीच की ये कल्पित दीवारें खडी करना सामाजिक हिंसा है। निश्चित रूप से यह समझने की चीज है कि मनुष्य के हृदय मे जितनी ज्यादा सकीर्णता तथा घृणा बढती है, उतनी ही अधिक हिंसा घर करती जाती है। कुछ वर्ष पूर्व विदेशी प्रभुत्व से मुक्त हो कर भारत ने राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त की, परन्तु वह मानसिक सकीर्णताओ से मुक्त नही हो पाया। जिसका दु खद परिणाम हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटवारे के रूप मे प्रकट हुआ और रक्त की नदी तक बह निकली ? लाखो और करोडो आदमी इधर से उधर आ-जाकर बर्बाद भी हो गए। यह सब अमानुषिकताएँ क्यो हुई ? यह साहसपूर्वक कहा जा सकता है कि यह एकमात्र घृणा का ही दुष्परिणाम था। जब तक यह घृणा दूर नही होगी, तब तक हम अछूतो से प्रेम नही कर सकेंगे और हिन्दू तथा मुसलमान भी साथ-साथ नही बैठ सकेंगे। साराश मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जब तक हमारे मन और मस्तिष्क मे किसी भी प्रकार की सकीर्णता रहेगी, तब तक सामाजिक हिंसा की यह परम्परा चालू ही रहेगी और एक रूप मे नही, तो दूसरे रूप मे वह सामूहिक घृणा उत्पन्न करती रहेगी।

मनुष्य-जाति आज अनेक टुकडो मे बँट गई है और प्रत्येक टुकडा दूसरे टुकडे के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करता है। आज कोई किसी के आचार-विचार को नही पूछता है, सिर्फ जाति को ही पूछता है और उसी के आधार पर उच्चता और नीचता का काल्पनिक नाप-तौल करता है। इन कल्पनाओ की बदौलत ही भारत मिट्टी मे मिल गया, और यह दुर्भाग्य की बात है कि भारतवासियो ने इतिहास से आज तक कोई सबक नही सीखा।

जिस दिन भारतवासी मनुष्य के आचार-विचार की इज्जत करेंगे, मनुष्य का मनुष्य के रूप मे आदर करना सीखेंगे और प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को भाई की निगाह से देखेगा, तभी भारत मे 'सामाजिक अहिंसा' की प्रतिष्ठा होगी और उस अहिंसा के फलस्वरूप ही सुख और शान्ति का सचार होगा। ●

---

८ चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु,
गुरुरित्येषा मनीषा मम।

२३ | शोषण : सामाजिक हिंसा का स्रोत

जैनसस्कृति की ससार को जो सबसे बडी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्वशान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है, और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख ससार की समस्त सहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी है—एक दिन जैनसस्कृति के महान् उन्नायको द्वारा ही हिंसाकाण्ड मे लगे उन्मत्त ससार के सामने रखा गया था।

समाज के साथ व्यक्ति का सहयोग हो

जैनसस्कृति का महान् सन्देश है—कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रह कर अपना अस्तित्व कायम नही रख सकता। समाज से घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और आसपास के अन्य सगी-साथियो को भी उठाने दे सकता है। यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नही रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विराट् बनाए, और जिन लोगो के साथ रहना है, काम करना है, उनके हृदय मे अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज मे अपनेपन का भाव पैदा नही करेगा, अर्थात्—जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरो को अपना आदमी न समझेगा, तब तक समाज-कल्याण नही हो सकता। एक बार ही नही, हजार बार कहा जा सकता है कि नही हो सकता। एक-दूसरे का आपस मे अविश्वास ही तबाही का कारण बना हुआ है।

मानव की ओर से ही ससार मे अधिक दुःख

ससार मे जो चारो ओर दुःख का हाहाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो मामूली-सा ही है। यदि अधिक अन्तर्निरीक्षण किया जाए तो प्रकृति, दुःख की अपेक्षा हमारे सुख मे ही अधिक सहायक है। वास्तव मे जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर लादा हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरो पर किये जाने वाले दुःखो को हटा ले, तो यह ससार आज ही नरक से स्वर्ग मे बदल सकता है।

अमर आदर्श

जैनसस्कृति के महान् सस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रो मे परस्पर होने वाले युद्धो का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है।

उनका आदर्श है—धर्म-प्रचार के द्वारा विश्वभर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे यह जचा दो कि वह 'स्व' मे ही सतुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कदापि प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है—दूसरो के सुख-साधनो को देख कर लालायित हो जाना और उन्हे छीनने का दु साहस करना।

'स्व' की मर्यादा से बाहर ही खतरा

नदी जब तक अपने दो पाटो के बीच मे बहती रहती है, तब तक उससे ससार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नही। पर, ज्यो ही वह अपनी सीमा से हट कर आसपास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है, बाढ का रूप धारण करती है, तो ससार मे हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खडा हो जाता है। यही दशा मनुष्यो की है। जब तक सबके सब मनुष्य अपने-अपने 'स्व' मे प्रवाहित रहते है, तब तक कुछ अशान्ति नही है, लडाई-झगडा नही है। अशान्ति और सघर्ष का वातावरण वही पैदा होता है, जहाँ मनुष्य 'स्व' मे बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरो के अधिकारो को कुचलता है, और दूसरो के जीवनोपयोगी साधनो पर कब्जा जमाने लगता है।

भगवान् महावीर ने इस दिशा मे बडे स्तुत्य प्रयत्न किए है। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को अपरिग्रह की मर्यादा मे सर्वदा 'स्व' मे ही सीमित रहने की शिक्षा देते है। व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रो मे उन्होने अपने अनुयायियो को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारो से कभी आगे बढने की इजाजत नही दी। प्राप्त अधिकारो से आगे बढने का अर्थ है—अपने दूसरे साथियो के साथ सघर्ष मे उतरना।

जैनसस्कृति का अमर आदर्श है—प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उचित साधनो का ही सहारा ले कर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुखसामग्री का सग्रह कर रखना, जैनसस्कृति मे चोरी है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र लडते क्यो है ? इसी अनुचित सग्रहवृत्ति के कारण दूसरो के जीवन और सुखसाधनो की उपेक्षा करके मनुष्य कभी सुख-शान्ति नही प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रहवृत्ति मे ढूँढे जा सकते हैं। एक दृष्टि से अहिंसा और अपरिग्रहवृत्ति दोनो पर्यायवाची शब्द है।

गृहस्थजीवन का कर्तव्य

'आनन्द' श्रावक अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक श्रावक ही रहे, साधु नही बने। फिर भी शास्त्र मे उनके जीवन की कहानी विस्तार के साथ दी गई है। भगवान् महावीर के चरणो मे पहुँच कर आनन्द ने जो आदर्श साधना की, यद्यपि वह श्रावक-जीवन की ही साधना थी, फिर भी वह इतनी महान् थी कि शास्त्र मे उसका वर्णन करना आवश्यक समझा गया। इसका मुख्य कारण था कि गृहस्थ-दशा मे रह कर भी आनन्द ने अपने कर्त्तव्य को शानदार ढग से पूरा किया। उनकी अहिंसा कैसी थी ? उनका सत्य कैसा था ? उनके जीवन की पवित्रता कितनी उज्ज्वल थी ? और दूसरो

के साथ उनके व्यवहार के तरीके कैसे थे ? यही सौन्दर्य-भरी सुवास आदर्श जीवन की परिचायिका हैं और इन्ही के लिए शास्त्र मे उनकी गौरव-पूर्ण जीवन-कथा का उल्लेख अनिवार्य समझा गया। इसीलिए आज भी उनके पुनीत जीवन की स्वर्णवेदी पर, अपार श्रद्धाभक्ति के साथ, वाणी के पुष्प चढाए जाते है।

इस विशाल भू-खड पर अतीत काल मे न जाने कितने चक्रवर्त्ती, अर्धचक्रवर्ती, राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार आए है, जिन्होने अपने पराक्रम और वैभव से जमीन को कम्पित किया है, जिन्होने झोपडियो के स्थान पर गगनचुम्बी प्रसाद खडे किए है और हजारो-लाखो को अपने चरणो मे आजीवन झुकाए रखा है। किन्तु, यह सब वैभव होते हुए भी यदि उन्होने व्यावहारिक जीवन में सत्कर्म नही किए और प्रजा-हित की ओर ध्यान नही दिया तो उनका कोई उल्लेख नही मिलता, इतिहास उनके लिए मूक है। हाँ ! उन्होने अपने जीवन मे जो गलतियाँ की थी, उनका चित्रण अवश्य मिलता है। उसमे यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इतने समृद्धिशाली होते हुए भी और इतनी अनुकूलताएँ प्राप्त करके भी उन्होने अपनी समृद्धि और अनुकूलताओ का अच्छे ढग से उपयोग नही किया, जिसके कारण वे नीचे गिर गए।

राम और रावण

रामायण, जैन और वैष्णव—दोनो धर्मों मे पढी जाती है। इसमे दो प्रबल शक्तियो के वर्णन मिलते है। एक 'राम' के रूप मे, और दूसरी 'रावण' के रूप मे। एक ओर रावण दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे को थर्राता हुआ—कपित करता हुआ आता है, और दूसरी ओर उधर राम भी एक सुगठित शक्ति के साथ खडे हो जाते है। जिस प्रकार रावण राजा बन कर सामने आता है, वैसे ही राम भी राजा के रूप मे सामने आते है। दोनो ने तीन खण्ड तक अपना साम्राज्य स्थापित किया था। दोनो मे इतनी भौतिक समानताएँ होते हुए भी राम के चरणो मे ही श्रद्धा के पुष्प चढाए जाते है, और रावण का अपमान किया जाता है। आखिर इसका रहस्य क्या है ?

रावण ने इतनी बडी शक्ति सगठित की और अपरिमित वैभव पाया, किन्तु वह उसका प्रयोग सदाचार के रूप मे नही कर सका, वह दुनिया के कल्याण का कोई काम नही कर सका। क्षुद्र वासनाओ की पूर्ति मे ही वह आजीवन लगा रहा। यह ठीक है कि इन्सान जब तक इन्सान है, उसकी आकाक्षाएँ और वासनाएं प्राय मरती नही है। भूख लगने पर भोजन करना ही पडता है और प्यास लगने पर पानी भी पीना पडता है। परन्तु रावण की वासनाओ की कोई मर्यादा नही थी और यही कारण है कि सोलह हजार रानियाँ होने पर भी वह सीता को बलात्कार उठा ले भागने को विवश हुआ।

उधर राम ने युद्ध अवश्य किया, पर किसी गरीब को सताने के लिए नही किया। वहाँ तलवार भी चमकती रही, किन्तु उसकी चमक का उद्देश्य दीन-दुखियो

के कल्याण के लिए और अन्याय एव अत्याचार के प्रतिकार के लिए था। राम की तलवार किसी सती स्त्री पर बलात्कार करने के लिए नही चमकी।

सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाए तो पैसे वाले तो राम भी थे। वे भी सोने के सिंहासन पर बैठे और उनका जीवन भी शानदार महलो मे गुजरा, राम को भी रावण के समान ही भोग-विलास के साधन मिले थे। फिर भी राम को आदर और सम्मान दिया जाता है, वह इसीलिए कि उन्होने इतनी बडी ऊँचाई को और राजसिहासन को पाने के बाद भी अपनी सुख-सुविधा के साथ दूसरो के हित को भी समदृष्टि से देखा। उन्होने दूसरो की आँसू से गीली जिन्दगियो को भी देखा और यह भी देखा कि यदि मैं राजा बना हूँ तो केवल अपने भोग-विलास के लिए, अपनी वासनाओ की क्षुद्र पूर्ति के लिए नही, अपितु प्रजा के कल्याण का गुरुतर उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए बना हूँ। इसी दृष्टिकोण से उन्होने अपने कर्त्तव्य का पालन किया और इसी कारण आज भी ससार उनका गुणगान करता है।

वर्गवाद का विरोध

जैन-धर्म किसी भी प्रकार के वर्गवाद को प्रश्रय नही देता। जाति-पाँति के आधार पर, सम्पत्ति के आधार पर, या किसी भी अन्य भौतिकता के स्थूल आधार पर पनपते हुए वर्गवाद का वह पक्ष नही लेता। जैन-धर्म गरीब या अमीर की पूजा नही करता है, और न उसकी निन्दा ही करता है। वह तो अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है और प्रत्येक वस्तु को उसी दृष्टिकोण से देखता और परखता है। वह अपने दृष्टिकोण के नाते उस धनवान् की प्रशसा करता है, जो धन को प्राप्त करता है, या प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है, किन्तु धन प्राप्त करते समय यदि न्याय और नीति को नही भुलाता और प्राप्त करने के बाद भी उसे न्याय-नीति से ही खर्च करता है, जो इस धन को प्राप्त करके अपना ही हित-पोषण नही करता है, अपितु दूसरो की भलाई मे भी उदारता-पूर्वक व्यय करता है।

सम्पदा नहीं, सद्गुण

यदि एक गरीब है और उसके पास पैसा नही है, किन्तु उसका जीवन सुन्दर है और शानदार ढग से गृहस्थ की गाडी चला रहा है, वह भले ही किसी परिस्थिति-विशेष के कारण धनसग्रह नही कर सका हो, किन्तु न्याय और नीति यदि उसके साथ है तो इस दशा म भी हम उसकी प्रशसा करेगे। ऐसे भी निस्सहाय लकडहारे हो चुके है, जिनकी जिन्दगी का निर्वाह होना मुश्किल था, किन्तु उनमे अच्छाइयाँ थी, जिसके कारण सन्तो ने उनकी गुणगाथा गाई है।

अभिप्राय यह है कि केवल धन होने से ही कोई प्रशसा का पात्र नही बन जाता और न धन के अभाव मे निन्दा का ही पात्र बनता है। इसी प्रकार निर्धन होने से ही कोई प्रशसा या अप्रशसा के योग्य नही हो जाता। जहाँ सद्गुणो के पुष्प है, वही प्रशसा की सौरभ है। किन्तु धनवान् या चक्रवर्त्ती होने पर

भी यदि उनमे गुण नही है तो उनकी प्रशसा नही होती है। एक ओर चक्रवर्त्ती भरत की प्रशसा से ग्रन्थ पर ग्रन्थ भरे पडे है, किन्तु दूसरी ओर अर्ध-चक्रवर्त्ती रावण और चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त भी हो गए है, जिन्हे अच्छाई की दृष्टि से नही देखा गया, अपितु जीवन पतित होने पर नरक मे जाने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उनमे प्रशसा-योग्य गुण नही आए, न न्याय एव नीति ही आई और अपने पूरे जीवन मे वे प्रजा के हित का एक भी कार्य नही कर सके।

चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त

जैन-साहित्य मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती का वर्णन आता है। ब्रह्मदत्त भोग-परायण व्यक्ति था। चक्रवर्त्ती के सिंहासन पर बैठ कर भी अपने को तदनुकूल ऊँचा नही उठा सका। उसका झुकाव जितना निज के पोषण मे था, उतना प्रजा के पोषण मे नही था।

एक दिन जैन-जगत के प्रख्यात् महामुनि चित्त, ब्रह्मदत्त से मिले। उन्होने चक्रवर्ती के समक्ष एक आदर्श रखा कि—"यदि तुम ज्यादा कुछ नही कर सकते, तो कम से कम आर्य-कर्म तो करो, प्रजा के ऊपर तो दया करो। जिस प्रजा के खून-पसीने की गाढी कमाई से तुम वैभवशाली महल खडे कर रहे हो, उस प्रजा पर तो अनुकम्पा करो। यदि तुम प्रजा पर करुणा की एक बूंद भी बरसा सके, तो भी अगले जीवन मे देवता बन सकोगे! नरक और निगोद मे नही भटकते फिरोगे! इससे तुम्हारी जिन्दगी यहा, वहाँ सब जगह आराम मे कटेगी।[१]

एक राजा अपनी प्रजा के लिए कल्याण-बुद्धि से काम करता है तो वह यहाँ और आगे भी परम अभ्युदय प्राप्त करता है। उसके चक्रवर्ती होने के नाते हम उसकी प्रशसा या निन्दा नही करते हे। हम तो केवल गुणो की प्रशसा और दुर्गुणो की कटु आलोचना करते है। यदि कोई गरीब चोरी करता है, दुनियाभर की गुण्डागीरी करता है और बुराइयो से काम लेता है, न तो वह अपनी गरीबी को आनन्दपूर्वक स्वीकार करता है, और न विषम परिस्थितियो से न्यायपूर्वक सघर्ष ही करता है, ऐसी दशा मे हम उसकी प्रशसा कदापि न करेंगे, उसके अन्याय, अनाचार और गुण्डापन की घोर निन्दा ही करेंगे।

इन्सानियत का पाठ

जैन-धर्म तो एक ही सन्देश ले कर चला है कि—तुमने ससार को क्या दिया

---

१ जइ तमि भोगे चइउ असत्तो,
अज्जाइ कम्माइ करेह राय।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकपी,
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥ —उत्तराध्ययन १३, ३२

है और ससार से क्या पाया है ? क्या तुमने मनुष्य के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया है ? इन्सान हो कर भी इन्सान जैसा उठना, बैठना, बोलना और चलना सीखा है या नही ? यदि सीख लिया है और सदाचरण की परीक्षा मे उत्तीर्ण भी हो चुके हो तो इन मनुष्योचित सद्गुणो की तुलना मे तुम्हारी निर्धनता को बिल्कुल नगण्य मान-कर हम तुम्हारा सम्मान करते है। इसके विपरीत यदि जिन्दगी मे गरीब या अमीर रहते हुए भी इन्सानियत का पाठ नही सीखा और इन्सान के साथ इन्सान के जैसा मानवीय व्यवहार करना नही सीखा, तो हम सम्राट् और गरीब दोनो से ही कहेगे कि तुम्हारा व्यावहारिक जीवन गलत और दोषपूर्ण है और तुम हमारी ओर से अशमात्र भी प्रशसा प्राप्त नही कर सकते ! जैन-धर्म तुम्हारे लिए प्रशसा का एक शब्द भी नही कह सकता। भगवान् महावीर ने साधुओ से कहा है— यदि तुमको एक भाग्यशाली सम्राट् सेठ या साहूकार मिल जाए तो तुम दृढता-पूर्वक, अपने मन मे किसी भी प्रकार का दबाव न रखते हुए, स्पष्टभाव से उपदेश दे सकते हो, और यदि कोई निर्धन मिले तो वही उपदेश उसे भी उसी भाव से दो। जिस प्रेम एव स्नेह से चक्रवर्ती सम्राट् को उपदेश देते हो, वही प्रेम और स्नेह किसी गरीब के लिए भी रखो। अपने अन्त करण मे दोनो के लिए समान प्रेम और समान स्नेह का आदर्श सन्देश लेकर चलो।"[२]

हमे समाज से नही, किन्तु समाज के अन्त स्तल मे बैठे हुए और समाज को सही मार्ग से विचलित कर कुपथ पर ले जाने वाले कुविचारो से लडना है।

भगवान् महावीर के युग मे ब्राह्मणजाति की समस्या कितनी उलझी हुई थी ? जगह-जगह याज्ञिक हिंसा हो रही थी, सहार का नगा नाच हो रहा था और खून की नदियाँ बह रही थी। परन्तु भगवान् महावीर ने ब्राह्मणजाति का अशमात्र भी विरोध नही किया, वरन् उस समय फैली हुई कुरीतियो को सुरीति मे एव दुर्नीति को सुनीति मे परिणत करने के लिए स्पष्टोक्ति से काम लिया। उनके पास यदि राजा श्रेणिक या कूणिक आए तो भी, और निर्धन लकडहारे आए तो भी, उन्होने समानभाव और अदम्य साहस के साथ देश मे फैली हुई बुराइयो के विरोध मे जोरो से आन्दोलन चालू रखा। इसी प्रकार यदि कभी प्रशसा का अवसर आया तो राजा की भी प्रशसा की, और गरीब की भी की।

ऐसा अशोभनीय वर्ग-भेद एक अश मे भी प्रकट नही हुआ कि किसी राजा की राज्य-प्रभुता भगवान् महावीर को प्रभावित कर सकी हो और तदनुसार उन्होने किसी रक के प्रति भर्त्सनापूर्ण व्यवहार किया हो। उनकी निर्मल दृष्टि मे किसी भी प्रकार का भेद-मूलक अपवाद अन्तिम क्षण तक पैदा नही हुआ था।

---

२ जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥ —आचाराग, प्र० श्रु०

हमारे जीवन की जो पृष्ठ-भूमि है, वह तो इतनी ऊँची और विराट् है, किन्तु उसकी तुलना मे आज हम इतने नीचे आ गये है कि उसको अच्छी तरह छू भी नही सकते है। आचरणहीनता के कारण हमारा कद छोटा हो गया है, जबकि सिद्धान्त का कद बहुत ऊँचा है। जैसे बौना आदमी किसी लम्बे कद वाले के पास खडा हो और वह उसके कधे को नही छू पाता हो, उसी प्रकार हम आज अहिंसा और सत्य को छू नही पा रहे है। इस कथन का आशय यह है कि आपके आचरण का जो कद बौना हो गया है, उसे उत्तम विचारो के द्वारा ऊँचा बनाने की आवश्यकता है। शरीर का कद छोटा है या बडा, इससे कोई प्रयोजन नही है।

किसको मुक्ति ?

एक बार भगवान् महावीर से पूछा गया कि किस कद वाले को मुक्ति प्राप्त होती है ? तो उन्होने कहा—पाँच-सौ धनुष का कद वाला भी मोक्ष पा सकता है और एक बौना भी। अर्थात् भगवान् ने शरीर के कद को कोई महत्त्व नही दिया है, किन्तु विचारो के कद को महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य माना है। यदि कोई साधक शरीर से बौना है, किन्तु उसके विचारो का कद ऊँचा हो गया है, ऊँचा उठते-उठते तेरहवे और फिर चौदहवे गुणस्थान तक पहुँच गया है, तो वह अवश्य मुक्त हो जाएगा। इसके विपरीत पाँच-सौ धनुष का शरीर का कद होने पर भी यदि किसी व्यक्ति के विचारो का कद छोटा है तो उसे मोक्ष नही मिल सकता।

जब हम इस विषय पर विचार करते है तो ज्ञात होता है कि शास्त्रो की जो अहिंसा और दया है, उसका कद तो बहुत ऊँचा है। किन्तु आजकल की हमारी अहिंसा और दया का, अर्थात्—जिस रूप मे आज हम अहिंसा या दया का व्यवहार कर रहे है और जिस रूप मे उसे समझ रहे है, उसका कद बहुत छोटा है। किन्तु जब समाज और राष्ट्र के विचारो का कद शास्त्रीय अहिंसा के कद की ऊँचाई पर पहुँचेगा, तभी वे अपना उत्कर्ष साध सकेगे।

आज सारे ससार मे वर्ग-सघर्ष चल रहा है। यदि अकेला इन्सान है तो उसका मन भी अस्तव्यस्त है और यदि परिवार मे दस-बीस आदमी है तो वे भी सब बेचैन है। सारे समाज मे, देश मे और छोटी या बडी प्रजा मे चारो ओर सघर्ष है। प्रत्येक व्यक्ति के मन मे अशान्ति की आग सुलग रही है। मानो, हम सब बीमार बन गए हैं। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र आज इसी बीमारी का अनुभव कर रहा है।

बीमारी की जड

अस्तु, प्रश्न यह है कि इस आग और बीमारी का मूल कारण क्या है ? इन्सान के ऊपर जो दु ख और सकट आ पडा है, वह कहाँ से आया है ? और किस मार्ग से आया है ? जैन-धर्म अपने विश्लेषण के द्वारा यह निर्णय करता है कि प्रकृति की ओर

से ये दु ख नही आए है। प्रकृति की ओर से आने वाले दु ख कदाचित् और अल्प होते हैं। जैसे—कभी भूकम्प आ जाता है तो मनुष्य घबरा जाता है, कभी वर्षा ज्यादा हो जाती है या सूखा पड जाता है तब भी वह सत्रस्त हो जाता है। परन्तु ये समस्त घबराहटें मामूली है प्रतिदिन भूकम्प की दुर्घटनाएँ नही हुआ करती और ऐसी दुर्घटनाओ के समय भी यदि आपदापीडित इन्सान, इन्सान का दिल ले कर किसी उदारमना इन्सान के पास पहुँच जाता है तो वह प्रकृतिजनित दु ख भी भूल जाता है। कभी-कभी इन्सान के ऊपर जगली जानवरो के द्वारा भी दु ख लाद दिए जाते है। जैसे—कभी लकडबग्घा बच्चे को उठा कर ले जाता है या भेडिया बकरी-भेड को ले भागता है। परन्तु आजकल इन सारे उपद्रवो पर भी इन्सान ने विजय प्राप्त कर ली है, क्योकि निर्जन स्थनो पर बड़े-बडे नगर बस गए है, आवास की व्यवस्था ठीक-ठीक हो रही है और जगली जानवर विवश हो कर जगलो मे अपना मुह छिपाए पडे है। फिर भी आज का मनुष्य दु खो से पीडित है, अत प्रश्न होता है कि ऐसा क्यो हो रहा है ?

मानव-समाज के समस्त दु खो का प्रमुख कारण मनुष्य की दुर्वृत्ति ही है। आज मानव-समाज मे ही अनेक लकडबग्घे और भयकर भेडिए पैदा हो गए है। चारो ओर खूंखार भेडिए ही भेडिए नजर आते है। उनका शरीर तो मनुष्य का-सा अवश्य है, पर दिल मनुष्य का नही, हिंसक भेडिये का है। मनुष्य मे मनुष्योचित सद्भावना नही रही है। अभिप्राय यही है कि मनुष्य के भीतर जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वासनाएँ है, वे गृहस्थ-जीवन को बिगाड रही है, साधुसमाज को भी समाप्त कर रही है और समाज एव राष्ट्र को भी क्षीण कर रही है। साराश यह है कि मनुष्य को मनुष्यकृत दु ख ही प्राय सता रहे है।

आप जब कभी दस-पाँच आदमी इकट्ठे बैठ कर आराम मे बाते करते है और कभी किसी से उसके दु ख की बात पूछते है, तभी आपको दु ख का स्पष्ट अनुभव होता होगा। अपने विचारो की तराजू पर तौल कर देखिए कि प्रकृति-जन्य तथा हिंसक पशुओ द्वारा होने वाले दु ख उनमे से कितने है और मनुष्यो द्वारा पैदा किए हुए दु ख कितने है ? इस भेद को समझने म अधिक देर नही लगेगी कि--मनुष्य ही मनुष्य पर अधिकाश विपत्तियाँ लाद रहा है और दु खो के पहाड ढहा रहा है। कोई कहता है—अमुक मनुष्य ने मेरे साथ विश्वासघात किया है! एक बहन कहती है कि मेरे प्रति सास का व्यवहार अच्छा नही है, और प्रतिवाद म सास कहती है कि बहू का बरताव अच्छा नही है। इसी प्रकार पिता, पुत्र की और पुत्र, पिता की शिकायते करते है। कही भाई-भाई के बीच दुर्व्यवहार की दु खद कहानी सुनी जाती है। इस प्रकार जितने भी आदमियो से बाते करेगे, उन सबसे यही मालूम होगा कि आदमी की आदमी से जितनी शिकायत है, उतनी कुदरत और वन्य-पशुओ से नही है। कथन का अभिप्राय यही है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति आज जो व्यवहार है, वह सतोषजनक नही है, सुखप्रद नही है, बल्कि असतोष, अशाति और दु ख पैदा करने वाला है।

इंसान इंसान का शोषक

राम को चौदह वर्ष का वनवास क्यो भोगना पडा ? मथरा के द्वारा कैकेयी के विचार बदल दिए गए , कैकेयी की भावना दूषित हो गई, तदनुसार वह गलत ढग पैदा हुआ कि राम को वनवास मिला, और रामायण की कथा लम्बी होती गई। सारी कहानी आदमी के द्वारा खडी की गई और आदमी के द्वारा ही विस्तृत हुई। राम वन मे जा कर रहे तो वहाँ रावण सीता को उठा कर ले गया । इस प्रकार आदमी ने आदमी को चैन से नही बैठने दिया। और जब राम आततायी रावण को जीत कर वापिस अयोध्या लौटे तो उन्होने सीता को वनवास दे दिया ! यह सब मनुष्य की ओर से मनुष्य को दु ख देने की एक लम्बी कहानी है।

इस सम्बन्ध मे चाहे कोई कुछ भी कहता हो, किन्तु म अपने बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर यह कहता हूँ कि राम ने सीता का त्याग करके न्याय नही, अन्याय किया। यदि राम स्वय भी सीता को पतित समझते होते तो उनका कार्य उचित कहा जा सकता था, परन्तु उन्हे तो सीता के सतीत्व पर और उसकी पवित्रता पर पूर्ण विश्वास था। फिर भी उन्होने अपनी गर्भवती पत्नी को भयानक जगल मे छोड दिया ! जो राम प्रभावशाली रावण के सामने नही झुके, वे एक नादान धोबी के सामने झुक कर इतिहास की बहुत बडी भूल कर बैठे ! यदि उन्हे राजा का आदर्श उपस्थित करना ही था तो वह स्वय सिंहासन छोड कर अलग हो जाते ! परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थल पर व आदर्श राजा का उदाहरण भी उपस्थित नही कर सके। आदर्श राजा अभियुक्त को अपनी सफाई देने का अवसर देता है, पर राजा राम ने सीता को ऐसा अवसर नही दिया। यहाँ तो सीता को अभियोग का पता भी नही लगने दिया गया, और पता भी तब लगा, जबकि उसे दण्ड दिया जा चुका था।

बताइए—सीता पर यह दु ख कहाँ से आ पडा ? राम ने ही तो उस पर यह दु ख लाद दिया था। इस प्रकार आदमी ने ही आदमी पर दु ख लाद दिया। पति ने ही पत्नी को दुर्दिन के दावानल मे झोक दिया ! सीता को कैसे रहस्यपूर्ण ढग से, यात्रा कराने के बहाने लक्ष्मण वन मे ले जाते है। वन मे पहुचने पर सीता के परित्याग का जब अवसर आता है तो लक्ष्मण के धैर्य्य का बाँध टूट जाता है—वन्य-पशुओ की वेदना-मय और अश्रु पूर्ण सहानुभूति पा कर उनकी करुणा फूट पडती है ! आज तक लक्ष्मण रोया नही था। सकट मे, विषमता मे, कभी उसने आँसू नही बहाया था। यहाँ तक कि मेघनाद के द्वारा शक्तिबाण लगने पर भी उसकी आँखो से एक आँसू नही गिरा। पर, आज वही धैर्य्य की अचल प्रतिमा-सा लक्ष्मण क्यो रो पडा ? और सीता के पूछने पर जब उसने रहस्य खोला तो सीता भी रो पडी। सारा वन रुदन करने लगा, पशु और पक्षी भी रोने लगे। उस समय लक्ष्मण ने कहा था—'देखो, इन हिरनो को ! हरी-हरी दूब खाना छोड कर ये रो रहे है ! और ये हस शोक के मारे कैसा करुणक्रन्दन कर रहे है ! सीता की मुसीबत देख कर मयूरो ने नाचना बन्द कर दिया है। सम्पूर्ण

प्रकृति शोक से विह्वल हो रही है। हाय, हम मनुष्यों से तो ये पशु-पक्षी ही अच्छे है। कहाँ हमारी निष्ठुरता और कहाँ इनकी दयालुता और कोमलता।"[3]

मनुष्य का मनुष्य के प्रति, यहाँ तक कि पति का पत्नी के प्रति और पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति जो अशोभनीय व्यवहार देखा जाता है, उसे देखते हुए लक्ष्मण यदि मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं को श्रेष्ठ कहते है तो कोई आश्चर्य न होगा। पशु कम से कम एक मर्यादा मे तो रहते है। वे अपनी जाति के पशु पर तो अत्याचार नही करते। सिंह कितना ही क्रूर क्यो न हो, पर वह भी अपने सजातीय सिंह को तो कभी नही खाता। एक भेडिया दूसरे भेडिये को तो नही मारता। पर, क्या मनुष्य ने इस पवित्र मर्यादा को कभी स्वीकार करने का स्वप्न मे भी विचार किया है?

दूसरी ओर पशु, जब पशु पर आक्रमण करता है तो वह पर्दे के पीछे से वार नही करता, सीधा आक्रमण कर देता है। किन्तु मनुष्य, मनुष्य को धोखा देता है, भुलावे मे डालता है, विश्वासघात करता है और पीठ मे छुरा भोकता है।

सच पूछो तो मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे ज्यादा भयकर है। मनुष्य को मनुष्य से जितना भय है, उतना शायद और किसी भी हिंसक पशु से नही है।

महाभारत का आदि से अन्त तक पारायण कर जाने पर पता लगता है कि एक के हृदय मे लोभ उत्पन्न होता है, तृष्णा जागती है और उसी का कुपरिणाम महाभारत के रूप मे आता है, जिसने सारे भारत को वीरान बना दिया। इस प्रकार हम देखते है कि क्या रामायणकाल मे, क्या महाभारतकाल मे और क्या वर्तमान मे, केवल मनुष्य ही मनुष्य पर दुखो और मुसीबतो का पहाड लादता रहा है। मनुष्य ही मनुष्य के सामने राक्षस और दैत्य बन कर आता है और उसका मनमाना शोषण करता है।

कहा जाता है कि कुछ अग्रेज लोग एक चिडिया-घर देखने गए, वहाँ उन्होने शेरो और भेडियो को गरजते देखा। वे आपस मे कहने लगे—'इन्होने न जाने कितनी शताब्दियाँ गुजार दी, फिर भी ये हैवान के हैवान ही रहे। इन्होने अपनी पुरानी आदते नही छोडी। इनका कैसे विकास होगा?' इस प्रकार शेरो और भेडियो की आलोचना करते-करते ज्यो ही वे बाहर आते है तो देखते है कि उनकी जेब काट ली गई है। जिनकी जेब काट ली गई थी, वे कहने लगे—"हम शेरो और भेडियो की आलोचना करते-करते नही अघाते थे, पर उन्होने जेब काटना तो नही सीखा। किन्तु विकास-प्राप्त आदमी ने तो आदमी की जेब काटने की कला भी सीख ली है।"

---

३ "एते रुदन्ति हरिणा हरित विमुच्य,
हसाश्च शोकविधुरा करुण रुदन्ति।
नृत्य त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवी,
तिर्यग्गता वरममी, न पर मनुष्या ॥" —कुन्दमाला

उक्त कथन मे भले ही कुछ व्यग हो, किन्तु सूक्ष्मबुद्धि से विचार करने से मालूम होगा कि वह कथन झूठा नही है। इन्सान ही इन्सान की जेब काटने को तैयार होता है, और इन्सान ही इन्सान का शोषण करता है, फिर भले ही वह व्यापार के रूप मे हो या किसी दूसरे रूप मे।

शोषण की समस्या के अन्तर्गत ब्याज का भी प्रश्न उपस्थित हो जाता है। ब्याज का धन्धा आर्य है या अनार्य ? सामाजिक दृष्टि से उसमे औचित्य है या नहीं ? यदि औचित्य है तो किस हद तक ? इस सम्बन्ध मे यदि शास्त्रो के पन्ने भी उलटे जाएँगे तो क्या निर्णय मिलने वाला है ? आपके पास आपका हृदय ही महाशास्त्र है। आपका यह हृदय-शास्त्र स्वय इतना विशाल है कि दूसरे समस्त शास्त्र उसमे समा सकते है। हमारे समस्त शास्त्र भगवान् महावीर के हृदय से आए है। मानव-हृदय विचार-मौक्तिको का विराट् सागर है। शुद्ध हृदय के विचारमौक्तिक ही शास्त्र बन कर चमकते है।

विवेक

जैनधर्म विवेक को सर्वोपरि स्वीकार करता है। ससार मे जितने भी व्यवसाय चल रहे है और जिन्हे आर्य-व्यापार माना जाता है, उनमे भी विवेक की अनिवार्यता है। परन्तु विवेक, जो धर्म की आत्मा है, उसकी ओर हम कभी भी ध्यान नही देते और उसके बाह्य रूप मे ही उलझ जाते है। अमुक ढग का तिलक लगाना धर्म है। चोटी कटा लेना धर्म है और न कटवाना अधर्म है।

एक बार एक कनफटे साधु से मेरी भेट हुई तो उन्होंने कहा—"आप भी कान छिदवा लीजिए। बिना कान फडवाए साधु कैसे हो गए ?" उनका अभिप्राय यह था कि यदि कान फडवा लिए जाएँ, तभी धर्म है, और यदि नही फडवाए जाएँ तो धर्म नही है। आशय यह है कि हमारे यहाँ आमतौर पर ये धारणाएँ फैली हुई है कि यदि अमुक क्रिया अमुक ढग से की जाएँ, तब तो धर्म है, अन्यथा वह धर्म नही है। इसी प्रकार यदि अमुक ढग के वस्त्र पहने जाएँ तभी धर्म होगा, अन्यथा नही। परन्तु जैन-धर्म इन सबसे ऊपर उठ कर कहता है कि—विवेक मे ही धर्म है। आचाराङ्गसूत्र मे कहा भी गया है—जैन-धर्म मे कहने-सुनने की हिंसा से कोई सम्बन्ध नही है, बोल-चाल के सत्य और असत्य से भी सम्बन्ध नही है, किन्तु विवेक के साथ सीधा और सच्चा सम्बन्ध है।[४] अहिंसा का नाटक तो खेला, किन्तु यदि उसमे विवेक को स्थान नही दिया गया तो वह अहिंसा नही है। विवेक के अभाव मे वह पूरी तरह हिंसा बन जाएगी और अधर्म कहलाएगी। किसी ने साधुपन ले लिया या श्रावकपन ले लिया, किन्तु विवेक नही रखा तो क्या वह धर्म हो गया ? जैन-धर्म के अनुसार जिस क्षेत्र मे जितने अशो मे विवेक है, उतने ही अशो मे धर्म है, और जितने अश मे अविवेक है, उतने ही अशो

४ "विवेगे धम्ममाहिए।"

मे अधर्म है। जैन-धर्म छापा या तिलक वगैरह मे धर्म-अधर्म नही मानता। यहाँ तो एक ही तराजू है, एक ही मापक है और वह दुनिया से निराला मापक है—विवेक

रुपया क्या है ? और इसकी क्या उपयोगिता है ? यह तो बोझ की तरह है। एक रुपया यदि तिजोरी मे बन्द कर दिया जाए और कई वर्षों के बाद उसे निकाला जाए, तो वह एक का-एक ही निकलेगा। अनेक वर्ष बीत जाने पर भी दूसरा रुपया उससे पैदा नही हो सकेगा। इस प्रकार वह अपने आप मे बाँझ है। जब आप उसे किसी उद्योग-धन्धे मे लगाते है, खेती-बाडो म लगाते हैं, या ब्याज मे लगा देते है, और जब रुपया आदान-प्रदान के फलस्वरूप हलचल मे आता है, तभी वह जिन्दा होता है। इसके विपरीत जब तिजोरी मे कैद रहता है तो मुर्दा बन जाता है। इस प्रकार रुपया दो तरह का है—मुर्दा रुपया, और जिन्दा रुपया।

कहने का आशय यह नही समझा जा सकता कि रुपये सजीव और निर्जीव-दोनो तरह के होते है। कभी कभी गलतफहमी भी हो जाया करती है। जैसे बुद्ध के शिष्य आनन्द ने चाण्डालकन्या के हाथ का पानी पिया था, ऐसा कहने से समझ लिया जाता है कि आनन्द श्रावक ने ही पानी पी लिया।

रुपए के जीवित होने का अर्थ इतना ही है कि—जब रुपया हलचल मे आता है तो वह व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र के लिए 'खाना' ला कर देता है। और मुर्दा होने का अर्थ है कि—जब वही रुपया चारो ओर से हट कर जमीन मे दब जाता है या तिजोरी मे बन्द हो जाता है तो वह किसी व्यक्ति के लिए, समाज के लिए या राष्ट्र के लिए भोजन नही ला सकता। यही रुपए का मुर्दापन है। इसीलिए गृहस्थ उसे चलता-फिरता रखना चाहता है। परन्तु रुपए को क्रियाशील बनाते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि मेरा रुपया अनीति और अन्याय के मार्ग पर न चले, न लगे। पर दुर्भाग्यपूर्ण कठिनाई यही है कि इस बात का ध्यान नही रखा जाता।

किसी धनी व्यक्ति के पास जब एक सेठ आता है और कुछ रुपया चाहता है तो ब्याज की दर कम हो जाती है। किन्तु जब एक साधारण आदमी आता है, जिसको रुपए की अनिवार्य आवश्यकता है, जो पैसे के अभाव मे खिन्न-चित्त और दुखी है, और यहाँ तक कि पैसे के बिना उसका परिवार भूखो मर रहा है। उसने व्यापार किया है और उसमे उसे गहरी चोट लगी है। अब उसे पैसे की आवश्यकता पड गई है और न मिलने पर उसका परिवार बर्बाद हो सकता है और उसकी आबरू को धक्का लग सकता है। यदि समय पर रुपया मिल जाता है तो वह अपनी और अपने परिवार की जिन्दगी बचा सकता है, और अपनी इज्जत भी कायम रख सकता है। किन्तु खेद है, उसकी आवश्यकता को अनुभव करके रुपये वाले की तरफ से ब्याज की दर बढा दी जाती है। इसका स्पष्ट अभिप्राय तो यही हुआ कि शक्तिशाली हाथी पर तो भार कम लादा जाता है, और अशक्त खरगोश पर ज्यादा से ज्यादा लादने

की कोशिश की जाती है। इस प्रवृत्ति को आप या कोई भी विवेकशील व्यक्ति, क्या न्यायसगत कह सकता है ?

अनेकान्त की तराजू

जैन-धर्म एक बडा ही विवेकशील धर्म है। वह हर सत्य को तोलने के लिए अनेकान्त की तराजू ले कर चलता है। अस्तु, इसी तराजू पर ब्याज के धन्धे को भी तोलना होगा।

इस प्रसग मे यह स्मरण रखने की बात है कि समाज की कुरीतियो के कारण भी अनेक चीजें बुराई बन गई है। श्रीमत की अपेक्षा गरीब से दुगुना और तिगुना ब्याज लेना, और एक बार रुपया दे कर फिर शोषण के रूप मे ब्याज चालू रखना, ब्याज के धधे की बुराइयाँ है। धनिकवर्ग की अर्थ-लिप्सा ने इस ब्याज-व्याधि को प्रोत्साहित किया है और जब यह बहुत ज्यादा बढ गई है तो सरकार को ब्याज के धन्धे पर अकुश लगाने की आवश्यकता अनुभव हुई है और उसने अनेक प्रकार के अकुश इस पर लगाए भी है। साहूकार एक बार रुपया दे देता है और फिर इतना शोषण करता है कि मूल रकम तो सदैव बनी रहती है और कर्जदार वर्षों तक ब्याज मे फँसा रहता है। ब्याज के रूप मे जब तक किसी समर्थ का दुग्ध-दोहन किया जाता है, तब तक तो किसी हद तक ठीक है, किन्तु गरीब कर्जदार के रक्त को चूसना, कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

गाय पाली जाती है और उसे भूसा भी खिलाया जाता है। अस्तु, यह तो ठीक है कि कोई भी गोपालक बदले मे गोबर ही ले कर सन्तोष नही कर सकता, वह गाय का दूध भी लेना चाहता है। जहा तक गाय से दूध लेने का सवाल है, गोपालक का अपना हक है। इससे कोई भी इन्कार नही कर सकता। परन्तु गाय को दुहते-दुहते जब दूध न रहे तो उसका रक्त दुहना अनुचित ही नही, अनैतिक भी है। ऐसा करने मे न तो आर्यत्व ही है और न इन्सानियत ही, बल्कि स्पष्ट नर-पशुता है।

आपने गाय की सेवा की है, उसे खिलाया-पिलाया है, रहने को जगह दी है, यदि वह बीमार हुई तो उसकी सेवा भी की है। इस प्रकार उसकी सुख-सुविधा का सारा उत्तरदायित्व भी आपने अपने ऊपर ले रखा है। और जब उसके दुहने का प्रसग आता है, तब भी सारा का सारा दूध नही दुह लेते है, किन्तु उसके बच्चे के पोषण के लिए भी कुछ छोड देते है। यही उदारवृत्ति ब्याज के सम्बन्ध मे भी होनी चाहिए। जब आप किसी को ब्याज पर रुपया दे, तो अपने हिस्से का न्याय-प्राप्त धन-दूध यथावसर उससे ले सकते है, परतु उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए भी कुछ अवश्य बचने दें। यहां तक तो ब्याज का धधा अक्षम्य नही समझा जाता, किन्तु उसके परिवार के लिए यदि आप एक घूँट भी नही बचने दें, तब तो वह अवश्य ही अक्षम्य हो जाता है।

सुना है, भारत के कुछ प्रान्तो मे तो नौ रुपये सैकडा तक ब्याज लिया जाता है। फिर भी गरीब रुपये लेने को तैयार हो जाता है। आवश्यकता पडने पर वह रुपया ले लेता है, पर जब परिस्थितियो से लड कर भी वह रुपया अदा नही कर पाता, तो सूदखोर साहूकार उसका माल-असबाब और घर तक नीलाम करा लेता है। इस तरह गाँव के गाँव बर्बाद हो जाते है।

एक भारतीय राजर्षि ने राजा को राज-धर्म बतलाते हुए कहा है—

"हे राजन्! तेरी प्रजा तेरी गाय है। तू उसका दूध दुह सकता है, क्योकि तू उसकी रक्षा करता है और समय-समय पर उसे अन्याय से बचाता है, और जब लुटेरे उसे लूटते है तब तू देश को लूटमार से बचाता है। इस प्रकार जब तू प्रजा की सेवा करता है तो इसका प्रतिफल तुझे टैक्स के रूप मे मिलता है। जब तक दूध आता है, तू अवश्य दुह ले, किन्तु जब दूध के बजाय रक्त आने लगे, तो तुझे दुहने का हक नही।"[५]

शाह और बादशाह

नीतिकार ने यह बात राजा से कही है। राजा तो राजा है, किन्तु व्यापारी उससे भी ऊँचे है। कहा जाता है कि पहला नम्बर शाह का है और बाद मे बादशाह का। अभिप्राय यह है कि व्यापारी, सेठ या और भी, लेन-देन का धधा करने वाला एक तरह से शाही धधा करता है और समय पडने पर राजा भी उससे भीख माँगता है। इस प्रकार उसके व्यापार के हाथ ऐसे है कि व्यापारी का स्तर ऊँचा माना जाता है और राजा का नीचा।

जब साहूकार को इतना ऊँचा दर्जा मिला है तो उसे सोचना चाहिए कि उसके कर्जदार की क्या हालत है? कर्जदार की आर्थिक स्थिति जब तक ठीक है, तब तक उससे न्याय-नीतिपूर्वक अपना हिस्सा लिया जाए। परन्तु जब उसकी स्थिति ठीक न हो, तो उसे और अधिक देना चाहिए तथा व्यवसाय का लाभप्रद उपाय बताना चाहिए, जिससे कि अमुक ढग से कार्य करने पर उसका घर भी बन जाए और जब उसका घर बन जाएगा तो स्वय कमाने भी लगेगा। यह पद्धति ठीक नही कि किसी को रुपया तो दे दिया, किन्तु फिर कभी यह मालूम ही नही किया कि वह किस अनुचित एव हानिकारक ढग पर लगाया जा रहा है। कर्जदार आपत्ति-सागर मे से ऊपर उभर कर आ रहा है या अधिकाधिक गहराई मे डूबता जा रहा है?

रुपया दिया जाता है, तो साथ मानवीय उदारता तथा प्रेम भी दिया जाना चाहिए। और प्रेम-दान का सच्चा अर्थ यह है वह कर्जदार भी आपके परिवार का एक सदस्य बन गया है। और जब सदस्य बन गया है तो वह आपका एक अभिन्न अग बन चुका है। इस तरह, जैसे आपको अपने परिवार की चिन्ता रहती है, वैसे ही उसकी भी समानरूप से चिन्ता करनी चाहिए और उसके काम-धन्धे आदि के सम्बन्ध मे बराबर पूछताछ करते रहना चाहिए।

अभिप्राय यही है कि अन्यान्य व्यापार-धन्धों की तरह ब्याज का धन्धा भी जब तक न्याय और नीति की मर्यादा मे रहता है, तब तक श्रावक के लिए दूषण नहीं कहा जा सकता। परन्तु नीति-मर्यादा को लाँघ कर जब वह शोषण का रूप धारण कर लेता है, तब वह एक प्रकार से अत्याचार एव लूट कहलाता है, और नीतिशील श्रावक के लिए वह अनैतिक दूषण बन जाता है।

रायचन्दभाई

आपने रायचन्दभाई के जीवन की एक घटना बहुत ही प्रसिद्ध है। वे एक बडे दार्शनिक और योगी पुरुष हो गए है। गाँधीजी ने कहा है कि मैंने किसी को अपना गुरु नही बनाया, किन्तु मुझे यदि कोई गुरु मिले हैं, तो वे रायचन्दभाई हैं। रायचन्द भाई पहले बम्बई मे जवाहरात का व्यापार करते थे। उन्होने एक व्यापारी से सौदा किया कि इतना जवाहरात, अमुक भाव मे, अमुक तिथि पर देना होगा। इसके लिए जो पेशगी रकम देनी पडती है, वह भी दे दी गई। परन्तु किसी कारणवश जवाहरात का भाव चढने लगा और इतना चढ गया कि बाजार मे उथल-पुथल मच गई। नियत तिथि पर व्यापारी से यदि वह नियत जवाहरात ले लिया जाता तो उसका घर तक नीलाम हो जाता। प्राय. दूसरी चीजो मे तेजी-मदी कम होती है, परन्तु जवाहरात मे तो वह लम्बी छलांगे मारने लगती है। बाजार की इस हालत को देख कर व्यापारी सकपका जाता है, और उसके होश-हवाश उडते दिखलाई देते हैं।

जब बाजार के चढते भावो के समाचार रायचन्दभाई के पास गये और तदनुसार व्यापारी की स्थिति का चित्र सामने आया तो वे उस व्यापारी की दूकान पर पहुँचे। उन्हे आता देख कर व्यापारी सहम गया। उसने सोचा—जवाहरात लेने आ गये हैं। उसने रायचन्द भाई से कहा—"मैं आपके धन का प्रबन्ध कर रहा हूँ। मुझे खुद को चिन्ता है और चाहे कुछ भी हो, आपका रुपया जरूर चुकाऊँगा। भले ही मेरा सर्वस्व चला जाए, पर आपका रुपया हजम नही करूँगा। आप किंचित् भी चिन्ता न करे।"

रायचन्दभाई बोले—'मैं चिन्ता क्यो न करूँ ? मुझे तुमसे अधिक चिन्ता लग गई है। तुम्हारी और मेरी चिन्ता का मुख्य कारण तो यह लिखा-पढी ही है न ? फिर क्यो न इसे खत्म कर दिया जाए ! और व्यर्थ की चिन्ता से मुक्ति पाई जाए।'

व्यापारी दयाभिलाषी भाव से बोला—'आप ऐसा क्यो करेंगे ? मैं कल-परसो तक अवश्य अदा कर दूँगा।'

उसका इतना कहना समाप्त भी नही हुआ था कि रायचन्दभाई ने उस इकरारनामे के टुकडे-टुकडे कर दिए और वे फिर दृढ उदारभाव से बोले—

"रायचन्द दूध पी सकता है, खून नही। मैं भलीभाँति समझता हूँ कि तुम वायदे से बँध गए हो। पर अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं और तुम पर मेरे चालीस-पचास हजार रुपये लेने हो गये हैं। परन्तु मैं यह रुपये लूँगा, तो भविष्य में तुम्हारी

क्या स्थिति होगी ? मैं तुम्हारी वर्तमान स्थिति से अनभिज्ञ नही हूँ । मैं अब एक पाई भी नही ले सकता ।"

यह कहकर रायचन्दभाई ने जब कागज का आखिरी पुर्जा भी फाड डाला तो वह व्यापारी उनके चरणो मे गिर पडा और सजल नेत्रो से उसने कहा—'आप मानव नही, मानवता की साक्षात् प्रतिमा है ! मनुष्य नही, देवता है !!'

इस प्रकार समय पर लेना और देना भी होता है, किन्तु कभी-कभी परिस्थिति-विशेष के उग्ररूप धारण करने पर रायचन्दभाई की तरह आपके हृदय मे दया और करुणा की लहर पैदा होनी ही चाहिए । इस मानवीय उदारता के द्वारा यदि आप किसी भी गिरते हुए भाई को समय पर बचा लेते है तो इस रूप मे समाज का अनैतिक शोषण बन्द हो सकता है । परन्तु ऐसा होता कहाँ है ? हम तो यही समझते है और प्रतिदिन के व्यवहार मे देखते भी हैं कि हिंसा और अहिंसा की मीमासा आज के मानव-समाज के लिए एक प्रकार से मनोरजन की बाते है । ऐसी अशोभनीय बातो से जैन-धर्म उच्चता के अभीष्ट शिखर पर कदापि नही पहुँच सकता , अपितु वर्तमान स्तर से शनै शनै नीचे खिसक कर एक दिन हृदय-हीनता की निम्नतर पृष्ठ-भूमि पर चला जाएगा ।

वस्तुत अहिंसा का सच्चा साधक वही है, जो अपने जीवन-व्यापार के प्रत्येक क्षेत्र मे हर प्रकार की हिंसा से बचने का प्रयत्न करता है । क्या मकान और क्या दूकान, सभी उसके लिए धर्म-स्थान होते है । उसके जीवन-व्यापार मे और प्रत्येक दशा मे, एक प्रकार की सुसगति रहनी चाहिए ।

सामाजिक विषमता-निवारण के लिए अहिंसा का सिद्धान्त

शक्ति की क्रूरता को जब अहिंसा की मधुरता से परिष्कृत करने का उपक्रम चला तो तुरन्त एक समस्या उठी कि जब तक व्यक्ति की अनियन्त्रित अर्थलालसा और भोगेच्छा पर नियन्त्रण नही होगा, तब तक अहिंसा का समुचित विकास नही हो सकता ।

तीर्थंकर महावीर ने ज्ञानालोक मे देखा कि एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण क्यो कर रहा है ? जनता को उत्पीडित करना उसका ध्येय नही है, किन्तु अपने अधिकार का विस्तार, अह का पोषण और उद्दाम राज्यलिप्सा की परितृप्ति ही इन आक्रमणो का मूल प्रेरणास्रोत है। एक व्यक्ति अपनी भोगेच्छा की तृप्ति के लिए सैकडो सुन्दरियो को अन्त पुर मे बन्द करके उनके साथ मनोरजन करता है । हजारो क्रीत दास-दासियों पर मनचाहा हुक्म चलाता है । एक-एक श्रीमन्त श्रेष्ठी के पास हजारो हलो की भूमि है, सैकडो पशु हैं, सैकडो ही कर-बद्ध नगर-जन उसकी सेवा मे खडे हैं और असख्य स्वर्णमुद्राएँ व्यापार मे बाहर फैली हुई है, तो कही भूमि-गृह के गुप्त भडारो मे छिपी पडी है । भोगेच्छा और अर्थ-लालसा से समाज का वातावरण अशांत और क्षुब्ध हो रहा है ।

इसी के साथ समाज की दूसरी तस्वीर भी उनके समक्ष थी, जो किसी भी सहृदय के करुण हृदय को द्रवित किए बिना नहीं रह सकती थी। लाखो व्यक्ति दरिद्रता के मारे दाने-दाने को तरस रहे हैं, श्रम करके भी समय पर अपना पेट नहीं भर सकते, एक वर्ग उस पर स्वामित्व का दावा करता है, पर वह उससे लेता बहुत ज्यादा है—और देता बहुत कम। इस कारण निम्नवर्ग के भीतर ही भीतर असतोष और क्षोभ की आग सुलग रही है। कुछ उच्च वर्ग से बदला लेने के लिए चोर या डाकुओ के दल मे जा मिलते हैं, कुछ हत्यारे बन जाते है और कुछ साहसहीन दरिद्र दर-दर पर भीख मागते फिरते हैं। मातृ-जाति भी इस अभाव की ठोकरो से नहीं बच पा रही है। कुछ असन्तुष्ट और समाज की अवमानना से प्रताडित सुन्दरियाँ वेश्या-वृत्ति करने को विवश हो जाती है। कुछ गुप्त दुराचार और पापाचार की शिकार बन जाती है, और कुछ पशुओ की भाँति बाजार मे बिक कर दासी बन जाति है—अपनी भावी सन्तान-परम्परा तक के लिए।

समाज की विषमता का यह करुण-चित्र महावीर के अन्तस्तल को आन्दोलित कर उठा। जब तक समाज स्वस्थ नही हो सकता, तब तक उच्च अध्यात्म का पौष्टिक भोजन उसके लिए नित्य उपयोगी नही हो सकता। स्वस्थ समाज ही उच्च आदर्शों को ग्रहण कर सकता है, उन्हे पचा सकता है। सामाजिक पवित्रता के लिए महावीर ने अहिंसा का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। और मनुष्यो की, विशेषत श्रमणोपासक गृहस्थों की अपने व्यापार, धन्धे या कर्म मे विषमता एव शोषण बढ़ाने वाली वृत्ति को हिंसा (सकल्पी हिंसा) बताया है, जिसे वर्तमान युग की भाषा मे सामाजिक हिंसा कही जा सकती है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ ईर्ष्या है, द्वेष है, घृणा है, मिथ्या अहकार है और मनुष्य के प्रति अपमान की हीन भावना है, वहाँ हिंसा है। जब हम हिंसा के स्वरूप पर विचार करें तो इस भयानक हिंसा को न भूल जाएँ, और जब अहिंसा की साधना के लिए तैयार हो, तो पहले इस आन्तरिक हिंसा को दूर करें, चित्त को पूर्णत निर्मल बनाएँ, कम से कम समग्र मानव-जाति को प्रेम एव मित्रता की उच्च भावना मे देखें और तब क्रमश आगे बढ़ते-बढ़ते अहिंसा के वरिष्ठ आराधक बनें। □

आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म | २४

जैन-धर्म की अहिंसा इतनी विराट् है कि ज्यो-ज्यो उस पर विचार करते है, वह अधिकाधिक गम्भीर होती जाती है। जैन-धर्म ने सूक्ष्म अहिंसा के सम्बन्ध मे जितना विचार किया है, उतना ही विचार स्थूल अहिसा के सम्बन्ध मे भी किया है। यह बात नही है कि वह निष्क्रिय हो कर पडे रहने की सलाह दे और जब कर्त्तव्य की बात सामने आए, जीवन-व्यवहार मे अहिंसा को उतारने का प्रसग चले, तो मौन हो जाए। यदि ऐसा होता तो जैन-धर्म आज दुनिया के सामने एक क्षण भी खडा नही रह सकता था। वह बालू की दीवार के समान दूसरे धर्मों और मतो के मामूली झोको से ही ढह जाता। परन्तु वह ऐसा निष्प्राण और निराधार नही है। वह, क्या गृहस्थ और क्या साधु, सभी के कर्त्तव्यो का स्पष्टरूप से निर्देश करता है। दुर्भाग्य से कुछ लोगों ने जैन-धर्म के वास्तविक या मौलिक स्वरूप को भुला दिया है, फलत कुछ ने तो स्पष्ट 'हाँ' या 'ना' न कह कर एकमात्र मौन मृत्यु की ही राह पकड ली है। पर, इस तरह बच-बच कर बात करने से कब तक काम चल सकता है? यदि कोई गृहस्थ विद्यालय अथवा औषधालय आदि खोलता है, तो वह अपने इस कार्य के सम्बन्ध मे कुछ स्पष्ट निर्णय तो चाहेगा ही कि वह जो कार्य कर रहा है, वह धर्म है या पाप है? गोलमोल भाषा मे कहा जा सकता है कि विद्यालय या औषधालय खोलना-खुलवाना अच्छा है। पर, सोचना तो यह है कि वह केवल लोक-भाषा मे अच्छा है, या धार्मिक दृष्टि से भी अच्छा है? किसी स्पष्ट निर्णय पर, तो आना ही पड़ेगा। केवल लोक-धर्म, राष्ट्र-धर्म या गृहस्थ-धर्म कहने से काम नही चल सकता।

समय की गति

कोरे मौन धारण करने से भी काम नही चल सकता, क्योकि समय प्रगति-पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। जो व्यक्ति, समाज, अथवा राष्ट्र व्यापक दृष्टिकोण से समय की गति को देख लेता है और अपने विकास-साधककर्मों को समय के अनुकूल बना लेता है, समय उसी का समर्थन करता है। कोई कुछ पूछे और उत्तरदाता मौन हो रहे, तो इसका अर्थ यही समझा जाएगा कि कही कोई गडबडी है, दाल मे काला है और अपने आप मे ही कही न कही दुर्बलता है। धर्म और दर्शन का अन्तर्मर्म खुल कर बाहर आना चाहता है। भला, कब तक कोई उसे दबाए-छिपाए रख सकता है!

इन सब उलझनो के कारण राजस्थान के एक पथ ने तो स्पष्ट रूप से 'ना' कहना शुरू कर दिया है। उसका कथन है—'इन सासारिक बातो से हमे क्या प्रयोजन ? हमसे तो आत्मा की ही बात पूछो।

ऐसा पूछा जा सकता है कि केवल आत्मा की ही बात करने वाले व्यक्ति भोजन क्यो करते है ? औषधालयो मे जा-जा कर दवाइयाँ क्यो लाते है ? चलते-फिरते क्यो है ? ये सब तो आत्मा की बातें नही है ! केवल आत्मा-सम्बन्धी बाते करने वालो को ससार से कोई सम्बन्ध ही नही रखना चाहिए। वे शहरो मे क्यो रहते है ? जगल की हवा क्यो नही खाते ? लम्बे-लम्बे भाषण झाड कर श्रोताओ का मनोरजन करने की उन्हे क्या आवश्यकता है ?

उदरपूर्ति के लिए उद्योग का निर्वाचन

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उदरदेव की पूर्ति तो सभी को करनी पडती है। ऐसा कभी नही हो सकता कि 'करेमि भते' का पाठ बोलते ही, अर्थात्—साधु-दीक्षा लेते ही कोई आजीवन अनशन कर दे, देहोत्सर्ग कर दे।

यदि गृहस्थ अपनी उदर-पूर्ति करेगा तो वह उद्योग-धन्धा तो निश्चय ही करेगा। वह या तो खेती करेगा या कोई और व्यापार करेगा। भिक्षापात्र ले कर तो वह अपना जीवन-निर्वाह कर नही सकता ! साधु-जीवन मे भी आखिर भिक्षा-रूपी उद्योग करना ही पडता है। इस दृष्टि से साधु का जीवन भी एक प्रकार से उद्योग पर ही आश्रित है। अपनी भूमिका के अनुरूप प्रयत्न तो वहाँ भी करना पडता है। इस प्रकार गृहस्थ और साधु दोनो ही अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। जैन-धर्म यदि साधुओ को भोजन बनाने का आदेश नही देता तो दूसरी ओर साधारण गृहस्थ को भिक्षा माँग कर निर्वाह करने का विधान भी नही करता। क्या जैन-धर्म कभी किसी गृहस्थ से यह कहता है कि भीख माग कर सीधी रोटी खाना धर्म है और कर्त्तव्य-समर मे जूझ कर रोटी खाना अधर्म है ? नही, जैन-धर्म ऐसा कभी नही कहता। परन्तु हमारे अनेक व्यक्तियो ने भ्रान्तिवश यह समझ लिया है कि भिक्षा माँग कर खाना 'धर्म' है, और कर्त्तव्य करके जीवन-निर्वाह करना 'पाप' है ! परन्तु जो रोटी न्याय-नीतिपूर्वक पुरुषार्थ से और उत्पादन से प्राप्त की जाती है, क्या वह पाप की रोटी है ?

गलतफहमी

जो लोग ऐसी रोटी को पाप की रोटी बतलाते है, उनके सम्बन्ध मे साहस-पूर्वक ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होने जैन-शास्त्रों का अन्तस्तत्व छुआ तक नहीं है। वे गलतफहमी और सकुचित विचार-शृंखला मे उलझे पडे हैं। उनका कहना है कि गृहस्थ तो प्रवृत्ति मे पडा हुआ है, इसलिए उसकी कमाई हुई रोटी पाप की रोटी है, और यदि वह भिक्षा माँग कर सीधा खाता है तो प्रासुक होने से वह धर्म की रोटी है। परन्तु जैन-धर्म के आचार्यों ने हाथ पर हाथ धर कर निष्क्रिय बैठे रहने

वाले, परश्रमोपजीवी गृहस्थो को भिक्षा से निर्वाह करने का अधिकार कब और कहाँ दिया है ? ऐसे सामान्य गृहस्थो के लिए भिक्षा का विधान ही कहाँ है ? जो हट्टे-कट्टे हो कर भी दूसरो के श्रम के सहारे माल उडाते हैं और भिक्षा करके सुखी जीवन बिताते हैं, उनकी भिक्षा को हमारे यहाँ 'पौरुषघ्नी' भिक्षा बतलाया गया है ।[1] सामान्य गृहस्थ की भूमिका श्रम करने की है, भिक्षा माँग कर खाने की नही ।

प्रवृत्ति का प्राबल्य

इस प्रकार जीवन तो चाहे साधु का हो या गृहस्थ का, प्रवृत्ति के बिना चल नही सकता । इतना ही नही, प्रवृत्ति के बिना ससार मे क्षणभर भी नही रहा जा सकता । इस सम्बन्ध मे गीताकार कितनी आदर्शपूर्ण बात कहते हैं—कोई भी व्यक्ति क्षणभर भी कर्म किए बिना नही रह सकता ।[2]

यदि सारा ससार भिक्षा-पात्र ले कर निकल पड़े तो रोटियाँ आएँगी भी कहाँ से ? क्या रोटियाँ आकाश से बरसने लगेगी ? कोई देव आकाश से रोटियाँ नही बरसाएगा । उनके लिए तो यथोचित प्रवृत्ति और पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा । प्रवृत्ति को कोई छोड ही नही सकता, वह तो सहज भूमिका आने पर और काल-लब्धि[3] पूरी हो जाने पर, स्वत ही छूट जाएगी । जब प्रवृत्ति छूटने का दिन आएगा, तब वह अपने आप छूटेगी ।

भगवान् शान्तिनाथ आदि ने चक्रवर्तीराज्य को स्वय छोडा या भोग्यकर्म समाप्त होने पर वह यथासमय अनायास ही छूट गया ?

यह तो मानना ही पडेगा कि छोडने की भूमिका आने पर ही वह छोडा गया । जब तक छोडने की भूमिका नही आती, तब तक छोडा नही जाता । यदि छोडना ही था, तो पहले ही क्यो नही छोड दिया ? क्या पहले राज्य मे आसक्ति की प्रधानता थी? या उनमे छोडने की ताकत नही थी ? या उन्हे धर्म-निष्ठ जीवन की वास्तविकता ज्ञात नही थी ? नही, यह सब कुछ नही था । तब तक केवल काल-लब्धि परिपक्व नही हुई थी, इसलिए पहले नही छोडा गया ।

वृक्ष मे फल लगता है । परन्तु जब तक वह कच्चा रहता है, तब तक डठल से बँधा रहता है—झडता नही है । जब वह पक जाता है तो अपने आप टूट कर गिर जाता है, उसे बलात् तोडने की आवश्यकता नही रहती ।

---

१ देखिए, आचार्य हरिभद्र का भिक्षाष्टक

२ "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

३ जैन-धर्म म काल-लब्धि का अर्थ है—"किसी भी स्थिति-परिवर्तन के योग्य समय का पूर्ण हो जाना । स्थिति-परिवर्तन मे स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ आदि अनेक हेतु है, उनमे काल भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है ।"

त्याग

त्याग भी दो तरह से होता है। एक त्याग हठ-पूर्वक होता है, जो किसी आवेश मे आ कर किया जाता है। परन्तु उसमे त्यागी हुई वस्तु से सूक्ष्मरूप मे सम्बन्ध बना रहता है। ऐसे त्याग से पतन की सम्भावना बनी रहती है। दूसरा त्याग सहज-त्याग है, जो समुचित भूमिका आने पर अपने आप हो जाता है। दार्शनिक भाषा मे हम इसे 'छूट जाना' कह सकते है, 'छोडना' नही।

इस सम्बन्ध मे आर्द्रकुमार की कथा जानने योग्य है—आर्द्रकुमार जब दीक्षित होने लगे तो आकाशवाणी हुई "अभी तुम्हारा भोगावली कर्म पूरा नही हुआ है। अभी भोग का समय बाकी है, अत समय आने पर सयम लेना।" परन्तु आर्द्रकुमार ने आकाशवाणी की उपेक्षा की, और गर्वोद्धुर भाव से कहा—"क्या चीज होते है कर्म ? मैं उन्हे नष्ट कर दूंगा, तोड डालूंगा।" और उन्होने हठात् दीक्षा ले ली। तदुपरान्त वे साधना के पथ पर चल पडे। वास्तव मे वे बडे ही तपस्वी थे। साधना की भट्टी मे उन्होंने अपने शरीर को झोक दिया और समझने लगे कि आकाशवाणी झूठी हो जाएगी। किन्तु भोग का निमित्त मिलते ही उन्हे वापस लौटना पडा। वे फिर उसी गृहस्थदशा के स्तर पर वापस आ गए और 'पुनर्मूषिको भव' वाली गति हुई। आर्द्र-कुमार के अन्तर्जीवन से भोग-वासना की दुर्बलता दूर नही हुई थी। वह हठात् ग्रहण किए गए सयम के आवरण मे छिप अवश्य गई थी, किन्तु समय आते ही वह पुन प्रकट हुई और उन्हे सयम से पतित हो कर फिर पहले की स्थिति मे आना पडा।

पहली कक्षा के विद्यार्थी को जब तीसरी कक्षा मे ले लिया जाता है, तो वह उसक भार को सँभाल नही सकता। यही कारण है कि स्कूलो मे जब कोई विद्यार्थी किसी कक्षा मे अनुत्तीर्ण हो जाता है, तो उसे उसी कक्षा मे रखा जाता है। उसके लिए यही उपाय विकास का माध्यम है।

इस प्रकार यदि गृहस्थी को छोडा जाए तो फल पकने पर, अर्थात्—परिपक्व स्थिति मे ही छोडा जाए। ऐसा न हो कि कर्त्तव्य के दायित्व से घबरा कर भाग खडे हो और ऊपर की ओर व्यर्थ ही छलांगें मारने लगे।

साधु-जीवन निस्सन्देह ऊँचा है और उसके प्रति धर्मनिष्ठ लोगो मे श्रद्धा भी है। पर, जो साधक गलत और अधूरी साधना करके ही आगे बढ़ जाते हैं, वे साधु-वेष ले कर भी फिसल जाते है और सहज-भाव मे नही रहते। साधु का जीवन तो सहज-भाव मे ही बहना चाहिए। अत जैन-धर्म किसी वस्तु को हठाग्रह-पूर्वक छोडने की अपेक्षा आत्म-भाव की उच्चता के साथ सहजरूप से छूट जाने को ही अधिक महत्त्व देता है।

दुर्भाग्य से आज का श्रावक, साधु की भूमिका की ओर दौडता है; और साधु, गृहस्थ की भूमिका की ओर। जिसे प्रथम कक्षा मिली है, वह एम० ए० की

कक्षा मे प्रवेश करने के लिए भागता है ओर जिसे एम० ए० की कक्षा मिली है, वह पहली कक्षा मे बैठने का प्रयत्न करता है।

यदि किसी बीमार को स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक भोजन दे दिया जाए तो वह कैसे पचा सकता है? ऐसा करने पर तो उसकी शक्ति का पूर्वापेक्षया अधिक ह्रास ही होगा। इसी प्रकार किसी स्वस्थ आदमी को यदि बीमार का खाना दे दिया जाए तो उसे क्या लाभ होगा? वह भूखा रह कर थोड़े ही दिनो मे दुर्बल हो जाएगा।

अज्ञान

इस तरह आज हमारे यहाँ सारी बाते परिवर्तित-सी दिखलाई पडती है। इसका मुख्य कारण 'अज्ञान' है। अज्ञान से ही यह नारा लगने लगा कि—'यह सब ससार है, पाप है, अज्ञान मे पडना है!' कहा जाने लगा —'पहली कक्षा तो मूर्ख रहने की है! यहाँ क्या ज्ञान मिलेगा?' ऐसे नारे सुन-सुन कर सम्भ्रान्त व्यक्ति भी इस ससार (गृहस्थ जीवन) की कक्षा से खिसकने लगते है। वे जल्दी से जल्दी निकल भागने की कोशिश करते है। यदि उस प्रथम कक्षा वाले से यह कहा जाता है कि तुमने भी क्रान्ति की है, तुम्हारे भीतर भी इन्कलाब आ रहा है, तुम भी ठीक राह पर हो, तुमने भी कुछ न कुछ ज्ञान पा लिया है, खोया नही है। यदि इस तरह धीरे-धीरे विकास करते रहे तो एक दिन तुम अवश्य उच्चकोटि के विद्वान् बन जाओगे। इस प्रकार प्रथम कक्षा वाले को भी अपनी कक्षा मे रस आता है। उसे भी अपने जीवन का कुछ आनन्द आए बिना नही रहता।

पर, कुछ साधको ने भ्रान्त विचार-शृखलाओ मे फँस कर और सत्यमार्ग से विचलित हो कर जोरो के साथ यह बात फैला दी है कि—पुत्र-पुत्रियो द्वारा माता-पिता आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह ससारी काम है। इसमे धर्म का अश भी नही है। इस प्रकार की बाते कह-कह कर उन्होने गृहस्थ का मन गृहस्थ-धर्म की भूमिका से दूर हटा दिया है। फलत गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खडा होता है। न तो वह गृहस्थधर्म का ही पूरी तरह पालन कर सकता है, और न साधु-जीवन के रस का ही पूरा आस्वादन कर पाता है। उसके विषय मे यह उक्ति चरितार्थ होती है—

"हलवा मिले न माडे, दोई दीन से गये पाडे।"

एक पाडेजी घर-बार छोडकर सन्यासी बन गए थे। यह सोच कर कि घर की रूखी-सूखी रोटियो से पीछा छूट जाएगा और हलुवा पूरी खाने को मिलेगी। पर, उन्हे वहाँ रुखी-सूखी रोटियाँ भी ठीक समय पर न मिली। "चौबेजी बनने चले थे छब्बेजी, रह गए दुब्बे ही।"

विकृत-जीवन

आज गृहस्थ-धर्म की पगडडियो पर चलने वालो ने अपना मार्ग अत्यन्त

संकीर्ण बना लिया है। वे समझ बैठे है कि जो काम साधु करे, उसी मे धर्म है, और जो काम साधु न करे, उसमे पाप के सिवाय और कुछ नही है। बहुतेरे लोगो के दिमाग मे ऐसी भ्रान्त धारणा बैठ गई है। इसलिए उनका विश्वास हो गया है कि रोटियाँ खाई तो जाएँ, पर उनके लिए कमाई न की जाए, कपडा पहना तो जाए, पर बुना न जाए, पति-पत्नी बना तो जाए, परन्तु एक-दूसरे की सेवा न की जाए माता का पद तो लिया जाए, पर माता का काम न किया जाए, पिता बनने मे सौभाग्य समझते हैं, परन्तु पिता के दायित्व से बचना चाहते हैं।

इन भ्रमपूर्ण धारणाओ ने आ कर गृहस्थ-जीवन को विकृत कर दिया है। आखिर यह उल्टी गाडी कब तक चलेगी ? क्या जैन-धर्म ऐसी उलटी गाडी चलाने का आदेश देता है ? वह ऐसा तो कभी नही कहता कि जो कुछ तुम बनना चाहते हो, उसके दायित्व से बचने की कोशिश करो।

जैन-धर्म जीवन की आवश्यक प्रकृतियो को एकान्तत बन्द करने के लिए नही आया है। वह इस सम्बन्ध मे एक सुन्दर सन्देश देता है, जो सर्वतोभावेन अभिनन्दनीय है।

त्याग नहीं, सुधार

खेती-बाडी, व्यापार-वाणिज्य आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ है, उन सबको बन्द करके कोई जीवन के पथ पर चलना चाहे तो एक दिन भी टिक नही सकता। यही नही, अकर्मण्य हो कर, आलसियो की पंक्ति मे बैठ जाने मात्र से ही वह प्रवृत्तियो से छुटकारा नही पा सकता। उसका मन, जो कि प्रवृत्तियो का मूल स्रोत है, अपनी उधेड-बुन मे निरन्तर लगा ही रहता है। उसकी दुकानदारी कभी बन्द नही होती। उसे कही ले जा कर बिठाया नहीं जा सकता, और किस कोने मे भला छिपाया जा सकता है ? ऐसी स्थिति मे जैन-धर्म कहता है—प्रवृत्तियाँ भले ही हो, पर उनमे जो विष का पुट है, उसे हटा दो। उनके पीछे क्षुद्र स्वार्थ एव आसक्ति की जो विषाक्त भावनाएँ है उन्हे धक्का दे कर बाहर निकाल दो। यदि तुम दुकान पर बैठे हो तो अन्याय से धन न बटोरो, किसी गरीब का खून मत चूसो, दूसरो को मूँडने की ही दुर्वृत्ति मत रखो। तुम्हारी प्रवृत्ति से यदि अनीति और धोखाधडी का विष निकल जाएगा, तो वह तुम्हारे जीवन की प्रगति मे बाधक नही बनेगा, अपितु विकास की नई प्रेरणा प्रदान करेगा।

खेती-बाडी करने वाले को भी जैन-धर्म यही कहता है कि यदि तुम खेती करते हो तो उसमे अन्धाधुन्धी से प्रवृत्ति मत करो। खेती की प्रवृत्ति मे से अज्ञान और अविवेक का जहर निकाल दो। अपने उत्पादन किए अन्न को ऊंचे दामो मे बेचने के लिए दुर्भिक्ष पडने की गन्दी कामना न करो, बल्कि दूसरो के जीवन-निर्वाह मे सहायक बनने की करुणामयी पवित्र भावना रखो। बस, वही खेती आर्य-कर्म कहलाएगी। पवित्र एव करुणामयी भावना के अनुरूप कुछ अश मे पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकेगा।

गृहस्थ जिस किसी भी कार्य मे हाथ डाले, यदि उसके पास विवेक का दिव्य-प्रकाश है तो उसके लिए वह आर्य-कर्म होगा। इसके विपरीत यदि असावधानी से, अविवेक से और साथ ही अपवित्र भावना से वह कोई कार्य करता है, फिर चाहे वह दुकानदारी हो या घर की सफाई करने का ही साधारण काम क्यो न हो, तो वह अनार्य-कर्म करने वाला समझा जाएगा। जैन-धर्म आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म की एक ही व्याख्या करता है, जो इस प्रकार है—'विवेकपूर्वक, न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म 'आर्य-कर्म' है, और अन्याय से, अनीति से, छल-कपट से एव दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म 'अनार्य-कर्म' है।

आर्य या अनार्य कर्म ?

उदाहरणार्थ—एक दुकानदार है। उसकी दुकान पर चाहे बच्चा आए, चाहे जिन्दगी के किनारे लगा बूढ़ा आए, चाहे कोई भोलीभाली ग्रामीण बहन आ जाए, यदि वह सभी को ईमानदारी के साथ सौदा देता है और अपना उचित मुनाफा रखकर सब को बराबर तौलता है, तब तो वह आर्य-कर्म की राह पर है। इसके विपरीत यदि वह दुकानदार सभी को मूंडने की कोशिश करता है, दूसरो का गला काटना प्रारम्भ कर देता है, नमूना कुछ और दिखाता है, किन्तु देता कुछ और है, तो वह अनार्य-कम की पगडडी पर है।

अध्यापक का कर्त्तव्य है—बच्चो को सत्शिक्षा दे कर उनका चरित्र-निर्माण करना तथा विकासमार्ग पर प्रतिष्ठित करना। यदि वह अपने कर्त्तव्य के प्रति लापर-वाह रहता है, विद्यार्थी पढें या न पढे, इसकी उसे कोई चिन्ता नही है, और थोडी-सी भूल होते ही वह विद्यार्थी पर बेंते बरसाता है, तो वह अनार्य कर्म की राह पर है। यदि कोई अध्यापक अपने काम मे पूर्ण विवेक रखता है, अपनी जवाबदेही भलीभाँति समझता है और उसे पूरी भी करता है तो उसका वह कर्म अमृत-कर्म होगा, वह उसका शुद्ध यज्ञ कहलाएगा। अन्याय, अनीति अविवेक और अज्ञान को निकाल कर जो कर्तव्य या कर्म किया जाता है, वही आर्य-कर्म है।

आश्रव सवर

आश्रव का काम कौन-सा है और सवर का काम कौन-सा है ? अर्थात् ससार का मार्ग क्या है और मोक्ष का मार्ग क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर आचाराग सूत्र मे बड़े ही सुन्दर ढग से दिया गया है—

'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।'

अर्थात्—"जिस प्रवृत्ति से आश्रव होता है, जो कर्मों के आगमन का हेतु है, उस प्रवृत्ति मे यदि विवेक का रस डाला गया है, अज्ञान को निकाल दिया गया है, न्याय-नीति और सयम की तन्मयता उसके पीछे रखी गई है, तो वही प्रवृत्ति सवर का हेतु बन जाती है। इसके विपरीत सामायिक, दया, पौषध आदि जो प्रवृत्तियाँ सवर

का कारण है, यदि उनमे विवेक नही है, ज्ञान की सुगध नही है, सावधानी नही है, तो वे प्रवृत्तियाँ 'आश्रव' का कारण बन जाती है। श्रावक एव साधु बन जाना सवर है, किन्तु कर्त्तव्य की पवित्र भावना यदि न रही, सत्-असत् का विवेक न रखा गया, तो वह ऊपर से दिखाई देने वाला सवर भी आश्रव है। वह रग-रोगन किया हुआ कागज का फूल है, जिसकी कलियो मे प्रेम, शील आदि सद्‌गुणो की सुवास नही है।

यह है 'आश्रव' और 'सवर' के विषय मे जैन-धर्म का स्पष्ट दृष्टिकोण! यह है 'आस्रव' और 'सवर' को नापने का जैन-धर्म का विशाल गज! जिस धर्म ने इतना महान् मगल-सूत्र सिखाया हो, उसके अनुयायी-वर्ग मे जब धर्म के प्रति सकुचित और गलत दृष्टिकोण पाए जाते है तो किसी के भी मन मे इसके प्रति निराशा की लहर उठ सकती है। हम सोचते है कि जब जैन-धर्म ने अपने साधको को मार्ग खोजने के लिए प्रकाशमान रत्न दे दिया है, फिर तो यह उन साधको की ही अपनी गलती है, जो ऐसा अमूल्य रत्न पा कर भी अन्धश्रद्धा की दीवार से सिर टकराएँ और व्यर्थ का वितण्डा-वाद बढाएँ। सचमुच जैन-धर्म ने 'आश्रव' और 'सवर' के कार्यों की लम्बी सूची नही बनाई है, सूची पूरी बनाई भी नही जा सकती। उसने थोडे से भेद गिना कर उनके बाद विराम नही लगा दिया है। आर्य-अनार्य कर्मों के सम्बन्ध मे भी उसने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य गिना कर ही समाप्ति की घोषणा नही कर दी है। उसने तो '**जे यावन्ने तहप्पगारा**' लिख कर स्पष्ट कर दिया है कि—इस प्रकार के जो भी अन्य कार्य है, वे सभी आर्य-कर्म है। इसी प्रकार 'आश्रव' और 'सवर' के विषय मे भी उसने कहा है—"विवेकी पुरुष आश्रव मे भी सवर की स्थिति प्राप्त कर सकता है, और अविवेकी पुरुष सवर के कार्य मे भी आश्रव ग्रहण कर लेता है। यह दृष्टिकोण कितना व्यापक एव शाश्वत है!

सबसे बडा प्रमाण

सामान्यतया कहा जा सकता है कि खेती आर्य-कर्म है, इस विषय मे प्रमाण क्या है? इसके उत्तर मे सबसे पहले यही कहा जा सकता है कि प्रश्नकार का विवेक ही प्रमाण है, उसके अन्त करण की वृत्तियाँ ही प्रमाण है। सबसे बडा प्रमाण मनुष्य का अपना अनुभव ही है। क्या तीर्थंकर किसी बात के निर्णय के लिए किसी ग्रथ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते-फिरते है? नही। उनके पास तो ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड जाते है। उन्हे किसी भी ग्रथ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नही होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कही भी भटकने की आवश्यकता नही है। जिसकी दृष्टि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी भी चीज के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय स्वय कर सकता है। 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक का है, क्योंकि वही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और

अन्तत॰ आत्मा को केवलज्ञान का प्रकाश देता है।[४] जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बातें करता है, बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ मे नही आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है—जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही।'[५]

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—"साधक की सहजबुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।"[६]

बुद्धि का गज

वस्तुत जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते है, और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अत खेती आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-शुद्ध अन्त करण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिनभर चोटी से ऐडी तक पसीना बहाता है, अन्न उत्पन्न करके ससार को देता है, अपना सारा समय, परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है, ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता के कर्म को यदि कोई अनार्य-कर्म कहे और उस अन्न को खा कर ऐशआराम से जिन्दगी बिताने वाले वह स्वय आर्य-कर्मी होने का दावा करे, भला, इस निराधार बात को किसी भी विवेकशील का अन्त करण कब स्वीकार कर सकता है ? वह बुद्धि का गज डाल कर जरा अपने आपको नाप-तौल कर देखे कि कृषि, क्या प्रत्येक स्थिति मे अनार्य-कर्म हो सकती है ?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणो की भी इस सम्बन्ध मे भी कोई कमी नही है।

देवलोक के बाद

उत्तराध्ययन सूत्र मे उल्लेख किया गया है कि जो साधक अपना जीवन साधना मे व्यतीत करता है, जो सदैव सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है, वह अपनी मानव-आयु समाप्त करके देवलोक मे जाता है। देवलोक के जीवन के पश्चात् वह कहाँ पहुँचता है ? यह बताने के लिए वहाँ ये गाथाएँ दी गई है— जो साधक देवलोक मे जाते है, वे जीवन मे पुन प्रकाश प्राप्त करने के लिए वहाँ से कहाँ जन्म लेगे ? उत्तर—जहाँ खेती लहलाती होगी। सबसे पहला पद यह आया

---

४ वह सर्वदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानत पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है।

५ "यस्तर्केणानुसधत्ते स धर्मं वेद नेतर।"

६ "पन्ना समिक्खए धम्मतत्त तत्तविणिच्छिय।"

है कि उस साधक को खेत मिलेगा। उसे खेत की उपजाऊ भूमि मिलेगी, जिसमे वह सोने से भी बढ कर जीवनकण-अन्न उत्पन्न करेगा।"[७]

यहाँ सोने और चाँदी से भी पहले खेत की गणना की गई है। जैन-परम्परा खेती-बाडी को पुण्य का फल मानती है। खेती-बाडी, खेत और जमीन यदि पाप के फल होते तो शास्त्रकार उसे पुण्य का फल क्यो बतलाते ?

उत्तराध्ययन सूत्र मे आगे भी कहा है—कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र भी होता है।[८]

कौन-सा कर्म ?

यहाँ कर्म से वैश्य होना बतलाया गया है, परन्तु उस कर्म का निर्णय आप कैसे करेगे ? कौन-सी दया, पौषध आदि क्रिया है, जो आपमे से किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी को वैश्य और किसी को शूद्र बनाती है ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप मे बाँटने वाला कर्म कौन-सा है ? धार्मिक नियम और मर्यादाएँ तो सभी के लिए समान है और उनका फल भी सभी के लिए समान ही बताया गया है। कोई धार्मिक नियम या व्रत-कर्म ऐसा नही, जो किसी एक को ब्राह्मण और किसी दूसरे को वैश्य बनाता हो।

तब फिर यहाँ 'कर्म' से क्या अभिप्राय है ? इसे समझने के लिए प्राचीन टीकाकारो की ओर नजर डालनी होगी। उत्तराध्ययन पर विस्तृत और प्राजल टीका लिखने वाले वादि-वेताल शान्त्याचार्य विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी मे हो गए है। उन्होंने अपना स्पष्ट चिन्तन जैन जनता के सामने रखा है। उन्होने 'कम्मुणा वइसो होइ' पद पर टीका लिखते हुए कहा है —

"कृषि-पशु-पालन-वाणिज्यादि कर्मणा वैश्यो भवति।"

भगवद्गीता मे भी यही बात स्पष्टरूप से कही गई है —

"कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्।"

लोग प्रामाणिक शास्त्रो का दिव्य-प्रकाश उपलब्ध होते हुए भी आज गलत-फहमी के कारण कर्मों को समझने मे भी भ्रमित हो गए है, लेकिन प्राचीन जैन और

---

७ खेत्त वत्थु हिरण्ण च पसवो दास—पोरुस।
चत्तारि कामखधाणि, तत्थ से उववज्जइ॥
मित्तव नाइव होइ, उच्चागोए य वण्णव।
अप्पायके महापण्णे, अभिजाए जसो बले॥

—उत्तरा० ३, १७-१८

८ "कम्मुणा बभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

जैनेतर साहित्य स्पष्ट बताते है कि कृषि करना वैश्यवर्ण का ही कार्य था, जो आज एकमात्र शूद्रो या अनार्यों के मत्थे मढा जा रहा है।

भगवान् महावीर ने भी कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियो को वैश्य बतलाया है। भगवान् महावीर के पास आने वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावको का वर्णन उपासकदशागसूत्र मे आता है, उनमे कोई भी ऐसा नही था, जो श्रावक अवस्था मे खेती-बाडी का धन्धा न करता हो। इससे कोई व्यक्ति स्वय अनुमान लगा सकता है कि जैनपरम्परा मे खेती के विषय मे क्या निर्देश किया गया है ? वाणिज्य-व्यापार का नम्बर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशु-पालन गिनाया गया है।

त्याग का क्रम

यहाँ एक बात ध्यान मे रखना चाहिए कि बारह व्रतधारी श्रावक की भूमिका तक तो खेती का कही भी निषेध नही है। इससे ऊपर की भूमिका प्रतिमाधारी श्रावक की भूमिका है। क्रमश पहली, दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओ को स्वीकार करने के बाद जब श्रावक आठवी प्रतिमा को अगीकार करता है, तब आरम्भ के कार्यों का परित्याग कर कृषि का त्याग करता है। इस सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा के सभी आचार्य एक स्वर से समर्थन करते हुए कहते है।[९]

अर्थात्—यहाँ आरम्भ से कृषि-कर्म आदि समझना चाहिए। उसका त्याग आठवीं प्रतिमा मे होता है। इस तरह प्रतिमाधारी श्रावक आठवी प्रतिमा मे स्वय कृषि करने का त्याग करता है और नौवी प्रतिमा मे कराने का भी त्याग कर देता है।[१०]

शास्त्रो का इतना स्पष्ट विवरण हमारे सामने मौजूद है और त्याग का क्रम भी स्पष्ट रूप से शास्त्र दिखा रहे है, दुर्भाग्य से फिर भी कुछ लोग भ्रम मे पड़े हुए हैं। यह कितना आश्चर्यजनक एव खेदपूर्ण है कि जो बात आगे की भूमिका मे छोडने की है, उसे पहले की भूमिका मे छोड देने का आग्रह किया जाता है, और जो विषय पहले की भूमिका मे त्यागने योग्य है, उसका ठिकाना ही नही है! धोती की जगह पगडी और पगडी की जगह धोती लपेट कर हम अपने आपको शेखचिल्ली की भाँति दुनिया की दृष्टि मे हास्यास्पद बना रहे है।

शास्त्र-प्रमाण

आर्य और अनार्य कर्मों का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना-सूत्र मे भी आया है।

---

९ आरम्भ —कृष्यादिकर्म, तत्त्याग करोति।

१० देखिए—समन्तभद्रकृत 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' और प्रवचन-सारोद्धार की सिद्धसेनीया वृत्ति।

वहाँ आर्य-कर्मों के स्वरूप का निर्देशन करते हुए कुछ थोड़े से कर्म गिना कर अन्त मे 'जे यावन्ने तहप्पगारा' कह कर सारा निचोड बतला दिया है। इसका सारांश यही है कि इस प्रकार के और भी कर्म हैं, जो आर्य-कर्म कहलाते हैं।

कुम्भकार के धन्धे को भी वहाँ आर्य-कर्म बतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि-कर्म को अनार्य-कर्म कहने का कोई कारण नही था। पर, इस गए गुजरे जमाने मे कई नए टीकाकार पैदा हुए हैं, जो उन पुराने आचार्यों की मान्यताओ और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली पवित्र परम्पराओ को तिलाजलि देने की अभद्र चेष्टा कर रहे है। जैन-जगत् के युगद्रष्टा एव क्रान्तिकारी आचार्य पूज्यपाद श्रीजवाहरलालजी महाराज को, जिन्होने प्राचीन परम्परा के आधार पर अपना स्पष्ट चिन्तन रखा है, ऐसे ही कुछ टीकाकार उत्सूत्रप्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते है। खेती आर्य-कर्म नही है, इससे बढकर सफेद झूठ और क्या हो सकता है ?

विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी मे आचार्य उमास्वाति हुए है, जिन्होने तत्त्वार्थसूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होने आर्य-कर्मों की व्याख्या करते हुए कहा है—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन कृषि, वाणिज्य आदि जीवन-पोषक आजीविका करने वाले कर्मार्य है।[११] यह चिन्तन कहाँ से आया है ? उपर्युक्त प्रज्ञापनासूत्र के आधार पर ही यहाँ चिन्तन किया गया है।

आचार्य अकलक भट्ट ने (आठवी शताब्दी) तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक मे अपना विशिष्ट चिन्तन जनता के समक्ष रखा। उन्होने खेती-बाडी, चन्दन, वस्त्र आदि का व्यापार तथा लेखन-अध्यापन आदि उद्योगो को, सावद्य आर्य-कर्म बताया है। इसका कारण बतलाते हुए वे कहते है —

"षडप्येतेऽविरतिप्रवणत्वात्सावद्यकर्मार्या ।"[१२]

'यह छह प्रकार के आर्य अविरति के कारण सावद्य आर्य-कर्मी हैं, अर्थात्—व्रती श्रावक की भूमिका से पहले ये सावद्यकर्मार्य है'। परन्तु बाद मे व्रती श्रावक होने पर जो मर्यादाबद्ध खेती आदि कर्म करता है, लिखने-पढ़ने का व्यवसाय करता है, वह अल्पारभ की भूमिका मे देखा जाता है[१३] खेती आदि कर्मों के आर्य-कर्म होने के सम्बन्ध मे इनसे अच्छे और क्या प्रमाण हो सकते है ? साराश यही है कि श्रावक की भूमिका ही अल्पारभ की भूमिका है। इसका रहस्य यही है कि श्रावक मे विवेक होता है। वह

---

११ कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनकृषिवाणिज्ययोनिपोषणवृत्तय ।

१२ आचार्य अकलक ने लेखन आदि के समान कृषि को सावद्यकर्म ही कहा है, महा-सावद्य नहीं। कृषि को महारभ—महापाप कहने वाले सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें।

१३ "अल्पसावद्यकर्मार्याश्च श्रावका ।"

जो भी काम करता है उसमे विवेक की दृष्टि अवश्य रखता है। श्रावक का हाथ वह अद्भुत हाथ है कि जिसे वह छू ले, बस, सोना बन जाए। श्रावक की भूमिका वह भूमिका है, जिसमे विवेक का जादू है। यही जादू उसके कार्य को अल्पारम्भ बना देता है।

असली चीज तो विवेक है। जहाँ विवेक नही है, वहाँ खेती भी सावद्यकर्म है। यहाँ तक कि विवेक के अभाव मे लेखन तथा वस्त्र आदि का व्यवसाय करना भी अल्पारम्भ नही होगा।

इस तरह जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर आर्यकर्म और अनार्यकर्म तथा अल्पारम्भ और महारम्भ का निर्णय कर लेना चाहिए। विवेक को त्याग कर यदि किसी एक ही पक्ष के खूटे को पकड कर चिल्लाते रहेगे तो हमारी समझ मे कुछ भी नही आएगा और साथ ही जैनधर्म भी विश्व की दृष्टि मे हेय सिद्ध हो जाएगा। □

२५ | कृषि : अल्पारम्भ और आर्यकर्म है

भारतीय सस्कृति मे कृषि का बडा महत्त्व और गौरव माना गया है। प्रारम्भ से ही भारत कृषि-प्रधान देश है। आज भी भारत मे कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियो की सख्या अधिक है। कृषि अहिंसा की आधार-शिला है। मासाहार से विरत होने के लिए और सात्विक भोजन की स्थापना के लिए, कृषि का बडा ही महत्त्व है। मासाहार से बचने के लिए कृषि-कर्म से बढकर अन्य कोई साधन नही हो सकता। इसी आधार पर भारतीय सस्कृति मे कृषि को अहिसा का देवता माना गया है। कृषि करने वाले व्यक्ति को वैदिक भाषा मे पृथ्वी-पुत्र कहा गया है। जैन परम्परा के अनुसार कृषि-कर्म के सर्वप्रथम उपदेष्टा भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्होने ही अपने युग के अबोध एव निष्क्रिय मानव को कृषिकर्म तथा अन्य सात्विक उद्योग-धन्धो को शिक्षा दी थी। उस युग की मानव-जाति के उद्धार के लिए कृषि-कर्म आदि का उपदेश और शिक्षा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य थी। उस युग मे यह एक बडी शक्ति थी। जैन-परम्परा के विख्यात-श्रावको ने कृषि-कर्म स्वय किया था, इस दृष्टि से भी जैन-सस्कृति मे कृषि-कर्म का एक विशिष्ट स्थान है।

जैनसस्कृति के कृषि आर्यकर्म एव अल्पारम्भ है, आर्यकर्म तथा पवित्रकर्म कहा था, परन्तु मध्यकाल मे आ कर कुछ व्यक्तियो ने इसे हिंसामय कर्म करार दे कर त्याज्य समझा। जैनसंस्कृति आरम्भ, समारम्भ और महारम्भ के परित्याग का उपदेश देती है, यह ठीक है, किन्तु हमे यह देखना होगा कि माँसाहार जैसे महारम्भ से बचने के लिए, कृषि के अतिरिक्त अन्य साधन नही हो सकता। जैनधर्म ने प्रत्येक साधक को अपने हर कर्म की छानबीन करने और देखते रहने की हिदायत दी है कि वहाँ कितनी हिंसा हो रही है और कहा कितनी साधना चल रही है ? यानी हिंसा-अहिंसा के मर्म को समझ कर ही हर प्रवृत्ति करनी चाहिए। किन्तु एक समय ऐसा आया कि कुछ विचारको ने उस युग के जन-मानस मे अहिसा की एक धुधली तस्वीर खडी कर दी। परिणामत उन्होने जिन्दगी के हर मोर्चे पर पाप ही पाप देखना आरम्भ कर दिया। आरम्भ, समारम्भ का परित्याग अच्छी बात है, पर खेती मे महापाप समझना और इसे छोड कर भाग खडे होना, यह जब प्रारम्भ हुआ, तब कृषि का धधा हमारी नजरो मे हेय हो गया। हमारा सामाजिक दृष्टिकोण यह बन गया, कि कृषि का धधा निकृष्ट कोटि का है, अत हेय है। कृषि द्वारा अन्न का उत्पादन हो, इसके पीछे हमारा अहिंसा का दृष्टिकोण यह था कि मासाहार की प्रवृत्ति लोगो मे बद हो और वे कृषि की ओर आकृष्ट हो। अनेक प्रकार के फल और अनेक प्रकार की वनस्पति, प्रकृति के द्वारा

प्राप्त हो सकती है और हमारा सात्विक जीवन उन पर निर्भर हो सकता है। जब कृषि जैसे सात्विक कर्म को अपनाया जायेगा, तभी मासाहार जैसे भयकर पाप से हम बच सकेंगे। मासाहार को छोडना हमारी सास्कृतिक जीवन-यात्रा का प्रारम्भिक उद्देश्य है और इस उद्देश्य की पूर्ति कृषि-कर्म से ही हो सकती है। इसी आधार पर जैनसस्कृति मे कृषिकर्म को अल्पारम्भ और आर्यकर्म कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि जितनी हमारी अहिसा की स्मृति आगे बढी, उसके साथ-साथ उसमे एक धुधलापन भी आगे बढता गया, और उसम हमारा जो मूल अभिप्राय था, वह समय के साथ क्षीण होता चला गया। इसलिए आगे चल कर कुछ लोगो ने कृषि को महारम्भ स्वीकार कर लिया, और जब उसे महारम्भ स्वीकार कर लिया, तो उसे छोडने की बात भी लोगो के ध्यान मे आने लगी। लोग अपनी बात सिद्ध करने के लिए आगम का आधार तलाश करने लगे, परन्तु आगम म कही पर भी कृषि को महारम्भ नही कहा गया। क्योकि आगम मे जो महारम्भ का फल बताया है, उसमे कहा गया है, कि महारम्भ नरक मे जाने का कारण बनता है। अब विचार कीजिए कि जब कृषि को महारम्भ बताया गया, तब उसकी फलश्रुति के अनुसार नरक मे जाने की बात भी लोगो के सामने आयी। लोगा ने विचार किया, परिश्रम भी करे और नरक मे भी जाना पड़े तो इस प्रकार का गलत धन्धा क्यो करे? इस प्रकार के मिथ्या तर्कों से जनता के मानस का बदलने का प्रयत्न किया गया। परिणामत जैनो ने कृषिकर्म का परित्याग कर दिया। अन्यथा भारतीय सस्कृति और विशेषत जैनसस्कृति मे मूलत अहिसा का दृष्टिकोण ले कर चला था, यह कृषिकम।

साधक जीवन के दो भाग

यहाँ हमे शास्त्रो की ओर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए कि वे क्या कहते है। साधारणतया साधको के जीवन के दो भाग होते है—एक गृहस्थ-जीवन और दूसरा साधु-जीवन। गृहस्थ को अपने आदर्श गृहस्थ-जीवन की ऊँचाइयाँ प्राप्त करनी चाहिए और साधु को अपने शाश्वत क्षेत्र मे जीवन के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श करना चाहिए। ऐसी बात नही है कि साधु बनते ही उसके जीवन मे पूर्णता आ जाती है। महाव्रतो को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते ही जीवन मे पूर्णता आ जाती है, ऐसा समझना सर्वथा भ्रमपूर्ण होता है। साधु अपने आप मे अपूर्ण होता है और उसे शाश्वत जीवन की पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करना पडता है। वस्तुत पूर्णता हिमालय की सर्वोच्च चोटी है और साधु को वहाँ तक पहुँचने के लिए कठिन साधना अपेक्षित है।

यह ठीक है कि साधु, श्रावक की अपेक्षा कुछ आगे बढा होता है, कुछ ऊँचा भी चढ़ा होता है, मजिल की राह पर दूर तक आगे बढ चुका होता है और दूसरी ओर गृहस्थ अपने क्षेत्र मे चलना प्रारम्भ करता है। फिर भी साधु का जीवन ऊँचा-नीचा है। उसकी भी अनेक श्रेणियाँ है।

कक्षाए

इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन की भी अनेक कक्षाएँ हैं । और उन कक्षाओ के भी कई स्तर हैं । ऐसा नही है कि गृहस्थ छोटा है, अत वह नगण्य है और विष का टुकडा है । परिस्थितिवश गृहस्थ, साधु की अपेक्षा नीचा होते हुए भी किसी विषय मे अपेक्षाकृत ऊँचा है । जो गृहस्थ जीवन के मैदान मे विवेकपूर्वक चलता है, जिसके हृदय मे प्रत्येक प्राणी के लिए दया का झरना बहता है, जो महा-हिंसा से दूर रह कर अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहा है, वह अपने श्रावक के कर्त्तव्यो को दृढ़ता से पूरा कर रहा है । भले ही वह धीमे कदमो से चलता हो, पर अभीष्ट लक्ष्य की ओर उसकी गति नियमित और निरन्तर अवश्य है ।

यहाँ पुरानी परम्परा की ओर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए, वह क्या कहती है ? वह ऐसे गृहस्थ को, जो अपनी जीवन-नौका के साथ-साथ दूसरो की जीवन-नौका को भी पार करता है, कभी भी पापी और विष का टुकडा नही बतला सकती । कुछ लोगो का ऐसा विचार है कि गृहस्थ को अपनी रोटी कमानी पडती है, वस्त्र जुटाना पडता है, समय आने पर अपने पडोसी, समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए कठोर कर्त्तव्य भी अदा करना पडता है, इसलिए वह तो पाप मे डूबा हुआ है । परन्तु यदि बुद्धि की कसौटी पर गृहस्थ-जीवन को कस कर देखा जाए तो विदित होगा कि विवेकवान् गृहस्थ यदि साधु के गुणस्थानो से नीचा है तो प्रथम चार गुणस्थानो से ऊँचा भी है । सकुचित दृष्टिकोण होने के कारण दुर्भाग्य से हमारा ध्यान नीचाई की ओर तो जाता है, पर ऊँचाई की ओर कभी नही जाता ।

गृहस्थ का स्तर

इसीलिए कुछ लोगो ने एक मनगढन्त सिद्धान्त निकाला है कि साधु की अपेक्षा गृहस्थ का स्तर नीचा है, इसलिए उनका सत्कार-सम्मान करना, उसकी सेवा-शुश्रूषा आदि करना, दूसरे गृहस्थ के लिए भी ससार का मार्ग है । वह हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील का निन्दनीय मार्ग है और पतन की पगडडी है । मेरे विचार से इस हीन विचार के पीछे अज्ञान चक्कर काट रहा है और विवेक की रोशनी नही है । सुपात्र और कुपात्र की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी इसी अज्ञान के कुपरिणाम है । गृहस्थ कुपात्र है, उसे कुछ भी देना धर्म नही है, साधु को देना ही एकमात्र धर्म है । इस प्रकार की कल्पनाएँ सकुचित विचारो द्वारा ही आई है । इस प्रकार एकान्तत छोटे-बडे के आधार पर धर्म और अधर्म का निष्पक्ष निर्णय कभी नही हो सकता । आखिर साधु भी, जोकि छठे गुणस्थान मे है, सातवें गुणस्थान वाले से नीचा है । इसी प्रकार सातवे गुणस्थान वाला आठवे गुणस्थान वाले से नीचा है । केवल-ज्ञानी की भूमिका से तो सभी सामान्य साधु नीचे ही हैं । फिर पूछा जा सकता है कि तेरहवें गुणस्थान वाले अरिहन्त की भूमिका छोटी है या बडी ? यदि बारहवें गुणस्थान से वह ऊँची है तो चौदहवें गुणस्थान से नीची भी है । इस प्रकार की अपेक्षाकृत

ऊचाई और नीचाई भले ही रहे, परन्तु उसी को व्यर्थ की चर्चा का आधार बनाने मे कोई महत्त्व नही है। नीचे की भूमिकाओ को पार करके ऊँची भूमिका मे प्रतिष्ठित होना ही महत्त्वपूर्ण बात है। अस्तु, देखना चाहिए कि जीवन ऊपर की ओर गतिशील है या नीचे की ओर ? साधक कही नीचे की ओर तो नही खिसक रहा है ?

श्रावक मिथ्यात्व के प्रगाढ अधकार का भेदन कर, अनन्तानुबधीरूप तीव्र कषाय की फौलादी दीवार को लाँघ कर, अव्रत के असीम सागर को पार करके और अपरिमित भोगो की लिप्साओ से ऊँचा उठता है। वह मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियो को तोडता है और अहिंसा एव सत्य के प्रशस्तमार्ग पर यथाशक्ति प्रगति करता है। यह बात दूसरी है कि वह उच्च साधक की तरह तीव्र गति से दौड नही सकता, मन्द गति से टहलता हुआ ही चलता है।

एकान्त आर्यस्थान

सूत्रकृतागसूत्र मे अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध मे एक बडी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि मे पड़े है, वे आर्य-जीवन वाले नही है, किन्तु जिन्होने हिंसा और असत्य के बन्धन कुछ अशो मे तोड डाले है, जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते है, असत्य आदि के बन्धनो को पूरी तरह तोडने की उच्च भावना रखते है और क्रमश तोडते भी जाते है, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य है। उनका कदम ससार के शृ खलाबद्ध मार्ग की ओर है या मोक्ष के मुक्तिमार्ग की ओर ! सहज विवेक-बुद्धि से विचार करने वाला तो अवश्य ही कहेगा—मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय मे ही सूत्रकृताग कहता है—

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशसा मे आर्य एव एकान्त सम्यक् आदि की बात कही है, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।[1]

कदाचित् कोई कह सकता है कहाँ गृहस्थ और कहाँ साधु ? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक अन्य प्रश्न करना अनिवार्य है। गृहस्थ श्रावक मर कर कहाँ जाता है ?

'देवलोक मे !'

'और साधु ?'

'छठे से ग्यारहवे गुणस्थान वाला साधु भी मरने के बाद देवलोक मे ही जाता है।'

इस प्रकार जैसे दोनो की गति देवलोक की है, उसी प्रकार दोनो मे एकान्त

---

१ "एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगतसम्मे साहू।"
सूत्रकृताग, द्वि० श्रुतस्कन्ध अ० २, सू० ३९

आर्यत्व भी है। इसका मूल कारण यही है कि श्रावक का दृष्टिकोण साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, बधनो के पाश को तोडने की ओर ही है।

सूत्रकृताग मे भी क्रियास्थानक मे, जहाँ क्रियाओ का वर्णन है, गृहस्थ को साधु की भाँति ही एकान्त आर्य बताया है। ऐसी स्थिति मे यदि साधु भोजनादि क्रियाएँ करे तो पाप नही, और यदि श्रावक वही विवेक-पूर्वक भोजनादि क्रियाएँ करे तो एकान्त पाप ही पाप चिल्लाना, भला किस प्रकारशास्त्र सगत हो सकता है ? वही कार्य करता हुआ श्रावक पापी और कुपात्र कैसे हो गया ? इस पर निष्पक्षता-पूर्वक विचार करना चाहिए।

पाप करना और होना

पाप करना एक चीज है और पाप हो जाना दूसरी चीज है। पाप तो साधु से भी होना सम्भव है। वह भी कभी किसी प्रवृत्ति मे भूल कर बैठता है। पर, यह नही कहा जा सकता कि साधु जान-बूझ कर पाप करता है। वास्तव मे वह पाप करता नही है, अपितु हो जाता है। इसी प्रकार श्रावक भी कुछ अशो मे तटस्थवृत्ति ले कर चलता है। परिस्थिति-वश उसे आरभ करना भी होता है, परन्तु वह प्रसन्नभाव से नही, उदासीनभाव से, मूल मे उसे हेय समझता हुआ करता है। यद्यपि कोई गृहस्थ आसक्तिभाव से आरभादि पापकर्म करता है पाप-कर्म के लिए उत्साहित हो कर कदम रखता है तो वह अनार्य है, तथापि जो गृहस्थ काम तो करता है, पर उसमे मिथ्यादृष्टि जैसी आसक्ति नही रखता, वह उसमे से आसक्ति के विष को कुछ अशो कम मे करता जाता है, तो वह अनार्य नही कहा जा सकता। यदि ऐसा न होता तो भगवान् उसे एकान्त सम्यक् एव आर्य क्यो कहते।

श्रावक की भूमिका

एक ओर भगवान् ने श्रावक के जीवन को एकान्त सम्यक् आर्य-जीवन कहा है और दूसरी ओर आप खेती-बाडी का धन्धा करने वाले श्रावक को अनार्य समझते है। ये दोनो एक-दूसरे के परस्पर विरोधी बातें कैसे मेल खा सकती हैं ? यदि दिन को कोई व्यक्ति दिन भी कहे और साथ ही उसे रात भी कहता जाए, भला यह असगत बात, बुद्धि कैसे स्वीकार कर सकती है ? श्रावक की भूमिका अल्पारभ की है, महारभ की नही। महारभ का मतलब है—घोर हिंसा और घोर पाप। महारभी की गति नरक है, यह बात शास्त्रो मे स्पष्ट रूप से कही है।[2]

यहाँ नरक-गति के चार कारणो मे पहला कारण महारभ है। एक ओर तो श्रावक को अल्पारभी स्वीकार किया जाता और दूसरी तरफ खेती-बाडी करने के

२ "महारभयाए, महापरिग्गहयाए, पचिदियवहेण, कुणिमाहारेण।"

—औपपातिक सूत्र

कारण उसे महारंभी की उपाधि से भी विभूषित किया है। भला, यह विपरीत भाव कैसे युक्तिसगत कहलाएगा।

गृहस्थ-जीवन मे 'आनन्द' ने जो किया, वह एक आदर्श था। 'आनन्द' जैसा उच्च एव आदर्श जीवन व्यतीत करने वाला श्रावक महारम का कार्य नही कर सकता था। 'आनन्द' श्रावक-अवस्था मे भी खेती करता था, इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता। 'आनन्द' श्रावक था, अतएव अल्पारभी था। फिर भी वह खेती करता था, इसका फलितार्थ यह है कि खेती श्रावक के लिए अनिवार्यत वर्जनीय नही है, वह अल्पारभ मे ही है।

विचार प्रवाह मे यह भी कहा जा सकता है कि 'आनन्द' महारभी था और कृषि कार्य उसके परिवार का परम्परागत धन्धा था। किन्तु श्रावक बनने के बाद उसने कृषि-योग्य भूमि की मर्यादा निर्धारित की और शेष का त्याग कर दिया।

इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि खेती महारभ तो है, परन्तु उसकी मर्यादा की जा सकती है। परन्तु क्या कही महारभ की भी मर्यादा हो सकती है? अथवा महारभ की मर्यादा करने के बाद भी क्या कोई अणुव्रती श्रावक की कोटि मे गिना जा सकता है? महारभ की मर्यादा करने पर यदि श्रावक की कोटि प्राप्त की जा सकती है तो वध-शाला की मर्यादा करने वाला भी श्रावक की कोटि मे आसानी से आ सकता है। यदि भगवान् महावीर के पास कोई व्यक्ति आ कर कहता—'प्रभो! मै सौ कसाईखाने चला रहा हूँ और अभी तक श्रावक की भूमिका मे नही आ सका हूँ। अब मै मर्यादा करना चाहता हूँ कि सौ से अधिक वध-शालाएँ नही चलाऊँगा। मुझे सौ से अधिक वध-शालाओ का त्याग करा दीजिए और अपने अणुव्रती श्रावक-सघ की सदस्यता प्रदान कीजिए।' तो क्या भगवान् उसे अपने अणुव्रती श्रावक-सघ के सदस्यो मे परिगणित कर सकते थे? कदापि नही। उस अवसर पर भगवान् यही कहते—अणुव्रती श्रावक का पद प्राप्त करने से पहले तुम्हे महारम का पूरी तरह त्याग करना होगा। तात्पर्य यह है कि वध-शाला, जुए के अड्डे, वेश्यालय या शराब की भट्टियाँ चला कर और उनकी कुछ मर्यादा बाँध कर यदि कोई अणुव्रती श्रावक का स्थान प्राप्त करना चाहे तो वह प्राप्त नही कर सकता। ऐसा होना कदापि सम्भव नही है।

यदि किसी मासाहारी या शिकारी गृहस्थ को मासाहार या शिकार को छोडने का उपदेश दिया जाता है। किन्तु जब वह पूरी तरह छोडने को तैयार नही होता तो वृद्धि न करने की सलाह दी जाती है। परन्तु क्या इससे उसका गुणस्थान बदल जाता है? एक हजार हरिण मारने वाला यदि पाँच-सौ हरिणो तक ही अपनी मर्यादा स्थापित कर ले, तो भले ही उसे कल्याण की धुँधली राह मिल जाती है, किन्तु इतने मात्र से उसको अणुव्रती श्रावक की भूमिका नही मिल सकती।

अभाव ही सघर्ष का मूल कारण

कृषि के सम्बन्ध मे विचार करते समय भगवान् आदिनाथ को स्मरण रखना चाहिए। पहले कल्प-वृक्षो से युगलियो का निर्वाह हो जाता था। उस समय उनके सामने अन्न का कोई सकट नही था। भले ही युगलिया तीन पल्योपम की आयु वाले हो, परन्तु अन्तिम समय म ही उनके सन्तान होती थी, अर्थात्—पहला जोडा जब विदा होने लगता, तब उधर दूसरा जोडा उत्पन्न होता था। इसलिए उनकी सख्या मे कोई विशेप अन्तर नही होता था। परन्तु भगवान् ऋषभदेव के समय मे कल्प-वृक्ष, जो उत्पादन के एकमात्र साधन थे, घटने लगे और जन-सख्या बढने लगी। अतएव कल्पवृक्षो से उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति मे बाधा उपस्थित हो गई। जहाँ उत्पादन कम है और खाने वाले अधिक हो जाते है, वहाँ सघर्ष अनिवार्य है।

नल पर पानी भरने के लिए तू-तू, मैं-मै क्यो होती है? कारण यह है कि पानी कम आता है, और साथ ही नल के बन्द हो जाने का डर रहता है। इसीलिए आपस मे लडाई झगडे होते है और कभी-कभी भयकर दुर्घटना का रूप धारण कर लेते है। एक चाहता है, मैं पहले भर लूँ और दूसरा चाहता है कि सबसे पहले मै भरूँ। परन्तु जल से परिपूर्ण कुओ पर ऐसा नही होता। वहाँ जितना चाहिए उतना पानी मिल सकता है, अतएव सघर्ष तथा दुर्घटना की स्थिति पैदा नही होती। जहाँ अभाव होता है और भरण-पोषण के साधन पर्याप्त नही होते, वही सघर्ष तथा दुर्घटनाएँ हुआ करती है। परन्तु जहाँ उत्पादन अधिक होता है और उपभोक्ताओ की सख्या कम होती है, वहाँ अभावमूलक सघर्ष नही होता, न वहाँ विषमता ही प्रदर्शित होती है और न सग्रहवृत्ति ही पनपती है।

अहिसा की राह

सोचना यह है कि भूखो मरते और सकट मे पडे हुए युगलियो को भगवान् आदिनाथ ने जो खेती करना और दूसरे धन्धे करना सिखाया, वह क्या था? उत्पादन की कला सिखाकर उन्होने हिंसा को बढ़ाया, या अहिसा की राह बतलाई? उन्होने ऐसा करके जीवन-दान दिया, या पाप-कर्म किया?

इस सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि केवल दान देना ही अहिसा नही है, परन्तु यदि कोई रचनात्मक मनोवृत्ति वाला व्यक्ति समाज के कल्याण तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए उत्पादन मे वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे सक्रिय सहयोग देता है, भूख से तडपते त्रस्त व्यक्तियो के दुःख-दर्द को मिटाने के लिए उत्पादन की कला बताता है, तो वह भी एक प्रकार का दान है और वह दान भी अहिसा का ही एक सुनिश्चित मार्ग है।[3]

---

३ कलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात्।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका, २ वक्षस्कार

मान लिया कि एक मनुष्य नदी मे डूब रहा है। वह तैरना नही जानता, किन्तु दूसरा तैरना जानता है और झटपट उसे निकाल देता है। इस प्रकार वह जब-तब डूबते हुओ का उद्धार करता रहता है, किन्तु किसी को तैरना नही सिखलाता है। एक दूसरा व्यक्ति है, जो तैराक है और डूबते हुए को देखते ही निकाल लेता है, साथ ही उसे तैरने की कला भी सिखाता है। इन दोनो मे किसका कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है ?

'तैरना सिखाने वाले का !'

बिल्कुल ठीक है , क्योकि तैराक अपने सामने डूबते को तो निकाल सकता है, परन्तु यदि वह व्यक्ति फिर कही अन्यत्र डूब जाए तो कौन निकालने आएगा ? वह कहाँ-कहाँ उसके पीछे लगा रहेगा ? यदि वह तैरने की कला भी उसे सिखा देता है और स्वावलम्बी बना देता है तो वह कही नही डूबेगा और सदैव निर्भय रहेगा। वह स्वय तैर सकेगा, दूसरो को तैरना सिखाएगा और यथावसर यत्र-तत्र डूबते हुए अन्य व्यक्तियो को भी बचा सकेगा। यदि कोई तैराक दूसरो को तैरना न सिखाएगा और सिर्फ डूबने वालो को पकड-पकड कर निकाला ही करेगा तो डूबने वालो को बचाने की जटिल समस्या कभी हल न होगी।

इसलिए देश के नेतागण प्राय अपने भाषणो म नवयुवको को अपने देश के महत्त्वपूर्ण उद्योग सीखन की प्रेरणा देते है, उद्योगो का विकास करते है। और वैसे ही देश की आर्थिक तथा खाद्य समस्याओ को हल करते है। इसी को कहते है तैरने की कला सिखलाना।

सग्रहवृत्ति

वस्तुत भगवान् ऋषभदेव ने भी उन युगलियो को तैरने की कला सिखाई थी। उनके समय म मनुष्यो की सख्या बढ रही थी। इधर माँ-बाप भी जीवित रहते थे और उधर सन्तान की सख्या मे भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। केवल एक जोडा सन्तान उत्पन्न होने का प्राकृतिक नियम उस समय टूट गया था , फलत सन्तानें बढ चली थी। स्वय ऋषभदेव भगवान् के सौ पुत्र और बहुत-से प्रपुत्र थे। परन्तु दूसरी ओर कल्प-वृक्षो मे , अर्थात्—उत्पादन के साधन मे कमी होती जा रही थी। उस समय का इतिहास पढने से मालूम होता है कि जिन युगलियो को पहले वैर-विरोध ने कभी छुआ तक न था, वे भी खाद्य के लिए आपस मे गाली-गलौज करने लगे, जिससे परस्पर द्वन्द्व होने लगे थे। लाखो वर्षों तक कल्प-वृक्षो का बँटवारा नही हुआ था, किन्तु अब वह भी होने लगा और वृक्षो पर अपना-अपना पहरा बिठाया जाने लगा। एक जत्था दूसरे जत्थे के कल्प-वृक्ष से फल लेने आता तो सघर्ष हो जाता। एक वर्ग कहता—यह कल्प-वृक्ष मेरा है, मेरे सिवा इसे दूसरा कौन छू सकता है ? दूसरा वर्ग कहता—यह मेरा है, अन्य कोई इसके फल नही ले सकता। उस समय सब के मुख पर यही स्वर गूँज रहा था—मैं पहले खाऊँगा। यदि तू इसे ले लेगा, तो मैं क्या खाऊँगा ? इस प्रकार सग्रह-वृत्ति बढने लगी थी।

कुशल कलाकार

उस समय यदि भगवान् ऋषभदेव सरीखे मानवता के कुशल कलाकार प्रकट न होते, तो युगलिये आपस मे लड-झगड कर ही समाप्त हो जाते। भगवान् ने उन्हे मानव-जीवन की सच्ची राह बतलाई और अपने सदुपदेश से उनके सघर्ष को समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया।

सकुचित दृष्टिकोण के कारण यह आशका की जा सकती है कि क्या भगवान् ऋषभदेव उन्हे भोजन नही दे सकते थे ? जबकि देव और उनका अधिपति स्वय इद्र उनकी आज्ञा मे था। वे आज्ञा देते तो उन्हे भोजन मिलने मे क्या देर लग सकती थी ? परन्तु ऐसा करने स भूखो की आवश्यकताएँ तब तक पूरी होती रहती, जब तक भगवान् रहते। इसीलिए भगवान् ने सोचा—मेरे जाने के बाद वही द्वन्द्व, सघर्ष, लडाई-झगडा और मार-काट मचेगी। फिर वही समस्या खडी होगी। अतएव भगवान् ने उन्हे हाथो से परिश्रम करना सिखाया। उन्होने कहा —'तुम्हारे हाथ स्वय तुम्हारी सृष्टि का सुन्दर निर्माण कर सकते है, और यह निर्माण तुम्हारे सुखद जीवन का आधार होगा।'

इस प्रसग पर मुझे अथर्ववेद-कालीन एक वैदिक ऋषि की बात याद आ रही है, जिसने कहा था—"यह मेरा हाथ ही भगवान् है, बल्कि मेरा हाथ भगवान् से भी बढकर है।" वास्तव मे हाथ ही महान् ऐश्वर्य का भडार है, यदि उसकी उपयोगिता को भली-भाँति समझ लिया जाए।

इस प्रकार भगवान् ने युगलियो के हाथो से ही उनकी अपनी समस्या सुलझाई। भगवान् ने केवल उन युगलियो की समस्या को ही नही सुलझाया, बल्कि आज के मानव-जीवन की जटिल समस्या को भी अधिकाशत हल किया। भगवान् की इस अपरिमित अनुकम्पा के प्रति किन शब्दो मे कृतज्ञता प्रकट की जा सकती है ? मानव-जाति के उस महान् त्राता की प्रतिभा और दयालुता का वर्णन किन शब्दो मे किया जा सकता है ? जब तक मनुष्य जाति इस पृथ्वी तल पर मौजूद रहेगी और सारी मानव सृष्टि माँसभोजी नही हो जाएगी, भगवान् की उस असीम दया के प्रति आभारी वह रहेगी।

प्राय ऐसा सुना जाता है—खेती तो महारभ है! क्योकि भगवान् स्वय गृहस्थाश्रम मे थे, इसलिए उन्होने जनता को महारभ की शिक्षा दी।

खेती महारभ नहीं

पर, गृहस्थाश्रम मे होने के कारण यदि उन्होने महारभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओ को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे। फिर उन्होने क्यो नही कह

४ "अय मे हस्तो भगवान्, अय मे भगवत्तर ।"

दिया कि ये लाखो-करोडो पशु पक्षी मौजूद हैं, इन्हे मारो और खा जाओ। उन्होने शिकार करके जीवन-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यो नही दी ? पशु-पक्षियो को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारभ मानने वाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते है ?

पशुओ को मार कर खाना महारभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु-पक्षियो को मार कर खाने की, अथवा दोनो उपायो को आवश्यकतानुसार प्रयोग मे लाने की शिक्षा दे सकते थे। परन्तु भगवान् ने ऐसा नही किया। इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए और वह यही है कि अहिंसा की दृष्टि से वास्तव मे खेती महारभ नही है, अल्पारभ है। भगवान् ने अल्पारभ के द्वारा जनता की जटिल समस्या हल की। उन्होने सूक्ष्म दृष्टि से देखा—यदि ऐसा प्रयोग न किया गया, जनता को अल्पारभ का पेशा न सिखाया गया तो वह महारभ की ओर अग्रसर हो जाएगी। लोग आपस मे लड-झगड कर मर मिटेंगे, एक-दूसरे को मार कर खाने लगेगे। इस प्रकार भगवान् ने महारभ की अनिवार्य एव व्यापक सम्भावना को खेती-बाडी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य-कर्म की सही दिशा दिखाई। मास खाना, शिकार खेलना आदि अनार्य-कर्म भगवान् ने नही सिखाए, क्योकि वे हिंसारूप महारभ के प्रतीक थे, जबकि कृषि-उद्योग अहिंसारूप अल्पारभ का प्रतीक है।

कुछ लोगो का यह भी कहना है—कि जिस समय भगवान् युगलियो को खेती करना सिखा रहे थे, उस समय बॉय करते वक्त (खलिहान मे धान्य के सूखे पौधो को कुचलवाते समय) बैल अनाज खा जाते थे। अत भगवान् ने बैलो के मुँह पर मुसीका (छीका) बाँधने की सलाह दी। उसी के कारण भगवान् को अन्तराय-कर्म का बन्धन हुआ, फलत उन्हे एक वर्ष तक आहार नही मिला। परन्तु यह एक कल्पना है। इसके पीछे किसी विशिष्ट एव प्रामाणिक ग्रन्थ का आधार भी नही मालूम होता। क्योकि विवेक के अभाव-वश मनुष्य की सोचने की बुद्धि प्राय कम हो जाती है, तब इस तरह की मनगढन्त कहानियाँ गढ ली जाती है। यदि भगवान् एक वर्ष तक खाने के फेर मे पडे रहते तो एकनिष्ठ तपस्या कैसे कर पाते ?

हित की दृष्टि

आचार्य अमरचद्र ने पद्मानद महाकाव्य के रूप मे जो ऋषभ-चरित्र लिखा है। जैसाकि उन्होने लिखा है भगवान् ऋषभदेव के साथ चार हजार अन्य लोगो ने भी दीक्षा ली थी। उन्हे मालूम हुआ कि भगवान् तो कुछ बोलते नही है, कहाँ और कैसे भोजन करें, कुछ मालूम ही नही होता है। वे निस्पृहभाव से वन मे ध्यानस्थ खडे है। तब वे सभी घबडा कर पथ-भ्रष्ट हो गए साधना के पथ से विचलित हो गए। अस्तु, भगवान् ने देखा कि भूख न सह सकने के कारण सारे साधक गायब हो गए है। फलत

मुझे अब आने वाले साधको के मार्ग-प्रदर्शनार्थ भोजन ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि भगवान् चाहते तो क्या एक वर्ष के बदले दो वर्ष और तप साधना नही कर सकते थे ? पर, अन्य साधारण साधको के हित की दृष्टि से ही वे आहार के लिए चले[५] क्योकि जनता महापुरुष का पदानुसरण करती है। गीता मे भी योगेश्वर कृष्ण ने कहा है—"श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, जनता उसी को प्रमाण मान लेती है और उसी का अनुकरण करने लगती है ?"

तप की मर्यादा

ग्रथो मे वर्णन आता है कि जिस तीर्थंकर ने अपने जीवन-काल मे जितना अधिक समय का तप किया है, उसके अनुयायी साधक भी उतनी ही सीमा पर तप कर सकते है। भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा छह महीने तक सुदीर्घ तप किया था, अत उनके शिष्य भी छह मास तक का तप कर सकते है, उससे ज्यादा नही। भगवान् ऋषभदेव ने सबसे बड़ा तप, अर्थात् एक वर्ष तक का तप किया था। यदि एक वर्ष तक के तप की मर्यादा न होती तो आज वह 'वर्षी' तप कैसे प्रचलित होता ? क्या, भगवान् महावीर सात महीने की तपस्या नही कर सकते थे ? अवश्य कर सकते थे। पर, उन्होने सोचा—'मै जितना ही आगे बढूंगा, मेरे शिष्य भी मेरा आग्रहमूलक अनुकरण करेंगे और वे व्यर्थ क्लेश मे पड जाएँगे। ऐसा सोचकर भगवान् महावीर ने छह महीने का तप किया।

इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने भी एक वर्ष का ही तप किया था। आहार के लिए भटकते नही रहे। यदि प्रतिदिन आहार के लिए झाकते-फिरते तो वह तप ही कैसे कहलाता ? यह अन्तरय था या तप था ? यह बात अब तक स्पष्ट हो गई होगी, ऐसा समझा जा सकता है।

इतने विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ऋषभदेव ने खेती बाडी आदि के जो भी उद्योग-धन्धे सिखलाए, वे सभी कार्य आर्य-कर्म थे। अनार्य-कर्म नही उन्होने विवाह-प्रथा तो चलाई पर वेश्यावृत्ति नही। खेती सिखाई, पर शिकार नही। इसके अतिरिक्त उन्होने जो कुछ भी सिखाया, वह सब प्रजा के हित के लिए ही था।

---

५ गृह्णामि यदि नाहार, पुनरद्याऽप्यभिग्रहम्,
तनोमि तपसैव स्यात्, प्रशम कर्मणामिति।
तदा कच्छादय इव, निराहारतयार्दिता,
भग्नव्रता भविष्यन्ति भविष्यन्तोऽपि साधव।
एव विचिन्त्य चित्तेन, चिर प्रचलित प्रभु,
निर्दोषभिक्षामाकाङ्क्षन् पुर गजपुर ययौ।

पद्मानद महाकाव्य १३। २००-२०२

साराश मे यही कथन पर्याप्त समझा जा सकता है कि कोई भी अहिंसावादी महापुरुष किसी भी परिस्थिति मे महारभ के कार्य की शिक्षा नही दे सकता। एक महा-पुरुष कहलाने वाला व्यक्ति यदि ऐसे कार्य की शिक्षा देता है तो अपने अनुयायियो के साथ वह भी नरक का राही बनता है, क्योकि हजारो-लाखो व्यक्ति उसके अनुकरण मे तदनुरूप काम करते रहते है।

अस्तु, स्पष्टरूप से ऐसा कहा जा सकता है कि व्यर्थ से कदाग्रह मे पड कर भगवान ऋषभदेव के उज्ज्वल चरित्र और महान् जीवन पर प्रकारान्तर से कीचड नही उछालना चाहिए। उन्हे महारभ का शिक्षक कहना, उनकी महानतम आशातना करना है। तीर्थंकर की आशातना करने से बढकर दूसरा पाप-कर्म और क्या हो सकता है?

●

२६ | अहिंसा और कृषि

भगवान् ऋषभदेव ने कृषि तथा उद्योग-धन्धो की शिक्षा दी और विकट परि-स्थिति मे उलझी हुई उस युग की सतप्त जनता को अपने हाथो अपना जीवन-निर्माण करने की कला सिखलाई। भगवान् ने उस समय जो कुछ सिखलाया, वह आज गौरव का विषय है। जब ऐसे प्रसग आते हैं तो जैनसमाज कलकित नही होता, अपितु गौरवान्वित ही होता है। जब कभी भी भारत के विद्वानो के सामने, चाहे वे राजनैतिक नेता रहे हो या सामाजिक नेता, इस प्रसग को छेडा जाता है, तो उनके हृदय मे जैन-धर्म के प्रति अगाध आदर और गौरव का भाव जागृत हो जाता है, विवेक और विचार की ज्योति चमकती हुई देखी जाती है। इस रूप मे भगवान ऋषभदेव का जीवन जैन-समाज को इतना गौरवशाली जीवन मिला है कि उसकी उद्घोषणा केवल बीस-तीस के सीमित दायरे मे ही नही करना चाहिए। जहाँ-जहाँ यह आवाज पहुँचेगी हमे नीचा नही, ऊँचा ही दिखलाएगी। यहाँ तक कि जैनसस्कृति को, जैनगौरव को चार चाँद लगा देगी और उत्थान के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर देगी।

जो लोग मानव-जीवन का निर्माण करने और सुधारने की बात सोचते है, उन्हे जब जैन-धर्म की तरफ से यह प्रकाश मिलता है, तो वे गद्‌गद् हो जाते है और मुक्त कठ से स्वीकार करते है कि जैन-धर्म ने समाज की रूढियो का उन्मूलन किया है, समाज की रूढियो का उन्मूलन किया है, समाज को प्रगति के पथ पर प्रशस्त किया है, और भारत की महान् सेवाएँ की है।

तलैया नहीं, गगा

जैन-धर्म गाँव की तलैया नही है। गाँव के बाहर की तलैया मे इधर-उधर से आ कर गन्दा पानी जमा हो जाता है, और फिर वह तलैया सडने लगती है। वह खुद सडती है और अपनी सडाद से आस-पास के लोगो का सर्वनाश भी कर डालती है। एक वह तलैया है, जिसे बस अवरुद्ध ही रहना है और निरन्तर सडते ही रहना है, कभी साफ निर्मल नही होना है। दूसरी ओर गगा का बहता हुआ निर्मल पानी है। गगा जहाँ भी जाएगी, लोगो को सुख-सुविधा भेट करती जाएगी। उसे सडना नही है, बदबू नही फैलाना है, अपितु लोगो को सुखद जीवन ही देना है।

जैन-धर्म गगा का बहता हुआ निर्मल प्रवाह है। यदि उसे चारो ओर से समेट कर, एकागी बना कर एक सकुचित दायरे मे रोक कर रखा जाएगा तो वह अवश्य सडेगा, फलत. उसमे चमक एव स्वच्छता नही रह जाएगी। वह तो गगा के समान बहता हुआ

पानी होना चाहिए और इतना स्वच्छ होना चाहिए कि जितना-जितना जनता के सामने ले जाया जाए, लोग प्रसन्न हो जाएँ और उसे इज्जत की निगाह से देखें। परन्तु ऐसा करते समय हम उसकी ठोस सच्चाइयो को अपने सामने रखें और उन्ही के बल पर उसे और अपने आपको आदर का पात्र बनाएँ।

धूम मच जाती

भगवान् ऋषभदेव जैसा आदर्श जीवन यदि किसी दूसरे समाज के सामने होता तो धूम मच जाती और वह समाज उसके लिए गौरव का अनुभव करता। किन्तु वह उनको मिला है, जो दुर्भाग्य से आज भी यह कहने को उतावले है कि भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थदशा मे जो कुछ भी किया, वह सब ससार का कार्य था। उन्होने कोई सत्कर्म नही किया। वे तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस करते है कि उन्होने गृहस्थ-दशा म विवाह भी किया, राजा भी बने और ससार की समस्त क्रियाएँ भी की।

ऐसा कहने वाले घर मे रखी हुई सुन्दर-सुन्दर वस्तुओ की ओर न देख कर गन्दी मोरियाँ ही तलाश करते है। यह कहना कितना अभद्र है कि भगवान् ने चूंकि गृहस्थावास मे ही यह कहा है, साधु हो कर नही, इसलिए वह पाप था और गुनाह था! उनमे जो अनगिनत बुराइयाँ उस समय मौजूद थी, उनमे से यह भी एक थी। यह तो ससार का मार्ग है, जो भगवान् ने बता दिया है।

क्या यह भाषा जैन-धर्म की भाषा है? श्वेताम्बर, दिगम्बर एव स्थानकवासियो की भाषा है या किसी पडोसी समाज की भाषा है? यह जो कहने का ढग है, वह जैन-मतावलम्बियो का है या और किसी का है? क्या यह प्राचीन जैन-धर्म की सास्कृतिक भाषा है, या कुछ वर्षों से जो नई परम्परा चल पडी है, उसके बोलने की आधुनिक तर्ज है?

जीतकल्प

खोज करने पर मालूम होता है कि यह उन नए विचारको की भाषा है, जो कहते है कि यह तो भगवान् का जीतकल्प था, करना ही पडता। अब प्रश्न सामने आता है कि उन्होने जो वर्षीदान दिया, वह किस अवस्था मे दिया? उनका उत्तर है कि गृहस्थावस्था मे ही दिया और वह भी दिया क्या, देना ही पडा! 'पडा' शब्द को जैन-धर्म की ओर से न बोल कर उन नए विचारको की तरफ से बोलना अच्छा होगा, जो यह कहते है कि 'करना पडा' और 'वह उनका जीतकल्प था'।

वे तो ऐसा कहते है, पर क्या अन्य लोग भी ऐसा ही कहते है? अन्य लोग तो तीर्थंकरो के द्वारा दिए गए वर्षीदान की महिमा गाते है, उसके प्रति गौरव का अनुभव करते है और मानते है कि भगवान् लगातार वर्षभर दान देते रहे और इस रूप मे उन्होने जनता की बडी भारी सेवा की है, परन्तु वे उस दान को धर्म नही कहते। उनका कहना है, गृहस्थी मे रहते हुए जैसे विवाह किया, राजा बने, वैसे ही दान भी

दिया। विवाह करना धर्म नही है, राजा बनना धर्म नही है, उसी प्रकार दान देना भी धर्म नही है।

अतीत की कुछ बातें प्राय आज भी सुनी जाती है। और ठीक ही सुनी जाती है कि भगवान् महावीर ने अपने माता-पिता की कितनी बडी सेवा की ? पर इसके लिए भी जो भगवान् ऋषभदेव के द्वारा किए गए कर्मों को मात्र एक गृहस्थ के कर्म बताते हैं, उसी भाषा का प्रयोग किया जाता है कि वे गृहस्थावास मे थे, अत. सेवा करनी ही पडी। साथ ही यह भी कहते है कि माता पिता की सेवा मे धर्म होता, तो साधु बन कर भी क्यो नही की ? इससे सिद्ध होता है कि सेवा करना ससार का कार्य है और उससे पाप का ही बन्ध होता है।

गलत धारणा

यदि अन्य लोग भी इसी भाषा का प्रयोग करते है, अर्थात् तीर्थङ्करो के वर्षी दान मे और माता-पिता की सेवा मे भी एकान्तपाप मानते है तो यही कहना पड़ेगा कि फिर उनमे और अन्य लोगो मे क्या अन्तर है ? बस फिर तो झगडा सिर्फ ऊपर के शब्दो पर है अन्दर मे बात एक ही है। आगे वे यह भी कहते है कि यदि एक वर्ष तक दान दिया तो बारह वर्ष तक घोर उपसर्गों और परीषहो के रूप मे उसका कटु, कुफल भी भोगना पडा। इस प्रकार भगवान् महावीर को जो विभिन्न प्रकार के कष्ट सहने पडे, वे दान के फल थे, जो उन्होने बतला दिए हैं। पर अन्य विचारको के मन्तव्य तो इससे सर्वथा भिन्न है।

जीव-रक्षा के सम्बन्ध मे भी उनका यही अभिमत है कि भगवान् महावीर ने जब गौशालक को बचाया, तब वे छद्मस्थ थे, केवल-ज्ञानी होने पर नही बचाया। अत मरते जीव को बचाना भी एकान्त पाप है।

इस प्रकार दूसरे लोग भी मूल से कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने कृषि आदि कलाओ का जो उपदेश दिया था, वह गृहस्थावास मे ही दिया था, केवल-ज्ञानी हो कर नही, अतएव कृषि मे महारभ है—घोर पाप है।

सही निर्णय

उपर्युक्त विषय विचारधाराओ का अध्ययन करने पर यही उचित जान पडता है कि इस सम्बन्ध मे साफ-साफ निर्णय हो जाना चाहिए। विचारको के मन मे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहे। परन्तु एक भ्रान्त विचारश्रृखला सामने है। छद्मस्थ अवस्था मे किए हुए तीर्थङ्करो के कर्त्तव्यो को दान को, माता-पिता की सेवा को और जीव-रक्षा आदि सत्कार्यों को—कुछ लोग पाप नही मानते है। परन्तु जब कृषि का प्रश्न उपस्थित होता है तो तुरन्त वे पाप मानने वालो की पक्ति मे खडे हो जाते हैं ? क्या यही निष्पक्ष निर्णय की स्थिति है ? नही। सभी को सही निर्णय पर आना चाहिए।

यदि तीर्थंकर ने एक वर्ष तक एक दान दिया तो बड़ा भारी पुण्य किया, सत्कर्म किया, किन्तु समस्त आगम-साहित्य मे एक भी ऐसा शब्द नहीं है कि उन्होंने किस उद्देश्य से दिया। कोई विशेष स्पष्टीकरण भी नही है कि उस दान के पीछे उनका क्या लक्ष्य था, कौन-सा सकल्प था और क्या भावनाएँ थी? अस्तु आगम और आगमेतर साहित्य के विश्लेषण द्वारा जाँच कर जाना जा सकता है कि उक्त वर्षी-दान की पृष्ठ-भूमि मे भगवान् की सद्भावना ही थी, दुर्भावना नही। और जब यह कहा जाता है कि भगवान् के दान के पीछे जनता के हित की भावना थी, तो यह जैन-धर्म की प्रकृति के अनुरूप प्रामाणिक अनुमान बन जाता है, परन्तु कृषि के सम्बन्ध मे तो आगम मे स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है।

स्पष्टीकरण

इस सम्बन्ध मे जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति का पाठ भी देखा जा चुका है। भगवान् ने प्रजा के हित के लिए सुख सुविधा के लिए कृषि आदि का उपदेश दिया था।[१] फिर भी कुछ लोग कृषि को महापाप म गिनते है? ऐसी स्थिति मे शास्त्र की आवाज कुछ और है तथा जनता की आवाज कुछ दूसरे ही ढग की है।

अभिप्राय यह है कि तीर्थंकरदत्त दान के सम्बन्ध मे आगम मे कोई ऐसा स्पष्टीकरण नही है कि—वह किसलिए दिया गया? फिर भी उसे सत्कम या धर्म समझा जाता है। किन्तु कृषि के सम्बन्ध मे जबकि प्रामाणिक स्पष्टीकरण मौजूद है, तब भी कुछ लोग उसे स्वीकार करने को तैयार नही होते। यदि वैसे लोगो का निर्णय यही है कि तीर्थंकरो ने छद्मस्थदशा म जो कुछ भी किया था, वह सब पाप था, अधर्म था और प्रजा के हित के लिए की हुई उनकी प्रवृत्ति भी पापमय थी, तब तो उन्हे निश्चितरूप से दूसरी कतार मे खड़ा हो जाना चाहिए। वामपक्ष वालो के लिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नही है।

भीषण अज्ञान

परन्तु यह निर्णय निष्पक्ष निर्णय नही कहलाएगा। ऐसा मनमाना निर्णय कर लेना तीर्थंकर भगवान् की पवित्र प्रेरणा पर प्रतिक्रियावादी प्रतिबन्ध लगाना है और उनकी विशुद्ध ज्ञानात्मा को अपमानित करना है। विचार विषमता और सकीर्णताओ से अपने मन एव मस्तिष्क का शुद्ध बनाकर आस्तिक भाव से यह जान लेना चाहिए कि तीर्थंकर की आत्मा अनेक जन्मो के सचित पवित्र सस्कारो को ले कर ही अवतीर्ण होती है, अस्तु, उनके सम्बन्ध मे यह समझ लेना कि जनता के अहित के लिए वे प्रवृत्ति करते हैं या जगत् को पाप सिखाने के लिए कोई कुत्सित कार्य करते हैं, भीषण अज्ञान है। यह तीर्थंकर का अवर्णवाद है।

गृहस्थावस्था मे उनके राजा बनने को एकान्त पाप बतलाना भी गलत है।

---

१ 'पयाहियाए उवदिसई।'

विवेकबुद्धि से सोचना यह चाहिए कि यदि वे राजा बने तो किस उद्देश्य से बने ? क्या दुनिया का आनन्द लूटने के लिए, भोग-वासना मे लिप्त होने के लिए, और सिंहासन के राजसी सुख का आस्वादन करने के लिए राजा बने ? अथवा प्रजा मे फैली हुई अव्यवस्था को दूर करने के लिए, नीति-मर्यादा को कायम करने के लिए, और प्रजा मे फैली हुई कुरीतियो का उन्मूलन करने के लिए ही राजा बने ?[२]

अपनी मनोभावना

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि—जैसे बडी मछली छोटी मछलियो को निगल जाती है, उसी प्रकार कभी बड़े आदमी भी अपनी स्वार्थ-क्षुधा मे छोटो को निगल जाते है । प्रश्न आता है, क्या तीर्थंकर भी मनुष्यसमाज की इस विषमता को दूर करने के लिए राजा नही बने ? राज-सिंहासन को स्वीकार करने मे जो धार्मिक दृष्टि होती है, उसे तो कोई ध्यान मे नही लाता और अपनी मनो-भावनाओ के अनुरूप यह कल्पना कर बैठते है कि वे राजा बने तो केवल भोग-विलास की परिपूर्ति के लिए । उन लोकोत्तर महापुरुषो का राजदड ग्रहण करना, वर्त्तमानयुग के राजा-महाराजाओ से सर्वथा भिन्न था, अर्थात्—वे प्रजा के शोषक नही, पोषक थे । शासक नही, सेवक थे !! उन्होने सिंहासन को स्वीकार करके प्रजा मे होने वाले अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार किया, बडो के द्वारा होने वाले छोटे आदमियो के अनैतिक शोषण का अन्त किया और जनता की अनेक प्रकार से सेवाएँ की । इन सब बातो पर क्यो कोई व्यक्ति धूल डालने का दुस्साहस करता है ?

इस प्रकार अपने दृष्टिकोण को साफ करना होगा । भगवान् ने जब दान दिया, तब उनमे तीन ज्ञान थे, चौथा ज्ञान नही था । और जब कृषि का उपदेश दिया, तब भी तीन ही ज्ञान थे । इन पवित्र ज्ञानो के होते हुए वे कृषि या दान के रूप मे क्रोध, मान, माया या लोभ के वश प्रवृत्ति नही कर सकते थे । उन्होने इस ओर जो प्रवृत्ति की है, उसमे उनकी अपनी निजी वासना-पूर्ति का कोई लक्ष्य नही था, केवल प्रजा के

---

२ शिष्टानुग्रहाय, दुष्टनिग्रहाय, धर्मस्थितिसग्रहाय च, ते च राज्यस्थितिश्रिया सम्यक् प्रवर्तमाना क्रमेण परेषा महापुरुषमार्गोपदेशकतया चौर्यादिव्यसननिवर्त्तनतो नारकातिथेयानिवारकतया ऐहिकामुष्मिकसुख-साधकतया च प्रशस्ता एवेति । महापुरुषप्रवृत्तिरपि सर्वत्र परार्थत्वव्याप्ता बहुगुणाल्प-दोषकार्यकारणविचारणापूर्विकैवेति । स्थानाङ्गपञ्चमाध्ययनेऽपि—'धम्म च ण चरमाणस्स पच निस्सा ठाणा पण्णत्ता, तजहा—छक्काया १ गणे २ राया ३ गाहावई ४ शरीर ५ मित्याद्यालापकवृत्तौ राज्ञो निश्रामाश्रित्य राजा नरपतिस्तस्य धर्मसहायकत्व दुष्टेभ्य साधुरक्षणादित्युक्तमस्तीति परम-करुणापरीतचेतस परमधर्मप्रवर्तकस्य ज्ञानत्रितय-युक्तस्य भगवतो राजधर्मप्रवर्तकत्वे न कापि अनौचिती चेतसि चिन्तनीया ।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका, दूसरा वक्षस्कार ।

कल्याण की ही पुण्यमयी भावना थी। ऐसी स्थिति मे जो लोग उनके दान को एकान्त पाप और कृषि को महारम्भ कहते है, उन्हे गहरा विचार करना होगा।

महारम्भ का उपदेष्टा महापापी क्यों नहीं ?

इस सम्बन्ध मे एक बात और भी ध्यान मे रखनी चाहिए, जो कार्य महारम्भ या महापाप का होता है, उसका उपदेश करने वाला भी महारम्भी और महापापी होता है। एक मास खाने वाला है, और दूसरा मॉस खाने का उपदेश देने वाला है। तो खाने वाला ही नही, उपदेश देने वाला भी महापापी है। अत जब खेती करने वाला महापापी है, तो उसका उपदेश देने वाला भी महापापी क्यो नही होगा ? बल्कि स्वय मास खाने की तो कोई सीमा हो सकती है, पर उपदेश की कोई सीमा नही होती। उपदेशक के उपदेश से न जाने कितने लोग, कहाँ-कहाँ और कब तक मास खाएँगे ! अतएव पापोपदेश देने वाला, पाप करने वाले से भी बडा पापी होता है। क्या कभी ऐसा माना जा सकता है कि भगवान् 'महारम्भी' और 'महापापी' थे ? यदि ऐसा नही माना जा सकता है तो निर्णय होने मे तनिक भी देर नही लगेगी। यदि किसी का अन्त करण स्वच्छ है और उसकी आत्मा पक्षपात से ग्रस्त नही है तो उसे यह समझने मे देर नही लगनी चाहिए कि—"शुद्ध जनहित के लिए भगवान् ने जो प्रवृत्ति की है, उसमे महापाप या एकान्त पाप कदापि नहीं हो सकता।"

अनार्य से आर्य

प्राय सर्वत्र भगवान् ऋषभदेव की महान् करुणा, दया और प्रेम ही मिला है। जो युगलिए आपस मे लड रहे थे, अनार्यो के रूप परिवर्तित हो रहे थे और पशुओ को मार कर खाने की ओर अग्रसर हो रहे थे, उन्हे भगवान् ने कृषि की शिक्षा दी और इस प्रकार उन्हे महारम्भ से अल्पारम्भ की ओर लाए।

अकर्म-भूमि मे सभी लोग युगलिया थे। उस समय कोई अनार्य नही था। फिर आर्य और अनार्य का यह भेद क्यो हो गया ? कुछ देश अनार्य क्यो हो गए ?

कोई कह सकता है, आर्य-भूमि मे रहने के कारण लोग आर्य हो गए और अनार्य-भूमि मे रहने वाले अनार्य रह गए। परन्तु यह समाधान युक्ति-सगत नही है। जो लोग भूमि मे भी आर्यत्व और अनार्यत्व की कल्पना करते है, उन्हे कुछ भी ज्ञान नही है। वास्तविक बात तो यह है कि—जिनको जीवन के अच्छे साधन मिल गए, जिनके पास कृषि का सन्देश पहुँच गया, और जिन्होने उसे ग्रहण कर लिया, वे आर्य रहे। और जहाँ यह सन्देश नही पहुँचा, वहाँ भूख से पीडित लोगो ने पशु मार कर खाना आरम्भ कर दिया, मास खा कर अपने पेट का गड्ढा भरने लगे, फलत वे अनार्य होते गए।

भगवान् ने कृषि की शिक्षा आर्य बनाने के लिए दी थी, या अनार्य बनाने के लिए ? यदि अनार्य बनाने के लिए ही खेती सिखाई, तो ऐसी क्या मजबूरी थी कि

दुनिया को अनार्य बनाया जाए ? यह कौन-सा जीतकल्प है, या तीर्थंकर कल्प है कि उस भूखी जनता को महारंभ के कुमार्ग पर और महापाप के गाढ अंधकार मे धकेल दिया जाए ?

नही, अनन्त करुणा के सागर तीर्थंकर ऐसा तो कदापि नही कर सकते थे। उन्होने तो पथ-भ्रष्ट जनता को ठीक राह बतलाई है। वस्तुत वे तो माँसाहार के कुमार्ग की ओर जाती हुई जनता को शाकाहार की ओर ही लाए। इस सिद्धान्त को ठीक तरह न समझने के कारण ही हमारी दृष्टि विपरीत दिशा की तरफ जाती है।

दूसरा प्रश्न यह भी है कि साधुओ को इस सम्बन्ध मे कहने या विवेचना करने की क्या आवश्यकता है ?

शिक्षा

पुत्र को माता-पिता की सेवा का उपदेश देना, दान का या कर्त्तव्य का उपदेश देना, पति-पत्नी और अध्यापक के कर्त्तव्य का निर्देशन करना, यदि ये सब सासारिक काय है, तो फिर इन सब बातो से भी साधु को क्या मतलब है ? फिर तो आप किसी साधु को ही दान दिया करे। भले ही माता-पिता भूखे मरते रहे और सडते रहे। साधु को ससार से क्या लेना है और क्या देना है ? जब ससार से कोई सम्बन्ध ही नही है, तो साधु इस रूप मे उपदेश क्यो देता है? माता-पिता, भाई-बहन आदि की सेवा और स्वधर्मी की वत्सलता के सम्बन्ध मे क्यो कहता है ? परन्तु बात ऐसी नही है। साधु की एक मर्यादा है और वह सुनिश्चित है। वह विवेक की शिक्षा देता है कि अमुक कार्य क्या है, कैसा है ? कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य है ? साधु किसी व्यावहारिक काम को करने की साक्षात् प्रेरणा नही देता, परन्तु उस काम को करने का सुफल एव कुफल बताता है, क्योकि यह उसका कर्त्तव्य है।

साधु के सामने प्रश्न रखा जा सकता है कि मास खाना नैतिक है, अथवा फलाहार से गुजारा करना नैतिक है ? दोनो मे से किसमे ज्यादा, और किसमे कम पाप है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर, क्या साधु को चुप्पी साध कर बैठ जाना चाहिए। कोई पूछता है—छना पानी पीने मे ज्यादा पाप है, या अनछना पानी पीने मे ? साधु उक्त प्रश्न का क्या उत्तर दे ? क्या वह मौन रहे ? नहीं, ऐसा नही हो सकता। जिज्ञासु का स्पष्टत सही समाधान करना ही होगा।

कम या अधिक पाप

विवेक की व्यापकता को और जैन-धर्म की वास्तविकता को तो बताना ही पडेगा कि अमुक कार्य मे ज्यादा पाप है अमुक में कम। पाप मे जितनी-जितनी कमी आएगी, उतना-उतना ही धर्म का अश बढ़ता जाएगा। प्रश्न होने पर साधु को यह भी बतलाना होगा कि मासाहार में ज्यादा पाप है और फलाहार मे कम। यह जो पाप की न्यूनता है, इस अर्थ मे वह क्या है—पाप या धर्म ?

यदि किसी आदमी को १०४ डिग्री ज्वर चढा हुआ था। औषधि से या स्वभावत', दूसरे दिन वह १०० डिग्री रह गया। किसी ने उससे पूछा—क्या हाल है ? तब वह कहता है कि आराम है। आप कहेगे, जब सौ डिग्री ताप है तो आराम कहाँ है ? हाँ, जितना ज्वर है उतना तो है ही, उससे इन्कार नही है, परन्तु जितनी कमी हुई है, उतना तो आराम ही हुआ, या नही ?

दुर्भाग्य से जो पाप है, उसकी तरफ दृष्टि तो जाती है, किन्तु जितना पाप कम होता जाता है, उतने ही अशो मे पाप से बचाव भी होता है, इस कमी की ओर किसी की दृष्टि ही नही जाती। एक आदमी मासाहार से फलाहार पर आ जाता है तो उसमे भी पाप है, पर वह अल्प है। सिद्धान्तत मासाहार नरक का द्वार है और फलाहार नरक का द्वार नही है। जब वह नरक का द्वार नही है तो उसमे उतने ही अशो मे पवित्रता आ जाती है, जैसे—१०४ से १०० डिग्री ज्वर रहने पर तथाकथित रोगी को आराम होता है। इस तथ्य को स्वीकार करने मे हिचक क्यो होती है ?

यदि साधु को दुनिया से कोई मतलब नही, तो उसे व्याख्यान देने की क्या आवश्यकता है ? यदि साधु व्याख्यान नही देगा तो सामान्यजन घर से स्थानक तक आएँगे भी नही, फलत आने-जाने का आरम्भ भी नही होगा। जब वह व्याख्यान देता है, तभी तो कोई उसके पास आता है। फिर तो यह आरम्भ उसके व्याख्यान से ही सम्बन्धित हुआ न ? जब कोई साधु-दर्शन को जाता है और प्रवचन सुनता है तो इसका परिणाम क्या माना जा सकता है ? साधु के पास जाने मे हिंसा हुई है, किन्तु जो प्रवचन सुना, उपदेश सुना उससे तो धर्म हुआ, उस धर्म का भी कोई अर्थ है या नही ?

शुभ और अशुभ

भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए राजा श्रेणिक कितने समारोह के साथ गया था ? ऐसा करने मे यदि एक अश मे पाप भी हुआ, तो दूसरी ओर भगवान् के दर्शन करने के फलस्वरूप अपूर्व धर्म भी हुआ, यह भी तो बताया गया है। इसे लोग क्यो भूल जाते है ?

साधु ने साधारण लोगो से शास्त्र-स्वाध्याय के लिए कहा, वे स्वाध्याय करने लगे। इस सत्प्रवृत्ति मे भी मन, वचन और काय की चचलता एव चपलता होती ही है न ? और जहाँ चचलता है, वहा आश्रव है, उस अश मे सवर नही है। यदि योगो का सर्वथा निरोध हो जाए तो चौदहवें गुणस्थान की भूमिका प्राप्त हो जाए, तब तो मोक्षप्राप्ति मे देर न लगे। ऐसी स्थिति मे विचार करना ही होगा कि शास्त्र-स्वाध्याय करते समय जो योग है, वह शुभयोग है या अशुभयोग ? इसी तरह भगवान् ऋषभदेव ने जो कुछ भी सिखाया, वह शुभयोग मे सिखाया या अशुभयोग मे ? यदि वे अशुभयोग मे सिखाते तो क्रोध, मान, माया और लोभ की दुष्प्रवृत्ति

होनी चाहिए थी। पर, शास्त्र तो यह बताता है कि उन्होने प्रजा के हित के लिए ही शिक्षा दी थी। ऐसी स्थिति मे शुभयोग आ गया।

जब कोई शास्त्र-श्रवण करेगा या भगवान् की स्तुति करेगा, तब भी आश्रव का होना अनिवार्य है, परन्तु वह होगा शुभ अश मे ही। साथ ही यह भी ध्यान मे रखना होगा कि ऐसा करते समय धर्म का अश कितना है?

आशय यही है कि जब कोई भी क्रिया की जाए, या किसी भी क्रिया के सम्बन्ध मे कहा जाए, तो उसके दोनो ही पहलुओ पर ध्यान देना चाहिए।

साधु जब कृषि के सम्बन्ध मे कुछ कहते हैं तो वे कृषि का समर्थन या अनुमोदन नही करते है। वे तो केवल वस्तु-स्वरूप का ही विवेचन करते है। वे यही बतलाते है कि खेती अल्पारम्भ है, महारम्भ नही है। जानवरो को मार कर जीवन-निर्वाह करना महारम्भ है और खेती करना उसकी अपेक्षा अल्पारम्भ है। श्रावक के लिए महारम्भ त्याज्य है और अल्पारम्भ का त्याग उसकी भूमिका मे सर्वथा अनिवार्य नही है। सभी जगह साधुओ की भाषा का ऐसा ही अर्थ होता है। यह व्याख्यान-श्रवण तो समर्थन पाने के योग्य करते है, किन्तु तदर्थ आने-जाने का समर्थन नही होना चाहिए।

एक मनुष्य तीर्थंकर के दर्शन के लिए जा रहा है और दूसरा वेश्या के यहाँ जा रहा है, तो कहाँ शुभ योग है और कहा अशुभयोग? जाने की दृष्टि से तो दोनो ही जा रहे है, किन्तु एक के जाने मे शुभयोग है और दूसरे के जाने मे अशुभयोग है। हाँ, तो जाना-आना मुख्य नही है, शुभयोग या अशुभयोग ही मुख्य है। अत इस प्रकार प्रवृत्ति करना, न करना मुख्य नही है, किन्तु उस प्रवृत्ति के पीछे यदि शुभ योग है तो वह शुभाश्रव है, पुण्य है, और प्रवृत्ति न करने पर भी यदि योग अशुभ है तो वहाँ अशुभाश्रव है, पाप-बध है।

महारभ और श्रावकत्व

देहातो मे अग्रवाल, ओसवाल, पोरवाल, जाट आदि अनेक जातियाँ जैन है। उनमे बहुत से व्रतधारी श्रावक भी है, और वे खेती का व्यवसाय करते हैं। तो क्या वे श्रावक कहे जा सकते है, या नही? अत अब मुख्य प्रश्न एक ही है, कि—क्या श्रावकत्व और खेती का परस्पर ऐसा सम्बन्ध है कि जहाँ खेती है, वहाँ श्रावकत्व नही रह सकता? और जहाँ श्रावकत्व है, वहाँ खेती नही रह सकती? यदि ऐसा ही है तो एक बात अवश्य आएगी कि उन जैन-परम्पराओ के अनुयायियो को स्पष्टरूप से कह देना होगा कि आपको इस भूमिका मे नही रहना चाहिए, क्योकि खेती करना महारम्भ है। और जहाँ महारम्भ विद्यमान है वहाँ श्रावकत्व स्थिर नही रह सकता।

किन्तु उपासकदशांगसूत्र मे स्पष्ट कहा गया है कि—'पन्द्रह कर्मादानो मे मर्यादा नही है।

अर्थात्—"पन्द्रह कर्मादान जानने योग्य अवश्य है, किन्तु आचरण करने योग्य नही हैं।"[३]

वस्तुत महारभ एव कर्मादान मे मर्यादा नही होती और यदि खेती भी कर्मादान मे है, महारभ मे है, तो उसकी भी मर्यादा नही हो सकती। भगवतीसूत्र के अनुसार पन्द्रह कर्मादानो का त्याग तीन करण से किया जाता है।[४] उनमे आशिक त्याग या मर्यादा की गुंजाइश ही कहाँ है ? अतएव जहाँ कर्मादान होगा, वहाँ श्रावकत्व स्थिर नही रह सकता। तब कोई उन हजारो खेती करने वाले भाइयो से कह नही सकता कि आप श्रावक नही है।

सभव नहीं

इस प्रकार खेती-वाडी को महारभ भी कहना, कर्मादान भी समझना और फिर उसके साथ अणुव्रती श्रावकत्व भी कायम रखना, कदापि सम्भव नही है। यदि कर्मादान की कोई सम्भव मर्यादा हो सकती है तब तो कसाईखाने चलाने की भी मर्यादा निर्धारित की जा सकती है? एक कसाई किसी जैन-साधु के पास आता है और कहता है कि मैं सौ कसाईखाने चला रहा हूँ, उन्हे ही चलाऊँगा, मर्यादा निर्धारित करा दीजिए। तो क्या वह कसाई अणुव्रतधारी श्रावक की कोटि मे आ सकेगा ? जिस प्रकार कसाईखाने की मर्यादा करने पर भी श्रावकत्व नही आ सकता, क्योकि कसाई-खाना चलाना महारभ है, उसी प्रकार खेती करना भी यदि महारभ है, कर्मादान है, तो उसकी मर्यादा करने पर भी श्रावकत्व नही आना चाहिए। जबकि खेती करने वाले श्रावक होते है तो फिर खेती को कर्मादान और महारभ किस प्रकार कहा जा सकता है ?

इस कथन से यह भी भलीभाँति समझा जा सकता है कि जैन-साधु कृषि के सम्बन्ध मे क्या कहते है ? वे कृषि का समर्थन नही करते, किन्तु इस बात का समर्थन करते है कि खेती की गिनती कर्मादानो मे नही है, अत जो खेती करता है वह श्रावक नही रह सकता, यह धारणा बिलकुल गलत और निराधार है।

खेती अनर्थदण्ड या कर्मादान नहीं है

'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का आशय क्या है ? यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। इस विषय मे एक प्रश्न है—कोई मनुष्य स्वय खेती करता है और अपने खेत मे कुँआ भी खुदवाता है। कुँआ खुदवाने के लिए उसे सुरग लगवानी पडती है। तो क्या यह सुरग लगवाना 'फोडीकम्मे' है ? इसका उत्तर है—नही ! उसका सुरग लगवाना 'फोडीकम्मे' नही है। वह खेती की सिंचाई के लिए या जनता के कल्याणार्थ पानी उपलब्ध करने के लिए कुँआ बनवाता है। उसने व्याव-

---

३ "पण्णरसकम्मादाणाइ जाणियव्वाइ, न समायरियव्वाइ।"

४ देखिए, भगवती सूत्र ८, ५

सायिक हित के लिए उसका उपयोग नही किया है और कर्मादान का मतलब है—व्यवसाय करना। जो सुरग लगाने का धन्धा करता है, वह 'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का सेवन करता है, किन्तु जो अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए कार्य करता है वह कर्मादान का सेवन नही करता। बहने भोजन बनाती है और जली हुई लकडी के कोयले बना कर रख लेती है तो क्या उसे 'इगालकम्मे' कर्मादान कह सकेंगे? नही, वह 'इगालकम्मे' नही है। कोयला बना-बना कर बेचना और कोयले बनाने का धन्धा, करना 'इगालकम्मे' अवश्य है।

इसी प्रकार सुरगे लगा-लगा कर विस्फोट करने का व्यापार करना, फोडीकम्मे कर्मादान है। अपनी, या जनता की आवश्यकतापूर्ति के लिए कुँआ खुदवाना कर्मादान नही है।

एक बार मुझसे प्रश्न किया गया था कि नन्दन मणियार ने एक बावडी बनवाई तो वह मेढक बना। सामान्यत इसका आशय तो यही निकला कि जो बावडी बनवाएगा, वह मेढक बनेगा?

कही-कही दूर-दूर तक पानी नही मिलता और लोग पानी के लिए बडी तकलीफ पाते है। अत मरुधर प्रदेश मे प्राय ऐसा देखा गया है कि लोग अपनी गाढी कमाई का पैसा, कुँआ वगैरह खुदवा कर, जनता की सुख-सुविधा मे लगाते है। उन्हे उससे कोई स्वार्थ नही साधना होता। यह भी वे नही जानते कि जहाँ जलाशय बनवाया है, वहाँ वे जीवन मे कभी आएँगे भी या नही?

आसक्ति

हिसार की तरफ कुँओ की बहुत कमी है। गाँव के बाहर तलैया होती है। सब लोग उसी का पानी पीते है। उसमे मलेरिया के असख्य कीटाणु पैदा हो जाते है, पानी सड जाता है और लोग वही सडा पानी पी कर रोग के शिकार होते है। वहाँ के गाँवो की यह दुर्दशा देख कर कुछ लोगो ने सोचा—तलैया का सडा पानी पीना, एक प्रकार से जहर ही पीना है। यह जहर समूचे गाँव के स्वास्थ्य को बुरी तरह बर्बाद कर रहा है। ऐसा सोच कर उन्होने एक कुँआ बना लिया और तब मलेरिया का जोर कम हो सका। तो क्या, वे कुँआ बनवाने वाले अगले जन्म मे मेढक बनेगे?

यदि ऐसा नही है तो नन्दन मणियार क्यो मेढक बना? वास्तव मे बात यह है कि नन्दन बावडी बनवाने से मेढक नही हुआ। यदि ऐसा होता तो वह किसी दूसरी बावडी मे मेढक के रूप मे उत्पन्न हो सकता था। सिद्धान्त तो यह है कि उसे अपनी बावडी के प्रति ममता उत्पन्न हो गई थी और मृत्यु की अन्तिम घडी तक उसमे उसकी आसक्ति बनी रही थी। जब बावडी मे उसकी ममता और आसक्ति थी, उसे उसमे जाना ही पडा। उसका धर्म उसे बावडी मे मेढक बनाने के लिए नही ले गया, बल्कि उसकी आसक्ति और ममता ने ही उसे बावडी मे घसीटा और मेढक बनाया।

शास्त्रकार, इसीलिए तो कहते है कि जो भी सत्कर्म करना हो, उसे यथाशीघ्र कर लो, किन्तु उसके फल मे आसक्ति मत रखो। यह बावडी मेरी है, इसका पानी मेरे अतिरिक्त दूसरे क्यो पीएँ ? इस पर पैर रखने का भी दूसरो को क्या अधिकार है ? हम जिसे चाहे, उसे ही पानी लेने देंगे और जिसे नही चाहे, उसे नही लेने देंगे ! इस प्रकार की क्षुद्र ममता ही मेढक बनाने वाली है। ज्ञातासूत्र या कोई दूसरा सूत्र उठा कर देखो। पर उसमे भी एक ही बात पाएँगे कि—मनुष्य तू सत्कर्म कर ! पर ममता और आसक्ति मत रख। नन्दन मणियार को कुंए ने मेढक नही बनाया, उसके सत्कर्म ने भी मेढक नही बनाया। यदि ऐसा होता तो चक्रवर्ती सम्राटो ने देश के हित के लिए जलाशय का निर्माण आदि अनेक काम किए है, तो उन सबको भी मेढक और मछली बनना चाहिए था। परन्तु वे तो मेढक नही बने। इससे प्रमाणित होता है कि मेढक बनाने वाला कारण कुछ और ही है, सत्कर्म नही।

इस प्रकरण मे कृषि के सबध मे कतिपय प्रश्नो पर चर्चा की गई है और इससे पहले भी काफी विवेचन हो चुका है। जो कुछ कहा गया है, उस पर निष्पक्ष बुद्धि, से वास्तविकता को समझने की विशुद्ध भावना से विचार करना चाहिए जिससे भ्रम दूर होगा और सत्य का सुनिश्चित मार्ग उत्तरोत्तर सरल होता जाएगा।

☐

२७ | मानव-जीवन और कृषि-उद्योग

जैन-धर्म अतिविशाल और प्राचीन धर्म है। उस पर हमे गर्व है कि उसने हजारो ही नही, लाखो और करोडो मानवो का पथ-प्रदर्शन किया है। उसने जनता को जीवन की सच्ची राह बतलाई है। भूले-भटके अनगिनत पथिको को जो गलत राह पर चल रहे थे, कहा है कि—तुम जिस राह पर चल रहे हो, वह जीवन की सच्ची राह नही है, बल्कि अन्तत उस सत्य की सीधी राह पर चलने से ही तुम्हारा विकास हो सकेगा और तुम अपनी मजिल तक पहुँच सकोगे।

आदर्श या यथार्थ ?

तथाकथित जैन-धर्म और उसकी सर्वविदित महत्ता के सम्बन्ध मे आज जनता के मन मे एक भ्रामक प्रश्न चल रहा है कि—यह केवल आदर्शवादी है या यथार्थवादी भी है ? यह आदर्शों के सुनील आकाश मे ही उडता है, या जीवन-व्यवहार की सत्य भूमि पर भी कभी उतरता है ?

अनेक बार हम देखते है कि आदर्श, आदर्श बन कर रह जाते हैं और ऊँचाइयाँ, ऊँचाइयाँ ही बनी रहती है। वे जीवन की गहराइयो को और उसकी समस्याओ को हल करने वाले वास्तविक समाधान की भूमिका पर नही उतरती। कुछ सिद्धान्त ऐसे होते है, जो प्रारम्भ मे तो बहुत ऊँची उडान भरते है और आकाश मे उडते दिखलाई देते हैं किन्तु व्यावहारिक जीवन के सुनिश्चित धरातल पर नही उतरते, क्योंकि उनमे जनता की समस्याओ का उचित समाधान करने की क्षमता नही होती।

इसके विपरीत कुछ सिद्धान्त यथार्थवादी होते है। वे जनता की आवश्यकताओ का, समस्याओ का सीधे ढग से समाधान करते है। वर्तमान मे बच्चो, बूढो, युवको और महिलाओ की क्या समस्याएँ है ? भूखी-नगी जनता की क्या समस्याए है ? इन सब पर गहराई मे उतर कर विचार करना ही उनकी सैद्धान्तिक यथार्थता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

इस तरह प्रश्न यह सामने आता है कि समाज फिर किस पृष्ठ-भूमि पर टिक सकेगा ? वह कोरे कथोपकथन और कागजी आदर्शवाद पर जीवित नही रह सकता। जब उसे व्यावहारिक यथार्थवाद मिलेगा, तभी जिन्दा रहेगा ! इस सम्बन्ध मे एक आचार्य ने भी कहा है—"एक आदमी भूखा है और भूख के ताप से छटपटा रहा है। ऐसी स्थिति मे व्याकरण के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो से उसका पेट नही भरेगा।

काव्य का रस बडा मीठा है। जब कविता-पाठ होता है तो लोग मन्त्र-मुग्ध हो कर जम जाते है और घण्टो तक जमे रहते है, अमृत-पान जैसा आनन्द भी अनुभव करते हैं। किन्तु प्यास से व्याकुल यदि कोई प्यासा, वहाँ आए और पानी माँगे, तब उससे यह कहा जाय कि—'भाई, यहाँ पानी नही है। यहाँ काव्य है, जोकि बहुत ही मधुर है, उसमे अमृत जैसा मधुर रस है। इसी को पी कर अपनी प्यास बुझा लो।' तो क्या पानी के प्यासे की प्यास, काव्य-रस से बुझ सकेगी ! क्या, वह काव्य का रस पी भी सकेगा ? नही।[१]

इसीलिए व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध मे यथार्थवादी आचार्य कहते है कि जीवन-व्यापार की समस्याएँ न तो अलकारो से सुलझ सकती है, न साहित्य से और न कविताओ से ही। उन्हे सुलझाने के लिए तो कोई दूसरा ही सही हल खोजना पड़ेगा।

दो-चार दिन का भूखा एक आदमी आपके सामने आता है। वह आपसे चार कौर भोजन पाने की इच्छा रखता है और माँग करता है। आप उससे कहते है—'भाई, इस समय धर्म का भोजन तो तैयार है। दो दिन हो गए है, तो दो दिन का उपवास और कर लो। अरे, रोटियो मे क्या रखा है ? अभी खाओगे, अभी फिर भूख लग आएगी। अनादिकाल से खाते आ रहे हो और अनन्त-अनन्त सुमेरु पर्वतो के बराबर रोटियो के ढेर खा चुके हो। फिर भी तुम्हारी भूख नही मिटी तो अब चार कौर से क्या मिटने वाली है ? छोडो, इस पुद्गल की रोटी को। अब धर्म की रोटी ले लो, जिससे इस लोक की भी भूख बुझेगी और परलोक की भी भूख बुझ जाएगी।'

क्या सच्चे धर्म की यही व्याख्या है ? यह धर्म का उपदेश है या उसका मजाक ? यह एक ऐसा विचार है, जिससे जनता के मन को साधा नही जा सकता, बल्कि उसके हृदय मे काँटा चुभाया जाता है। क्या मानव-जीवन इस तरह चल सकेगा ?

इस प्रकार का कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण वास्तविक नही है। वह जीवन की मूलभूत और ठोस समस्याओ के साथ निष्ठुर उपहास करता है। वह, मर जाने के बाद तो स्वर्ग की बात कहता है, किन्तु जीवित रह कर इस ससार को स्वर्ग बनाने की बात कभी नही कहता। मरने के पश्चात् स्वर्ग मे पहुँचने पर ६४ मन का मोती मिलने की बात तो कहता है, परन्तु जिन्दा रहने के लिए दो माशा अन्न के दाने पाने की राह नही दिखलाता। वह स्वर्ग का ढिंढोरा तो पीट सकता है, किन्तु जिस मृत-प्राय प्राणी के सामने ढिंढोरा पीटा जा रहा है, उसे जीवित रहने के लिए जीवन की कला नही सिखलाता। इस प्रकार का हवाई दृष्टिकोण अपनाने वाला धर्म, चाहे वह कोई भी हो, जनता के काम का नही है। आज की दुनिया को ऐसे निस्सार धर्म की आवश्यकता भी नही है।

---

१ "बुभुक्षितैर्व्याकरण न भुज्यते,
पिपासितैं काव्यरसो न पीयते।"

धर्म क्यों ?

आखिर, कोई धर्म यह तो बताए कि मनुष्य को करना क्या है ? क्या धर्म, प्रस्तुत जीवन की राह नही बतला सकता ? क्या, मौत का रास्ता दिखलाने के लिए ही धर्म का निर्माण हुआ है ?

उधार का भी अपने आपमे मूल्य तो अवश्य है, परन्तु जिस दुकान मे उधार बिक्री का ही व्यापार चलता हो, और नकद बिक्री की बात ही न हो, क्या वह दुकान अपने को स्थिर रख सकेगी ? इसी तरह जो धर्म परलोक के रूप मे केवल उधार की ही बात करता है और कहता है कि उपवास करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! धर्म-ग्रन्थो का अध्ययन और तदनुसार कठोर क्रियाकाण्ड करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! तीर्थ-स्थानो का पर्यटन करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! किसी से कलह-सघर्ष आदि नहीं करोगे तो मरने के बाद अमुक राज्य का वैभवरूप फल पा जाओगे। परन्तु जो धर्म यह नही बतलाता है कि आप या हम, क्रमश श्रावक और साधु बन कर जो काम कर रहे है, उनका यहाँ क्या फल मिलेगा ? जो धर्म यह नही बता सकता कि वर्तमान कर्त्तव्य का पालन करोगे तो स्वर्ग यही पर और इस जीवन मे ही उतर आएगा — जिससे तुम्हारा समाज, परिवार और राष्ट्र स्वय ही स्वर्ग बन जाएगा। फिर उस सारहीन धर्म का साधारण जनता क्या उपयोग करे ?

सचाई तो यह है कि स्वर्ग मे वे प्राणी ही जाएँगे, जिन्होने अपने सत्कम और सदाचार के द्वारा यही पर स्वर्ग बना लिया है। जो यहाँ पर स्वर्ग नही बना पाए हैं और जो यहाँ पर घृणा, भुखमरी और हाहाकार का नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे है, उन्हे किसी धर्म के द्वारा यदि कभी स्वर्ग मिला भी, तो वह रो-रो कर ही मिलेगा। हँसते-हँसते कभी नही मिलने का।

कालिख

धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान मे व्याख्याता जो भी धार्मिक विवेचन प्रस्तुत करते हो, जनता उसे केवल सुनने के लिए ही न सुने, अपितु मनन करने के लिए सुने। हो सकता है कि परम्परागत प्रभाव के कारण उनकी बातें अरुचिकर मालूम पड़े, फिर भी उसे उनकी बातो पर चिन्तन-मनन करना ही चाहिए। गम्भीर चिन्तन और मनन के अभाव मे कोई धर्म या उसके धर्मानुयायी बदनाम होते है। यही बात जैन-धर्म के साथ है। अपने को जैन कहने और समझने वाले आज के जैनो की आचार-विहीनता तथा विवेक-शून्यता के कुपरिणामस्वरूप 'जैन-धर्म' के उज्ज्वल मुंह पर कालिख लग गई है।

परन्तु इस दुरावस्था को देख कर जैनो को अधीर हो कर पतन के प्रवाह मे नही बहना है, बल्कि तत्त्व-ज्ञानियो से सदुपदेश ग्रहण कर अतीत की भूल का प्रायश्चित्त करना है, और पतन के प्रवाह पर पवित्रता का प्रतिबन्ध लगा कर सदाचार के माध्यम से वर्तमान जीवन का पुनर्निर्माण करना है। ऐसा क्यो ? और किसके लिए ? अपने

निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिए नही, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की अभीष्ट समृद्धि के लिए।

मध्यकाल मे जैन-चिन्तन-पद्धति विकृत हो गई थी और उसके कारण जैन-धर्म के उज्ज्वल मुख पर कालिख लग गई है। उसे साफ करने का काम किसी परोक्ष देवी-देवता का नही, बल्कि जैनधर्मानुयायियो का है। वे ही उस कालिख को दूर कर सकते है। भगवान् महावीर के उज्ज्वल सिद्धान्तो पर काल-दोष से या भ्रान्त-बुद्धि से जो धूल जम गई है, उसे साफ करने का एकमात्र उत्तरदायित्व आज आप जैन कहलाने वाले भक्तो पर आ पडा है।

यदि आज भी जैन मतावलम्बी यही सोचते है—अजी, क्या है! ससार तो यो ही चलता रहेगा। लोग भूखे मरे तो क्या? खाने को मिले तो खाओ, और यदि नही भी मिले तो ज्यो ही खाने के लिए काम किया या अन्न पैदा किया तो कर्मों का बध हो जाएगा। इस प्रकार खाने-पीने की बातो मे आत्मा का कल्याण नही होना है। ये सब ससार की कपोलकल्पित बाते है, और ससार की बातो से हमारा सम्बन्ध ही क्या है? जो ससार का मार्ग है, वह बधन का ही मार्ग है, एक प्रकार से नरक का ही रास्ता है।

पेट की समस्या

किन्तु उन्हे यह भी जानना चाहिए कि जीवन मे पेट की समस्या ही बहुत बडी समस्या है। जब कभी किसी को भूख लगे और भोजन के लिए एक अन्न-कण भी न मिले, तब चिन्तन की गहराई मे वह अपनी बुद्धि का गज डाले, उस समय पता लगेगा कि भूखो की क्या शोचनीय अवस्था होती है? उस समय धर्म-कर्म की मरहमपट्टी काम देती है या नही? जब मनुष्य भूख की पीडा से व्याकुल होता है, आँखो के आगे अँधेरा छा जाता है और मृत्यु का नगा नाच होने लगता है, उस हालत मे समता या दृढता का मरहम लगाने वाला सौ मे से एक भी शायद ही निकले, अन्यथा सभी घायल हो कर सहज मे अकाल मृत्यु की भेट चढ जाते है। अस्तु, जैन-धर्म कहता है कि जीवन मे सबसे बडी वेदना भूख की है।

जैनशास्त्रो मे जो बाईस परीषह आते हैं, उनमे पहला परीषह क्षुधा का है। शेष ताडन या वध आदि क्रूर परीषहो का क्रमिक स्थान बहुत दूर है। स्थूल हिंसा के रूप मे सोचने का जो ढग हमे मिला हुआ है या हमने जो ढग अपना रखा है, उसके अनुसार तो सबसे पहला परीषह वध-परीषह होना चाहिए था। कोई किसी को मार दे या वध कर दे, तो उसके बराबर तो क्षुधा-परीषह नही है। फिर भी वध को पहला परीषह न गिन कर भूख को ही पहला परीषह क्यो गिना है?

आज भी हजारो आदमी ऐसे मिलेंगे जो भूख से बुरी तरह छटपटा रहे है। वे चाहते है कि भूख की ज्वाला मे तिल-तिल करके भस्म होने की अपेक्षा यदि उन्हे कत्ल कर दिया जाए तो अधिक अच्छा हो। घुट-घुट कर रोज-रोज मरने, और एक-एक प्राण

छिटका कर नष्ट होने के बजाय एक साथ मर जाना, वे कही ज्यादा ठीक समझते हैं। वध और क्षुधा परीषह दोनो मे से एक को चुनने को कहा जाए तो वे लोग वध को मजूर करेंगे। कई लोग रेलो के नीचे कट कर या कूप-तालाब मे गिर कर इसीलिए मरते हैं कि उनसे अपनी स्त्री और बच्चो की भूख की पीडा नही सही जा सकती। वे भूख की वेदना से छुटकारा पाने के लिए ही मरने की वेदना को सहसा स्वीकार कर लेते है। एक महान् आचार्य ने ठीक ही कहा है —"भूख की पीडा के समान कोई पीडा नही है।"[२]

मरता क्या नहीं करता ?

कोई धनी व्यक्ति इस तथ्य को जल्दी अनुभव नही कर सकता, क्योकि उसकी स्थिति दूसरे प्रकार की होती है। जब तक वह सुख और समृद्धि की स्थिति मे रहता है तब तक वह दु ख की भयकर स्थिति का ठीक-ठीक अनुभव नही कर सकता। किन्तु बगाल और बिहार के दुष्काल मे लोग जब भूख से छटपटाते हुए गिरते थे, तो अपने प्राणो से भी अधिक प्यारे बच्चो को दो-दो रुपये मे बेचते हुए नही हिचकते थे और दो रोटियो के पीछे स्त्रियाँ भी अपने सतीत्व को नष्ट कर देती थी। इस प्रमाण से समझा जा सकता है कि भूख के पीछे दुनिया के भारी से भारी दुष्कृत्य और पाप किए जाते है। जब भूख लगती है तो मनुष्य उसकी तृप्ति के लिए क्या नहीं कर गुजरता ? मरता, क्या न करता ? आचार्य ने कहा है —"दुनिया मे वह कौन-सा पाप है, जो भूखा नही करता है ?"[३] धोखा वह देता है, ठगी वह करता है, वह सभी कुछ कर सकता है। और तो क्या, माता और बहने अपनी पवित्रता तक को बेच देती हैं ! किसलिए ? केवल रोटी के लिए।

भूख, वास्तव मे एक भयानक राक्षसी है। वह मनुष्य को नृशस और क्रूर बना देती है। जब वह अपने पूरे जोश मे होती है और उसे तृप्त करने के लिये दो रोटी तक नही मिल पाती है, तो ऐसी स्थिति मे पति और पत्नी तक के सम्बन्ध का भी पता नही लगता है। और तो क्या, स्नेहशील माता-पिता भी अपने प्राण-प्यारे बच्चे के हाथ की रोटी छीन कर खा जाते है। जब ऐसी स्थिति है तो आचार्य ठीक ही कहते है कि भूखा आदमी सभी पाप कर डालता है।

एक जीवनदर्शी दार्शनिक ने कहा है—"भूख के मारे को कुछ भी नही सूझता हैं।"[४] निरन्तर की भूख ने उसकी ज्ञान-शक्ति को नष्ट कर दिया है।

वह कौन-सी चीज थी, जिसने मेवाड के ही नही, वरन् समूचे भारत के गौरवस्वरूप महाराणा प्रताप को भी अपनी स्वाधीनता की साधना के पथ से विचलित

---

२ "खुहासमा नत्थि सरीरवेयणा।"

३ "बुभुक्षित किं न करोति पापम् ?"

४ "बुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित्।"

कर दिया था ? अपने बच्चो की भूख को सहन न कर सकने के कारण ही तो वे अकबर से सन्धि कर अपनी प्यारी जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता को खो देने के लिए विवश हो गए थे। जब प्रताप जैसे दृढ-प्रतिज्ञ और कष्टसहिष्णु व्यक्ति भी भूख के प्रकोप से अपने सुदृढ सकल्पो से गिरने लगते है और ऐसा काम करने के लिए तत्पर हो जाते हैं, जिसकी स्वप्न मे भी वे स्वय कल्पना नही कर सकते थे, तो आज के साधारण आदमियो का तो कहना ही क्या है ? आजकल तो एक दिन का उपवास भी दैवी प्रकोप जैसा अनुभव किया जाता है।

यदि हम इन सब बातो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो पता लगेगा कि भूख वास्तव मे कितनी बडी वेदना है।

कृषि भूख की समस्या का हल

गृहस्थजीवन मे भूख की समस्या को आसानी से हल करने वाली एक चीज है—कृषि-अर्थात् खेती। कृषि से जो उत्पादन होता है, उसी से बहुत से पापो को, जो भयकर भूख के दरवाजे से सर्वसाधारण की आत्मा मे प्रवेश करते है, रोका जा सकता है। उन विभिन्न महापापो को रोकने के लिए अतीत काल मे भगवान् ऋषभदेव ने और दूसरो ने कृषि आदि के रूप मे अथक प्रयत्न किये है। किन्तु खेद के साथ कहना होगा कि उनमे आप महापाप और महारम्भ की छाया देखते है। आप जीवनरक्षा के लिए तो अन्न खाएँगे, किन्तु जिस अन्न पर जन-जीवन निर्भर है, उसके उत्पन्न करने वाले को महापापी कहेगे। जो अन्न-उत्पादन का कार्य कर रहे है, जब उन्हे महारम्भी-महापापी और उसके फलस्वरूप नरकगामी कहा जाता है, तो किसी भी सहृदय का मन तिलमिला उठता है और हृदय टूक-टूक हो जाता है।

हमारे शास्त्र कुछ कहते है, हमारी प्राचीन परम्परा कुछ कहती है, किन्तु आज हम दूसरा ही राग अलापते है। जैन-सस्कृति समाज को कही और ले जाना चाहती है, किन्तु कुछ लोग उसे समझे बिना कही अन्यत्र ही भटक रहे है। जनहीन मैदान मे भटकने वाले यात्री की-सी दुर्दशा आज हमारी हो रही है।

भगवान् ऋषभदेव ने क्या किया था ? क्या उन्होने अपने समय के लोगो को महापाप और महारम्भ का रास्ता बतलाया था ? कदापि नही।

आप कहेगे कि तब वे भगवान् नही बने थे। किन्तु क्या आप यह नही जानते कि उन्हे मति, श्रुत और अवधि[५]—ये तीन प्रकार के निर्मल ज्ञान प्राप्त थे। उनका

---

५ इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान 'मति' है। विशिष्ट चिन्तन-मनन एव शास्त्र से होने वाला ज्ञान 'श्रुत' है। मूर्तिमान् रूपी पुद्गल पदार्थों का सीमा सहित ज्ञान 'अवधि' है। ये तीनो ही ज्ञान सम्यग्दृष्टि विवेकशील आत्माओ को होते हैं तो ज्ञान कहलाते है और यदि मिथ्यादृष्टि अविवेकी आत्माओ को होते हैं तो अज्ञान, अर्थात् कुज्ञान हो जाते है।

अवधिज्ञान लूला-लँगडा या भूला-भटका, अर्थात् विभगज्ञान नही था। वह विशुद्ध ज्ञान था। उस स्थिति मे भगवान् ने जो कुछ भी किया, वह सब क्या था ?

करुणा का झरना

प्रागैतिहासिक काल के युगलियो[६] की जनता को खाना तो जरूरी था ही, पर काम नही करना था। सर्दी से बचने के लिए कपडा या मकान कुछ भी चाहिए, जो आवश्यक ही था, किन्तु वस्त्र या मकान नही बनाना था। जीवन तो जीवन की तरह ही बिताना था, परन्तु पुरुषार्थ की आवश्यकता समक्ष मे नही आई थी। इसी स्थिति मे चलते-चलते युगलिया-जन भगवान् ऋषभदेव के युग मे आ गए। इस युग मे कल्प-वृक्षो के कम हो जाने से आवश्यकताओ की पूर्ति मे गडबडी होने लगी, फलस्वरूप जनता भूख से आकुल हो उठी। पेट मे भूख की आग सुलगने लगी और तत्कालीन जनता उसमे भस्म होने लगी। उसे देख कर भगवान् के हृदय मे अपार करुणा का झरना बह उठा और उन्होने जनता की भूख की सुलगती समस्या को शान्त किया। इसी सम्बन्ध मे आचार्य समन्तभद्र ने कहा है[७] —"भगवान् के कोमल हृदय मे अपार करुणा का झरना बहा और उन्होने देखा कि यह सारी जनता भूख की ज्वाला से पीडित हो कर खत्म हो जाएगी, आपस मे लड-लड कर मर जायगी, खून की धाराएँ बहने लगेगी, तो भगवान् ने उस अकर्मण्यप्रजा को कर्म की ओर पुरुषार्थ की नव-चेतना दी और अपने हाथ-पैरो से काम लेना सिखलाया। कर्त्तव्यविमूढ प्रजा को कर्मभूमि मे अवतरित किया और भुखमरी की समस्या को अपने हाथो सुलझाने की सही दिशा दिखलाई। दूसरे शब्दो मे कहे तो कृषि-कर्म करना सिखलाया।"

बगावत नहीं, इन्कलाब

अन्न का दाना और तन का कपडा—दोनो कृषि से प्राप्त होते है। जिन्दगी की प्रमुख आवश्यकताएँ केवल दो ही है—अन्न और कपडा। जनता के कोलाहल मे यही ध्वनि फूटती है कि 'रोटी' और 'कपडा' चाहिए। फ्रास का सम्राट् लुई महलो मे आनन्द कर रहा था और हजारो की सख्या मे प्रजाजन भूख से छटपटाते नीचे से आवाज लगाते हुए गुजरे कि—"रोटी दो या गद्दी छोडो।"

---

६ जैन-धर्म मानता है कि वर्तमान काल-चक्र की आदि मे मानव-जाति वन-सभ्यता मे रहती थी, नगर नही थे, उद्योग-धन्धे नही थे, किसी प्रकार का शासन भी नही था। सब लोग वृक्षो के नीचे रहते थे और भिन्न-भिन्न कल्पवृक्षो से ही अपनी भोजन, वस्त्र आदि की आवश्यकताएँ पूरी करते थे। ये लोग शास्त्र की भाषा मे यौगलिक यानी युगलिया कहलाते थे।

७ "प्रजापतिर्य प्रथम जिजीविषु,
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा।" —बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

यह आवाज सुन कर सम्राट् ने पास मे बैठे हुए महामन्त्री से पूछा–'क्या जनता ने बगावत कर दी है ?' महामन्त्री ने कहा—'यह बगावत नही, क्रान्ति है।' और महामन्त्री के मुंह से निकले हुए 'शब्द' सारे समार मे फैल गए कि—'भूख से बगावत नहीं, इन्कलाब होता है।'

यथार्थवादी

भगवान् ऋषभदेव उस भूखी जनता को देख कर कोरे आदर्शवाद मे नही बहे, न उन सब भूखो को उपवास का उपदेश ही दिया, और न साधु बन जाने या सथारा[८] करने की सलाह ही दी। जैसा कि कुछ लोग कहते है —

"बलता जीव बिलबिल बोले, साधु जाय किवाड न खोले।"

मकान मे आग लग गई है। उसके भीतर मनुष्य और पशु बिलबिला रहे है, फलत दयनीय कुहराम मच रहा है। ऐसे समय मे पत्थर के दिल भी मौम की भाँति पिघल जाते हैं। किन्तु कुछ महानुभावो का फरमान है कि जलने वाले जीवो को बचाने के लिए उस मकान का दरवाजा नही खोलना चाहिए। यदि कोई साकल खोल देता है तो उसे हिंसा, असत्य आदि पाप लग जाते हैं!

अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त भयङ्कर अग्निकाण्ड के समय यदि कोई साधुजी महाराज वहाँ विराजमान हो तो क्या करे ? उत्तर मिलता है कि—"सथारा कराएँ, आमरण उपवास कराएँ और उपदेश दे कि—सथारा ले लो और आगे की राह तलाश करो। यहाँ जीने की राह नही है!"

यदि कोई सचमुच मनुष्य है, और उसके पास यदि मनुष्य का दिल और दिमाग है, और वह पागल नही हो गया है तो कौन ऐसा है, जो मरते हुए जीवो को बचाने के लिए साँकल नही खोल देगा ? और कौन यह कह सकेगा कि सथारा ले लो ? क्या यह धर्म का मजाक नही है ? ये ऐसी शोचनीय स्थितियाँ है, जिनके लिए प्रत्येक समझदार आदमी यह कहने का साहस जरूर करेगा कि यह आत्मा, समाज, धर्म और साधुपन का दिवाला निकाल देने वाली निराधार एव मनगढन्त मान्यता है।

भगवान् ऋषभदेव इस सिद्धान्त पर नही चले कि जो भूखा मर रहा है उससे कहा जाए कि—सथारा कर लो, स्वर्ग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। वहाँ जा कर सुगन्ध लिया करना, उससे तुम्हारी भूख-प्यास की तृप्ति हो जाया करेगी।' उन्होने इस मार्ग को भूल से भी अगीकार नही किया। वे आचार-विचार से यथार्थवादी थे, और यथार्थवादी होने के नाते उन्होने सोचा कि जनता को यदि सही रास्ते

---

८ जब शरीर मरणासन्न हो, और जीवन-रक्षा के लिए कोई भी सात्विक उपचार कारगर न हो, तो आमरण उपवास करके अपने आपको परमात्म-भाव मे लीन कर देना, और प्रसन्नभाव से मृत्यु का वरण करना, जैन-दर्शन मे 'सथारा' कहलाता है।

पर नही ले जाया गया, तो वह महारम्भ के रास्ते पर चली जाएगी और मांसाहार के पथ पर चल कर और हिंसक हो जाएगी। एक बार यदि वह महा-हिंसा के पथ पर चल पडी तो फिर उसे मोडना मुश्किल हो जाएगा। अतएव उन्होंने भूख के कारण महारम्भ की ओर जाती हुई भोली-भाली जनता को अल्प-हिंसा की ओर लाने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि भगवान् का सन्देश जहां-जहां पहुँचा और जिन व्यक्तियो ने उसे अपनाया, वे आर्य बन गए और जहाँ वह सन्देश नही पहुँचा या जिन्होने उस सन्देश को स्वीकार नही किया, वे म्लेच्छ हो गए।

अकर्मभूमि से आर्यभूमि

एक दिन सारी भारत-भूमि मे अकर्म-भूमि की परम्परा थी और उस परम्परा के लोगो मे वैर-भाव नही था, घृणा नही थी, द्वेष नही था। वहाँ के पशु भी ऐसे थे कि किसी को बाधा और पीडा नही पहुँचाते थे। जहाँ के पशु भी ऐसे सात्विक वृत्ति वाले हो, तो फिर वहाँ के आदमी पशुओ को मार कर क्यो खाने लगे? भगवान् ऋषभदेव ने उसी वृत्ति को कृषि आदि के रूप मे कायम रखा और मासाहार का प्रचलन नही होने दिया।

अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ कृषि की परम्परा चली और अन्न का उत्पादन हुआ, वहाँ-वहाँ आर्यत्व बना रहा और महारम्भ न हो कर अल्पारम्भ का प्रचलन हुआ। परन्तु जहाँ कृषि की परम्परा नही चली वहाँ के भूखे मरते लोग क्या करते? तब आपस मे वैर जगा, और क्षुधाजन्य क्रूरता के कारण पशुओ को मार कर खाने की प्रवृत्ति चालू हो गई। तात्पर्य यही है कि—'कृषि' अहिंसा का उज्ज्वल प्रतीक है। जहाँ भी कृषि अग्रसर हुई है, वहाँ के जन-जीवन मे उसने अहिंसा के बीज डाले हे। और जहाँ कृषि है, वहाँ पशुओ की जरूरत भी अनिवार्यत रहती है, फलत उनका पालन भी स्वाभाविक है। इस प्रकार कृषि अहिंसा के पथ का विकास करती रही है। कृषि के द्वारा प्रवाहित होने वाली अहिंसा की धारा मनुष्यो के अतिरिक्त पशुओ की ओर भी बही है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ खेती गई, वहाँ वह अहिंसा के सिद्धान्त को ले कर गई। जहाँ कृषि नही गई, वहाँ अहिंसा का सिद्धान्त भी नही पहुँचा।

खाएँ क्या ?

मेक्सिको के निवासी मछली आदि के शिकार के सिवाय कोई दूसरा काम-धन्धा नही कर पाते है। कल्पना कीजिए—यदि कोई जैन सज्जन वहाँ पहुँच जाए, तो देखेगा कि लोगो के हाथ रात-दिन खून से किस तरह रगे रहते हैं, क्योकि जानवरो का मांस, चमडा, चर्बी आदि का उपयोग किए बिना उनके लिए कोई दूसरा साधन ही नही है। ऐसी स्थिति मे यदि वह जैन उन्हे जैन-धर्म का कुछ सन्देश देना चाहे, उस हिंसा को रोकना चाहे और यह कहे कि—मछली, हिरन, सुअर वगैरह किसी जीव को मत मारो, तो वे लोग क्या कहेगे? तब वे उससे पूछेंगे कि—फिर हम खाएँ क्या? और जब यह प्रश्न सामने आएगा, तो वह क्या उत्तर देगा? यदि वह उन्हें अहिंसक बनाना चाहता

है तो क्या उपाय करेगा ? क्या वह उन्हे सदा के लिए आमरण अनशन-सथारे, के रूप मे 'वोसिरे-वोसिरे' करा देगा ? यदि नही, तो वे भूखे मानव जीवित रह कर क्या करेंगे—क्या खाएँगे ? तब यह प्रश्न कैसे हल होगा ? यदि वह उनके जीवन के लिए कोई समुचित व्यवस्था नही करेगा तब तो पागल बन कर ही लौटेगा न ?

हम साधुओ को नाना प्रकार की रुचि और प्रवृत्ति वाले आदमी हर जगह मिलते रहते है। कोई वनस्पति-भोजी मिलते है तो कभी कोई मासाहारी भी मिल जाते है। जब मासाहारी मिलते है और हम उनसे मासाहार का त्याग कराना चाहते है तो उनसे उनकी अपनी भाषा मे यही कहना होता है कि—"प्रकृति की ओर से धान्य का कितना विशाल भण्डार भरा मिला है !" यदि कोई कर्त्तावादी मिलता है तो उससे कहा जाता है कि—"ईश्वर ने फल, फूल आदि कितनी शानदार सुन्दर चीजे अर्पण की है ! ये सब चीजे ही इन्सान के खाने की हैं, माँस नही।" यह कोई आवश्यक नही है कि यही शब्द कहे जाएँ, पर एकमात्र आशय यही रहता है कि उन मासाहारियो को किसी प्रकार समझाया जाए। साधु-भाषा के नाते यद्यपि हम लोग बहुत कुछ बच कर बोलते हैं, फिर भी घूम-फिर कर आखिर बात तो यही कही जाती है कि—त्रस जीव की हिंसा करना, पशुओ को मारना 'महारम्भ' है और उसके बजाय खेती बाडी से जीवन-निर्वाह करना 'अल्पारम्भ है।

इस प्रकार समझा-बुझा कर मैंने सैंकडो आदमियो को माँस खाने का त्याग करवाया है। दूसरे साधु भी इसी प्रकार की भावपूर्ण भाषा बोल कर मासाहारियो की हिंसा-वृत्ति छुडवाते है। इस सम्बन्ध मे आचार्यों ने भी शास्त्रो मे यही कहा है—"जबकि ससार मे इतने अधिक निरामिष खाद्य-पदार्थ उपलब्ध है और वे सभी इन्सान के खाने की चीजे है। फिर भी जो पदार्थ खाने के योग्य नही है, वे क्यो खाये जाते है ?" अभिप्राय यह है कि फल, फूल, धान्य आदि वनस्पति के उपयोग से ही मास-भक्षण जैसे महापाप को रोका जा सकता है और ये सब खाद्य-पदार्थ कृषि के बिना उपलब्ध नही होते।

कृषि की देन

अपने अहिंसात्मक अमूल्य महत्त्व के नाते कृषि कितनी सुन्दर चीज है ! फिर भी अनेक व्यक्ति कृषि को भी महारम्भ कहते है, जबकि कृषि 'अहिंसा' का आदर्श ले कर चली है। उसने मानव-जाति को क्रूर वन्यपशु होने से रोका है, वनवासी भील होने से बचाया है और उसमे आदर्श नागरिकता के बीज डाले है। उससे मनुष्य की सामाजिक उन्नति हुई है और जहाँ कृषि नही फैली, वहाँ के लोग घोर हिंसक, मास-भक्षी और नरमास-भक्षी तक, बन गए हैं।

उपरिकथित मान्यता के सम्बन्ध मे, सम्भव है, प्रगतिवादी कहलाने वाले आज की पीढ़ी के लोग कुछ और कहते हो, किन्तु आपको सूक्ष्मदृष्टि से देखना चाहिए कि जैन-धर्म क्या कहता है ? आप तो श्रेष्ठ बने है, उच्च बने हैं, और अन्य मानव बेचारे

भील बन गए हैं, इसका क्या कारण है ? जैन सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा ने आपको उच्च और उन्हें नीच नही बनाया है , बल्कि जिनको जीविका के साधन अच्छे मिल गये, वे 'आर्य' बन गए और श्रेष्ठ कहलाने लगे , किन्तु जिन्हें अच्छे साधन नही मिले, वे म्लेच्छ बन गए । कर्म-भूमि से पहले अकर्म-भूमि पर निवास करने वाले जुगलियो मे 'आर्य' और 'म्लेच्छ' का मूलत कोई वर्ग-भेद नही था ।

भगवान् ऋषभदेव ने तत्कालीन अभावग्रस्त यौगलिक जनता को 'महारभ' से 'अल्पारम्भ' की ओर मोडा, 'महा-सघर्ष' से 'अल्प-सघर्ष' की दिशा दी, और उनके दिलो मे दया की पावनगगा प्रवाहित की ।

मासाहार के बाद शाकाहार का प्रारम्भ अहिंसा के लिए

जैन-शास्त्रो मे प्रस्तुत पचम काल के बाद आगे आने वाले आशिक प्रलयरूप छठे आरक का वर्णन है कि उसके आरम्भ मे सब वनस्पति एव वृक्ष आदि समाप्त हो जाएँगे । उस समय के मनुष्य भाग कर गुफाओ मे चले जाएँगे और वहाँ अतिदयनीय स्थिति मे जीवनयापन करेंगे । भोजन के लिए कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल, अन्न कुछ भी प्राप्त न होगा , अत मत्स्यमास के आहार पर ही जीवन-निर्वाह करना होगा । धर्माचरण के रूप मे कुछ भी शेष न रहेगा । एक प्रकार से वन्यपशुओ की भाँति मानव-जाति की स्थिति हो जाएगी । वर्तमान काल-चक्र के अनन्तर जब उत्सर्पिणी काल का भी पहला आरक इसी दु खपूर्ण अवस्था मे गुजर जाएगा और दूसरे आरक का आरम्भ होगा तब मेघ बरसेंगे, निरन्तर जल-वृष्टि होगी । लोहे के उत्तप्त गोले के समान गरम होने वाली पृथ्वी शान्त हो जाएगी और फिर सारी वसुन्धरा वनस्पति-जगत् से हरी-भरी हो जाएगी उस समय गुफाओ मे रहने वाले मानव बाहर निकलेंगे। मासाहार के कारण जिनके शरीर मे कुष्ट और खुजली आदि अनेक बीमारियाँ हो चुकी होगी, वे जब बाहर निकल कर स्वच्छ एव शीतल हवा मे विचरण करेंगे, वनस्पति का शुद्ध आहार करेंगे और इससे जब उनके शरीर मे ताजगी आएगी तो सारी बीमारियाँ स्वत दूर हो जायेंगी । तब वे सब लोग जैसा कि भगवान् महावीर का कथन है, जनसमुदाय को एकत्र करेंगे और यह कहेंगे कि—'देखो, हमारे लिए प्रकृति की महती कृपा हो गयी है और अत्यन्त सुन्दर एव रुचिकर फल, फूल तथा वनस्पतियाँ पैदा हो गई हैं । आज से हम सब प्रण करें कि कभी कोई मास नही खायेंगे और यदि कोई मास खाएगा तो हम अपने पर उसकी अपवित्र छाया का कभी स्पर्श नही होने देंगे ।[८]

अब समझा जा सकता है कि वनस्पति के अभाव मे क्या हुआ । महारम्भ ने क्यो जन्म लिया ? उन वृक्षो, फलो, वनस्पतियो और खेती-वाडी के रूप मे जो सात्विक पदार्थ प्रकट हुए उनसे क्या हुआ ? स्पष्ट है कि उनसे एक आदर्श कार्य का प्रतिपादन हुआ कि जो मासाहार जनता मे चल रहा था, वह बन्द हो गया । यह प्रसग जैन

८ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—दूसरा वक्षस्कार

परम्परा मे सर्वसम्मत है। और आगम के मूल पाठ मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।

इस प्रकार देखा जाता है कि खेती-वाडी इधर (कर्म-भूमि के प्रारम्भ मे) भी महारम्भ से बचाती है और जब उत्सर्पिणी का काल-चक्र शुरू होता है, तब भी वही महारम्भ से बचाती है। पत्र, पुष्प, फल और अन्न आदि वनस्पतियाँ आखिर किसके प्रतीक है? वे अल्पारम्भ के उज्ज्वल प्रतीक है और महारम्भ को रोकने के प्रामाणिक चिह्न है।

इस तरह दोनो ही काल-चक्रो मे जब वनस्पतियाँ पैदा हो जाती है और खेती विकसित होती है तो मानव-समाज महाहिंसा से बच जाता है।

जब ऐसा महान् आदर्श प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी मे प्रतिपादित हुआ करता है, तो क्या ऐसा कहा जा सकता है कि जैन-धर्म फल एव अन्न के उत्पादन को महारम्भ कहता है? क्या भगवान् ऋषभदेव ने जनता को महारम्भ का कार्य सिखाया था? वस्तुत बात ऐसी नही है। यह कोई आवेश अथवा एकान्तभाव से प्रभावित विचार नही है, अपितु हमारा जो चिंतन है और शास्त्रो को गहराई से अध्ययन करने के बाद हमारी जो सुनिश्चित धारणाएँ बनी है, उन्ही को प्रस्तुत करने की कोशिश है।

जैन-धर्म इतना आदर्शवादी तथा यथार्थवादी धर्म है कि उसने अन्तरग की बातो को भलीभाँति समझा और तदनुसार कहा है कि यदि किसी क्षुधार्त को अन्न का एक कण दे दिया तो मानो, उसे प्राणो का दान दे दिया।[९]

अन्न-पुण्य

स्थानांग आदि शास्त्रो मे नौ प्रकार के विभिन्न पुण्यो के वर्णन है। उनमे भी सबसे पहले 'अन्न-पुण्य' बतलाया गया है और नमस्कार-पुण्य को सबसे आखिर मे डाल दिया गया है, क्योकि जब पहले अन्न पेट मे पड़े, तो पीछे नमस्कार करने की सूझे। जब पेट मे अन्न ही नही होता और उससे लिए हृदय तडपता रहता है, तो कौन किसको नमस्कार करता है?

अत पुण्य-साधना के द्वार पर सबसे पहले अन्न-पुण्य ही खडा है, और दूसरे सब पुण्य उसके पीछे चले आ रहे है। अत अन्न के उत्पादन को भी महारम्भ और नरक का मार्ग बताना, बुद्धि का विकार नही तो और क्या है!

वैदिक-धर्म के उपनिषद् कहते है—'अन्न प्राण है।'[१०] इस सम्बन्ध मे सुविख्यात सत नरसी मेहता ने भी कहा है—'गोपाल, अब भूखे से भजन नही होगा! लो, यह अपनी कठी और यह लो अपनी माला अब तो रोटी की माला जपूँगा और सबसे पहले उसी के लिए प्रयत्न करूँगा।[११]

---

९ 'अन्नदान महादानम्'

१० अन्न वै प्राणा'

११ "भूखे भजन न होहि गोपाला, यह लो अपनी कठी माला।"

कोई भूखा रह कर यदि माला पकड़ेगा भी, तो कब तक पकडे रहेगा ! भूख के प्रकोप से वह तो हाथ से छूट कर ही रहेगी ।

इस प्रकार वैदिक-धर्म 'अन्न को प्राण' कहता है और जैन-धर्म अन्न के दान को 'सबसे बडा दान'—सर्वप्रथम दान मानता है और भूख के परीषह की पूर्ति को पहला स्थान बतलाता है । इस तरह से एक-से-एक कडियाँ जुडी हुई है । इस अन्न की प्राप्ति कृषि से ही होती है, और इसी कारण भगवान् ऋषभदेव ने युग की आदि मे जनता को कृषि-कर्म सिखाया और बताया । जैन-शास्त्रो मे कही भी साधारण गृहस्थ के लिए कृषि को त्याज्य नही कहा गया है ।

कृषि-कर्म को महारम्भ बतलाने वाले भी एक दलील पेश करते हैं । किन्तु वह दलील अपने आप मे कुछ नही, केवल दो शब्द है—'फोडी-कम्मे', जो पन्द्रह कर्मादानो मे से एक है । इस दलील को जब मै सुनता हूँ तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नही रहता । 'फोडी-कम्मे' का वास्तव मे क्या अर्थ था और क्या समझ लिया गया है ।

यह चुनौती देकर कहा जा सकता है कि 'फोडी-कम्मे' का अर्थ खेती नही है । उसका अर्थ कुछ और है, और उस पर गम्भीरता से हर समझदार व्यक्ति को विचार करना चाहिए । गम्भीर चिन्तन करने पर उसका अर्थ और अधिक स्पष्ट हो जाएगा ।

कृषि महारम्भ नहीं

समग्र प्रमाणभूत जैन-साहित्य मे कही एक शब्द भी ऐसा नही है कि जहा कृषि को महारम्भ बतलाया गया हो । पन्द्रह-पन्द्रह सौ वर्षों के पुराने आचार्य हमारे सामने है । उन्होने 'फोडी-कम्मे' का ऐसा सारहीन अर्थ कही नही लिखा, जैसा कि आप समझते है । यह भ्रामक अर्थ कुछ दिनो से चल पडा है, जिसे धक्का दे कर निकालना होगा और उसके सही अर्थ की पुन प्रतिष्ठा करनी होगी । जो गलत धारणाएँ आज दिन प्रचलित है, उन्होने हमे न इधर का रखा है, न उधर का रहने दिया है ।

पन्द्रह कर्मादानो मे 'रसवाणिज्जे' भी आता है । जिसका अर्थ समझ लिया गया है—घी और दूध का व्यापार करना, जिसे करने पर महारम होता है । ऐसा समझने वाले शराब के व्यापार को त्यागना तो भूल जाते है, लेकिन घी, दूध के व्यवसाय का वहिष्कार उन्हे याद रहता है ।

कुछ लोगो ने 'असईजण-पोसणिया कम्मे' का अर्थ कर दिया है—'असयती' अर्थात्—"असयमी जनो की रक्षा करना महारम है ।" किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है—"वेश्याओ या दुराचारिणी स्त्रियो के द्वारा अनैतिक व्यापार करके आजीविका उपार्जन करना ।" परन्तु उन लोगो ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा—किसी गरीब को, भूखे कुत्ते को, और यहाँ तक कि अपने माता-पिता को भी रोटी देना महान् पाप एव अनाचार है । क्योकि वे भी असयमी ही ठहरे । इस तरह इसे भी पन्द्रह कर्मादानो मे शामिल कर दिया है ।

लेकिन, इन सब सारहीन अर्थों को और भ्रामक धारणाओ को तो बहिष्कृत

करना ही चाहिए। जब तक हम ऐसा नही करेंगे, तब तक जैन-धर्म को न तो स्वय ही सही रूप मे समझ सकेंगे, और न दूसरो को ही समझा सकेगे।

एक प्रश्न

जीवन-निर्वाह के लिए व्यवसाय के रूप मे मनुष्य जब प्रश्न करता है तो वह चाहे जितनी यातना करे, फिर भी हिंसा तो होती है। हिंसा केवल इसीलिए अहिंसा नही बन जाती कि वह जीवन के लिए अनिवार्य है, गृहस्थ श्रावक के लिए हिंसा अहिंसा की एक मर्यादा है। यहाँ हमे यही देखना है कि कौन-सी हिंसा अपरिहार्य है ? कौन-सी हिंसा श्रावक की मर्यादा मे है और कौन-सी हिंसा ऐसी है, जो श्रावक को अनिवार्य रूप से त्याग देना ही सर्वथा वाछनीय है ?

श्रावक की भूमिका

आखिर जीवन मे यह विचार करना आवश्यक है कि कौन-सी मर्यादा का पालन करते हुए श्रावक, श्रावक की भूमिका मे रह सकता है ? यदि वह जीवन-व्यापार चला रहा है, तो उसे ध्यान रखना चाहिए कि उसमे कहाँ तक न्याय और मर्यादा रहती है, कहाँ तक औचित्य की रक्षा हो रही है ?

पन्द्रह कर्मदान सकल्पजा हिंसा मे ही नही, औद्योगिक हिंसा मे ही है, परन्तु जो औद्योगिक हिंसा, मानव को सकल्पजा हिंसा की ओर प्रेरित करती हो, वह कहाँ तक मर्यादानुकूल है ? वह श्रावक की भूमिका मे यथावसर करने योग्य है या नही ? इस प्रश्न पर विचार करना अतीव आवश्यक है।

शास्त्रकारो ने इस विषय पर गहरा चिन्तन और मनन किया है। तीर्थंकरो तथा आचार्यों ने जनता की मर्यादा को ध्यान मे रख कर जो प्रवचन किया है, वह आज भी समाज के लिए पथ-प्रदर्शक के रूप मे प्रकाश-स्तम्भ है।

सच बात तो यह है कि हम आज के प्रगतिवादी युग वैज्ञानिक युग मे भी अधे जैसे हैं। अधा जब चलता है तो कही भी ठोकर खा कर गिर सकता है। गड्ढे मे गिर सकता है, पानी मे डूब सकता है और दीवार से भी टकरा सकता है, किन्तु यदि उसके हाथ मे लाठी दे दी जाती है तो समझना चाहिए कि यह बहुत बडा पुण्य और परोपकार का काम हुआ। उस लाठी के सहारे वह मार्ग को टटोल कर चलता है और उसे गड्ढे का, दीवार का और पानी का पता सहज ही लग जाता है। जब दीवार आएगी तो पहले लाठी टकराएगी और वह बच जाएगा।

अवलम्बन

इस प्रकार जो बात अधे के विषय मे सोची जाती है, वही बात अन्य लोगो के विषय मे भी है। वस्तुत धर्मशास्त्र अन्य लोगो की लाठी है। जैसे अधा सीधा नही देख सकता और लाठी के द्वारा ही वह देख सकता है, उसी प्रकार अन्य लोग भी केवल अपनी बुद्धि से सीधे नही देख सकते, शास्त्रो से सदुपदेश द्वारा ही अपना मार्ग देखते हैं।

जिस प्रकार लाठी अधे का अवलम्बन है, उसी प्रकार धर्मशास्त्र हमारा अवलम्बन है। अतएव हम जो कुछ भी कहे और समझें, वह शास्त्र के आधार पर और शास्त्र की मर्यादा के अन्तर्गत ही होना चाहिए। जहाँ शास्त्र स्वय किसी स्पष्टमार्ग का निर्देश न करता हो, वहाँ उसके प्रकाश मे अपने विशुद्ध विवेक का, अपनी नैसर्गिक बुद्धि का उपयोग किया जाना चाहिए। परन्तु इस उपयोग मे हमारी विचार-परम्परा शास्त्रो से सर्वथा अलग न होने पाए। व्यक्तिगत विचारो का शास्त्रो के समक्ष कोई मूल्य नही है। अतएव शास्त्र हमे जो प्रकाश दे रहे हैं, उसी प्रकाश मे हमे देखना हे कि जीवन-व्यवहार मे कहाँ महा-हिंसा है और कहाँ अल्प-हिंसा है ? हमारी कौन-सी प्रवृत्ति महारभ मे परिगणित होने योग्य है और कौन-सी प्रवृत्ति अल्पारभ मे गिनी जा सकती है ?

शास्त्रो मे महारम्भ को नरक का द्वार बतलाया है। अस्तु, श्रावक को यह सोचना पडेगा कि जो कार्य मैं कर रहा हूँ, क्या वह महारभ है, शास्त्रो की मान्यता मे नरक का द्वार है, अथवा अल्पारम्भ है और नरक से अलग करने वाला है ?

हिंसा अनिवार्य

जीवन मे हिंसा तो अनिवार्य है। उससे पूरी तरह बचा नही जा सकता। यदि इस सत्य को कोई अस्वीकार करता है तो उसका कोई तर्क माना नही जा सकता। जीवन-सघर्ष मे खेती आदि जो व्यापार चल रहे है उनमे हिंसा नही है, ऐसा कहने वाले की बात ज्ञान-शून्यता का प्रमाण है। जब शास्त्र जीवन-व्यवहार मे हिंसा के अस्तित्त्व को स्वीकार करता है तो एक व्यक्ति का यह कथन कि—"जीवन-व्यवहार हिंसा से शून्य है," क्या महत्त्व रखता है ? ऐसी स्थिति मे केवल यही देखना चाहिए कि उस कार्य मे हिंसा और अहिंसा का कितना अश है ? और क्या वह कार्य महारम्भ है, नरक का कारण है, अथवा अल्पारम्भ है, स्वर्ग की सीढी है ?

सत्य की उपलब्धि

विचारो मे भेद होना स्वाभाविक है। परन्तु जब विचार का आधार शास्त्र है और शास्त्र भी एक ही है और किसी ओर से दुराग्रह भी नही है, तो यह भी आशा रखनी चाहिए कि एक दिन प्रस्तुत विचार-भेद भी समाप्त हो कर रहेगा। परन्तु जब तक विचार-भेद समाप्त नही हो जाता, तब तक प्रत्येक विचारक को समभाव से, सहिष्णुतापूर्वक चिन्तन-मनन करते रहना चाहिए। विचार-विभिन्नता को अधिक महत्त्व देने से झगडने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे सत्य को उपलब्ध करने का मार्ग रुक जाता है। किसी ने यदि कोई बात कही और वह बिना सोचे-समझे ही मान ली गई तो उसका भी कोई महत्त्व नही है। जो बात विचारपूर्वक और चिन्तनपूर्वक स्वीकार की गई है, या इन्कार की गई है, वही महत्त्व रखती है। परन्तु आग्रह के रूप मे स्वीकार या अस्वीकार करने मे कोई कीमत नहीं है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि

विवेकपूर्वक, सत्य के प्रति दृढ आस्था रख कर, चिंतन-मनन किया जाए और उसके बाद किसी बात को स्वीकार या अस्वीकार किया जाए ।

जैन-धर्म मनुष्य के विचारो को बलात् धक्का देने के लिए, या कुचल देने के लिए नही है । वह तो व्यक्ति के विचारो को सत्य-मार्ग की ओर मोड देने के लिए है । जो विचार प्रवाह आज गलत दिशा मे बह रहा है, उसे चिंतन और मनन के द्वारा सही दिशा की ओर घुमा देना ही, जैन-धर्म का काम है । विचारो को सही मोड देने के लिए प्राय सघर्ष करना पडता है । इसीलिए जब कभी विचार-सघर्ष होता है तो वह आनन्द का विषय बन जाता है । विचार-वीणा के तार सत्य का वादन करने के लिए स्वत झनकार उठते है । जो 'व्याख्यान', सुनने के बाद वायु मे विलीन हो जाए और जिस प्रवचन से विचारो मे नई हलचल और कम्पन पैदा न हो, वह किस काम का ? कुछ हलचल अवश्य होनी चाहिए कुछ उथल-पुथल होनी ही चाहिए, कुछ विचार सघर्ष भी होना चाहिए । तभी तो मानस-तल मे बद्धमूल भ्रात सस्कारो की जड हिलती है, तभी वे ढीले पडते है और अन्त मे उखड कर नष्ट भी हो सकते है । किन्तु वह हलचल, उथल-पुथल और सघर्ष विचारो तक ही सीमित रहना चाहिए । उसमे प्रतिपक्ष के प्रति द्वेष अणुमात्र भी न होना चाहिए । विचार सघर्ष ने यदि झगडे का रूप धारण कर लेता है तो परिणाम अशुभ एव अवाछनीय होता है ।

सत्य की उपलब्धि करना ही जिसका लक्ष्य है और जो सत्य के लिए समर्पित है, वह झगडे की स्थिति उत्पन्न नही होने देता । वह जानता है कि विचारो के सघर्ष से ही सत्य का मक्खन प्राप्त हो सकता है । परन्तु उस सघर्ष ने यदि द्वेषपूर्ण प्रतिद्वन्द्व का रूप ग्रहण कर लिया तो मक्खन के बदले विष ही हाथ लगेगा । अतएव सत्य का अन्वेषक जब विचार-सघर्ष का आरम्भ करता है, तब भी प्रसन्नमुद्रा मे रहता है और जब सघर्ष का अन्त करता है, तब भी उससे द्विगुणित प्रसन्नमुद्रा मे दिखाई देता है । निर्दोष विचार-सघर्ष का यही स्वच्छ स्वरूप है ।

नये-नये प्रश्न

कोई व्यक्ति इसी मार्ग पर चलता है तो निस्सदेह सत्य की उपलब्धि होगी । वास्तव मे बुद्धि पूर्व धारणाओ म आबक होने के कारण सीमित हो जाती है । इसलिए किसी विषय पर विचार करते-करते वह थक जाती है और ऐसा लगने लगता है कि बस, विचार हो चुका । किंतु विचारो का मार्ग तो असीम है । नित्य नये-नये प्रश्न सामने आते है और उन पर विचार करना आवश्यक है ।

विचारो की उलझन बडी जटिल है । विचार जब उलझ जाते है तो उन्हे सुलझाने मे वर्षों लग जाते है । कभी-कभी सदियाँ गुजर जाती हैं । आखिर एक दिन वे सुलझ ही जाते है, किंतु वे विवेक एव विचार के द्वारा सुलझते है । चाहे समय कितना ही लगे, हमे उनको सुलझाने का ही ध्येय सामने रखना चाहिए और धैर्य के साथ शान्त मन से सुलझाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । सम्भव है, कही प्रस्तुत

विचारो मे भ्रम मालूम दे। किंतु भ्रम की स्थिति मे तटस्थभाव से सोच-विचार करना अच्छा होता है। चिंतन-मनन के द्वारा विभिन्न विचार वाले जल्दी ही यदि एक सुनिश्चित राह पर आ जाते है तो दोनो ही पक्षो को खुशी होती है। यदि नही आते है तो उन्हे चिंता करने के बजाय फिर से सोचना चाहिए, मिलना चाहिए, बातें करनी चाहिए, और विचार करते-करते अन्तत एक लक्ष्य को पा जाते है। इस प्रकार की मनोवृत्ति रखकर निष्पक्ष और निष्कषाय होकर वस्तु स्वरूप का चिंतन करने मे अपूर्व रस मिलता है।

प्याज की खेती

कृषि के सम्बन्ध मे एक प्रश्न मेरे पास आया है कि—प्याज (कादे) की खेती करना अल्पारम्भ है या महारम्भ ? यह प्रश्न साधारण खेती के सम्बन्ध मे नही, प्याज की खेती के सम्बन्ध मे है। कारण, सामान्य खेती सम्बन्धी प्रश्न प्राय सुलझ चुके है। अनाज की खेती अल्पारभ है या महारभ ? इसका निर्णय हो चुका है। पिछले प्रकरणो मे अन्न की खेती के विषय मे शास्त्रो के अनेक पाठ उपस्थित किए गए है और विभिन्न आचार्यों की प्राचीन परम्पराएँ भी सामने रखी गई है। आचार्य समन्तभद्र, हरिभद्र और हेमचन्द्र आदि के प्रामाणिक कथन भी किए जा चुके हैं। अतएव यह समझ लेना चाहिए कि अन्न की खेती के सम्बन्ध मे विचार स्पष्ट हो चुका है। "वह महारभ या अनार्यकर्म है," यह गलतफहमी पूर्णत दूर हो चुकी है।

भगवती-सूत्र, स्थानाङ्ग-सूत्र और उववाई-सूत्र मे नरक-गति के चार कारण बतलाये गये है। उनमे पहला कारण महारभ है। 'नरक-गति का कारण महारभ है, उसी को लक्ष्य मे रख कर सवाल किया गया है या और किसी दूसरे अभिप्राय से है ? स्मरण रखने की चीज यह है कि जहाँ महारग या अनार्य-कर्म आता है वहाँ नरक की राह भी ध्यान मे आती है। कारण शास्त्रो मे महारभ का सम्बन्ध नरक के साथ जोड़ा गया है। अनेक स्थलो पर शास्त्रो मे ऐसे उल्लेख मिलते हैं। ऐसी स्थिति मे प्याज की अथवा गाजर-मूली आदि की खेती को कोई महारभ मानते हैं, तो उसे नरक गति का कारण भी मानना होगा।

कदाचित् यह कहा जाए कि प्याज की खेती को महारभ तो मान लें, किंतु नरकगति का कारण न माने, किंतु ऐसा अन्तर नही हो सकता। शास्त्र कहते है कि जो महारभ है, वह नरक-गति का कारण बने बिना नही रह सकता। महारभ भी हो और नरक-गति का कारण न हो, ऐसा कोई असगत समझौता नही हो सकता। फिर आलू आदि जमीकन्दो की खेती क्या नरक-गति का कारण है ? उत्तर होगा—'क्यो नही ? जमीकद मे अनन्त जीव जो ठहरे !'

भूखा मानव और आलू

यदि एक आदमी भूख से तड़प रहा है और उसके प्राण निकल रहे है। वहाँ दूसरा आदमी आ पहुँचता है। उसके पास आलू, गाजर आदि कदमूल हैं और वह दया

से प्रेरित हो कर उसे भूखे को खाने के लिए दे देता है। भूखा आदमी उसे खाता है और उसके प्राण बच जाते है। अब प्रश्न यह है कि उस कदमूल देने वाले को एकान्त पाप होता है, या कुछ पुण्य भी होता है ? इस प्रश्न का क्या उत्तर हो सकता है ?

कुछ व्यक्तियो ने तो यह निर्णय कर रखा है कि दया से प्रेरित हो कर भूखे के प्राण बचाने मे भी एकान्त पाप होता है। उनकी धर्म-पुस्तको ने और आचार्यों की वाणी ने एकान्त पाप का फतवा दे रखा है। क्योकि एक ओर एक जीव है और दूसरी ओर एक आलू मे नही, उसके एक टुकडे मे भी नही, सुई के अग्रभाग पर समा जाने वाले जरा से आलू के कण मे भी अनन्तजीव होते है और जब वह खाने के लिए दे दिया जाता है तो उन सभी की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार एक जीव को बचाने के लिए अनन्त जीवो की हिंसा की गई है। उनके विचार से अनन्त जीवो की हिंसा तो पाप है ही, साथ ही उनकी हिंसा करके एक आदमी को बचा लेना भी पाप ही है और बचाने वाले की दया-भावना भी पाप है। इस प्रकार उस भूख से मरते को बचा लेना भी पाप ही है। परन्तु अन्य लोगो का विचार क्या हो सकता है ? मनुष्य के प्राणो की रक्षा करना तो वे पाप नही मानते। अब रही बात दया करने की जो पुनीत भावना हृदय मे उत्पन्न होती है उसे भी पाप नही मानते। ऐसी स्थिति मे वे उस प्रश्न का क्या उत्तर देते है ? उनके सामने यह एक विकट प्रश्न है, जिसका उन्हे ही निर्णय करना है।

सख्या नहीं, भावो को नापिए

समव है, इस प्रश्न का उत्तर देने मे टालमटोल हो। अत दूसरे ढग से यो देखा जा सकता है। मान लें, एक प्यासा आदमी प्यास से मर रहा है और किसी उदारमना ने उसे पानी पिला दिया। पानी की एक बूंद मे असख्य जीव है, अस्तु, एक गिलास पानी पिला दिया तो क्या हुआ ! एकान्त पाप हुआ या कुछ पुण्य भी हुआ पानी पिलाने से बचा तो केवल एक व्यक्ति, और मरे असख्य जीव। इस प्रश्न का उत्तर समवत इस प्रकार दिया जा सकता है—यद्यपि पानी पिलाने से पाप हुआ है किन्तु पुण्य भी हुआ है। और वह पुण्य-पाप की अपेक्षा अधिक है। ठीक है, जो तथ्य हो उसे स्वीकार कर लेना ही बुद्धिमत्ता है, इस निर्णय से यह फलित हुआ कि जीवो की सख्या के आधार पर पुण्य पाप का निणय नही हो सकता। सख्या अपने मे सही कसौटी नही है। इस कसौटी को पानी पिलाने मे एकान्त पाप न मानकर अस्वीकार कर दिया गया है। पुण्य-पाप को परखने के लिए दूसरी कसौटी जो अपनायी गई है, वह है कर्त्तव्य की भावना।

वस्तुत असख्य एक बहुत बडी सख्या है। असख्य के अन्तिम अश मे यदि एक और जोड दिया जाए तो वह सख्या अनन्त हो जाती है। तो जहाँ बहुत असख्य जीव है, वहाँ अनन्त के लगभग जीव हो जाएँगे। और जहाँ पानी है, वहाँ बनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रस आदि इसी प्रकार के जीव भी होते है। इस दृष्टि से जीवो की सख्या मे भी अत्यधिक वृद्धि हो जाती है।

एक गिलास पानी पिलाने से अनन्त के लगभग जीव मरे और बचा सिर्फ एक मनुष्य ही। फिर भी भावना की प्रधानता के कारण पानी पिलाने वाले को पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हुआ। जो जीव मरे हैं, वे मारने की हिंसक भावना से नही मारे गए है। पानी पिलाने वाले की भावना यह कदापि नही होती कि पानी के ये जीव मर नहीं रहे है, अत यदि कोई अतिथि आ जाए तो उसे पानी पिला कर इन्हे मार डालूं। उसकी एकमात्र भावना तो पचेन्द्रिय जीव को मरने से बचाने की है।

उत्तरोत्तर वृद्धि

इस सम्बन्ध मे सिद्धान्त भी यह स्पष्टीकरण करता है कि एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव को मारने से असख्य गुना अधिक पाप बढ जाता है। और इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढते-बढते चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा पचेन्द्रिय को मारने मे असख्य गुना पाप अधिक होता है।

जब तक इस दृष्टि-बिन्दु पर ध्यान रखा जाएगा, तब तक भगवान् महावीर की अहिंसा और दया ध्यान मे रहेगी। यदि इस दृष्टिकोण से कोई विचलित हो जाता है तो वह अहिंसा और दया से भी विचलित हो जाएगा। फिर उसे या तो कोई और दृष्टि पकडनी पड़ेगी, या हस्ति-तापसो की दृष्टि अगीकार करनी पड़ेगी। हस्ति-तापसो के सम्बन्ध मे सामान्यत उल्लेख अन्य प्रवचन मे किया जा चुका है। उनका मन्तव्य है कि अनाज के प्रत्येक दाने मे जब एक-एक जीव मोजूद हैं, तो बहुत-से दाने खाने से बहुत जीवो की हिंसा होती है। उससे बचने के लिए हाथी जैसे एक स्थूलकाय जीव को मार लेना अधिक उपयुक्त है कि जिससे एक ही जीव की हिंसा से बहुत से व्यक्तियो का, या बहुत दिनो तक एक व्यक्ति का निर्वाह हो सके।[१२]

भगवान् महावीर ने इस दृष्टिकोण का डट कर विरोध किया था। कारण यह है कि पाप का सम्बन्ध जीवो की गिनती के साथ नही, कर्त्तव्य की भावना के साथ है। पचेन्द्रिय जीव का घात करने मे अत्यधिक निर्दयता और क्रूरता होती है। एक गिलास पानी मे जीवो की सख्या भले ही असख्य हो, फिर भी पानी को पीने वाले और पिलाने वाले मे वैसी निर्दय और क्रूर भावना नही होती। क्योकि पानी पीने वाले और पिलाने वाले, दोनो का लक्ष्यबिन्दु 'रक्षा' है। जो लक्ष्य-बिन्दु 'रक्षा' का पवित्र प्रतीक है, वहाँ दया की विद्यमानता सुनिश्चित है, और जो कार्य-विशेष 'रक्षा' और 'दया' की सीमाओ के अन्तर्गत है, वह अहिंसक है।

जिस प्रकार अन्न की हिंसा की अपेक्षा प्याज की या अन्य अनन्तकाय की हिंसा बडी है, उसी प्रकार अन्न की खेती की अपेक्षा इस खेती मे ज्यादा पाप है। फिर भी वह महारम्भ नही है, क्योकि सहार करने के लक्ष्य से, हिंसा के सकल्प से, या क्रूर

---

१२ हत्थितावसत्ति-ये हस्तिन मारयित्वा तेनैव वहुकाल भोजनतो यापयन्ति।

—औपपातिक सूत्र टीका

भावना से, जिस उद्योग मे त्रस जीवो का हनन किया जाता है, वही महारभ की भूमिका मे आता है।

अन्न की समस्या

जिस देश मे अन्न की काफी जरूरत है, जिसे आधे से अधिक अन्न सुदूर विदेशो से मगाना पडता है, जिस देश के लिए अमेरिका और आस्ट्रेलिया से रोटियाँ आती हैं और उसके बदले मे करोडो-अरबो की गाढी कमाई की सम्पत्ति बाहर चली जाती है, और उस सम्पत्ति के बदले मे सत्त्वहीन, सडा-गला एव निकम्मा अनाज मिलता है। जिसको खा कर लोग तरह-तरह की बीमारियो के शिकार हो रहे है और उसके भी अभाव मे लाखो आदमी मर गए और आज भी मर रहे है, उस देश मे प्याज की खेती का प्रश्न पहले विचारणीय नही है। वहाँ तो पहले अन्न की समस्या है और उसी के समुचित समाधान के लिए सर्वप्रथम विचार करना होगा।

मान लो, कुछ लोगो के खेतो मे अन्न नही उपजता। ऐसे लोगो मे से एक अपने खेत मे आलू बो रहा है और दूसरा तम्बाकू बो रहा है, तो तम्बाकू बोने मे ज्यादा हिंसा है, क्योकि तम्बाकू व्यसन की वस्तु है, जीवन-निर्वाह की वस्तु नही है। तम्बाकू जहर पैदा करता है और स्वास्थ्य को नष्ट करने वाला मादक पदार्थ है और उसे पैदा करने वाला केवल अपने स्वार्थ की भावना से ही पैदा करता है। उससे किसी प्रकार के परोपकार की आशा नही है, किसी के जीवन-निर्वाह की सम्भावना नही है। भूख से मरने वाले को तम्बाकू खिला कर जीवित नही रखा जा सकता। तम्बाकू खाने से मृत्यु दूर नही होगी, बल्कि निकट ही आती है।

अपेक्षाकृत

आलू या प्याज को व्यसन की वस्तु नही बताया गया है। इसका अभिप्राय यह नही है कि आलू और प्याज की खेती मे आरम्भ नही है। आरम्भ तो अवश्य है और अन्न की अपेक्षा विशेष आरभ है, फिर भी वह महारभ की भूमिका मे नही है, अर्थात्—वह नरक-गमन का हेतु नही है।

एक आदमी के खेत मे आलू ही उत्पन्न होते है और वह सोचता है कि लोगो को खुराक नही मिल रही है, तो मैं आलू उत्पन्न करके यथाशक्ति पूर्ति क्यो न करूँ? यही सोच कर वह आलू की खेती करता है। दूसरा सोचता है कि तम्बाकू से दूसरो का स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो भले हो। उसे किसी के स्वास्थ्य से क्या मतलब! उसे तो पैसा चाहिए। इसीलिए वह तम्बाकू की खेती करता है। स्पष्ट है कि आलू की अपेक्षा तम्बाकू की खेती मे अधिक पाप है। इस प्रकार आलू की खेती मे अन्न की खेती की अपेक्षा अधिक पाप है और तम्बाकू की खेती की अपेक्षा अल्प पाप है। यही अनेकान्त का निर्णय है।

निर्णय कठिन

अभिप्राय यह है कि किसी भी कार्य मे एकान्तरूप से आरम्भ की अल्पता या

अधिकता का निर्णय होना कठिन है। 'अल्प' और 'अधिक' दोनो ही ऐसे सापेक्ष शब्द हैं कि उन्हे कोई दूसरा चाहिए। हिन्दी भाषा मे जैसे 'छोटा' और 'बडा' शब्द सापेक्ष है। दूसरे की अपेक्षा ही कोई छोटा या बडा कहलाता है, अपने आप मे कोई छोटा या बडा नहीं होता। यही बात 'अल्प' और 'अधिक' के विषय मे भी है। इस बात को ठीक तरह समझने के लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है। किसी ने प्रश्न किया कि—त्रीन्द्रिय जीव की हिंसा मे अल्प पाप है, या अधिक पाप है? क्या उत्तर होगा? कोई भी शास्त्र का ज्ञाता यही कहेगा कि त्रीन्द्रिय जीव की हिंसा मे एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय जीवो की हिंसा की अपेक्षा अधिक पाप है और चतुरिन्द्रिए तथा पचेन्द्रिय की हिंसा की अपेक्षा अल्प पाप है।

कुछ लोग कृषि करने मे महारभ समझते है, यदि उनका मन्तव्य पूर्वोक्त अनेकान्तवाद के आधार पर हो, तो मतभेद के लिए गुजाइश ही नही है। यदि वे 'महा' की अधिक लक्षणा करके यह कहते है कि कृषि-कार्य मे वस्त्रादि के द्वारा आजीविका चलाने की अपेक्षा 'अधिक आरम्भ' है और वधशाला चलाने या सट्टा करने की अपेक्षा 'अल्प आरम्भ' है तो कोई विवाद न रहता। अपेक्षाकृत 'अधिक आरम्भ' और 'अल्प आरम' मानने से कौन इन्कार कर सकता है? परन्तु जब कृषि मे महारम बताया जाता है और उसे महारम्भ घोषित किया जाता है, जोकि नरकगति का कारण है, तो यहाँ पर अनेकान्तवाद का परित्याग कर दिया जाता है और मतभेद को खडा कर दिया जाता है। □

रोजी, रोटी और अहिंसा | २८

'अहिंसा' आत्मा की खुराक है, तो 'रोटी' शरीर की। जब आत्मा और शरीर साथ-साथ रहते है, तो अहिंसा और रोटी भी साथ-साथ क्यो नही रह सकती है ? यदि ये दोनो साथ-साथ न रह सकें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि या तो हमे आत्मा की खुराक से वचित रहना चाहिए, अथवा शरीर को खुराक देना छोड देना चाहिए। इन दोनो मे कौन-सा श्रेयस्कर है ? यदि कोई शरीर को ही खिला-पिला कर पुष्ट करना चाहता है, और आत्मा को मरने देना चाहता है तो फिर जीवन का, और खासकर इन्सान के जीवन का कुछ अर्थ ही नही रह जाता। मनुष्य और पशु के जीवन मे फिर अन्तर ही क्या रह जाता है ? और यदि कोई आत्मा को खुराक देना चाहता है और अहिंसा की साधना करना चाहता है तो उसे रोटी मे वचित होना पडेगा, और रोटी से वचित होने का अर्थ है—जीवन से और प्राणो से वचित होना। यदि वह जीवन से वचित होना चाहता है तो फिर अहिंसा की आराधना कौन से साधन के द्वारा करेगा ?

अहिंसा और रोटी

अब दूसरा विकल्प उपस्थित होता है कि आत्मा और शरीर जैसे साथ-साथ रहते है , क्या उसी प्रकार अहिंसा और रोटी साथ-साथ नही रह सकती ? जहाँ तक साधुवर्ग का सम्बन्ध है, उसके सामने कोई समस्या खडी नही होती, क्योंकि उसे गृहस्थो के घर से सीधा भोजन भिक्षा के द्वारा प्राप्त हो जाता है। परन्तु गृहस्थो के लिए यह बात सुगम नही है। वे भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह नही कर सकते। यदि सभी गृहस्थ भिक्षाजीवी बन जाएँ, तो उन्हे भिक्षा मिलेगी भी कहाँ से ? अतएव रोटी के लिए उन्हे आजीविका-स्वरूप कोई न कोई धन्धा करना ही पडता है। किन्तु गृहस्थ का आजीविका-पूरक धन्धा अहिंसा के विरुद्ध न हो, ऐसा कोई उपयुक्त साधन खोज निकालना आवश्यक है।

जीवन की वर्तमान भूमिका मे रोटी चाहिए या नही ? यह प्रश्न अधिक महत्त्व नही रखता। रोटी चाहिए, यह तो निश्चित है। किन्तु रोटी कैसी चाहिए ? किस रूप मे चाहिए ? और वह कहाँ से आनी चाहिए ? ये ही प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। रोटी के साथ महारम्भ-स्वरूप महा-हिंसा आई है, या सद्गृहस्थ के अनुकूल अल्पारंभ-स्वरूप अल्प-हिंसा आई है ? वह मर्यादित सात्विक प्रयत्न से आई है या बहुत बड़े अत्याचार और अन्याय से आई है ? रोटी तो छीना-झपटी, लूटमार और डाका डाल कर भी आ सकती है और

बेइमानियाँ करके भी आ सकती है। किन्तु वह रोटी जिसके पीछे अन्याय और अनीति है, बुराई, छल-कपट और धोखा है, वह आत्मा की खुराक के साथ कदापि नही रह सकती। वह रोटी जो खून से सनी हुई आ रही है और जिसके चारो ओर रक्त की बूँदे पडी हैं, उसे एक अहिंसक कभी नही खा सकता। वह रोटी, उस खाने वाले व्यक्ति का भी पतन करती है और जिस परिवार मे ऐसी रोटी आती है, उस परिवार, समाज और राष्ट्र का भी पतन करती है। वहाँ न तो साधु का धर्म टिक सकता है और न गृहस्थ का ही धर्म स्थिर रह सकता है। वहाँ धार्मिक जीवन की कडियाँ टूट-टूट कर बिखर जाती है ?

अमृत और विष

जहाँ ये दाग कम से कम होते है वहाँ वह रोटी अमृतभोजन बन जाती है, जीवन का रस ले कर आती है और उससे आत्मा और शरीर दोनो का सुखद पोषण होता है। न्याय और नीति के साथ, विचार और विवेक के साथ, महारम्भ के द्वार से नही, अपितु अल्पारम्भ के द्वार से आने वाली रोटी पवित्रता का रूप लेती है और वही अमृत भोजन की यथार्थता को सिद्ध करती है। वह अमृतभोजन मिठाई के रूप मे भले ही न मिले, वह चाहे रूखा-सूखा टुकडा ही सही, तब भी वह अमृत का भोजन है। क्यो ? इसलिए कि उस रूखी-सूखी रोटी को प्राप्त करने के लिए जो उद्योग किया जाता है, वह न्याय, नीति और सदाचार से पूर्ण होता है।

चाहे दुनियाभर का सुन्दर भोजन थालियो मे सजा है, किन्तु यदि विवेक और विचार नही है, सिर्फ पेट भरने की ही भूमिका है, तो वह कितना ही स्वादिष्ट और मधुर क्यो न हो, वह अमृत-भोजन नही है, बल्कि विषभोजन है। भारतीय संस्कृति की ऐसी ही परम्परा रही है, जिसकी जानकारी जैनधर्म या अन्य दूसरे धर्मों को पढने से होती है।

मार्ग की तलाश

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा, अल्पारम्भ और महारम्भ, छोटी हिंसा और बडी हिंसा, जीवन के चारो ओर फैली हुई है। हमे उसी मे से मार्ग तलाश करना है और देखना है कि हम आत्मा और शरीर दोनो को एक साथ खुराक किस प्रकार पहुँचा सकते है ? कौन-सा मार्ग ऐसा हो सकता है, जिसके अनुगमन से न तो आत्मा को आघात पहुँचे, और न ही शरीर का हनन करना पड़े ?

रोटी तक पहुँचने के लिए दो रास्ते हैं। पहला मार्ग वह है—जहाँ महारम्भ के द्वार से गुजरना पडता है, जिससे खुद के भी और दूसरो के भी हाथ खून से सन जाते हैं और रोटी की तलाश मे जिधर भी निकलना पड़े हिंसा का नग्न नृत्य दिखलाई पडता है, दूसरा मार्ग है—गृहस्थ के अनुरूप अहिंसा का, जिसके अनुसार अल्प-हिंसा से, विवेक और विचार के साथ चल कर जीवन-निर्वाह के लिए रोटी प्राप्त की जाती है और

अन्याय, अत्याचार अथवा भयानक हत्याकाण्ड नही करना पडता है। किन्तु अब समस्या उठ खडी होती है कि कौन-सा मार्ग आर्य-मार्ग है और कौन-सा अनार्यमार्ग है ? उपयोगिता के नाते कान सुनने के लिए हैं। उनसे गदी गाली भी सुनी जा सकती है, ससार के बुरे सगीत भी सुने जा सकते हैं, जिनसे मन और मस्तिष्क मे विकार उत्पन्न होते है, पारस्परिक निन्दा की असगत बाते भी सुनी जा सकती हैं और उन्ही से वह आध्यात्मिक सगीत भी सुना जा सकता है, जो विकार वासनाओ मे एक जलती चिनगारी सी लगा देता है, उन्हे भस्म कर देता है।

मुँह का उपयोग किया जाता है, एक ओर किसी दीन-दुखिया को ढाढस बँधाने के लिए, प्रेम की मधुर वाणी बोलने के लिए और दूसरी तरफ कठोर गाली देने के लिए और दूसरो का तिरस्कार व निन्दा करने के लिए भी। यद्यपि मुँह बोलने के लिए मिला है, उससे क्या शब्द बोलने चाहिए, और किस अवसर पर बोलने चाहिए ? इसका निर्णय तो करना ही पँडता है।

ससार मे रहते हुए कानो से सुना भी जाएगा, मुँह से बोला भी जाएगा, और इसी प्रकार खाया-पिया भी जाएगा। परन्तु धर्मशास्त्र का उपयोग तो केवल इसीलिए है कि उसके सहारे हम यह विवेक प्राप्त करे कि हमे क्या सुनना चाहिए, क्या बोलना चाहिए और क्या खाना-पीना चाहिए।

स्वर्ग मे भी यही प्रश्न क्या दिया ? क्या खाया ?

स्वर्ग मे जब कोई जीव देवरूप मे उत्पन्न होता है, तो सैकडो-हजारो देवी-देवता उसके अभिनन्दन हेतु खडे हो जाते है। वहाँ चारो ओर से एक ही प्रश्न सुनाई पडता है, और उस प्रश्न का उत्तर उस नए देवता को देना पडता है। वह प्रश्न है —

'तुम क्या दे कर आए हो, और क्या खा कर आए हो ?'[१]

स्वर्ग मे उत्पन्न होते ही यह प्रश्न पूछा जाता है 'क्या खा कर आए हो' ? तब इस सम्बन्ध मे विचारपूर्वक उत्तर देते हुए कोई कह सकता है कि 'मैं न्याय-नीति के अनुसार अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करके आया हूँ। मैंने महा-हिंसा के द्वारा रोटी नही पाई है। एक विवेकशील गृहस्थ के रूप मे, श्रावक के योग्य जो भी खाया और खिलाया है, वह महारम्भ के द्वारा नही, किंतु अल्पारम्भ के द्वारा खाया और दूसरो को खिलाया है।' यही उपयुक्त उत्तर हो सकता है।

मोक्ष और स्वर्ग की जो चर्चा होती है, वास्तव मे वह मोक्ष और स्वर्ग की चर्चा नही, अपितु जीवन-निर्माण की और सुनिश्चित मार्ग को ढूँढने की चर्चा है। वह चर्चा है—जीवन मे अमृत का मार्ग खोजने की।

खेती-बाडी के रूप मे जो धन्धे है, वे किस रूप मे है और किस प्रकार के हैं ?

---

१ "कि वा दच्चा, कि वा भुच्चा ?"

भगवान् ऋषभदेव ने कहा है कि—"अनार्यमार्ग से रोटी मत पैदा करो। जहाँ दूसरो का खून बहाया जाता है, बिना विवेक-विचार के और महारौद्रभाव से बहाया जाता है, वे सब अनार्यकर्म हैं। शिकार खेलना, माँस खाना, जुआ खेलना आदि, सब अनार्य-कर्म है। इन अनार्यकर्मों के द्वारा जो रोटी आती है, वह रोटी नही, अपितु रोटी के रूप मे पाप आता है, जो जीवन का पतन करने वाला होता है।

जैनसमाज मे 'प्रासुक' कामो की बडी चर्चा चला करती है। 'प्रासुक' वे काम कहलाते है, जिनमे हिंसा न हो, या हो भी तो अत्यल्प। दो जूएबाज आमने-सामने बैठे है। ताश का पत्ता उठा कर फेका कि बस हार-जीत हुई और हजारो इधर से उधर हो गए। ऊपर-ऊपर से तो ऐसा मालूम होता है कि इसमे कोई हिंसा नही हुई। यदि दुकान करते है तो हिंसा होती है, दफ्तर जाते है तो हिंसा होती है। जीविका के लिए जो कुछ भी कार्य करते हैं, तो हिंसा हुए बिना नही रहती। किंतु जुआ खेलना ऐसा 'प्रासुक' काम है कि उसमे हिंसा नही है। बहुतो की ऐसी धारणा है, परन्तु विचार करना चाहिए कि यह महारम्भ है या अल्पारम्भ ? नीति है या अनीति है ? कोई विचार करे या न करे किंतु इस सम्बन्ध मे शास्त्रो ने तो निर्णय किया है और स्पष्ट बताया है कि—सात दुर्व्यसनो मे जुआ खेलना पहला दुर्व्यसन है। मास खाने और मद्य पीने की गणना बाद म की गई है, सबसे पहले जुए की ही गर्दन पकडी गई है। यद्यपि जुआ खेलने मे बाहर से कोई हिंसा दिखाई नही देती, परन्तु सिर्फ एक पत्ते के रूप मे अन्दर म हिंसा का कितना गहरा दूषण है, जो दूर-दूर तक न जाने कितने परिवारो को उजाड देता है। जुआरी का अन्त करण कितना सक्लेशमय रहता है, कितना व्याकुल रहता है, और जुए की बदौलत कितनी अनीति और कितनी बुराइयाँ जीवन मे प्रवेश करती है, इन समस्त दूषण-चक्रो को कोई चाहे न देख सकता हो, परन्तु शास्त्रकार की दूरदर्शी सूक्ष्म दृष्टि से यह सब कुछ छिपा नही है।

इस प्रकार ससार के सोचने का ढग कुछ और होता है, और शास्त्रकारो का दृष्टिकोण कुछ और ही होता है।

कहने का आशय यह है कि अन्न अपने आप मे जीवन की बहुत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। कपडे की भी आवश्यकता है और दूसरी चीजो की भी आवश्यकता है, परन्तु पेट भरने की आवश्यकता सबसे पहली है। अन्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि ससारभर का धन एक तरफ रखा जाए और अन्न दूसरी तरफ तो तराजू मे अन्न का पलडा भारी रहेगा और दूसरी चीजो का हल्का।

हीरों की अपेक्षा अन्न का महत्त्व

जैनाचार्यों ने सम्राट् विक्रमादित्य का जीवन-चरित्र लिखा है। एक बार सम्राट् हाथी पर सवार हो कर निकल रहे थे। मन्त्री और सेनापति पास मे बैठे थे। जब अनाज की मण्डी से सवारी निकली तो सम्राट् ने अपने मन्त्री से कहा—'कितने हीरे बिखरे पडे हैं!'

मन्त्री ने इधर-उधर आँखे घुमा कर अत्यन्त सावधानी के साथ देखा, किन्तु उसे कही हीरे नजर नही आए। तब उसने पूछा—अन्नदाता, हीरे कहाँ हैं ?

सम्राट् ने कहा—'तुम्हे मालूम ही नही कि हीरे कहाँ पडे है ?' इतना कहकर सम्राट् उछल कर हाथी से नीचे उतरे और धूल मे से अन्न के उन बिखरे कणो को उठा कर बडे प्रेम से खा गए।[2] फिर सम्राट ने कहा—'अन्न के ये दाने पैरो के नीचे कुचलने के लिए नही है। इन हीरो का महत्त्वपूर्ण स्थान मुह के सिवाय और कही नही है। यही इनके लिए तिजोरी है और सुरक्षित स्थान है।'

सम्राट् ने फिर कहा—"जो देश अन्न का अपमान करता है, उसके विषय मे जितनी लापरवाही करता है, वह उतनी ही हिंसा करता है, उतनी ही दूसरो की रोटियाँ छीनता है, और दूसरो का गला घोटता है।" तत्पश्चात् अन्न-पूर्णादेवी साक्षात्रूप मे प्रकट हुई और बोली—"राजन्, तुमने मेरा इतना आदर किया है, अत तुम अपने जीवन मे कभी अन्न की कमी महसूस नही करोगे। तुम्हारे देश मे अन्न का भण्डार अक्षय रहेगा।"

अन्न-देवता

आरण्यक मे भी कहा गया है —

"अन्न की निन्दा मत करो, अवहेलना और तिरस्कार न करो।"[3] यही कारण है कि भारत की सस्कृति मे जूठन छोडना पाप समझा जाता है। यानी जितना भोजन आवश्यक हो, उतना ही लिया जाए और जूठन छोड कर मोरियो मे व्यर्थ न बहाया जाए। जो जूठन छोडते है, वे अन्न देवता का जान-बूझकर अपमान करते है।

इस तरह अन्न का एक-एक दाना सोने के दाने से भी महँगा है। सोने के दानो के अभाव मे कोई मर नही सकता, परन्तु अन्न के दाना के बिना हजारो नही, लाखो ने छटपटा कर प्राण दे दिये है। परिस्थितियाँ आने पर ही अन्न का वास्तविक महत्त्व मालूम होता है। जिनके यहाँ अन्न का भण्डार भरा है, वे भले ही अन्न की कद्र न करे। परन्तु एक दिन ऐसा भी आता है, जबकि भण्डार खाली होते है और अन्न अपनी कद्र करा लेता है।

जीवन-स्रोत

यदि अन्न रहेगा—तो धर्म, ज्ञान, विज्ञान सभी जीवित रहेगे, और यदि अन्न न रहा—तो वे सब भी काफूर हुए बिना न रहेगे। जैन-साहित्य (मूल आगम-साहित्य) का बहुत-सा भाग विच्छिन्न हो गया है। वह कहाँ चला गया, और कैसे चला गया ? इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध उल्लेख है कि सुदूर अतीत मे बारह वर्ष का घोर अकाल पडा था। उस समय अन्न के एक-एक दाने के लिए मनुष्य मरने लगे थे। उस समय पेट

२ देखिए, उपदेश-तरगिणी।

३ "अन्नं न निन्द्यात्।"

का प्रश्न ही सबसे बडा और महत्त्वपूर्ण बन गया था, उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष तक के प्रश्न गौण हो गए थे। जैन इतिहास कहता है कि वह विशाल आगमसाहित्य, अन्न के अभाव मे तत्कालीन भूख की भयानक ज्वालाओ मे भस्म हो गया।

उस दुर्भिक्ष के सम्बन्ध मे यहाँ तक सुना गया है कि—लोग हीरे और मोतियो के कटोरे भर कर लाते थे। वह कटोरा अन्न के व्यापारी को अर्पण करते और हजारो मिन्नते करते थे, और साथ ही आँसुओ के मोती भी अर्पण कर देते थे। तब कही मोतियो के बराबर ज्वार के दाने मिलते थे। उन्ही दानो पर किसी तरह गुजारा किया जाता था। जब ऐसी भयानक स्थिति थी तो वहाँ ज्ञान, विज्ञान, विचार और विवेक कहाँ ठहरता? बडे-बडे सन्त, त्यागी और बैरागी, जिनको जाना था, वे तो सथारा करके आगे की दुनिया मे चले गए। परन्तु जो नही जा सके, वे लोग भूख के मारे घबरा गए। जो साधक एक दिन बडी शान से साम्राज्य को भी ठुकरा कर आए थे, आज वे ही अन्न के थोड़े-से दानो के अभाव मे—रोटी न मिलने पर—डगमगाते दिखाई देते हैं।

जटिल प्रश्न

वास्तव मे यह जीवन का जटिल प्रश्न है। जब इसका ठीक तरह से अध्ययन किया जाएगा, तभी तो किसी को सही मार्ग मिल सकेगा अन्यथा चिंतन के अभाव मे सही दिशा नही मिल सकती। सही चिंतन करने पर स्पष्टतया मालूम हो सकता है कि वास्तव मे भाग्यशाली वही है, जिसकी अन्न-सम्बन्धी आवश्यकता पूर्ण हो जाती है, और जिसकी यह आवश्यकता पूर्ण नही होती, उसके भाग्य का कोई अर्थ नही रहता।

परन्तु आजकल लोगो ने पुण्य की कसौटी दूसरी ही बना रखी है। वे जीवन के पुण्य को हीरे, जवाहरात, सोने और चाँदी से तौलते है। जहाँ हीरो का ज्यादा ढेर लगा हो, वहाँ ज्यादा पुण्य समझा जाता है। परन्तु जब पुण्य को इस अर्थवाद की तराजू पर तोलना शुरू किया, तभी जीवन मे सबसे पहले गडबडी शुरू हुई। अस्तु, देखना यह चाहिए कि इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार क्या कहते है, और अन्य लोग क्या सोचते समझते है?

कौन-सा धंधा पुण्यमय ?

एक गृहस्थ जो खेती-बाडी का धधा करता है। वह कठोर परिश्रम के द्वारा रोटी कमाता है और गरीब होते हुए भी न्याय-नीति की मर्यादा मे रहता है। दूसरा परिवार एक कसाई का है। उसके यहाँ प्रतिदिन हजारो पशु काटे जाते हैं और इस धधे के कारण उसके यहाँ हीरे और जवाहरात के ढेर लगे है। अब यदि किसी को जन्म लेना है तो इन दो परिवारो मे से किस परिवार मे जन्म लेना पुण्य है। उसका धर्म उसे किधर ले जाएगा? अगला जन्म वह किसान के यहाँ लेगा या कसाई के यहाँ? धर्मनिष्ठ किसान गरीब तो है, परन्तु शास्त्रकार की तत्त्व-दर्शी दृष्टि मे असली पुण्य

उसी दरिद्रनारायण की झोपडी मे है और वही पुण्यानुबधी सच्चा पुण्य है—जिससे सारी वसुधा प्रकाशमान होती है ।[४] मारवाडी भाषा मे कहते हैं—'उससे सुखे-सुखे मोक्ष प्राप्त होता है ।'

पापाचार के द्वारा रुपये, पैसे, अठन्नियाँ और चवन्नियाँ ज्यादा मिल गई तो किस काम की ? यदि रूखी-सूखी रोटी विवेक, विचार और नीति के साथ मिल जाती है, तो वही पुण्य का सीधा मार्ग है । दुनियाभर के अत्याचारो के बाद और निरीह प्राणियो का खून बहा कर अगर हीरे और मोती मिल भी जाएँ वह पुण्य का मार्ग नही माना जा सकता ।

आदर्श-जीवन

एक बडे विचारशील श्रावक ने कहा कि मुझे अन्याय और अत्याचार के सिंहासन पर यदि चक्रवर्ती का साम्राज्य भी मिले तो उसे ठुकरा दूँगा और अनन्त-अनन्त काल तक उसकी कल्पना भी नही करूँगा । मेरे सत्कर्मों के फलस्वरूप, मेरी तो यही भावना है कि मुझे अगला जन्म लेना ही न पडे । यदि जन्म लेना ही पडे तो मैं किसी ऐसे परिवार मे ही जन्म लूँ, जहाँ विवेक हो, विचार हो, न्याय और नीति हो, फिर चाहे उस परिवार मे जूठन उठाने का ही काम मुझे क्यो न करना पडे !

वस्तुत यही निर्णय ठीक है और आदर्श-जीवन का प्रतीक है । यह आदर्शपूर्ण निर्णय, भारत की मूल सस्कृति का द्योतक है और यह वह प्रतीक है जिसे जैन-धर्म ने अपना गौरव माना है । इसमे जो उमग, उत्साह और आनन्द है, वह अन्यत्र कहाँ ?

भाग्यशाली कौन ?

उदाहरणस्वरूप दो यात्री चले जा रहे है । बहुत बडा मैदान है, सैकडो कोसो तक गाँव का नाम नही है । दोनो यात्री भयकर रास्ते से गुजर रहे है । उन दोनो को भूख लग आई । भूख के मारे छटपटाते हुए, व्याकुल होते हुए चले जा रहे है । अकस्मात् उस समय वे एक तरफ दो थैले पडे हुए देखते हैं । उन्हे देख कर वे अपने को भाग्यशाली समझते है और आपस मे फैसला करते हैं कि यह थैला तेरा, और वह मेरा । अर्थात्—वे दोनो उन थैलो का बँटवारा कर लेते है । वे दोनो थैलो के पास पहुँचते है और अपने-अपने थैले को खोलते है । एक मे भुने चने निकलते है और दूसरे मे हीरे और मोती । अब यहाँ किसके पुण्य का उदय हुआ है ? जिसे जवाहरात का थैला मिला है, वह उन्हे ले कर अपने सिर से मार लेता है और कहता है कि इनकी अपेक्षा यदि दो मुट्ठी चने मिल जाते तो ही अच्छा था ! उनसे प्राण तो बच जाते ! ऐसी स्थिति मे जीवन-रक्षा की दृष्टि से उन हीरो और मोतियो का क्या मूल्य है ? जिसे अन्न का थैला मिला, वह बाग-बाग हो जाता है कि न जाने किस जन्म का पुण्य आज काम दे गया है ।

---

४ देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र ३, १७

इसके लिए मैं तो यही कहूँगा कि शास्त्रो को भी टटोलने की जरूरत नही है, सिर्फ जीवन को ही टटोलने की जरूरत है और जीवन-सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टि-कोण के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है।

अन्ननिन्दा पाप

भारतीय सस्कृति के एक आचार्य ने कहा है कि—"अन्न की निन्दा करना पाप है।" जूठन छोडना हिंसा है, क्योकि वह अन्न का अपव्यय है, और कम खाना पुण्य है। कम खाना पुण्य तो अवश्य है, परन्तु खाने को कम मिलना क्या है ? यहाँ तीन चीजे है—ज्यादा खाना, कम खाना और कम खाने को मिलना। ज्यादा खाने के विषय मे तो ग्रन्थकारो ने कह दिया है कि ज्यादा खाने वाला अगले जन्म मे अजगर बनता है और कम खाना धर्म माना जाता है। जैन-धर्म मे ऊनोदर तप माना गया है जो कि अनशन के बाद आता है, वह बडा उत्कृष्ट तप है। तपो मे एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा सूक्ष्म होता जाता है, अर्थात्—उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण होता जाता है। एक आचार्य ने कहा है कि अनशन की तुलना मे ऊनोदर तप विशेष महत्त्व रखता है। इसका क्या कारण है ? अनशन तप के समय बिलकुल ही नही खाया जाता खाने की तरफ ध्यान ही नही दिया जाता, परन्तु ऊनोदर मे कम खाया जाता है। खाने के लिए बैठना और जब स्वादिष्ट मिष्टान्नो के खाने का आनन्द अनुभव हो तो भी अधूरा खाना मुश्किल होता है। भोजन करते समय भोजन के रस को बीच मे ही छोड देना, भोजन बिल्कुल ही न करने की अपेक्षा अधिक त्यागवृत्ति माँगता है। यह एक बडा एव पवित्र परिवर्तन है, आध्यात्मिक क्रान्ति है। इस प्रकार का कम खाना धर्म माना गया है।

परन्तु खाने को कम मिलना क्या है ? इसे पाप माना गया है। भारतीय सस्कृति कहती है कि कम खाना तो धर्म है, किन्तु खाने की मात्रा कम मिलना पाप है। जिस देश के बच्चो, बूढो, महिलाओ और नौजवानो को खाना नही मिलता है, उस देश की व्यवस्था करने वालो के लिए वह एक बडा गुनाह है। कम खाने की शिक्षा अवश्य दी गई है, पर खाना कम क्यो मिलना चाहिए ! खाने की मात्रा कम मिलना, अपनी व्यवस्था को दोषपूर्ण सिद्ध करना है, और अपने मे एक पाप को प्रकट करना है। और यह पाप ऐसी बुराई है, जो हजारो दूसरी बुराइयो को पैदा करती है।

प्राण की रक्षा

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म को, पुण्य को या सत्कर्म को हीरो और मोतियो से तोलना गलत बात है। पर, दु ख तो इस बात का है कि गलत राह को

---

५ जैन-धर्म मे अनशन आदि बारह तप माने गए हैं, उनमे ऊनोदर दूसरे नम्बर पर है। ऊनोदर का अर्थ है—जितनी भूख हो, उससे भी कुछ कम खाना। अर्थात्—पेट को थोडा खाली रखना।

सही मान लिया गया है। पुण्य और पाप को जीवन की उपयोगिता से और उपयोगिताओ की पूरक आवश्यकताओ से तोलना चाहिए। जीवन की किसी भी अनिवार्य आवश्यकता की परिपूर्ति हीरो-जवाहरात की विद्यमानता से नही हो सकती। चाँदी सोने की 'रोटियाँ' खा कर, मोतियो का 'शाक' बना कर और हीरे का 'पानी' पी कर कोई अपने प्राणो की रक्षा नही कर सकता। प्राणो की रक्षा तो केवल अन्न ही कर सकता है। अमीर हो या गरीब, दोनो को ही अन्न की सीधी-सच्ची राह पर चलना होगा। आखिर, जीवन तो जीवन की ही राह पर चलेगा। इस सम्बन्ध मे एक आचार्य ने ठीक ही कहा है।

चमकते रत्न

इसका हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है—

"भूमडल मे तीन रत्न है, पानी-अन्न-सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकडो मे करते, रत्न-कल्पना पामर प्राणी॥"[६]

वास्तव मे इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न चमक रहे है—जल, अन्न और सुभाषित वाणी। नदी, तालाब या नहर मे जो जल बह रहा है, उसकी एक-एक बूँद की तुलना मोतियो और हीरो से भी नही की जा सकती। यदि कोई तोलता है तो वह गलती करता है। अन्न का एक-एक दाना चमकता हुआ रत्न है, जिसकी रोशनी हीरो की चमक को भी मात करती है। तीसरा रत्न है—सुभाषित वाणी, अर्थात्—मीठा बोल, ऐसा बोल, जो लगे हुए घाव पर मरहम का काम करे, प्रेम का उपहार अर्पण कर दे, बेगानो को अपना बना दे और जब मुँह से निकले तो ऐसा लगे कि मानो फूल झर रहे है, ऐसा सुभाषित भी एक रत्न है।

जो मूढ है—यहाँ आचार्य 'मूढ' शब्द का प्रयोग कर रहे है तो मुझे भी करना पड रहा है, अर्थात्—अज्ञानी है, वे पत्थर के टुकडो मे रत्नो की कल्पना करते है। किन्तु पूर्वोक्त तीन रत्न ही वास्तविक रत्न हैं, और ये चमकते हुए पत्थर के टुकड़े उनके समकक्ष कहाँ?

घर मे धान्य

रामायण-काल की एक घटना है, जिसमे बहुत ही सुन्दर तथ्य का वर्णन है।[७] जब रामचन्द्रजी चौदह वर्ष का वनवास समाप्त कर रावण-वध के बाद सीता तथा वानरो सहित अयोध्या वापस आए तो परिवार के लोग तथा राज्य के बडे-बडे सेठ साहूकार उनके स्वागत के लिए दौड पड़े। हजारो की सख्या मे जनता अभिनन्दन के

६ "पृथिव्या त्रीणि रत्नानि, जलमन्न सुभाषितम्।
मूढै पाषाण-खण्डेषु रत्न-सज्ञा विधीयते॥"

७ देखिए उपदेश--तरगिणी।

लिए वहाँ जा पहुँची। रामचन्द्रजी ने सबसे क्षेम-कुशल पूछते समय एक ही प्रश्न किया "**घर मे सब ठीक है, धान्य की कमी तो नहीं है ?**"

कुछ लोग रामचन्द्रजी के प्रश्न का मर्म नही समझ सके। उन्होंने सोचा—"मालूम होता है, महाराज भूखे आए हैं। तभी तो यह नही पूछा कि रत्न-भडार तो भरे है ? और यह भी नही पूछा कि घर मे कितना धन है ? वरन् यह पूछा कि घर मे धान्य की कमी तो नही है। महाराज के अन्तर मे आजकल रोटी ही समाई हुई है।

अस्तु, उपस्थित लोगो ने हँसते हुए कहा—"महाराज, आपकी कृपा है। अन्न की कुछ कमी नही है। अन्न के भडार इतनी विशाल मात्रा मे भरे पडे है कि वर्षों खाएँ, तब भी खाली नही हो।" उक्त कथन मे स्पष्ट ही परिहास की ध्वनि सुनाई दे रही थी।

लोगो की इस भ्रान्त धारणा को समझने मे रामचन्द्रजी को देर नही लगी। उन्होने सोचा—'जिनके पेट भरे हुए है, उनकी निगाह अन्न से हट कर अन्यत्र भटक गई है। इसीलिए ये सब लोग मेरे प्रश्न के महत्त्व को नही समझ सके और मुस्कराने लगे है।

स्वागत-अभिनन्दन के बाद रामचन्द्रजी अयोध्या मे आ गए। एक दिन राज्य-भर मे यह सन्देश प्रसारित किया गया कि महाराज रामचन्द्रजी वनवास की अवधि पूरी करके सकुशल लौट आए है, अत नगर-निवासियो को प्रीतिभोज देना चाहते है। सारी प्रजा को निमन्त्रण दे दिया गया। अमुक समय निश्चित कर दिया गया और तदनुसार सब प्रजाजन आ पहुँचे।

निमन्त्रण सभी को प्रिय होता है। साधारण घर का मिले तो भी लोगो को वह बडी चीज मालूम होती है, फिर कही सम्राट् के घर का मिल जाए तब तो कहना ही क्या है ? आज जवाहरलाल नेहरू के यहाँ यदि किसी को एक गिलास सादा पानी ही क्यो न मिल जाए, फिर देखिए, वह अभिमान की तीरकमान से कैसी तीरदाजी दिखाता है !

नियत समय पर सब लोग भोजन के लिए आ गये और पगत बैठ गई। रामचन्द्रजी ने कहा—"भैया, हम अपने हाथो से परोसेंगे!" हीरे और मोतियो की भरी हुई डलियाँ आईं। राम ने एक-एक मुट्ठी सब की थाली मे परोस दिए।

हमारी भारतीय परम्परा यह है कि भोजन कराने वाले की आज्ञा मिलने पर ही भोजन आरम्भ किया जाता है। लोगो ने सोचा कि हीरे आदि तो पहले-पहल भेंट-स्वरूप परोसे गए हैं, भोजन तो अब आएगा। परन्तु रामचन्द्रजी ने हाथ जोड कर विनम्र निवेदन किया—"भोजन आरम्भ कीजिए।"

लोग पेशोपेश मे पड गए कि खाएँ क्या ? खाने की तो कोई चीज परोसी ही नही गई ?

रामचन्द्रजी बोले—क्या हुआ ? एक-एक हीरा लाखो के मूल्य का है, और कुछ रत्न तो सर्वथा अनमोल है। आप सोच-विचार मे क्यो पड़े हैं। भोजन कीजिए न ?

प्रजाजन बोले—महाराज, अनमोल तो अवश्य हैं। इनसे जेब ही भरी जा सकती है, परन्तु पेट नही भरा जा सकता। पेट तो पेट के तरीके से ही भरेगा।

राम ने फिर कहा—बड़ी सुन्दर चीजे हैं ! ऐसी चीजे देखने मे भी कम आती है। ये तो पेट के लिए ही है।

प्रजाजन कहने लगे—महाराज, इन्हे पेट मे डाले भी कैसे ? यह पेट की नही, जेब की खुराक है।

अब रामचन्द्रजी ने असली मर्म खोला। बोले—उस दिन जब मैने प्रश्न किया था कि—घर मे धान्य की कमी तो नही है ? तब आप लोग धन के प्रमोद मे हँसने लगे थे। आपकी आँखो मे तो धन का ही महत्त्व है ! आपको तो हीरे, मोती ही चाहिए। धान्य की जरूरत ही क्या है ? बस, धन मिल गया तो ठीक है, उसी से जीवन पार हो जाएगा।

इसके बाद रामचन्द्रजी ने फिर कहा—अब आप भली भाँति समझ गये होगे ! धन से पहला नम्बर धान्य का है। धान्य मिलेगा तो धन कमाने के लिए हाथ उठेगा, और धान्य नहीं मिला तो एक कौडी कमाने के लिए भी हाथ नही उठ सकता। आपके सकल्प गलत रास्ते पर चले गए है, अत सही स्थिति को आप नही समझ सके है। अन्न की उपेक्षा, जीवन की उपेक्षा है। अन्न का अपमान करने वाला राष्ट्र भी अपमानित हुए बिना नही रह सकता। जिस देश के लोग अन्न को हीन दृष्टि से देखने लगे, फिर वह देश दुनिया के द्वारा हीन दृष्टि से क्यो न देखा जाए ?

नीतिमय जीविका का उपदेश

अन्न की समस्या जीवन की प्रमुख समस्या है। इसीलिए भगवान् ऋषभदेव जब इस ससार मे अवतीर्ण हुए और उन्हे भूखी जनता मिली तो धर्म का उपदेश देने से पहले उन्होने आजीविका का ही प्राथमिक उपदेश दिया और उसमे कृषि ही एकमात्र ऐसी आजीविका थी, जिसका साक्षात् सम्बन्ध उदरपूर्ति से था। हजारो आचार्यों ने उनके उपदेश को ऊँचा उठा लिया और कहा कि उन्होने इतना पुण्य प्राप्त किया कि हम उसकी कोई सीमा बाँधने मे असमर्थ है। भगवान् ने जो आर्य-वृत्ति सिखलाई, उसका वर्णन आचार्यों ने और मूल-सूत्रकारो ने भी किया है।

इस सम्बन्ध मे लोग शायद यह कह सकते है कि उस समय भगवान् गृहस्थ थे,

इसीलिए उन्होने गृहस्थ का मार्ग सिखा दिया। बात तो ठीक ही है, सभी विचारक कृषि को गृहस्थ का मार्ग या ससार का मार्ग कहते हैं। कौन कहता है कि वह मोक्ष का मार्ग है ? परन्तु प्रश्न तो नीति और अनीति का है। गृहस्थ की आजीविका दोनो तरह से चलती है। कोई गृहस्थ न्याय-नीति से अपना जीवननिर्वाह करता है, और कोई अनीति से–जुआ खेल कर, कसाई खाना खोल कर, शिकार करके, चोरी करके, या ऐसा ही कोई दूसरा अनैतिक धन्धा करके निर्वाह करता है। आप इनमे से किसे अपेक्षाकृत अच्छा समझते हैं ?

जहाँ न्याय और नीति है, वहाँ पुण्य है। भगवान् ने तो ससार को नीति ही सिखाई, अनीति नही। यदि शिकार खेलना सिखा देते तो वह भी एक आजीविका का मार्ग था, परन्तु वह अनीति का मार्ग है। अतएव भगवान् ने जनता को अन्याय का मार्ग जान-बूझ कर नही सिखाया।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-सूत्र मे, जहाँ युगलियो की जीवन-लीला का वर्णन है, और उसी मे यह उल्लेख भी है कि—भगवान् ने उन्हे तीन कर्म सिखलाए, साथ ही यह भी कहा है कि ये सभी प्रजा के हित के लिए, उनके कल्याण के लिए ये सब कलाएँ सिखलाई है।[८]

भगवान् के द्वारा उन कलाओ का सिखाया जाना 'रपट पड़े की हरगङ्गा' नही था। एक बूढा, सर्दी के मौसम मे गगा के किनारे-किनारे जा रहा था। उसका पैर फिसल गया और वह गगा मे गिर पडा। जब गिर पडा तो कहने लगा—'हरहर गगा, हरहर गगा।' इसी को 'रपट पड़े की हर गगा' कहते है। सर्दी के कारण गगा-स्नान करने की इच्छा नही थी, किन्तु जब गगा मे गिर ही पडे तो गगा-स्नान का नाटक खेलने लगे।

भगवान् के द्वारा इस तरह बिना समझे-बूझे कलाएँ नही सिखाई गईं। उन्होने विवेक को साथ मे ले कर और विचार के मापक से नीति को सही दृष्टिकोण से नाप-कर प्रजा के कल्याण की कल्पना की थी। लोगो को नरक के द्वार पर पहुँचाने के लिए नही, वरन् कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए, मानव को दानव बनाने के लिए नही, वरन् इसान की इसानियत को कायम रखने के लिए, कृषि आदि आदर्श कलाओ का सत्‌शिक्षण दिया था।

रोजी-रोटी में अहिंसा की कसौटी

उसी रोटी और रोजी मे आनन्द आता है, जो चुनौतियो से भरी हो, जिसमे मनुष्य को अपनी आवश्यकताओ के लिए स्वय मेहनत करनी पड़े। जहाँ दूसरो का शोषण करके या दूसरो पर अन्याय, अत्याचार करके, धोखेबाजी से रोटी और रोजी

---

८ "पयाहियाए उवदिसइ।"

कमाई जाती हो, वह सकल्पी हिंसा है, क्योकि उनमे दूसरो के आनन्द पर डाका डाला जाता है, इससे अपने और दूसरे, दोनो के आनन्द का खात्मा हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि जो सात्त्विक है, जो रोटी अल्पारम्भ से प्राप्त हुई है, जिसमे स्वय का श्रम लगा है, वही रोटी और रोजी श्रावक जीवन की अहिंसा की मर्यादा मे आती है। भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थधर्म की मर्यादा को ले कर जो भी धधे जनता को सिखाए, वे आर्यकर्म थे, अहिसा की दिशा मे आगे बढाने वाले थे और स्वपरहितकारक थे। इसलिए हमे किसी भी रोजी और रोटी की अच्छाई का निर्णय उपर्युक्त अहिंसा की कसौटी से करना चाहिए। □

२९ | श्रावक और स्फोटकर्म

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न इतना जटिल है कि जब तक गहराई मे पहुँच कर, हम इस पर विचार नही कर लेते, तब तक उसकी वास्तविक रूप-रेखा हमारे सामने नही आ सकती। प्राय देखा जाता है कि लोग शब्दो को पकड कर चल पडते हैं, फलत उनके हाथ मे किसी तत्त्व का केवल एक खोखा मात्र ही रह जाता है और उसका रस प्राय निचुड जाता है। जिस फल का रस निचुड जाता है और केवल ऊपरी खोखा ही रह जाता है, उसका कोई मूल्य नही होता। वह तो केवल भार है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध मे भी आजकल यही दृश्य देखा जाता है। प्राय. लोग हिंसा-अहिंसा के शब्दो को ऊपर-ऊपर से पकड कर बैठ गए है, इस कारण उक्त शब्दो के भीतर का मर्म उनकी समझ मे नही आ सका।

हिंसा और अहिंसा के वास्तविक मर्म को समझने-समझाने के लिए सामूहिक प्रवचन एव व्यक्तिगत चर्चाओ के रूप मे बहुत से प्रयत्न किए जाते है। किंतु इन प्रयत्नो का उपयोग केवल मनोरजन के रूप मे ही नहीं होना चाहिए। बल्कि अहिंसा की स्पष्ट रूप-रेखा जनता के सामने प्रस्तुत की जानी चाहिए और जब तक वही सही रूप मे नही आ जाती है, तब तक कोई व्यक्ति, धर्म या समाज या राष्ट्र किसी के प्रति भी प्रामाणिक नही हो सकता। अतएव बारीकी से सोचने और समझने की कोशिश करनी चाहिए कि हिंसा और अहिंसा का वास्तविक रूप क्या है ?

पूर्व सकल्प

यह एक लम्बी चर्चा है। प्राय जब लोग इस प्रश्न पर विचार करने के लिए शास्त्रो के पन्ने पलटते है। और जब इस तरह चलते हैं तो उनका सकल्प एक ओर टकराता है और शास्त्रो की आवाज दूसरी ओर सुनाई पडती है। ऐसी स्थिति मे प्राय सकल्प की आवाज तो सुन ली जाती है और शास्त्रो की आवाज के स्वर दूर जा पडते हैं। परन्तु इससे सचाई हाथ नही आती, वास्तविकता का पता नही चलता, सिर्फ आत्म-सतोष एव थोड़े-से कल्पित विश्वास को पोषण मिल जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी भी तत्त्व पर विचार करते समय बुद्धि निष्पक्ष हो, क्योंकि तटस्थबुद्धि के द्वारा ही सच्चा निर्णय प्राप्त हो सकता है।

एक न्यायाधीश है। वादी और प्रतिवादी उसके न्यायालय मे उपस्थित है। किंतु न्यायाधीश यदि किसी के पक्ष मे पहले से ही बुद्धि को स्थिर कर लेता है तो वह न्याय के सिंहासन का उत्तरदायित्व पूरी तरह नहीं निभा सकता। इतना ही नही,

बल्कि ज्यो ही यह बात वादी या प्रतिवादी को मालूम हो जाती है, वह उस न्यायालय को छोड कर दूसरे न्यायालय मे जाने की प्रार्थना करता है। यद्यपि यह ठीक है कि फैसला किसी एक के ही पक्ष मे होगा, किंतु निर्णय देने से पहले ही यदि निर्णय कर लिया जाता है और दिमाग मे पहले ही पक्ष-विशेष का भाव भर लिया जाता है तो न्याय का उत्तरदायित्व ठीक-ठीक अदा नही किया जा सकता। पक्षपात के पक मे कर्त्तव्य के कदम बिना सने रह नही सकते। ठीक, यही बात शास्त्रो के सम्बन्ध मे भी है। जब कोई किसी भी शास्त्रीय विषय पर गहराई से विचार करने के लिए उद्यत हो तो पहले उसे अपनी बुद्धि को निष्पक्ष बना ले, और अपने भाव को तटस्थ रखे। यदि निष्पक्षबुद्धि रख कर चलेगा तो सिद्धात और जीवन को सही-सही परख सकेगा, और साथ ही समाज एव राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यो को भी समझ सकेगा। अन्यथा, व्यर्थ ही शास्त्रो की गर्दन मरोडता रहेगा और अपने जीवन को भी नही परख सकेगा। इस सम्बन्ध मे आचार्य हरिभद्र ने एक बडी ही सुन्दर बात कही है — जब कदाग्रही और पक्षपाती मनुष्य किसी सिद्धात पर विचार करता है तब वह शास्त्रो को, दलीलो को तथा युक्तियो को भी खीचकर घसीटता हुआ वही ले जाता है, जहाँ उसकी बुद्धि ने पहले से ही कदम जमा रखा है। ऐसे लोग शास्त्र के आशय तथा औचित्य को भी नही देख पाते। बस, उनका मुख्य ध्येय यही होता है कि किसी प्रकार मेरी मनगढन्त धारणा को पुष्टि मिले। किंतु जो पक्षपात से रहित होता है वह अपनी धारणा को वही ले जाता है, जहाँ युक्ति या शास्त्र का कथन उसे ले जाने की प्रेरणा देते है।[१]

पक्षपात किसे कहते है? पक्ष का अर्थ 'पख' है। पक्षी जब उडता है तो उसके दोनो पख ठीक और सम रहने चाहिए। तभी वह ठीक तरह से गति कर सकता है, ऊँची उडान भर सकता है और लम्बे-लम्बे मैदानो को शीघ्रता से पार कर सकता है। किंतु यदि उस पक्षी का एक पख टूट जाए तो वह उड नही सकता। इसी प्रकार जहाँ पक्षपात हुआ, और मनुष्य एक पक्ष का सहारा ले कर चला तो वहाँ सिद्धात, विचार और चिंतन ऊपर नही उठ सकते, बल्कि वे रेंगते दिखाई पडेगे। पक्षपात का स्पष्ट अर्थ है—सत्य के पख टूट जाना। अत आवश्यकता इस बात की है कि जब कोई सिद्धात के किसी विषय पर विचार करे तो अपना दिल और दिमाग साफ रखे और गम्भीर विचार-मथन के द्वारा सत्य का जो मक्खन निकले, उसे ग्रहण करने को सदैव तैयार रहे।

सत्य की पूजा

पहले हमारी बुद्धि विकसित थी तो हम आग्रह को, अहकार को और किसी

---

१ "आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपात-रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥"

भी व्यक्ति-विशेष को महत्त्व न दे कर केवल सत्य को ही महत्त्व देते थे और सत्य की ही पूजा करते थे। जहाँ सत्य की की पूजा होती है, वहाँ ईश्वर की प्रतिष्ठा है। किसी देवालय मे नारियल चढा देना, नैवेद्य चढ़ा देना या मस्तक झुका देना सच्ची ईश्वरोपासना नही है, किंतु मन-वचन-कर्म से सत्य की पूजा करना ही ईश्वर ही सच्ची आराधना है।

जो मनुष्य तटस्थभाव से आगे बढता है और अपनी बद्धमूल मान्यताओ के आग्रह ठुकरा देता है और उसके बदले मे सामने आने वाले सत्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है, वही मर्म को पा सकता है, वही अपने जीवन को कृतार्थ कर सकता है। चाहे वह तरुण हो या बूढा, गृहस्थ हो या साधु, वह अपने आप मे बहुत ऊपर उठ सकता है। उसके जीवन की गति ईश्वरीय प्रगति है। वह अपनी महत्ता को अधिकाधिक ऊँचाई पर ले जाता है और गिरावट की ओर अग्रसर नही होता।

परन्तु सत्य का मार्ग सुगम नही है। वह बडा कठिन, पेचीदा और टेढा है। इतना कठिन और टेढा कि जिसके लिए भारत के एक सन्त ने कहा है — 'छुरे की धार पर चलना कठिन है। जिस मार्ग पर छुरे बिछे हो और तलवारो की नोके ऊपर को उठी हो, उस मार्ग पर चलने वाला, नृत्य करने वाला, कितनी सावधानी से, कितनी बडी तैयारी के साथ एक-एक कदम रखता है और कितनी तटस्थता रखता है और आखिर नृत्य को पूरा कर ही जाता है। परन्तु सत्य का मार्ग छुरे की धार से भी तेज और टेढा है और विद्वान् उसे दुर्गम भी बताते है। बड़े-बड़े विद्वान् भी वहाँ चलते-चलते धीरज छोड देते हैं।'[२]

किन्तु इसमे किसी से घृणा या द्वेष करने की आवश्यकता नहीं है। यह तो मार्ग ही ऐसा है कि डिग जाना, फिसल जाना या विचलित हो जाना कोई बडी बात नही है। गीता मे योगिराज कृष्ण ने भी कहा है —कर्म क्या है, और अकर्म क्या है? धर्म क्या है, अधर्म क्या है? पुण्य क्या है? और पाप क्या है? इसके निष्पक्ष निर्णय मे बड़े-बडे विद्वान भी भ्रमित हो जाते है।'[3]

अतएव इस मार्ग पर पाडित्य का भार लाद कर भी नही चला जा सकता। इस पर तो सत्य की दृष्टि ले कर, अपने आपको सत्य के चरणो मे समर्पित करके ही चला जा सकता है। यदि व्यर्थ के पांडित्य का भार लाद कर चलेंगे तो निष्पक्ष निर्णय नही कर सकेगे। सत्य के प्रति गद्गद्भाव और सहजभाव लिए हुए साधक चलेगा तो सम्भव है, उसे सत्य का पता लग सके। इसके अभाव मे विद्वान भी सत्य की झाँकी नहीं पा सकता।

---

२ "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।"

—कठोपनिषद्

३ "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता।"

किसी व्यक्ति का अध्ययन कितना ही अल्प क्यो न हो, यदि सत्य को ही उसने अपना लक्ष्य बना लिया है और सहजभाव से उसे ग्रहण करने के लिए वह तैयार है तो अवश्य ही वह सत्य के निकट पहुँच सकता है। इसके विपरीत बड़े-बड़े विद्वान् भी अहकार और पाण्डित्य के प्रसाद को साथ ले कर सत्य के द्वार तक नही पहुच सकते।

इस सम्बन्ध मे हमारे आचार्यों ने श्रेष्ठ-से श्रेष्ठतर बातें कह दी है, वे अधिक ऊँचाई पर हैं, परन्तु हमारे विचारो के हाथ इतने छोटे है कि हम ऊँचाई को छू नही सकते।

लेकिन सत्य के महत्त्व के सामने बडे से बडा व्यक्तित्व भी हीन है। व्यक्ति को महत्त्व तो दे दिया जाता है, किन्तु विचार करने से विदित होता है कि उसे वह महत्त्व सत्य के द्वारा ही मिलता है। अपने आप मे व्यक्ति का क्या महत्त्व है? वह तो हड्डी और मांस का स्थूल ढांचा है। परन्तु जब वह सत्य की पूजा के लिए सन्मार्ग पर चल पडता है, सत्य की ही परिधि मे रहता है और सत्य के साम्राज्य मे ही विचरण करता है, तब उसकी पूजा की जाती है, उसका स्वागत और सम्मान किया जाता है। वह पूजा, वह आदर और वह सम्मान, उसकी सुन्दर मानव-आकृति का नही, अपितु उसकी सत्य-निष्ठा का है।

सत्य की ऊंचाई

यदि एक लम्बा आदमी सीधा दण्डायमान खडा होता है और उसका सिर मकान की छत से छू जाता है तो उसकी हड्डियो की ऊँचाई, देखने वालो के लिए तमाशा जरूर बन सकती है, पर वह हमारी श्रद्धा एव भक्ति का पात्र नही हो सकता। कारण, जीवन की सार्थकता के लिए विचारो की और सत्य की जो ऊँचाई है, वही आदर एव सम्मान की उपादेय वस्तु बनती है। यह ऊँचाई तमाशे की वस्तु नही, अपितु चरणो मे झुकने, समर्पित होने तथा श्रद्धा रखने की वस्तु है।

इसीलिए आचार्यों ने यह कहा है कि—आप व्यक्ति को क्यो महत्त्व देते है? हमारे गुरु ने ऐसा कहा या वैसा कहा, इस प्रकार कह कर आप एक ओर तो लाठियाँ चलाते है और दूसरी ओर सत्य, जो तटस्थभाव से सन्मार्ग का निर्देशन कर रहा है, उसकी पुकार तक नही सुनते! इस शोचनीय स्थिति को देख कर दुःख होता है कि यह कैसी गडबडी चल रही है। अतएव भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और उसकी तुलना मे व्यक्ति का जो महत्त्व है, वह केवल सत्य की ही बदौलत है। सम्प्रदाय या समाज या व्यक्ति का महत्त्व एकमात्र सत्य के ही पीछे है। सत्य का बडप्पन ही व्यक्ति को बडप्पन देता है।

बिरादरी के नहीं

इस सम्बन्ध मे जैनाचार्य हरिभद्र बहुत बडी बात कह गए है। आचार्य हरिभद्र बड़े ही बहुश्रुत विद्वान हो चुके है, जिनकी विद्वत्ता को महाकाल की काली छाया भी

धुँधला नही बना सकी। उनकी अमर वाणी हम आपके सामने रख रहे हैं। वे कहते है—'भगवान् महावीर के प्रति हमे पक्षपात नही है। वे हमारी जाति-बिरादरी के नही और सगे-सम्बन्धी भी नही है। किन्तु सत्याचरण और कठिन साधना से आखिरकार वे भगवान् के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं, अत उनकी वाणी के सम्बन्ध मे हम जो भी विचार करते है, वह किसी तरह का पक्षपात ले कर नही। और कपिल आदि जो अन्य महर्षि हो चुके है, उनके प्रति हमे लेशमात्र भी द्वेष और घृणा नही है। जो भी सत्य के उपासक आज तक प्रकाश मे आए हैं, हम उन सबके विचारो का तटस्थ-वृत्ति से अध्ययन करते है, उन सब की वाणी का चिन्तन, मनन और विश्लेषण करते है, जिसके विचार सत्य की निष्पक्ष कसौटी पर खरे उतरते हैं, उसी के विचारो को नि शकभाव से स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सम्मान भी करते हैं।'[४]

परीक्षा की तराजू

ऐसा मालूम पडता है कि आचार्य ने भगवान् को भी परीक्षा की तराजू पर रख दिया है। कदाचित् आचार्य उस सत्य को तौल रहे है, जो शतियो से और सहस्राब्दियो से बराबर तौला जा रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदाय-विशेष को तौला जाए तो वह तौल पर पूरा नही उतरता है। क्योकि जितने भी सम्प्रदाय है, उनमे प्राय सत्य की अपेक्षा स्वार्थ की प्रधानता होती है, अत जहाँ स्वार्थ की प्रधानता है, वहाँ सत्य का साक्षात्कार दुर्लभ है। अस्तु, एकमात्र सत्य को ही लक्ष्य-बिन्दु मान कर तोलने चलोगे तो वही तोल ठीक होगा।

आखिर, सोचने की बात यह है कि आप भगवान् महावीर की पूजा क्यो करते है? उनका सत्कार और सम्मान क्यो करते है? आखिर, उनमे ऐसा क्या चमत्कार है, जो हम अपने को उनके चरणो मे समर्पित करते है। उनके जीवन का जो परम सत्य है, वही तो उनकी पूजा और उनका सत्कार-सम्मान करवाता है। भगवान् की पूजा उनके गुणो की पूजा है। इस पूजा मे उनके शरीर का, रूप सौन्दर्य का और बाह्य ऐश्वर्य का कोई सम्बन्ध नही है।

भारत के एक बडे आचार्य ने तो स्वय भगवान् के ही मुँह से कहलाया है—

"हे भिक्षुओ! मेरे वचनो को भी परीक्षणात्मक दृष्टि से सत्य की कसौटी पर जाँचो, और परखो। अच्छी तरह से जाँचने और परखने के पश्चात् यदि वे तुम्हे ग्रहण करने योग्य प्रतीत हो तो ग्रहण करो। केवल मेरे बडप्पन के कारण ही मेरे वचनो को मत मानो। सत्य के पक्ष को प्रधानता न दे कर केवल गुरु के पक्ष पर ही अडे रहना

---

४ "पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह॥"

किसी प्रकार उचित नही है , क्योकि व्यक्ति-विशेष का व्यक्तित्व सत्य के अस्तित्व से किसी भी अश मे ऊँचा नही है ।"[५]

देखिए, कितनी निष्पक्षता एव आदर्श की बात कही गई है ! जो सत्य का निर्णय करने चलते हैं, वे व्यक्ति-विशेष को अधिक महत्व नही देते, अपितु सत्य को ही अधिक महत्त्व देते है । सत्य की प्रधानता के सम्बन्ध मे स्पष्टरूप से कहा गया है—

"सिर के बाल पक जाने से ही कोई बडा नही हो जाता । बडा वह है, जिसके विचार स्पष्ट हो गए है, फिर भले ही वह वय की अपेक्षा छोटा ही क्यो न हो । जिसके विचारो मे कोई स्पष्टता नही आई है, यदि उसका सारा सिर बगुले के पंख की तरह सफेद हो जाए, तब भी वह बडा नही कहा जा सकता ।"[६]

प्रकाश की ओर

अब प्रश्न यह है कि—'क्या हिंसा और अहिंसा अपने आप मे दो अलग-अलग चीजे है ? जैन-धर्म क्या सिखाता है ? वह हिंसा से अहिंसा की ओर जाने की राह बतलाता है, या अहिंसा से हिंसा की ओर जाने की ? जैन-धर्म अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है या प्रकाश से अन्धकार की ओर ? जो धर्म अथवा धर्मोपदेशक प्रकाश से अन्धकार की ओर ले जाता है—वह धर्म नही हो सकता, न वह गुरु हो सकता है और न भगवान ही । यदि इस बात को स्वीकार किया जा सकता है तो यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए थे , प्रकाश से अन्धकार की ओर कदापि नही ।

सम्यक्त्व

यह माना कि भगवान् ऋषभदेव ने प्रारम्भ मे जो कुछ भी शिक्षा दी, वह गृहस्थ-अवस्था मे दी थी । परन्तु उस समय उन्हे कौन-सा सम्यक्त्व[७] प्राप्त था ? शास्त्रो के अनुसार उन्हे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था । इसका अर्थ यह है कि उनकी विचार-सृष्टि मे लेशमात्र भी मैल नही था । जहाँ कही भी थोडी-बहुत मलिनता होती है, वहाँ क्षयोपशम-सम्यक्त्व होता है । मलिनता की न्यूनाधिकता के कारण क्षयोपशम सम्यक्त्व अनेक प्रकार का होता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व पूरी तरह पवित्र और

---

५ "तापाच्छेदान्निकषात्सुवर्णमिव पण्डितै ।
परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्य , मद्वचो न तु गौरवात् ।"

६ "न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलित शिर ।"

७ जैन-दर्शन मे विचार-शुद्धि की विकास-भूमिका को सम्यक्त्व कहते हैं । इसके क्षायिक, क्षयोपशम आदि अनेक भेद है । जब विचार-दर्शन सर्वथा शुद्ध होता है, सत्य-निष्ठा सर्वथा पवित्र होती है, तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है । यह 'विचार-शुद्धि' की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है । क्षयोपशम मे जैसे अतिचार-दूसण लग जाते है, वैसे क्षायिक मे नही लगते । वह सर्वथा निर्दूषण है ।

निर्मल होता है और जहाँ पूर्णता है, वहाँ भेद नहीं होता। यही कारण है कि मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानों के जहाँ सैकडो भेद गिनाए गए हैं, वहाँ क्षायिक-ज्ञान अर्थात्—'केवल-ज्ञान' एक ही प्रकार का बताया गया है।

इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के भी असख्य भेद हैं, जबकि क्षायिक सम्यक्त्व अखण्ड है। आखिर क्षायिक सम्यक्त्व मे यह विशिष्टता क्यो आई ? यदि इसमे मिथ्यात्व-मोहनीयजन्य विकारो का जरा भी मैल होता तो अवश्य ही किसी न किसी अश मे भेद प्रकट हो जाता। जहाँ अपूर्णता है, वहाँ भिन्नता अनिवार्य है और जहाँ अभिन्नता एव अखण्डता है, वहा पूर्णता विद्यमान है। क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका इतनी विशुद्ध है कि वहा दर्शन-सम्बन्धी विकारो का मैल अणुमात्र भी नही पाया जाता। और जब मैल नही रह जाता है तब वह अखण्ड-निर्विकल्प हो जाता है।

भगवान् को निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। यह अनुमान करने की चीज है कि उसके लिए कितनी अनुकम्पा होनी चाहिए ? शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य, ये सब सम्यक्त्व के ही लक्षण हैं। किन्तु जो गुण सबसे अधिक चमकता हुआ है और जिससे सम्यक्त्व की परख की जाती है, वह है 'अनुकम्पा'।

भगवान् के हृदय मे कितनी दया, कितनी करुणा और कितनी अनुकम्पा थी ? उनके अन्त करण मे करुणा का सागर लहरा रहा था। वे जो भी प्रवृत्ति करते, उसमे भले ही अनिवार्य हिंसा हो, परन्तु उस हिसा के पीछे भी करुणा छिपी रहती थी। कदाचित् ऐसी शका हो सकती है कि यहाँ अन्धकार और प्रकाश को एक किया जा रहा है ? किन्तु बात ऐसी नही है। हिंसा तो अशक्यपरिहारस्वरूप आचार मे होती है, फिर भी विचार मे तो दया और करुणा का निर्मल झरना बहता रह सकता है।

अनुकम्पा

अस्तु, कथन का आशय यह है कि दूसरे सम्यक्त्व मे तो विचार-सम्बन्धी आशिक मैल चल सकता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व मे अणुमात्र भी वह खप नही सकता। भगवान् ऋषभदेव की प्रवृत्ति क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से आरम्भ हुई है। जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है, वहाँ असीम अनुकम्पा है। ऐसा तो कभी हो ही नही सकता कि सम्यक्त्व प्रकट हो, परन्तु अनुकम्पा प्रदर्शित न हो ? यह कदापि सम्भव नही है कि सूर्य हो, परन्तु प्रकाश न हो, मिश्री की डली हो, किन्तु मिठास न हो। ऐसी असगत बात कभी बनने वाली नही है। उससे निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि सम्यक्त्व के साथ अनुकम्पा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है, अर्थात्—अनुकम्पा के बिना सम्यक्त्व टिक नहीं सकता। अनुकम्पा के अभाव मे सम्यक्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जब इस दृष्टि से कोई विचार करेगा तो उसे स्पष्ट अनुभव होगा कि भगवान् के द्वारा जो भी प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनके पीछे अनुकम्पा तो अवश्य ही थी।

दया का झरना तो निरन्तर बह रहा था और उस बहाव के साथ ही सारी क्रियाएँ भी हो रही थी। तो उस युग की तत्कालीन परिस्थितियो मे जबकि जनता पर विपत्ति के घने बादल छाये हुए थे, भयानक सकट मुँह बाए खडा था और लोगो को अपने प्राण बचाने दुर्लभ थे, आँखो के सामने साक्षात् मौत नाच रही थी, उस सकट-काल मे भगवान् ऋषभदेव ही एकमात्र सहारे थे, वे ही जनता के लिए आशा की प्रकाशकिरण थे। करुणानिधि भगवान् ने जनता को उस भीषण सकट से उबारने के लिए ही कृषि सिखलाई, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प-कार्य बतलाए। किन्तु भगवान् की यह प्रवृत्ति किस रूप मे हुई? वस्तुत वह हिंसा के रूप मे नहीं हुई, जनता को गलत राह पर भटकाने के लिए भी नही हुई। भगवान् तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए। उन्होने जनता को प्रकाश से अन्धकार की ओर नही ढकेला। शास्त्रकार इस बात को भूले नही हैं। इसीलिए जहाँ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्तिसूत्र मे युगलियो का वर्णन किया गया है और उस वर्णन म पृष्ठ के पृष्ठ भर दिए गए है। पर साथ मे एक महत्त्वपूर्ण पद भी जोड दिया गया है, जिसका अर्थ होता है—"प्रजा के हित के लिए यह सब उपदेश दिया।"[१] शास्त्रकार ने इतना कह कर भगवान् की जो भी मर्यादाएँ थी, वे सभी व्यक्त कर दी। इस प्रकार भगवान् ने जो भी कार्य किया, उसके पीछे अनुकम्पा थी, और जहाँ अनुकम्पा तथा हितभावना है, वहाँ अहिंसा विद्यमान है।

'पयाहियाए'—इस एक पद ने भगवान् की उच्च भावना को स्पष्टरूप से व्यक्त कर दिया है। जब तक यह पद सुरक्षित है—और हम चाहते है कि यह भविष्य मे भी चिरसुरक्षित रहे—उससे भगवान् की दया का प्रामाणिक परिचय मिलता रहेगा।

भगवान् ने कृषि आदि की जो शिक्षा दी, उसके पीछे उनकी क्या दृष्टि थी? वे जनता को हिंसा से अहिंसा की ओर ले गए। वे चाहते थे कि लोग महान् आरम्भ की ओर न जा कर, अल्पारभ की ओर ही जाएँ। यदि वे अल्पारभ से महारभ की ओर ले जाते, तो इसका अर्थ होता—'प्रकाश से अन्धकार की ओर ले गए।' उन्होने भोली, भूखी और सत्रस्त जनता को ऐसा कर्त्तव्य बताया कि वह महारभ से बच जाए और साथ ही पेट की जटिल समस्या भी हल कर सके और अपनी जीवन-पद्धति का मानवोचित प्रशस्त पथ भी अच्छी तरह ग्रहण कर ले।

आज भी उद्योग-धन्धो के रूप मे जो हिंसा होती है, उससे इन्कार नही किया जा सकता। जैन-धर्म छोटी से छोटी प्रवृत्ति मे भी हिंसा बताता है। गृहस्थो की बात जाने भी दे और केवल ससार-त्यागी साधुओ की ही बात लें, तो उनमे भी—क्रोध, मान, माया और लोभ के विकारयुक्त अश मौजूद रहते हैं और इसीलिए

१ "पयाहियाए उवदिसइ।"

उन्हे भी पूर्णतया अहिंसा का प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता है। साधु-जीवन मे भी 'आरभिया' और 'मायावत्तिया' क्रिया चालू रहती है। जब पूर्ण अप्रमत्त अवस्था आती है तो आरभिया[९] क्रिया छूट जाती है, किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी जारी रहती है, यद्यपि उस हिंसा मे आरम्भ छूट जाता है। उस दशा मे हिंसा रहती है, पर आरभ नही रहता, यह एक मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहाँ गमनागमनादि प्रवृत्ति मे द्रव्य-हिंसा तो है, किन्तु अन्तर्मन मे हिंसा के भाव न होने से भाव-हिंसा नही है। ज्यो ही साधक जागृत होता है, त्यो ही उसमे अप्रमत्तभाव उत्पन्न हो जाता है। जब अप्रमत्तभाव होता है, तब भी बाह्यक्रियास्वरूप द्रव्य-हिंसा तो बनी रहती है, किन्तु उसमे आन्तरिक भाव-हिंसा नही रहती।

सकल्पी या उद्योगी हिंसा

अब देखना चाहिए कि जीवन के क्षेत्र मे श्रावक जब उद्योग-धन्धे के रूप में कोई काम करता है तो वहाँ उसकी कार्य-विधि एकान्त हिंसा की दृष्टि से ही रहती है या उसमे उद्योग-धन्धे की दृष्टि भी कुछ काम करती है? उसके व्यवसाय का उद्देश्य केवल जीवो को मारना होता है या उद्योग-धन्धे के ही मूल उद्देश्य को ले कर व्यापार करना होता है?

कृषि के सम्बन्ध मे भी इसी दृष्टि से सोचना चाहिए। देहात के सैकडों किसान बहुत सबेरे ही उठ कर खेतो मे काम करने जाते है। पजाब और उत्तरप्रदेश के जैन-किसान कृषि का धधा करते है, और वे प्राय बडे ही भावपूर्ण और श्रद्धालु होते हैं। सम्भव है, वह श्रद्धा व्यापारियो मे न भी हो। किन्तु उनमे तो इतना प्रेम है और उनके हृदय प्रेमरस से इतने भरे होते है कि जिसका वर्णन नही किया जा सकता। यद्यपि वे पसीने से तर हो कर खेतो से वापस आते है, किन्तु ज्यो ही वे साधु को गृह-द्वार पर देखते है कि झट से उनके पास आ जाते है और 'सामायिक' करवाने की प्रार्थना करने लगते है। वे बराबर 'सामायिक' और 'पौषध'[१०] आदि करते हैं। जब साधु गोचरी के लिए निकलते है तो एक तूफान-सा मच जाता है। सब यही चाहते हैं कि पहले मेरे घर को पवित्र करें।

९ प्राणिहिंसा-मूलक दोष 'आरभिया' क्रिया कहलाती है। और क्रोध, मान, माया-दम्भ एव लोभ-मूलक दोषो को 'मायावत्तिया' क्रिया कहते है।

१० 'सामायिक' जैन-धर्म की वह साधना है, जिसमे गृहस्थ दो घडी के लिए हिंसा, असत्य आदि पापाचरण का त्याग कर, अपनी अन्तरात्मा को परमात्म-भाव में लीन करने का प्रयत्न करता है।

'पौषध' वह साधना है, जिसमे सूर्योदय से ले कर अगले दिन सूर्योदय तक सब प्रकार से हिंसा, असत्य आदि पापाचरण और भोजन का त्याग कर एकान्त स्थान मे साधु जैसी वृत्ति का अभ्यास किया जाता है।

वे खेती का काम करने वाले लोग, जब प्रात काल हल ले कर चल पड़ते हैं, उस समय कौन-सी भावना उनके हृदय मे काम करती है ? क्या वे इस दृष्टि से चलते हैं कि खेत मे जीव बहुत इकट्ठे हो गए हैं, अत चल कर शीघ्र ही उनको समाप्त किया जाए ? नही, वहाँ तो उद्योग की दृष्टि होती है। यदि दृष्टि मे विवेक और विचार है तो वह कृषक आरभ मे भी अशत अनारभ की दशा प्राप्त कर लेता है। कहने का आशय यह है कि कृषक आरभ का सकल्प ले कर नही चलता है। अस्तु, जब वह काम करता है, तब उसकी यह वृत्ति नही होती है कि इन जीवो को मार डालूँ। हिंसा करने का उसका सकल्प कदापि नही है, हिंसा करने के लिए वह प्रवृत्ति भी नही करता है। उसका एकमात्र सकल्प 'धन्धा' करना है, जीवन-निर्वाह करना है और यदि उसमे विवेक है तो वह वहाँ भी जीवो को इधर-उधर बचा देता है।

विवेकशील बहनें घरो मे झाड़ू लगाती है। ऐसा करने मे हिंसा अवश्य होती है, किन्तु उनकी दृष्टि मूल मे हिंसा करने की, अर्थात् जीवो को मारने की कभी नही होती। प्राय मकान को साफ-सुथरा रखने की ही भावना होती है, जिससे कि जीव-जन्तु पैदा न होने पाए।

जहाँ तक विचार काम देते है—'यावद्बुद्धि-बलोदयम्' ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि जीव-जन्तु किसी न किसी प्रकार से बच जाएँ। ऐसा विवेक हो तो आरभ[११] मे भी अश-विशेष के रूप मे कुछ न कुछ अनारभ की भूमिका बन ही जाती है।

जिस प्रकार विचारक और अविचारक की कलम के चलने मे अन्तर होता है, वैसे ही हल के चलने मे भी अन्तर होता है। 'कलम-कसाई' शब्द भी प्रचलित है। भला, बेचारी कलम कैसे कसाई हो गई ? नही, वह तो कसाई नही होती। किन्तु किसी की गर्दन काटने के विचार से जो कलम चलाता है, वह अवश्य 'कलम-कसाई' हो जाता है। यदि कोई ईमानदारी के साथ हिसाब लिखता है, तो वह 'कलम-कसाई' नही कहलाता। यही बात सब जगह है।

इस प्रकार यदि अपने दिमाग को साफ रख कर सोचा जाए तो प्रतीत होगा कि श्रावक को 'उद्योगी हिंसा' होती है, 'सकल्पी हिंसा' नही। जो श्रावक सालभर चोटी से एडी तक पसीना बहा कर दो-चार सौ रुपये पैदा करता है, उसी को यदि यह कह दिया जाए कि यह एक कीडा जा रहा है, इसे मार दो, मैं तुम्हे हजार रुपये दूँगा। तो क्या वह कृषक श्रावक उसे मार देगा ? नहीं, वह स्पष्ट इन्कार कर देगा। जब कि खेती करने मे असख्य जीव मर जाते है, रात-दिन कठिन परिश्रम करना पडता है और फिर भी दो-चार सौ की ही कमाई होती है और इधर सिर्फ एक कीडा मारने

---

११ जैन-दर्शन मे हिंसा के लिए 'आरम्भ' और अहिंसा के लिए 'अनारम्भ' शब्द का प्रयोग भी होता है।

से ही हजार रुपये मिल रहे हैं, तब भी वह कृषक कीड़े को क्यों नहीं मारता ? श्रावक की अहिंसा निरपराध कीड़े को मारने के लिए तैयार नहीं होती, और बड़े से बड़े प्रलोभन को ठुकरा देती है। कहा जा सकता है कि खेती मे तो वह प्रयोजन के लिए हिंसा करता है, तो यहाँ भी उसे हजार रुपए मिल रहे हैं। क्या यह प्रयोजन नही है ? परन्तु यहाँ तो वह प्रयोजन के लिए भी हिंसा करने को तैयार नहीं है। इसका कारण यही है कि हजार रुपए के प्रलोभन में पड कर निरपराध कीड़े को मारना 'सकल्पी हिंसा' है, और श्रावक ऐसी सकल्पी हिंसा नही कर सकता। किन्तु खेती-बाडी मे जो हिंसा होती है, वह 'औद्योगिक हिंसा' है। हम सकल्पी और औद्योगिक हिंसा के भेद को यदि ठीक तरह समझ जाएँ तो बहुत-सी समस्याओ का निपटारा हो सकता है और अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ दूर हो सकती है।

विरोधी-हिंसा

राजा चेटक और कोणिक मे भयकर सहारक युद्ध[१२] हुआ था। कदाचित् कोणिक यह कहता कि अच्छा, हार और हाथी हल-विहल के पास रहने दे, मैं दोनो चीजे छोड सकता हूँ, परन्तु शर्त यह है कि तुम इस कीडे को मार दो, तो क्या राजा चेटक ऐसा करने के लिए तैयार हो जाते ? जिस ऊपरी दृष्टि से साधारण लोग देखते है, यह सौदा महँगा नही, सस्ता ही था। लाखो मनुष्यो के बदले एक कीड़े की जान लेने से ही फैसला हो जाता। कितनी हिंसा बच जाती ? परन्तु नही, वहाँ कीड़े और मनुष्य का प्रश्न नही है। वहाँ प्रश्न है 'सकल्पी' और 'विरोधी' हिंसा का। वहाँ न्याय और अन्याय का प्रश्न है। यदि सघर्ष और विरोध है तो वह चेटक और कोणिक के बीच है, उस बेचारे कीडे ने क्या गुनाह किया है कि उसकी जान ले ली जाए ? कीडे को मारने मे सकल्पजा हिंसा है और वह भी निरपराध क्षुद्र जन्तु की। उधर जहाँ लाखो मनुष्य मारे गए है, वहाँ सकल्पजा हिंसा नही है। जहाँ निरपराध की सकल्पजा हिंसा होगी, वहाँ श्रावक की भूमिका स्थिर नही रहेगी। इसी कारण युद्ध मे इतने मनुष्यो को मारने के बाद भी राजा चेटक का श्रावकत्व सुरक्षित रहा। और यदि वे सकल्पपूर्वक एक निरपराध क्षुद्र कीडा मार देते तो उनका श्रावकत्व खड-खड हो जाता।

फोडीकम्मे

यह हिंसा और अहिंसा का मार्मिक दृष्टिकोण है। इस पर गम्भीरता एव निष्पक्षता-पूर्वक विचार करना चाहिए।

---

१२ मगधराज अजातशत्रु कोणिक के लघु-बन्धु हल-विहल बडे भाई के अत्याचार से पीडित हो कर चेटक राजा की शरण मे गए थे। कोणिक ने इस पर क्रुद्ध हो कर वैशाली पर आक्रमण कर दिया, फलत चेटक को शरणागत की रक्षा के लिए युद्ध करना पडा।

खेती मे महारम्भ है, इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया ? समग्र जैन-साहित्य मे 'फोडीकम्मे'[१३] ही एक ऐसा शब्द है, जिसने इस भ्रम को उत्पन्न किया है। पर, हमे 'फोडीकम्मे' के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना होगा। 'फोडी' शब्द सस्कृत के 'स्फोट' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है धडाका होना। जब सुरग खोद कर उसमे बारूद भरी जाती है और तदुपरात उसमे आग लगाई जाती है तो धडाका होता है और बडी से बडी चट्टान भी टुकडे-टुकडे हो कर इधर-उधर उछल कर दूर जा गिरती है। आज के अखबार पढने वाले जानते है कि अमेरिका और रूस आदि के वैज्ञानिक लोग जमीन के अन्दर बारूद बिछा देते है और जब उसमे चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यह है कि बारूद के द्वारा धडाका करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है।

खेती करते समय विस्फोट नही होता। खेती मे बारूद भर कर आग नही लगाई जाती, न जमीन मे कोई स्फोट ही होता है और न बारूद से जमीन जोती ही जाती है, वह तो हल से ही जोती जाती है। एक बार जोधपुर से एक सज्जन मुझसे मिलने आए थे। उनके साथ एक बच्चा भी था, जो सातवी कक्षा मे पढता था। उसने सातवी कक्षा का व्याकरण भी पढा था। मैने उस बालक से प्रश्न किया—किसान खेत मे हल चलाता है। इसके लिए जमीन को 'जोतना' कहा जायगा, या 'फोडना' कहा जाएगा ? इन दोनो प्रयोगो मे से शुद्ध प्रयोग कौन-सा है ? उस बालक को भी 'जोतना' प्रयोग ही सही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती ही जाती है, फोडी नही जाती। हल से जमीन का फोडना तो दूर रहा, कभी-कभी तो जमीन खोदी भी नही जाती। खोदना तब कहलाता है, जब गहरा गड्डा किया जाए। हाँ, हल से जमीन कुरेदी जरूर जा सकती है।

व्याकरण का प्रमाण

व्याकरण के अनुसार फोडना, खोदना और कुरेदना अलग-अलग क्रियाएँ हैं। खोदना—फावडे या कुदाल से होता है, हल से फोडना या खोदना नही होता।

सस्कृत भाषा के 'कृषि' शब्द का अर्थ होता है—विलेखन। 'कृष' धातु कुरेदने के अर्थ मे ही आती है। क्या पाणिनि व्याकरण, और क्या शाकटायन-व्याकरण सर्वत्र 'कृष्' धातु का अर्थ 'विलेखन' ही किया गया है।

अस्तु, अभिप्राय यह है कि जमीन का जोतना 'फोडीकम्मे' के अन्तर्गत नही है। 'फोडीकम्मे' का सस्कृतरूप 'स्फोट-कर्म' होता है और पूर्वोक्त प्रकार से यह

---

१३ जैन साहित्य मे श्रावक के आचार का वर्णन करते हुए कहा है कि श्रावक को पन्द्रह प्रकार के व्यापार या कर्म नहीं करने चाहिए, क्योकि उनमे महाहिंसा होती है। शास्त्रीय भाषा मे उन्हे कर्मादान कहते है। 'फोडी-कम्मे' उनमे से एक है, जिसे कुछ लोग भ्रातिवश खेती करना समझते हैं।

स्पष्ट है कि जमीन मे हल चलाना, न तो स्फोट करना है और न खोदना ही, क्योंकि जमीन जोतते समय न तो धडाका किया जाता है, और न गड्ढे ही किए जाते है।

वास्तव मे 'स्फोट-कर्म' तब होता है, जब सुरग खोद कर उसमे बारूद भर कर एव आग लगा कर धडाका किया जाता है। पहाडो मे खान खोदने का काम बहुत पुरातन युग से चला आ रहा है। हथोडो और सॉवरो से विशालकाय पत्थर कहाँ तक खोदे जा सकते है? अस्तु, उनमे छेद करके बारूद भर दी जाती है और ऊपर से आग लगा दी जाती है। जब बारूद मे आग भडकती है तो चट्टाने टूट-टूट कर उछलती है। और जब वे उछलती है तो दूर-दूर तक के प्रदेश मे रहने वाले जानवर और इन्सान के भी कभी-कभी प्राण ले बैठती है। कितने ही निर्दोष प्राणियो के प्राण-पखेरू उड जाते है और कितने ही बुरी तरह घायल हो जाते है।

देहली की एक घटना है। हम एक बार शौच के लिए पहाड पर गए हुए थे। हम पहुँचे ही थे कि कुछ मजदूर दौड कर आए और बोले—महाराज, भागिए, दौडिए। जब मैं विचार करने लगा तो उनमे से एक ने कहा—'बाबा, क्या सोचता है, क्या मरेगा? क्या यही पर हत्या देगा?' तब तो हमने भी पीछे को तेज कदम बढाए। मै कुछ ही कदम पीछे हटा था कि इतने मे ही वहाँ बारूद फटी, जोर का धडाका हुआ और उसके साथ ही पत्थर के बडे-बडे भीमकाय टुकडे उछल कर आ गिरे। मै जरा-सा बच गया, वरना वही जीवन-नाटक समाप्त हो जाता।

ऐसे स्फोटो से पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा का भी कुछ ठिकाना नही रहता है। कभी-कभी जोरदार धडाके से पहाड भी खिसक जाते है, और न जाने कितने मनुष्य दब कर मर जाते है, जिनका फिर कोई पता ही नही चलता। तो ऐसा स्फोटकर्म महारभ है, महा-हिंसा है और मानव-हत्या का काम है।

मजदूर लोग काम करने के लिए सुरगो मे घुसते है और जब कभी गैस पैदा हो जाती है तो अन्दर ही अन्दर उनका दम घुट जाता है। अभी कुछ ही दिनो पहले हम खेतडी गॉव से गुजरे तो मालूम हुआ कि एक खान मे कई आदमी दब गए है। वे बेचारे खान मे काम कर रहे थे। पहाड धस गया और वे वही दब कर खत्म हो गए।

ऐसे कामो मे पचेन्द्रिय की और पचेन्द्रियो मे भी मनुष्यो की हत्या का सम्बन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोट-कर्म को महान् हिंसा मे गिना है। श्रावक तो कदम-कदम पर करुणा और दया की भावना को ले कर चलता है, अत उसे यह स्फोट-कर्म शोभा नही देता। भगवान् महावीर का यही दृष्टिकोण था, परन्तु दुर्भाग्य से आज उसका यथार्थ अर्थ भुला दिया गया है। इसके बदले कुछ इधर-उधर की निरर्थक बाते चल पडी है। जन-हित के लिए कुँआ खुदवाना भी महारभ माना जाता है और यदि कोई दूसरा लोकोपकारी काम किया जाता है तो उसे भी महारभ बताया जाता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यदि कोई जैन राजा हो जाए तो वह

जनता के हित का कोई काम नही कर सकता, क्योकि महारभ हो जाएगा। और जनता के सम्बन्ध मे यदि वह कुछ भी विचार न करे तो वह एक प्रकार से निर्जीव मास का पिण्ड ही माना जाएगा। मनुष्य खुद तो दुनियाभर के भोग-विलास करता रहे, किन्तु जनता के हित के लिए कोई भी सत्कर्म न करे, किमाश्चर्यमत परम् !

भयानक भूल

अभिप्राय यह है कि जैन-धर्म कोरे मिथ्या आदर्श या कल्पना पर चलने वाला धर्म नही है। यह तो पूर्णत यथार्थवादी धर्म है। यह आदर्श को अपने सामने रखता अवश्य है, पर उसकी दृष्टि सदैव व्यवहार और वास्तविकता पर रहती है। इसने स्फोट-कर्म किसे बताया था और हम उसे भूल कर क्या समझ बैठे है ! जो लोग खेती कर रहे है, उन्हे महारभी कहने लगे। और कितने दु ख की बात है महारभी कह कर उन्हे भी पशु-हिंसको की अधम श्रेणी मे रख दिया गया है। ऐसा करने वालो ने वास्तव मे कितना गलत काम किया है ? वे समझते है कि हम कृषि की आजीविका को गर्हित ठहरा रहे हैं। पर, वे वास्तव मे कसाईखाने की आजीविका की भयानकता एव गर्हितता को कम कर रहे है। पशु-वध और कृषि, दोनो को महारम की एक ही कोटि मे रख कर कितनी बडी भूल की है। काश कुछ सोचा तो होता !

एक कसाई और एक कृषक जब यह सुनता है कि कसाई-खाना चलाना भी महारभ है और कृषि भी महारभ है, तो कसाई को अपनी आजीविका त्याग देने की प्रेरणा नही मिल सकती। वह कृषक की कोटि मे अपने आपको पा कर दुगुने उत्साह का अनुभव करेगा और सन्तोष मानेगा। यदि पशु-वध को त्याग देने का विचार उसके दिमाग मे उठ भी रहा होगा, तब भी वह न त्यागेगा। दूसरी ओर जब कृषक यह जानेगा कि उसकी आजीविका भी कसाई की आजीविका के समान है और जब उसे इस बात बात पर विश्वास भी हो जाएगा, तब कौन कह सकता है कि कृषि जैसे श्रमसाध्य धन्धे को त्याग कर वह कसाईखाने की आजीविका को न अपना ले ?

कितने खेद की बात है कि इस प्रकार भ्राति मे पड कर और गलत विवेचनाएँ करके हमने भगवान् महावीर के उपदेशो की प्रतिष्ठा नही बढाई, बल्कि क्षुद्र स्वार्थो मे फँस कर घटाई ही है।

एक गृहस्थ से देहली मे भेंट होने पर मैंने पूछा—"कहिए, क्या बात है ?" उसने कहा—"आपकी कृपा है, बड़े आनन्द मे हूँ। महाराज, मैं पहले बहुत दुखी था। खेती का काम करता था तो महा-हिंसा का काम होता था। अब जमीन बेच कर चाँदी का सट्टा करता हूँ। बस, कोई झगडा-टटा नही है। न जाने, किस पाप-कर्म का उदय था कि खेती जैसे महापाप के काम मे फँसा था। अब पूर्वपुण्य का उदय हुआ तो उससे छुटकारा मिला है। अब सट्टे का धन्धा बिल्कुल प्रासुक (निर्दोष) धन्धा है। न कोई हिंसा है, न कोई बडा पाप।"

दो महीने बाद वही गृहस्थ एक दिन रोते हुए-से मेरे पास आए। पूछा—'क्या हाल है ?' उसने कहा—'महाराज, मर गया। किसी काम का न रहा। सारी पूँजी गँवा बैठा।'

मैंने कहा—"अरे, तुम्हारा तो पूर्व पुण्य का उदय हुआ था और प्रासुक काम की शुरूआत हुई थी। न कोई हिंसा न कोई पाप। फिर बर्बाद कैसे हो गए ?"

यदि गलत दृष्टिकोण जनता को मिल जाता है तो उससे महा-हिंसा को उत्तेजना मिलती है। यह न करो, वह न करो, इस तरह उसे मर्यादित चालू जीवन से उखाड कर दूसरे सट्टे आदि के कुपथ पर लगा दिया जाता है। फिर वह न तो इधर का रहता है, और न उधर का। वह बाह्य हिंसा के चक्र मे उलझा हुआ यह नही समझ पाता कि सट्टे के पीछे कितनी अनैतिकता है ?

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम जैन-धर्म की वास्तविकता को समझें, साफ दिमाग रख कर समझे और फिर मन-मस्तिक पर कोहरे की तरह घनीभूत छाए हुए भ्रमो को दूर कर दें। □

गोरक्षा का प्रश्न और अहिंसा | ३०

अभी हमारे सामने वर्तमान मे एक ताजा प्रश्न चल रहा है—'गौरक्षा' का। प्रश्न कोई अधिक पेचीदा नही था, किन्तु उसे इतना गहरा उलझा दिया गया है कि अब वह पेचीदा बन गया है।

जरा गम्भीरता से विचार कीजिए, 'गौरक्षा' का प्रश्न किस दृष्टिकोण से उठा है ? उसकी पृष्ठभूमि क्या है ?

'गौरक्षा' के सम्बन्ध मे यह तर्क दिया जाता है कि "गाय हमे दूध देती है, इसलिए उनकी रक्षा होनी चाहिए।"

मैं पूछता हूँ यदि दूध देने के आधार पर ही गौरक्षा का नारा उठा है तो क्या भैस दूध नही देती ? बकरी दूध नही देती ? गाय की अपेक्षा भैस अधिक दूध देती है, और अधिकतर लोग भैस का ही दूध पीते हे, फिर भैस की उपेक्षा क्यो ? गाय को बचाएँ तो क्या भैस को मरने दे ? बकरी का दूध भी गाय के दूध से अधिक पाचक एव स्वास्थ्यप्रद माना गया है।

दूसरा तर्क यह है कि 'गाय हमारी माता है, उसके शरीर मे देवताओ का निवास है। उसका दूध पवित्र है, वह पवित्र प्राणी है। इसलिए उसकी रक्षा होनी चाहिए।"

अभी कुछ दिन पहले अहमदाबाद के कुछ विद्वान् यहाँ आये थे। गौरक्षा का प्रश्न चला तो उनमे से एक विद्वान् श्री रतिलालभाई बोले—"गौ हमारी माता है, इसलिए उसकी रक्षा होनी चाहिए, तो उस मौसी का क्या होगा ?"

मैंने जरा आश्चर्य से पूछा—"मौसी ?" तो उन्होने कहा—"गौ माता है, तो भैस हमारी मौसी है, वह भी दूध देती है, उसका दूध भी हम सब पीते हैं।" मैंने कहा—"हाँ, माँ के साथ मौसी का ध्यान भी रखना चाहिए।"

पवित्रता के विषय मे जैनदृष्टि

रहा पवित्रता का प्रश्न ! इस अर्थ मे सभी प्राणी-देह या तो पवित्र है या अपवित्र है—यह विचार मूल मे ही गलत है। हमारा दर्शन तो एकमात्र चैतन्य को ही पवित्र मानता है, जो सब मे एक जैसा प्रतिष्ठित है। देह की पवित्रता या अपवित्रता के मिथ्या आधार पर अहिंसा का समाधान नही हो सकता।

इसलिए मै सोचता हूँ—गौरक्षा के पीछे जो दृष्टिकोण है उसमे अहिंसा की दृष्टि से सशोधन होने की आवश्यकता है, जैसाकि हम चिन्तन करते आ रहे है,

अहिंसा की दृष्टि मूलत चैतन्य की दृष्टि है। वह किसी देह-विशेष की पवित्रता या अपवित्रता के विकल्प मे नही उलझती, चैतन्य चैतन्य के बीच वह किसी प्रकार की सीमा या भेदरेखा नही खीचती। प्रत्येक देह मे वह समान चैतन्यदेव की सत्ता को स्वीकार करती है। इसके अतिरिक्त और कोई देवी-देवता किसी देह मे रहते है, यह अहिंसा के दर्शन को किसी भी स्थिति मे स्वीकार नही है। इसलिए उसका पहला उद्घोष यह होगा कि प्रत्येक प्राणी की रक्षा की जाए। उसकी दृष्टि मे गौ हत्या ही क्यो, पशुहत्या ही समूल बन्द होनी चाहिए। कही भी किसी भी, पशु या प्राणी का उत्पीडन एव वध आदि न हो। चाहे वह गाय हो, भैस हो या बकरी हो, अथवा शूकर आदि अन्य प्राणी हो। देश मे आज जो पशुवध के लिए बडे-बडे कत्लखाने खोले जा रहे है, चर्म और मांस के उत्पादन के लिये अनेक प्रकार के आयोजन हो रहे है, वे सब समाप्त होने चाहिए।

यह ठीक है कि यह एक बहुत बडे आदर्श की बात है। आज यथार्थ की भूमिका पर विचार करना है। यथार्थ के विचार से आज हम इस स्थिति मे नहीं है कि प्रत्येक प्राणी की हिंसा को रोक सके। इसलिए मजबूरन यह विकल्प हमारे सामने आता है कि कम से कम जो गाय जो हमारे सबसे निकट का प्राणी है और जिसके साथ हमारी कुछ प्राचीन सास्कृतिक भावनाएँ जुडी है, परस्पर के उपकार से जो हमसे अधिक सलग्न है, उसकी हत्या तो रोके। इस दृष्टि से आज सबसे पहले गाय की रक्षा का प्रश्न हमारे सामने है और वह इस दृष्टि से हल होना चाहिए। अभी और किसी को नही, गाय को ही बचा सके तो हमारे लिये यह भी महत्त्वपूर्ण है। जो बच सके उसी का अभिनन्दन! किन्तु इसका अर्थ यह नही कि अन्य प्राणियो की रक्षा न की जाए, उनकी उपेक्षा की जाए, उन्हे मरने दिया जाए। गौ-रक्षा के साथ उनकी रक्षा के लिए भी हमे निरन्तर प्रयत्न करना है।

हिंसा से हिंसा नहीं मिटती

गौ-रक्षा के लिये जिस प्रकार आज हडताल, आमरण अनशन राष्ट्र की सम्पत्ति का विनाश आदि के रूप मे उत्तेजक आन्दोलन चलाया जा रहा है, या चल पडा है, जनभावनाओ को उभाड कर शासन को विवश तथा बदनाम करने का प्रयत्न किया जा रहा है, वह अहिंसा की दृष्टि से उचित नही है।

अहिंसा और दया की बात हिंसक तरीको से प्रस्तुत करना मूलत ही गलत है। हिंसक साधन अपना कर हिंसा को रोका नही जा सकता। धर्म और सस्कृति की रक्षा के नाम पर अतीत मे अनेक नृशस हत्याकाण्डो से इतिहास के पृष्ठ रगे गए है, मनुष्य ने मनुष्य का रक्त बहाया है। आज उनकी स्मृतिमात्र से ही रोमाच हो उठता है और मन घृणा एव ग्लानि से भर जाता है। गौरक्षा के नाम पर आज भी उस इतिहास की पुनरावृत्ति करने का प्रयत्न करना नितान्त मूर्खता होगी। गाय की रक्षा के नाम पर मनुष्य का खून बहे, यह बडी विचित्र बात है।

अहिंसा का दर्शन बलात्कार मे विश्वास नही करता। किसी को विवश करके

अहिंसा की प्रतिष्ठा नही करवाई जा सकती। अहिंसा हृदय-परिवर्तन करती है, मजबूर नही करती। वह सात्त्विक आचार और प्रचार के पक्ष मे है, अन्य किसी तोड-फोड के पक्ष में नही। भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध ने अहिंसा और करुणा के प्रचार के लिए कभी भी शासन का द्वार नही खटखटाया। बड़े-बड़े सम्राट् उनके भक्त थे, उनके चरणो मे बैठ कर उपदेश सुनते थे, पर कभी भी उन्होने किसी सम्राट् को राज्य मे हिंसा बन्द करने के लिए विवश नही किया। उन्होने जनता का हृदय-परिवर्तन किया, वातावरण बदला, हिंसको की भावनाएँ बदली।

जैन इतिहास मे मगधसम्राट् श्रेणिक को महावीर का परम भक्त बताया गया है। उसी मगध मे कालसौकरिक कसाई रहता था, जो पाँच सौ भैसे प्रतिदिन मारता था। सम्राट् ने एक बार उसे पशुहिंसा से विरत करने के लिए कारागृह मे बन्द कर दिया। किन्तु यहाँ बैठा भी वह भावना से भैसे मारता चला गया।

भगवान् महावीर ने मगधेश से कहा—"सम्राट्, इस प्रकार बलपूर्वक उसकी हिंसा नही छुडाई जा सकती। हृदय बदले बिना अहिंसा की प्रतिष्ठा नही हो सकती। जैन इतिहास बताता है कि मगध के महामन्त्री अभय ने आखिर कालसौकरिक के पुत्र को अपना मित्र बनाया और धीरे-धीरे उसके सस्कार बदल कर उसे अहिंसा के मार्ग पर गतिशील किया।

पूरा जैनवाङ्मय पढ़ जाने के बाद भी आपको कही पर यह नही मिलेगा कि महावीर ने कही किसी को हिंसा आदि का त्याग करने के लिए विवश किया हो। उनकी साधना इच्छायोग की साधना थी। सात्विक प्रेरणा जगाने भर का उद्देश्य उनके समक्ष था। सत्प्रेरणा जगी, हृदय प्रबुद्ध हुआ कि व्यक्ति स्वय अहिंसा, सत्य आदि के मार्ग पर चल पडता था।

घर-घर मे ससद् है ?

मैं आपसे कह रहा था कि गौ-रक्षा के लिये शासन को प्रभावित करने की अपेक्षा समाज को प्रभावित करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि समाज को छोड कर केवल शासन के माध्यम से ही हम अहिंसा की प्रतिष्ठा करवाना चाहते है, तो कल हिंसक शक्तियाँ भी शासन को प्रभावित करके अहिंसा की जडे उखाडने का प्रयत्न कर सकती है। तब हम क्या करेंगे ? शासनतन्त्र अस्थायी है, वह बदलता रहता है, कभी किसी के हाथो मे तो कभी किसी के हाथो मे !

ससद्भवन के समक्ष उग्र प्रदर्शन करके, राज्यव्यवस्था मे विक्षेप डाल कर और जन-धन की हानि करके हम अपनी बात मनवाना चाहें, यह गलत है। धर्म कभी शासन का द्वार नही खटखटाता है। हमारी ससद् उस पार्लियामेट भवन मे नही रहती, वह घर-घर मे है। आप घर-घर मे जाइए। अधिकारियो के घर पर, ससद्सदस्यो के घर पर जाईए, उन्हे और उनके परिवार को अपनी बात समझाइए, उनके विचार बदलिए और फिर आप अपने उद्देश्य की सिद्धि करने का प्रयत्न कीजिए।

अहिंसा और संस्कृति की रक्षा के लिये हमे तामसिक एव राजसिक मार्ग नहीं, किन्तु सात्विक मार्ग अपनाना चाहिए। शासन का भी आश्रय लें तो उसका रूप भी सात्विक ही होना चाहिये। अहिंसा या किसी भी अन्य धर्म एव सिद्धान्त का प्रचार कभी भी भय, प्रलोभन, छलछद्मो और प्रपचो से नहीं, सात्विक पद्धतियो से होता है, हृदय के विश्वास और सस्कार बदलने से होता है। जीवन का परिवर्तन आगे की भूमिका है। सबसे पहले दृष्टिपरिवर्तन की भूमिका पर हमे चलना है। हमारी दृष्टि, विचार करने का तरीका जब शुद्ध और पवित्र हो जाता है, हृदय मे विवेक जग जाता है तो फिर जीवन पवित्र और उज्ज्वल होने मे कोई समय नहीं लगता। सबसे मुख्य प्रश्न है—हमारी दृष्टि चैतन्यप्रधान हो, जडप्रधान नही। हमारी विचार-क्रान्ति का मूल केन्द्र चैतन्य होना चाहिए, जड नहीं। शुद्ध तर्कप्रधान चिन्तन, समस्या का सही और स्थायी समाधान करता है। केवल भावनाप्रधान चिन्तन हमे सही लक्ष्य की ओर नही ले जा सकता। जब-जब तर्क को छोड कर केवल भावना एव कल्पना का अधार लिया है, हम भटके है और बुरी तरह भटके हैं। तर्कहीन भावना अन्धविश्वास को जन्म देती है और अन्ध-विश्वास सत्य को धूमिल करता है। सत्य की उपासना के लिए चैतन्यप्रधान तर्कदृष्टि ही अपेक्षित है। □

सांस्कृतिक क्षेत्र में अहिंसा की दृष्टि | ३१

अमृतमय सन्देश अहिंसा

अहिंसा के अग्रगण्य सन्देशवाहक भगवान् महावीर है । आज दिन तक उन्ही के अमर सन्देशो का गौरवगान गाया जा रहा है । आपको मालूम है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले का समय भारतीय सस्कृति के इतिहास मे एक महान् अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है । देवी-देवताओ के आगे पशुबलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं, मासाहार और सुरापान का दौर चलता था । अस्पृश्यता के नाम पर करोडो की सख्या मे मनुष्य अत्याचार की चक्की मे पिस रहे थे । स्त्रियो को भी मनुष्योचित अधिकारो से वचित कर दिया गया था । एक क्या, अनेक रूपो मे सब ओर हिंसा का घातक साम्राज्य छाया हुआ था । भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया, जिससे भारत की कायापलट हो गई । सास्कृतिक क्षेत्र मे और भी कई प्रश्न है । जिन पर हमे अहिंसा की दृष्टि से सोचना और उनका उचित हल ढूंढना चाहिए । कुछ प्रश्नो पर हम यहाँ विचार कर रहे है ।

होली के सास्कृतिक पर्व के पीछे अहिंसा

जब जन-जीवन अनेक विघ्नबाधाओ से निकल कर प्रशस्त पथ पर आगे बढता है, तब उसमे एक आनन्द और उल्लास छा जाता है । वही आनन्द और उल्लास होलिकापर्व के रूप मे हमारे सामने आया । प्रतिवर्ष वह हमारी सामाजिक क्रान्ति और सस्कृति का अग बन कर आता है । इस शुभ अवसर पर हम एक-दूसरे से मिलजुल कर सामाजिक आनन्द का उपभोग करते है । होलिकापर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र सभी परस्पर मिल कर आनन्द और उल्लास मनाते है । होलीपर्व पर किसी प्रकार का भेदभाव नही रहता । हमारी मूल अहिंसात्मक सस्कृति का यह पावन प्रतीक है । यह पर्व हर इन्सान को प्रेम का पाठ पढा कर मानव समाज मे परिकल्पित ऊँचनीच के भाव को मिटाता है । वर्तमान समय मे इसमे कुछ विकृतियाँ अवश्य आ गई है । गन्दी गालियाँ देना, धूल-कीचड उछालना, गन्दा मजाक करना तथा अन्य गन्दी हरकतें करना ये बातें आजकल इस पर्व के साथ जुड गई हैं, जो हमारी मूल सस्कृति और परम्परा के विरुद्ध हैं । ऐसी गन्दी हरकतें करके हम पर्व की मूल आत्मा और उसके पीछे निहित भावना को भुला बैठे है । केवल उसके शरीर की आराधना करते हैं । आवश्यकता इस बात की हैं कि हम इस पर्व के शरीर को नहीं, मूल आत्मा को पकडने का प्रयत्न करे । तभी जन-जीवन मे अहिंसा और प्रेम की भावना

बढ़ेगी और उसमे उल्लास और आनन्द प्रकट हो सकेगा। इसी में होली के पर्व की सार्थकता है।

दीपावली पर्व अहिंसा का बोधक

दीपावली पर्व भी भारत का एक सामाजिक एव राष्ट्रीय पर्व है। क्योंकि दीपावलीपर्व को भी समाज के सभी व्यक्ति बड़े उल्लास के साथ मनाते हैं। दीपावली पर्व मनाने वाले व्यक्तियो मे, किसी भी प्रकार का वर्गभेद नही माना जाता। दीपावली पर्व के मनाने मे भारतीय सस्कृति के मूल उद्देश्य को समझने के लिए हमे उसकी प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करना चाहिए। वर्षाकाल मे अनेक प्रकार के विषैले प्राणी पैदा हो जाते हैं। वर्षावास मे जो प्रकृति मे नमी और सीलन रहती है, उससे अनेक जीवो की उत्पत्ति मे वृद्धि हो जाती है। काले कजरारे बादलो से आकाश घिरा रहता है, जिससे चारो ओर अन्धकार-सा छाया रहता है। वर्षाकाल मे घर मे बहुत कूड़ा-कचरा भी इकट्ठा हो जाता है। इस कारण घर की स्वच्छता और उज्ज्वलता नष्ट हो जाती है और हमारे चारो ओर एक गन्दा वातावरण फैल जाता है। निरन्तर वर्षा होने के कारण अन्दर मे गदगी और बाहर मे कीचड फैल जाता है। इस कीचड, गदगी और अन्धकार से मानवमन ऊब जाता है। वर्षाकाल की समाप्ति पर आकाश स्वच्छ हो जाता है और बाहर का कीचड सूख जाता है, तब घर के अन्दर की गदगी को भी बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाता है। शरद्पूर्णिमा के उजियाले मे जब मानव अनन्तनील गगन मे असख्य तारो को जगमग करते देखता है, और चन्द्रज्योत्सना से समग्र विश्व को दुग्धस्नात जैसे उज्ज्वल रूप मे देखता है, तो उसका मन आनन्द और उल्लास से भर जाता है। शरद्पूर्णिमा से ही लोग अपने घरो की सफाई-पुताई शुरू कर देते है, तब यह समझा जाता है कि दीपावली पर्व सन्निकट है और उसकी आराधना के लिए तैयारियाँ होने लगती है। उस समय मनुष्य अपने घर और बाहर सबको स्वच्छ और पावन बनाने का प्रयत्न करने लगता है। मनुष्य का उदास मन प्रसन्न हो उठता है, जबकि वह अपने घर के आगन मे दीपको की माला को जगमग करते देखता है। दीपको की उस ज्योतिर्मय माला से उसके घर के आगन का ही नहीं, आस-पास के सारे प्रदेश का भी अन्धकार दूर भाग जाता है और जीवन का कण-कण आलोक से आलोकित हो उठता है। इसी आधार पर इसे प्रकाशपर्व कहा जाता है। इस पर्व पर अन्दर-बाहर सर्वत्र प्रकाश छा जाता है। अन्धकार मानव मन को आनन्दित नही करता। वह उसे उदास बनाता है। दीपावली पर्व के पीछे हमारा जो मुख्य दृष्टिकोण था, उसे हम भूल गए हैं। अन्दर और बाहर की स्वच्छता ही इस पर्व का मुख्य उद्देश्य था। गन्दगी हिंसा का प्रतीक है और स्वच्छता अहिंसा का। हम गदगी को दूर करके हिंसा को दूर करते हैं और स्वच्छता को ला कर अहिंसा की आराधना करते हैं। दीपावलीपर्व की आराधना भी प्रकाश के माध्यम से अहिंसा की आराधना है।

हिंसा के परित्याग और अहिंसा के सरक्षण के लिए हमे सास्कृतिक क्षेत्र के इन विभिन्न प्रतीको पर गहराई से चिन्तन करना चाहिए।

अहिंसा के परिप्रेक्ष्य मे परिवार-नियोजन

माना गया है कि जीवन की मूल प्रवृत्ति सुखैषणा है। सुखैषणा ने ही अहिंसा के विकास का मार्ग प्रशस्त किया है। जीवदया का दूसरा नाम, जो सुखैषणा की आधारभित्ति है, अहिंसा है। प्राणिमात्र का परस्पर सम्बद्ध हो कर कल्याणमार्ग पर अग्रसर होना, जिसमे अपने-पराये की द्वैत-भावना एकत्व-भाव मे विलय हो कर उदात्त रूप ग्रहण करती है, अहिंसा का एकमात्र शाश्वत मार्ग है। अहिंसादर्शन के महान्, चिंतक तीर्थंकर महावीर ने तो प्राणियो की इसी मूल भावना को अहिंसा का मुख्य हेतु माना है, और कहा है—"**सव्वे जीवा सुहसाया दुहपडिकूला।**"—समस्त जीव-जगत् को सुख-शाति प्रिय है, दु ख अप्रिय है, इसलिये किसी को कष्ट नही देना चाहिए। "**सव्वे अक्कंत दुक्खाय, अओ सव्वे अहिंसिया।**"—दु ख सब प्राणियो को अप्रिय है, इस कारण किसी की हिंसा नही करनी चाहिए। चिंतन का यह स्वर स्पष्ट कर देता है कि अहिंसा का आदर्श जन-जीवन की पीडा एव व्यथा को कम करना तथा सुख-शान्ति की व्यवस्था को स्थिर रखना है।

पीडा और व्यथा से चेतना उद्वेलित होती है, वह क्षुब्ध एव अशात रहती है। अशाति की स्थिति मे मन स्थिर नही रहता, और बिना स्थिरता के मानव-चेतना का आध्यात्मिक विकास कथमपि सभव नही। आध्यात्मिक विकास अहिंसा का चरम आदर्श है। कहने का तात्पर्य यह है कि अहिंसा के चरम आदर्श को प्राप्त करने के लिए, जीवन मे पीडा की निवृत्ति एव सुख-शाति की व्यवस्था का स्थिर होना, अत्यन्त आवश्यक है। मानव-जाति का इतिहास इसका साक्षी है कि सुखशाति की स्थिरता की स्थिति मे ही अहिंसा एव नैतिकता का विकास-विस्तार हुआ है। कारण, मानवमन जब अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ की सतुष्टि सहजरूप मे पाता रहता है, तो उसे अनैतिक क्रियाओ का सहारा नही लेना पडता, उसकी जरूरत ही वह महसूस नही करता। अभाव की स्थिति मे ही नानाविध असगतियाँ एव आचार-हीनताएँ उभरती है। इन असगतियो एव आचारहीनताओ का आधारभूत एक और कारण है और वह है—मानवमन के असयम का नाना कुरूपताओं के रूप मे प्रस्फुटन।

मानवमन का असतुलित हो जाना, मानव का आत्मसंयम को खो देना ही अनेकानेक विषमताओ एव समस्याओ का जनक है। कारण, आत्मसयम के खो देने से ही मनुष्य का मन अभद्र कामनाओ, सासारिक विषय-भोगो की ओर द्रुतगति से भागने लगता है। और, यह द्रुतगति की दौड सीमित आय की रेखा को छलांग कर वहाँ तक पहुंच जाती है, जहाँ अभावो का अखण्ड राज्य होता है। मन की यही तृष्णा, ऐन्छिक सुख की यही अनियन्त्रित लालसा, मानव को सहज सुख के सोपान से विच-लित करती रहती है।

परिवार-नियोजन और अहिंसा-दृष्टि

आज मानव-जाति के सामने बढ़ती हुई जनसंख्या के गतिरोध का प्रश्न एक विकट समस्या के रूप में उपस्थित है, जिसके लिए परिवार-नियोजन की दिशा मे प्रचारित उपादानो द्वारा प्रजनन की गति को रोकने का प्रयास किया जा रहा है। बहुत बार यह प्रश्न सामने आता है कि परिवार-नियोजन के लिए अपनाये जा रहे ये प्रयोग अहिंसा की दृष्टि से कहाँ तक सगत हैं ? यह स्पष्ट है कि अहिंसा, जीवन की व्यापक सभावनाओ का केन्द्रीय रूप है। अत जीवन का हर प्रश्न अहिंसा का प्रश्न बन जाता है। परिवार के नियोजन का प्रश्न भी अहिंसा से आ जुडा है। मेरा विचार है कि जिस प्रकार प्राचीन युग मे अहिंसा के विकास के लिए कृषि का विकास आवश्यक मान लिया गया था, उसी प्रकार व्यापक चिंतन के बाद वर्तमान मे, परिवार-नियोजन को भी अहिंसा के विकास मे एक आवश्यक कार्यक्रम मान लिया जाए। हो सकता है, इस पर कुछ लोगो के मन मे यह प्रश्न उठ खडा हो कि क्या इससे अहिंसा की मूल भावना—सयम, जीवदया पर आघात नही होगा ? क्या परिवार-नियोजन के कृत्रिम उपादानो का व्यवहार मानव को असयमी नही बनाएगा ? उत्तर स्पष्ट है, यह खतरा अवश्य है। अत सर्वप्रथम सयम के द्वारा भोगनिग्रह की प्रेरणा मानव को मिलनी चाहिए। ब्रह्मचर्य की साधना इसके लिए सर्वोत्तम मार्ग है। मर्यादाहीन भोगासक्ति जीवन के तेज को ध्वस्त कर देती है, विवेक-बुद्धि एव बल-विक्रम को नष्ट कर डालती है। परन्तु प्रश्न उनका है, जो, लम्बे समय तक ब्रह्मचर्य की साधना नहीं कर सकते। फलत हर वर्ष जनसख्या की वृद्धि होती रहती है, और भरण-पोषण के उचित साधनो के अभाव मे आने वाले प्राणी भुखमरी के शिकार होते रहते हैं।

आए दिन समाचारपत्रो आदि मे पढने एव सुनने मे आता है कि अमुक स्थान पर अमुक व्यक्ति ने गरीबी के कारण अपने पूरे परिवार को जहर दे कर मार डाला। अमुक व्यक्ति रेल की पटरी पर कट मरा तथा अमुक ने फाँसी लगा ली। तो, यहाँ पर यह सबसे ज्यादा विचारणीय बात हो जाती है कि आखिर यह सब क्यो होता है ? अभावो के कारण ही तो ! क्योकि रोटी कम है, और खाने वाले ज्यादा है, वस्त्र थोडा है, और पहनने वाले ज्यादा हैं। आदमी न रोटी की समस्या पूरी कर पाता है, न वस्त्र की। अत वह अपने जीवन के बोझो से घबरा कर इस प्रकार का हिंसात्मक गलत कदम उठाता है। इस पर से स्पष्ट हो जाता है कि अभावो के बीच जनसख्या की दिनानुदिन वृद्धि अभावो को और भी बढा कर हिंसा को ही प्रोत्साहन देती है। इस दृष्टि से, जनसख्या को सीमित करना कही ज्यादा श्रेयस्कर एव हिंसा से रहित है।

अभावों के बीच जन्म प्रदान कर किसी प्राणी को अक्षय पीडाओं मे कराहते छोड देना, कहाँ तक ठीक है ? सोचने की बात है कि किसी प्राणी को जीवनभर अभावों के बीच पीडा, कुण्ठा एव सत्रास के सागर मे डुबो देना, उसके लिए सुख-

शांति की बात होगी, या कि उसे इधर आने से रोक कर ? दिनरात अभावो में तडपते रहना भी कोई श्रेयस्कर जिन्दगी है ? अत स्पष्ट है, अमुक अश मे, परिवार-नियोजन का कार्यक्रम भी अहिसा के क्षेत्र मे आता है।

जनसख्या के अनुपात मे उपभोग के साधन

यह सच है कि परिवार-नियोजन वर्तमान युग की बढ़ती हुई जनसख्या की समस्या का एक सामान्य समाधान बन गया है। किन्तु वस्तुत यह समस्या वर्तमान की ही नही, मानव-जाति की आदिम समस्या है। जैनपुराणो का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि तीर्थंकर ऋषभदेव से पूर्व, जबकि अकर्मभूमि मे यौगलिक सभ्यता थी, जनसख्या सीमित थी, और उपभोग-सामग्री प्रचुरमात्रा मे उपलब्ध थी। आगे चल कर जनसख्या बढ़ने लगी, तो उपभोग-सामग्री मे कमी आने लगी। फलत सघर्ष, विग्रह और युद्ध होने लगे। समाज मे विशृ खलताजन्य अशाति बढने लगी। और तब युगद्रष्टा ऋषभदेव ने कृषि एव उद्योग का विकास करके अभावजनित विग्रह की शान्ति का पथ प्रशस्त किया।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जनसख्या-वृद्धि के साथ यदि उपभोग-सामग्री की वृद्धि नही होती है, तो गरीबी, अभाव और तज्जन्य सघर्ष पैदा होते है। ऋषभदेव के युग मे जनसख्या की वृद्धि का होना आवश्यक था, अत उनके समय मे परिवार-नियोजन का प्रश्न उपस्थित न हुआ। किन्तु जन-जीवन को अभावजन्य पीडा से बचाने के लिए उन्होने कृषि एव उद्योग का समाधान प्रस्तुत कर लोकहित का एक महत्त्वपूर्ण मार्ग प्रशस्त किया, जिसके परिणामस्वरूप जनजीवन गरीबी के उत्पीडन से बच सका। कल्पना कीजिए, यदि उस युग मे कृषि एव उद्योग के रूप मे अपेक्षित साधन-वृद्धि न की गई होती, और जनसख्या मे निरन्तर वृद्धि का अनुपात तीव्रगति से बढता ही रहता, तो क्या परिवार-नियोजन जैसी किसी उपयुक्त व्यवस्था की ओर ध्यान नही जाता ? क्या तब नाना प्रकार के अभावो से त्रस्त कीड़े की तरह कुलबुलाती जिन्दगी जीने को जनसख्या दिनानुदिन बढाते जाते और कोई ठीक समाधान नही निकालते ? मेरा विश्वास है कि यदि जीवन की उपभोग्य-वस्तुए ज्यो की त्यो सीमित बनी रहतीं और जनसख्या बढती ही जाती, तो अहिंसा के आधार पर सामाजिक विकास की सभावनाएँ मूलत क्षीण ही हो जाती।

वर्तमान परिस्थितियो के सदर्भ मे विचार करने पर ऐसा कुछ महसूस होता है कि निकट भविष्य मे अभी यह सभव नही कि औद्योगिक विकास का जनसख्या-वृद्धि के साथ आसानी से तालमेल बैठ सकेगा। फिर क्या जनता इसी प्रकार अभावो से प्रताडित, भूखी, नगी, दरिद्र, रुग्ण एव अशात स्थिति मे जिन्दगी की विषम घडियाँ काटती रहेगी ? क्या यह अभाव मनुष्य को एक दिन छीना-झपटी, सघर्ष, हिंसा एव विद्रोह के लिए मजबूर नही कर देगा ? जब समाज मे खाने वाले अधिक होंगे और खाद्य-पदार्थ कम होंगे, जब रहने वाले अधिक होगे और रहने योग्य आवास कम होंगे,

स्वास्थ्य, चिकित्सा और शिक्षा के साधन भी स्वल्प होंगे, तो निश्चय ही भूख, बीमारी और अशिक्षा का प्राबल्य होगा। परस्पर विद्वेष की भावना से कलह का उदय होगा, फलत शांति की चिरपुनीत धारा अवरुद्ध हो जाएगी और अशांति के तूफान के बीच हिंसा का जघन्य ताण्डव शुरू हो जाएगा। ऐसी परिस्थिति मे अहिंसा के विकास एव जन-कल्याण की अभिवृद्धि की कल्पना कौन कर सकता है ?

समस्या का समाधान

अब पहले का प्रश्न फिर उभर कर आता है कि—'इस समस्या का समाधान क्या है ?'

'जनसख्या की वृद्धि का अनुपात कम होना चाहिए'—यह सीधा-सा उत्तर है।

अब प्रश्न यह है कि—'यह बढ़ती हुई जनसख्या आखिर रुके कैसे ? सहज स्वाभाविक रूप से या कृत्रिम साधनो द्वारा ?'

पहला मार्ग निश्चय ही प्रशस्त है, खतरे से खाली भी है। आन्तरिक चेतना का जागरण होने पर वैराग्य के द्वारा जो भोगासक्ति कम होती है, वह साधन ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अन्तरग और बहिरग दोनो ही स्थितियो मे सही समाधान प्रस्तुत करता है। ब्रह्मचर्य मे आध्यात्मिक और सामाजिक दोनो ही प्रकार का निष्कलुष लाभ है। धर्मपरम्पराओ का कर्त्तव्य है कि वह इसे आन्दोलन का रूप दे, जन-जीवन मे नैतिक जागरण पैदा करें। यह मार्ग कठिन अवश्य है, पुरानी भाषा मे तलवार की धार पर चलने-जैसा है, फिर भी असभव तो नही है। हजारो ही नही, लाखो साधको ने पूर्ण ब्रह्मचर्य का जीवन जीया है, और उनकी ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी शानदार सफलताएँ हर युग के लिए प्रेरणास्रोत रहेगी। आंशिक ब्रह्मचर्य के साधक भी कुछ कम नही है। अत सर्वप्रथम परिवार-नियोजन की समस्या के समाधान के लिए यही पवित्र सर्वश्रेष्ठ साधन अपनाना चाहिए। यह साधन अहिंसक भी है, नैतिक भी है और धार्मिक भी। इस पथ की जो कठिनाइयाँ हैं, उनके व्यावहारिक हल खोजने की दिशा मे रचनात्मक उपक्रम की अपेक्षा है। इसके लिए शुद्ध सात्विक भोजन, मादक द्रव्यो का त्याग, स्वच्छ धार्मिक एव नैतिक शिक्षा, सत्सग, आध्यात्मिक ग्रन्थो का यथोचित स्वाध्याय, समाज मे सामूहिक रूप से उत्तेजक शृ गार-प्रसाधनो का परिहार, कामोत्तेजक अर्धनग्न नाच-गान एव अश्लील सिनेमा आदि का परित्याग—इत्यादि कुछ ऐसे व्यावहारिक प्रयत्न हैं, जो ब्रह्मचर्य की साधना के लिए सहायक हो सकते है।

दूसरा मार्ग प्रचलित परिवार-नियोजन का रूप है, किन्तु उसमे खतरा भी है। सुनने मे आता है कि कृत्रिम साधनो के द्वारा परिवार-नियोजन करने से नैतिक आदर्श गिर जाएँगे, विषयभोग की आकांक्षाएँ अनियन्त्रित एव उद्दाम हो उठेगी। कुमारिकाओ एवं विधवाओ मे, जो एक बधन एव भय की सीमा है, वह समाप्त हो जाएगी। आशकाओ को सर्वथा झुठलाया तो नही जा सकता, किन्तु ये जो हेतु दिखाए गये है, वे कोई ऐकान्तिक अन्तिम एव नितान्त सही ही हैं, ऐसी बात नही। प्राय देखने-सुनने

मे आता है कि कृत्रिम साधनो के प्रयोग के बिना भी सैकडो-हजारो कुमारिकाएँ एव विधवाएँ गर्भपात एव भ्रूणहत्याएँ करती है। ऐसा क्यों है ? यह अनियन्त्रित एव उद्दाम विषय-भोग की आकाक्षाओ का दुष्परिणाम नही तो और क्या है ? रही बात नैतिक आदर्श की, तो जिसके मूल मे किसी प्रकार का भय या आतक हो, वह और कुछ भले ही हो, नैतिक आदर्श कदापि नही हो सकता। और, फिर यह भय भी तो एक-तरफा ही है। महिलावर्ग कृत्रिम उपकरणो के अभाव मे भले ही कुछ नियन्त्रित रह ले, किन्तु पुरुषवर्ग तो इस नियन्त्रण से मुक्त ही रहता है। प्रकृति ने उस पर ऐसी कोई स्थिति नियत नही की है, जो किसी शारीरिक परिवर्तन के भय से नियन्त्रण मे रह सके। फिर, एक विशेष प्रकार के कृत्रिम साधनो से ही मनुष्य क्यो डरता है ? जीवन के पद-पद पर तो यह देखा जाता है कि मनुष्य आए दिन कृत्रिम साधनो का प्रचुर रूप मे उपयोग कर अपना जीवन-पथ तय कर रहा है। उनमे यदि जीवन की स्वाभाविकता पवित्रता एव नैतिकता नष्ट नही होती, तो इससे ही नष्ट हो जाएगी, ऐसी निश्चयात्मक आशका क्यो है ? साधन का जब तक साधन के रूप मे ही उपयोग होता है, तब तक तो कोई खास बुराई नही है, उस उपयोग की 'अति' ही बुराई है। अत 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की बाते ध्यान मे रखनी चाहिए।

अधिक सतान जीवन के लिए घातक

परिवार-नियोजन के प्रश्न को एक और दृष्टि से भी सोचा जाना चाहिए कि अधिक सतान न केवल सामाजिक जीवन की अशाति का कारण है, बल्कि मातृजीवन के लिए भी घातक है। मातृजीवन की दुर्बलता, क्षीणता एव अनेकानेक बीमारियो का कारण अधिक सतान का होना है। अधिक सतति के कारण माताएँ जल्दी ही कालकवलित हो जाती है। इस दृष्टि से परिवार-नियोजन के कार्यक्रम पर यदि विचार किया जाए, तो इसमे अहिंसा के साथ विरोध कहाँ है ? अपितु यह कार्यक्रम तो मातृजाति को पीडाओ से मुक्त करने की दिशा मे अहिंसा के पक्ष मे ही आता है। आगम-साहित्य की 'बहुपुत्तिया' का उदाहरण हमारे समक्ष है। अधिक सतान के कारण वह बेचारी किस दयनीय स्थिति को प्राप्त हो गई थी ! उसका कितना बुरा हाल हुआ था ! क्या यह हिंसा प्रतिकार के योग्य नही है ?

परिवार-नियोजन का सहज एव अनुकरणीय मार्ग

जैसा कि मै पहले स्पष्ट कर चुका हूँ, जनसख्या की अनियन्त्रित वृद्धि का समाधान करने की दिशा मे परिवार-नियोजन का कार्यक्रम एक व्यावहारिक कार्यक्रम है। और वह राष्ट्रहित की दृष्टि मे आवश्यक भी है। किन्तु यहाँ एक बात और भी विचारणीय है, वह यह कि जीवन को शमन एव दमन के इन कृत्रिम कार्यक्रमो पर ही आधारित न रह कर मन मे कीटदश के समान विषवमन करने वाली विषय-भोग की लिप्साओ की कुछ मानसिक चिकित्सा भी होनी चाहिए। स्वस्थ चिन्तन के द्वारा कामवृत्ति का शमन अपेक्षित है। निरोध गर्भ का ही नही, प्रत्युत मन की

विषय-तृष्णा का भी होना चाहिए। नसबदी मात्र प्रजनन-अवयव की ही नही, प्रत्युत मन की तृष्णाओ की भी होनी चाहिए। इसके लिए जनता मे नैतिक आदर्शों की भावना को जगाने की अनिवार्य अपेक्षा है। ब्रह्मचर्य का पालन, ब्रह्मचर्य की दृष्टि से ही नही, अपितु अहिंसा की दृष्टि से भी परमावश्यक है—यह आदर्श जनसामान्य के सामने आना चाहिए। किन्तु आदर्श के अह मे यथार्थ को भी नही भुलाया जा सकता। मस्तक आकाश मे ऊँचा उठा रहे, कोई आपत्ति नही, किन्तु पैरो के नीचे की धरती भी तो देखनी ही चाहिए कि वह कितनी ठोस है ? कितना भार सहन कर सकती है ? आदर्श के साथ यथार्थ को और यथार्थ के साथ आदर्श को मिलाते रहना चाहिए। इस प्रकार अहिंसा के सम्यक् एव समुचित विकास की दृष्टि से परिवार-नियोजन को अनुपयुक्त नही कहा जा सकता। इसलिए कि यह जन-जीवन की पीडा, क्षोभ, अशाति, विक्षिप्तता, दरिद्रता एव अशिक्षा को कम करने मे किसी न किसी रूप मे सहायक होता है। हाँ, हमे परिवार-नियोजन के साथ ही नैतिक आदर्श की भावना भी समानरूप से जागृत करनी चाहिए, ताकि उसके खतरे कम हो सकें, और हमारा राष्ट्र अपने जीवनपथ को सरलता के साथ मजिल का रूप दे सके। आज मानव के लिए यह एक सर्वथा अपरिहार्य एव अनिवार्य बात हो गई है कि वह मानसिक सकीर्णता की काल कोठरी से निकल कर चिन्तन के उन्मुक्त एव विस्तीर्ण धरातल पर खडा हो, तथा युगबोध एव युग की माग पर पूरी सहानुभूति एव सहृदयता से विचार करे। जीवन की इस विस्तीर्ण भावभूमि पर पहुचने पर यह अपने आप प्रत्यक्ष हो जाएगा कि वर्तमान परिस्थिति मे परिवार-नियोजन मूलत अहिंसा का ही एक आवश्यक पहलू है। □

वैचारिक अहिंसा और अनेकान्त | ३२

जैनधर्म मे समभाव या समताभाव को विशेष प्रधानता दी जाती है और समता के भाव से ही अनेकान्त का जन्म होता है। अनेकान्त और अहिंसा एक-दूसरे के पूरक हैं। विचारात्मक अहिंसा का ही नाम अनेकान्त है या यो कहे कि बौद्धिक अहिंसा ही अनेकान्त है। इसमे किसी एक पक्ष या एक अश को प्रधानता नहीं दी जाती, न उसके लिए आग्रह ही होता है। यह सबके प्रति समान आग्रह रखने को कहता है। इसका बहुत ही व्यापक क्षेत्र है। इसके अन्दर सभी एकान्तवादी विचार आ जाते है। यह धर्म, दर्शन, सस्कृति सभी क्षेत्रो तक अपना स्थान रखता है। इसके बिना जीवन के किसी भी व्यवहार का चलना मुश्किल हो जाता है।

अनेकान्त· एक विश्लेषण

जैनतत्त्वमीमासा मे अनेकान्त का विश्लेषण प्राप्त होता है। जब भ० महावीर ने सासारिक वस्तुओ का मौलिकता के दृष्टिकोण से अध्ययन किया तो उन्हे जानकारी हुई कि हर एक पदार्थ चाहे वह बिल्कुल बडा हो अथवा बिलकुल छोटा, पर उसमे अनन्त धर्म होते है।[१] अनेक गुण होते है। जैनदर्शन मे गुण शब्द के लिए 'धर्म' शब्द प्रयोग होता है। किन्तु यह सम्भव नही कि एक साधारण व्यक्ति किसी वस्तु के सभी धर्मों को जान सके। कोई व्यक्ति कह सकता है कि वह अपनी कलम को अच्छी तरह जानता है, क्योंकि उसकी कलम उसके पास है, वह उससे लिखता है। लेकिन उसका ऐसा कहना गलत होगा। इतना वह कह सकता है कि कलम अमुक रग की है, उसमे पीली या उजले रग की निब लगी है, अमुक कम्पनी की बनी हुई है। मोटी है अथवा पतली है। लेकिन क्या वह बता सकेगा, यदि उससे पूछा जाय कि उसकी कलम तलवार, कुदाल, हँसिया, मोटरकार, जहाज आदि से कितनी भिन्न है? शायद ऐसा बताना उसके लिए असम्भव नही तो कठिन अवश्य होगा। इसी तरह कलम के सम्बन्ध मे उससे और भी प्रश्न पूछे जा सकते है। और सभी प्रश्नो के उत्तर के लिए उसे उन सभी वस्तुओ को जानना चाहिए, जिनसे सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं। किन्तु सभी वस्तुओ के विषय मे जानकारी रखना एक साधारण व्यक्ति के लिए असम्भव है। एक साधारण व्यक्ति न तो एक वस्तु को पूर्णत जानता है और न सभी वस्तुओ को ही। क्योकि एक वस्तु को जानने का अर्थ होता है, सब को जानना और सबको जानने का,

---

१ "अनन्त-धर्मात्मक वस्तु" (स्याद्वादमजरी)

अर्थ होता है एक को जानना ।[2] जो सर्वज्ञ होता है वह सभी वस्तुओ को जानता है । लेकिन देखा जाता है कि जो सर्वज्ञ नही है, वह भी अपने एकपक्षीय ज्ञान को पूर्ण सत्य मान कर दूसरो को गलत बताता है, उनसे झगड पडता है । इस तरह का व्यक्ति एकाग्रही होता है , क्योकि वह केवल एक पक्ष किसी विशेषवाद, एक सिद्धान्त के लिए आग्रह करता है । एकाग्रही को ही एकान्तवादी कहते हैं ।

अन्धे और हाथी

इस एकान्तवादी प्रकृति की स्पष्टता के लिए आचार्यों ने एक बडा ही रुचिपूर्ण उदाहरण दिया है, जो इस प्रकार है—कुछ अन्धो ने हाथी के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करने का विचार किया और उन सबो ने हाथी को छू कर ही जाना कि हाथी किस प्रकार का होता है जिसने पैर का स्पर्श किया उसने कहा कि हाथी खम्भे की तरह है । जिसने हाथी की दुम पकडी, उसने कहा कि हाथी रस्से की तरह हिलता, डोलता हुआ कोई जानवर है । जिसने कान का स्पर्श किया, उसने कहा कि हाथी सूप की तरह होता है । वे सभी अपने-अपने ज्ञान को सत्य मानने लगे और दूसरे के ज्ञान को गलत । यद्यपि उनमे से किसी ने हाथी को पूर्णरूपेण नही देखा था । पर वहाँ कोई आँख वाला व्यक्ति आया तो उसने उन्हे हाथी का पूर्ण रूपक सुनाया । आँख वाले व्यक्ति से, जिसने हाथी को सब तरह से देखा, हाथी के सम्बन्ध मे जब वर्णन सुना, तब उन सबो को यह जानकारी हुई कि अलग-अलग वे सबके सब अशत सही है, सकीर्णत नही, और यही पर वे एकान्तवाद से अनेकान्तवाद की ओर चले आते है । जहाँ पर किसी एक के लिए नही, बल्कि सबसे लिए आग्रह होता है, वही अनेकान्त पाया जाता है । जीवन का के सभी व्यापारो या व्यवहारो मे अनेकान्त की झलक नजर आती है ।

आचार्यों के अभिमत

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जिन्हे कि पाचवी शती के भारत के उच्चकोटि के दार्शनिको मे स्थान प्राप्त है, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सन्मतितर्क' मे अनेकान्तवाद की महत्ता को ऊपर उठाते हुए कहते है कि अनेकान्तवाद विश्व का गुरु है । अर्थात् अनेकान्तवाद एक सही ढग से ज्ञानपथ प्रदर्शित करता है । आचार्य हरिभद्र अनेकान्त के सम्बन्ध मे कहते है— कदाग्रही व्यक्ति की, जिस विषय मे मति होती है, उसी विषय मे वह अपनी युक्ति को लगाता है । परन्तु एक निष्पक्ष व्यक्ति उस बात को स्वीकार करता है जो युक्तिसिद्ध हो' । इस प्रकार आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मतितर्क', आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमासा, आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्तप्रवेश' और 'अनेकान्तजय-पताका', अकलकदेव ने 'सिद्धिविनिश्चय' एव उपाध्याय यशोविजय ने अपने विभिन्न ग्रन्थो मे अनेकान्तवाद का प्रतिपादन किया है ।

---

२ एको भाव सर्वथा येन दृष्ट॰ सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टा ,
सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा , एको भाव॰ सर्वथा तेन दृष्ट ॥
—षड-दर्शन-समुच्चय टीका, पृ॰ २२२.

स्याद्वाद

अनेकान्त का भाषागत रूप ही स्याद्वाद है । जो विचार या सिद्धान्त चिन्तन के रूप मे अनेकान्त कहा जाता है, वही भाषा मे स्याद्वाद के रूप मे अभिव्यक्ति पाता है । इस तरह अनेकान्त यदि एक विचारपद्धति है, तो स्याद्वाद एक भाषापद्धति । दोनो वैसे ही है जैसे एक सिक्के के दो रूप । अनेकान्त एक निर्दोष विचार-प्रक्रिया है, तो स्याद्वाद एक निष्पक्ष अभिव्यक्ति ।

'स्यात्' शब्द का अर्थ होता है—'कथचित्' । इसीलिए स्याद्वाद को 'कथचित्-वाद' के नाम से भी जाना जाता है । स्याद्वाद उस अभिव्यक्ति की राह दिखाता है, जिससे ज्ञान सही ढग से प्रकाशित हो जाए और उससे किसी अन्य व्यक्ति का ज्ञान दोषपूर्ण जाहिर न हो । क्योकि यदि एक व्यक्ति का ज्ञान सही है, सत्य है इसका यह मतलब नहीं होता कि दूसरे का ज्ञान असत्य है । और ऐसा कहने का किसी को 'अधिकार' भी नही होता, कारण सबके ज्ञान अधूरे ही रहते है । केवल सर्वज्ञ का ज्ञान ही पूर्ण एव सब तरह से सत्य होता है । एक पदार्थ के अनेक धर्म या गुण या पहलू होते है । कोई एक व्यक्ति एक पहलू को जानता है, तो दूसरा उसके दूसरे धर्म को या दूसरे पहलू को । तब एक पहलू को जानने वाला दूसरे पहलू वाले को गलत कैसे कह सकता है, वह तो एक पहलू को ही जानता है, दूसरे को जानता ही नही । यहाँ पर स्याद्वाद कहता है जिस प्रकार किसी वस्तु के एक पहलू को जानने वाला सही है, उसी प्रकार दूसरे पक्ष को भी जानने वाला सही है । किन्तु दोनो के ज्ञान पूर्ण नही है । उन्हे पूर्णत सत्यता प्राप्त नही । दोनो की सत्यता किसी खास सापेक्षता मे है । अत स्याद्वाद अपेक्षा पर या सीमा पर जोर देता है । इस सापेक्षता स्पष्टत इस प्रकार मालूम हो सकती है । एक व्यक्ति को कोई पुत्र कहता है, कोई पिता कहता है, कोई पति कहती है, कोई भाई कहता है, कोई दोस्त कहता है । इस तरह विभिन्न लोग उसे विभिन्न रिश्तो से सम्बोधित करते है । यहाँ पर यदि उस व्यक्ति को पिता कहने वाला अपने को बिलकुल सही माने और दूसरो को गलत, या पुत्र कहने वाला अपने को सही माने और दूसरे को गलत तो वास्तविक स्थिति क्या समझी जाएगी । यद्यपि आदमी एक ही है, उससे रिश्ते अनेक है और अपने-अपने रिश्ते के अनुसार उसे सम्बोधित करने वाले सबके सब ठीक है । ऐसा नही कि जो उसे पिता कहता है वह ठीक है और पुत्र कहता है वह गलत है । रिश्ते ज्ञान के पहलू के प्रतीक है, अपेक्षा के प्रतीक है । यही बात किसी भी वस्तु के ज्ञान के सम्बन्ध मे होती है । अत किसी भी व्यक्ति को चाहिए कि अपना ज्ञान किसी खास सीमा या किसी खास अपेक्षा मे सही समझे और उसी के अनुसार अभिव्यक्ति भी करे, ताकि दूसरे के ज्ञान पर किसी तरह आक्षेप नही आए ।

ऐसी अभिव्यक्ति के लिए स्यात् का प्रयोग आवश्यक हो जाता है । स्यात् घट है और स्यात् घट नही है । इस प्रकार की अभिव्यक्ति मे न है, गलत है और न ही

'न है' । क्योंकि घट है, इसका अर्थ है कि घट 'जिस रूप मे और जिस स्थान या समय मे देखा जा रहा है, उस रूप मे है, किन्तु अन्य रूप, स्थान और समय मे वह नही देखा जा रहा है, तो उस रूप मे वह नही । अत जो यह कहता है कि घट है कहना ठीक है और घट नही है, कहना गलत है । वह निश्चित ही एकान्तवादी है, अनेकान्तवादी नही । अनेकान्तवाद तो सब दृष्टियो से देखता है और सबको सही मानता है ।

प्रतीकात्मक चिन्ह

एकान्तवाद का प्रतीकात्मक चिह्न 'ही' है और अनेकान्तवाद का 'भी' । एकान्तवादी कहता है 'मेरा सिद्धान्त ही ठीक है' इसका अर्थ होता है कि अन्य जितने भी ज्ञान है, गलत है । एकान्तवादी दूसरे के लिए कोई स्थान नही छोडता, वह पूरी सम्भावना पर स्वय अधिकार कर लेता है । इसके विपरीत अनेकान्तवादी कहता है कि '**मेरा भी सिद्धान्त ठीक है**' । ऐसी अभिव्यक्ति से दूसरे के लिए स्थान बच जाता है । 'मेरा भी सिद्धान्त ठीक है' का अर्थ होता है कि मेरे अलावा औरो के भी सिद्धान्त ठीक हैं ।

अहिंसा

अहिंसा के सम्बन्ध मे अब तक जो चर्चा की गई है उसमे यह देखा गया है कि अहिंसा का पूर्ण पालन तब होता है । जब मन, वाणी और शरीर से हिंसा न की जाय, न करवाई जाए और न हिंसा का अनुमोदन किया ही जाए । यहाँ पहला स्थान मन का अथवा चिन्तन का है । यह अनेकान्त का या अहिंसा का प्रथम चरण है । जब विचार मे किसी को गलत साबित किया जाता है, तब द्वेष पैदा होता है । यदि सबको सही मान लिया जाए, सभी को सत्य माना जाए, केवल अपने ही सिद्धान्त को सही न मान कर औरो के सिद्धान्तो को भी सही माना जाए उनका आदर किया जाए तो किसी भी प्रकार के द्वेष को स्थान नही मिलता, फिर हिंसा का तो प्रश्न ही नही उठता । अनेकान्त हमे यही सिखाता है कि किसी एक सिद्धान्त के प्रति आग्रह न करो, सबके लिए आग्रही बनो, यानी समाग्रही बनो । अहिंसा की दूसरी स्थिति है—वाणी, जिसकी पूर्ति स्याद्वाद से होती है । स्याद्वाद् सिखलाता है कि ऐसी अभिव्यक्ति करो, जिससे सबकी सत्यता जाहिर हो । ऐसा नही कि तुम घोषित करो 'मैं ही सत्य हूँ', फिर तो दूसरा तुमसे झगडने को तैयार हो जाएगा और उसके परिणामस्वरूप हिंसा होगी । कहो—मै भी 'ठीक हूँ,' ताकि दूसरे के मन मे किसी प्रकार का दु ख पैदा न हो, उसे भी सन्तोष हो कि अभिव्यक्ति करने वाला अपनी सत्यता की अभिव्यक्ति के साथ हमारे लिए भी स्थान छोड रहा है ।

इस प्रकार वैचारिक अहिंसा, अनेकान्त और स्याद्वाद् से अहिंसा की पूर्वपीठिका तैयार होती है, क्योंकि अहिंसा का विचारगत रूप अनेकान्तवाद है, भाषागत रूप स्याद् वाद है और आधारगत या कर्मगतरूप मे तो स्वय अहिंसा दिखाई पड़ती ही है । ☐

जीवन के चौराहे पर | ३३

जगत् मे कितने अगणित जीव-जन्तु भरे पड़े है। नाना प्रकार के पशु-पक्षी, कीड़े, मकोड़े तो हैं ही, लाखो प्रकार की वनस्पति और दूसरे भी छोटे-बड़े असख्य प्रकार के प्राणी भी है। उनकी आत्मा मे कोई मूलभूत अन्तर नही है। अन्तर है केवल शरीर का और आत्मिक शक्तियो के विकास का। इसी अन्तर ने मनुष्य मे और दूसरे प्राणियो मे बडा भेद पैदा कर दिया है। इसीलिए शास्त्र मानव-जीवन की गौरव-गाथा गाता है और मानव भी अपनी स्थिति पर गर्व करता है, अपने को धन्य मानता है। पर, मनुष्य को यह भी सोचना है कि इस जीवन के लिए उसे कितनी तैयारी करनी पडी है ? किस प्रकार की साधनाएँ करनी पडी है ?

बडी-बडी तैयारियाँ और साधनाएँ करने के बाद जो दिव्य-जीवन मिला है, उसकी क्या उपयोगिता है ? क्या, यह जीवन भोग-विलास मे लिप्त रहने के लिए है, धनसचय या मान-प्रतिष्ठा के पीछे भटकते-भटकते समाप्त हो जाने के लिए है ? क्या, इसलिए है कि एक दिन ससार मे यो ही आए और यो ही चले गए ?

आवागमन

जो आया है, वह तो जाएगा ही, चाहे कोई भिखारी हो, दरिद्र हो, अथवा राजा हो, सेठ हो। यह आवागमन का क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है, आज भी चल रहा है और भविष्य मे भी चलता रहेगा। प्रकृति के इस क्रम को रोकना आपके वश की बात नही है। चक्रवर्त्ती सम्राट् की शक्तिशाली सत्ता भी इसे बन्द नही कर सकती। यहाँ तक कि असख्य देवी-देवताओ पर शासन करने वाला देवाधिपति इन्द्र भी इसे रोकने मे असमर्थ है। ससार मे कोई ऐसी जगह नही कि जहाँ हम जम कर बैठ गए तो अब उठेंगे ही नही। यद्यपि, व्यक्ति यही चाहता है कि वह न उठे, किन्तु उसके चाहने की यहाँ कोई कीमत नही है। एक सामान्य व्यक्ति तो क्या, बडे-बडे शक्तिशाली यहाँ आए और चले गए। जिनकी मदमाती सत्ता ने एक दिन ससार मे भूकम्प पैदा कर दिया था, जिनकी सेनाओ ने हिन्दुस्तान के कोने-कोने को रौंद डाला था और अपना खजाना भर लिया था, उनकी शक्ति भी यहाँ विफल हो गई। लाखो वीरो की सुदृढ सेना एक ओर दीन-भाव से खडी रही और जो बड़े-बडे मत्री यह कहते थे कि बाल की खाल निकाल देंगे और कोई न कोई रास्ता निकालेंगे, परन्तु आवागमन के प्राकृतिक कार्यक्रम को रोकने मे उनकी विलक्षणबुद्धि भी कुछ काम न दे सकी। देवी-देवता खड़े रहे, उनसे भी कुछ नही बना। एक साधारण आदमी

संसार से विदा होता है तो लाचार और बेबस हो कर जाता है। वैसे ही जब एक धनी या सम्राट् विदा होते हैं, तो वे भी लाचार और बेबस हो कर ही विदा होते हैं।

एक ही राह

बिना वर्ग-भेद के सभी के लिए यदि एक राह नही होती तो दुनिया का फैसला होना मुश्किल हो जाता। यही राह गरीब और अमीर को एक करने वाली है, यह झोपडियो तथा महलो तक का एक जैसा फैसला कर देती है। दुनिया मे और कितनी ही राह क्यो न हो, पर श्मशान की राह तो एक ही है, जिस पर सबको चलना पडता है और जहाँ भिखारी से ले कर सम्राट् तक जल कर मिट्टी मे मिल जाते हैं। यहाँ दो राह नही बन सकती, मजिल दो नही हो सकती! सब के लिए एक ही राह है, एक ही मजिल है और उसी मे से सब को गुजरना है।

यह देखा गया है कि इन्सान की जिन्दगी मे अभिमान, प्रतिष्ठा, आदि जो भौतिक अलकरण है, वे सब यही समाप्त हो जाते है। मनुष्य, आगे कुछ भी नही ले जा सकता? महल, सोना-चाँदी, जेवर वगैरह सब यही रह जाते है। कुटुम्ब-कबीला, समाज और राष्ट्र सभी यहीं छूट जाते है।

मानव-जीवन की सबसे बडी जो विशेषता है, वह यही है कि मनुष्य सोच सकता है कि उसे यहाँ से क्या ले जाना है, क्या नही ले जाना है? खाली हाथ दरिद्र हो कर लौटना है, या सम्राट् की तरह ऐश्वर्य की विराट् साज-सज्जा के साथ वापस होना है।

अन्तिम प्रवचन

भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन म एक सुन्दर उदाहरण दिया है, और उसके सहारे बहुत बडा सत्य प्रकाशित किया है। दूसरे शब्दो मे यह कहना चाहिए कि एक लघुकाय शब्द-सूत्र के सहारे करोडो मन सत्य का भार उतार दिया है। वह एक छोटा-सा दृष्टान्त अवश्य है, किन्तु उसके पीछे एक बहुत बडी सच्चाई, जीवन का महत्त्वपूर्ण अध्याय छिपा पडा है। उत्तराध्ययन सूत्र मे आता है।[१]

भगवान् महावीर ने व्यापार करने वाले बनियो का उदाहरण दिया है जो इस प्रकार है—

एक सेठ के तीन पुत्र थे। तीनो बुद्धिमान और विचारशील थे, पर वे घर मे ही पड़े रहते थे, अत उनकी बुद्धि को परखने का प्रसंग नही मिलता था। उनके

---

१ जहा य तिन्नि वणिया, मूल घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाह, एगो मूलेण आगओ॥
एगो मूल वि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एव धम्मे वियाणह॥

विचारो को, चरित्र को और व्यक्तित्व को ठीक तरह पनपने का और विकसित होने का अवसर उपलब्ध नहीं होता था ।

पर सेठ बडा बुद्धिमान था । उसने सोचा—देखना चाहिए, कौन लडका कैसा है और आगे चल कर मेरे वश का उत्तरदायित्व कौन कितना निभा सकता है ? कौन मेरे कुल की प्रतिष्ठा को स्थायी रूप से सुरक्षित रख सकता है ? मैं दुनियाभर की परीक्षा करता हूँ तो अपने लडको की परीक्षा भी क्यो न करूँ ?

सेठ ने एक दिन तीनो लडको को बुलाया और कहा—"तुम सब समझदार और योग्य हो गए हो । जीवन के कार्य-क्षेत्र मे काम कर सकते हो । जो कुछ मैं करता हूँ, वह तो तुम्हारा ही है । उसे मुझे कही अन्यन्त्र ले नही जाना है । किन्तु तुम मुझे यह विश्वास दिला दो कि तुम मेरे पीछे मेरी जिम्मेदारियो को पूरी तरह निभा सकोगे ।"

लडको ने कहा—"पिताजी, फरमाइये, क्या करे ?"

इसी सवाल को हल करने के लिए तो पिता ने उन्हे बुलाया था । कमाने के लिए वह अपने लडको को बाहर नही भटकाना चाहता था । उसके पास आजीविका के सभी साधन मौजूद थे । परन्तु 'क्या करे' ? यह जो परमुखापेक्षी वृत्ति बन जाती है और बार-बार जो यह प्रश्न मन मे पैदा हो-हो कर रह जाता है, इसी का उसे समुचित समाधान करना था ।

सेठ ने कहा—"करना क्या है ? चले जाओ । नाव को समुद्र मे बहने दो और लगर खोल दो, डाँड तो तुम्हारे हाथ मे है । वस्तुत सफल जीवन का यही अर्थ है कि तुम कितने पुरुषार्थ से, कितनी योग्यता से जीवन-नौका को सकुशल तट पर ले जाते हो ! जिस नाव मे बैठे हो, उसका लगर यदि नही खोला है, तो उसके चलाने का कोई अर्थ नही । खोल दिया जाए जीवन-नौका का लगर और छोड दिया जाए उसे लहरो पर ! जब जीवन-नौका लहरो के थपेडे खाएगी और नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होगे, तब पता लगेगा कि तुम्हारे अन्दर कितनी योग्यता है । यदि समुद्र मे तूफान आया है तो नाव को कैसे ले जाएँ, और कहाँ मन्द गति और कहाँ तीव्र गति दी जाए, आदि-आदि योग्यताएँ ही तो जीवन के सफल सचालन के लक्षण है ।"

योग्यता की जाँच

पिता की बात सुनकर पुत्रो ने कहा—"बात ठीक है । आपका विचार सही है । हम अपनी योग्यता की जाँच करेंगे ।"

इसके लिए उनको योग्य पूँजी दे दी गई । एक-एक लाख रुपये तीनो को दे दिये गए और उनसे कह दिया गया कि तीनो, तीन दिशाओ मे अलग-अलग चले जाएँ । अपनी दिशाएँ इच्छा के अनुरूप निश्चित कर सकते है ।

तीनो पुत्रो ने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न देशो मे जा कर बडी-बडी फर्मे स्थापित की ।

उनमे एक बडा चतुर और बुद्धिमान् था । उसने अपनी पूँजी ऐसे व्यवसाय मे लगाई कि वारे-न्यारे होने लगे । धन दिन दूना और रात चौगुना बढ़ने लगा । वह

बड़ा सच्चरित्र था। जैसे-जैसे लक्ष्मी आती गई, वह नम्र होता गया। उसने आस-पास के व्यापारियों मे अपनी धाक जमा ली। जहाँ कही भी रहा, बेगाना बन कर नहीं रहा। ऐसे रहा, मानो उन्हीं के घर का आदमी हो और किसी को लूटने नही आया, किन्तु अपने-पराये सब का समुचित सरक्षण करने आया है। इस तरह उसने अपनी चारित्रक प्रतिष्ठा जमा ली। उसके पास लक्ष्मी खूब आई, पर लक्ष्मी का नशा तनिक भी नहीं आया। वह दुश्चरित्र नही बना।

गोता लगाकर भी सूखा

मजा तो यह है कि समुद्र मे डुबकी तो लगाए, किन्तु सूखा निकल आए। कोई तट पर बैठा रहे और कहे कि मै सूखा हूँ, भीगा नही, तो ऐसे सूखेपन का कोई मूल्य नही है। यदि समुद्र मे गोता लगा दे और वापिस सूखा निकल आए, भीगे नही, तब कहा जा सकता है कि वास्तव मे जादू है, चमत्कार है। इसी प्रकार यदि कोई धन वैभव पा कर भी सच्चरित्र बना रहे, उसे नशा न चढ़े, तब हम कहेगे कि समुद्र मे गोता तो लगाया किन्तु फिर भी सूखा ही निकला। जब चारो ओर लक्ष्मी की झनकार हो रही हो, फिर भी लक्ष्मी की मादकता से ठोकर न लगे और वासना की बौछार से बिना भीगे बाहर आ जाए, तब तो कह सकते है कि यह एक ठीक कला है। 'आनन्द' श्रावक ने ससार-समुद्र मे गोते लगाए थे, फिर भी वह सूखा ही निकला। महावीर के परम भक्त राजा चेटक आदि सभी ने ससार-समुद्र मे गोते लगाए थे, किन्तु सभी सूखे थे। चक्रवर्ती भरत भी ससार-समुद्र मे गोते लगा कर भी सूखे ही थे। साराश मे यही अभिमत पर्याप्त होगा कि सासारिक कार्यों मे सलग्न रहते हुए भी फल की प्राप्ति मे लिप्त नही रहना चाहिए।

जीवन-व्यापार को सफलतापूर्वक चलाने की महत्त्वपूर्ण कला जल मे खड़े कमल से ही सीखी जा सकती है। कमल कीचड मे पैदा होता है, पत्थर की चट्टान, रेत या टीले पर नही। निस्सन्देह वह गहरे सरोवरो मे जन्म लेता है, फिर भी वह पानी से नही भीगता, क्योंकि वह पानी से ऊपर रहता है। कमल की यह विशेषता है कि यदि उसके ऊपर पानी डाला जाए, या वर्षा का पानी पडे, तब भी उसमे ऐसी चिकनाहट नही होती है कि सब पानी बह जाएगा और वह अपने निर्लिप्त गुण के कारण सूखा का सूखा ही रहेगा। जैसे कमल पानी मे पैदा होता है, फिर भी पानी के प्रभाव से सर्वथा अलग रहता है। इसी प्रकार सफल जीवन का भी आदर्श होना चाहिए।[१]

कमल की कला

ऐसा भूल कर भी न समझना चाहिए कि कमल पानी मे भीगने के भय से बाहर क्यो नहीं भागता। यदि भागने का प्रयत्न करे तो वह एक क्षण भी जिन्दा नहीं रह सकता। इसी प्रकार कोई ससार के बाहर कैसे भाग सकता है? और भाग कर जाएगा

---

१ 'न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासो।"

भी कहाँ ? इस विश्व के बाहर उसका कहाँ ठिकाना है ? कही भी जाए, रहेगा तो ससार के वायुमण्डल मे ही । इसलिए, जब तक व्यक्ति गृहस्थ हो, उसे ससार मे रहते हुए ही, कमल की भाँति निर्लिप्त रहने की कठिन साधना करनी चाहिए । ससार-सागर मे जीवन-जहाज को सफलतापूर्वक चलाने के लिए इसके सिवाय और कोई दूसरा चारा नही है ।

यदि साधु गोचरी के लिए जाए और वहाँ किसी आकर्षणवश उसका मन डगमगाने लगे तो, यह कैसे चलेगा ? आखिर, उसे भी यह कला सीखनी ही पडेगी । यह अपार ससार है, यह दुर्गम दुनिया है । इसी से वस्त्र-पात्र भी लेना है, झोपडियो और महलो मे भी जाना है । आँख बन्द करके नही चल सकते, नाक बन्द करके नहीं जी सकते, और हाथ-पैर बाँध कर निष्क्रिय बैठ भी नही सकते । सब इन्द्रियाँ अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप अपना काम करती ही रहेंगी । फिर साधु तो ऐसी कला सीखते हैं कि खाते, पीते, सुनते और देखते हुए भी मोह-वासना के कीचड मे नही फँसते । दैनिक व्यवहार मे प्राय वे निन्दा भी सुनते है, स्तुति भी सुनते हैं, अच्छा या बुरा, जैसा भी रूप आँखो के सामने से गुजरता है, उसे देखते भी है । किन्तु निर्लिप्त भावना के कारण वे मोह-जन्य वासना के कुचक्र मे नही फँसते, सदैव उससे परे ही रहते हैं, क्योंकि सासारिक मोह-वासना का कुचक्र साधु-जीवन को अध पतन के गर्त्त मे ले जाने वाला है ।

अस्तु, कमल की वही कला सबको भी सीखनी है । यदि कोई भागना भी चाहेगा तो कब तक भागेगा ? भगवान् महावीर का यह अटल सिद्धान्त है कि—"जिस किसी भी स्थिति मे रहो, किन्तु यह कला सीख लो कि कमल जल मे रहता है और जल मे रह कर भी सूखा ही रहता है ।"[२] यदि यह दिव्य-दृष्टि जीवन मे मिल गई, तो समझ लो कि जीवन की सफल कला मिल गई । जिसे जीवन की यह मगलमयी कला मिल गई, वह साधक उत्तरोत्तर ऊपर ही उठता जाता है और सासारिक मोह-वासना का कोई विकार उसकी प्रगति मे बाधक नही होता ।

उस सेठ के लडके ने लाखो-करोडो कमाए । वह धन भी कमाता रहा और सदाचारी भी बना रहा । वह धन कमा कर जब घर लौटा तो नगर के लोग उसके स्वागत के लिए उमड पडे । सेठ भी अपने परिवार के साथ हर्षोल्लास से गद्गद स्वागतार्थ दौडा । बडे सम्मान के साथ, इज्जत के साथ और धूमधाम के साथ उसने नगर मे प्रवेश किया । वह तो प्रफुल्लित था ही, साथ ही हर एक नगर-निवासी भी हर्षोल्लास से भरपूर था ।

सेठ का दूसरा लडका भी बाहर गया, उसने भी किसी व्यवसाय मे पूँजी लगाई । किन्तु वह अपनी बुद्धि एवं प्रतिभा का अच्छी तरह उपयोग न कर सका, फलत उसने कुछ पाया नही, किन्तु साथ ही खोया भी नही । पिता की दी हुई पूँजी

---

२ "जहां पोम्म जले जाय नोवलिप्पइ वारिणा ।"

को बराबर बनाए रखा, यही उसकी बहुत बडी बुद्धिमानी थी। उसने ठीक ही सोचा —यदि पूँजी मे बढोतरी नही होती है तो अब चल देना चाहिए। घर पहुँचने पर यद्यपि उसका बड़े भाई की भाँति स्वागत नही हुआ, किन्तु अनादर भी नही हुआ। पिता ने उससे कहा—"बेटा, खेद की कोई बात नही। तुम जैसे गए थे, वैसे ही लौट आए। कुछ खो कर तो नही आए, यह भी तो एक कमाई है। कुछ न खोना भी तो कमाने के ही बराबर है।"

सेठ का तीसरा लडका लक्ष्मी की गर्मी मे और धन के नशे मे पागल हो गया, फलत वह दुराचार मे फँस गया। उसने सारी पूँजी भोग-विलास और ऐश-आराम मे उडा दी। जब सर्वस्व लुट चुका तो खाने को भी मुहाल हो गया। अन्त मे उसने भी घर लौटने की सोची, किन्तु शोभनीय पोशाक की जगह चीथड़े पहने हुए था, प्रसन्नता की जगह आँसू बहा रहा था और स्वादिष्ट भोजन के नाम पर भीख माँगता आया था। जब उसने गाँव मे प्रवेश किया, तो कोई सूचना नही भेजी और बीच बाजार से न हो कर अन्धेरी गली मे से ही घर की ओर भागा। उसने मुँह पर कपडा ढँक लिया था, जिससे कोई पहचान न सके। आखिर घर में आ कर वह रो पडा। घर वालो ने कहा—"अरे मूर्ख! तू तो मूल पूंजी को भी गँवा आया?"

मूल पूँजी

यह ससार जीवन-व्यापार का एक बाजार है। हम मानवगति-रूपी गाँव मे पहुँच गए है और व्यापार करने के लिए यहाँ बाजार मे एक स्थान मिल गया है। जो पहले नम्बर का व्यापारी होगा, वह यहाँ और वहाँ, अर्थात्—लोक और परलोक दोनो जगह आनन्द पाएगा। जब लौटेगा तो पहले से उसके स्वागत की तैयारियाँ होगी। जब यहाँ रहेगा, तब यहाँ भी जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश देगा और जहाँ कही अन्यत्र भी जाएगा, वही सुखद सन्देश सुनाता रहेगा। उसके लिए सर्वत्र आनन्द-मगल और जय-जयकार होंगे। वह स्वर्गीय जीवन का अधिकारी है।

जो मूल पूँजी ले कर आया है, अर्थात्—जिसने इसान की यह जिन्दगी पाई है और जो आगे भी इसान की जिन्दगी पाएगा, उसके लिए कह सकते है कि उसने कुछ नया कमाया नही, तो कुछ अपनी गाँठ का गँवाया भी नही।

परन्तु जो आता है इसान बन कर और वापिस लौटता है कूकर-सूकर बन कर वह फिर क्या हुआ? यदि यहाँ पचास, या सौ वर्ष रहा, और लौटा तो कीडा-मकोडा बना, गधा-घोडा बना, या नरक का मेहमान हुआ तो वह हारा हुआ व्यापारी है। वस्तुत वह ऐसा व्यापारी है, जिसने अपने जीवन के लक्ष्य का अच्छी तरह निर्णय नही किया है।

भारतीय चिन्तन की गूढ भाषा मे भावार्थ यह है कि इन्सान को जिन्दगी श्रेष्ठतम जिन्दगी है। अत जो करना है और जो करने योग्य है, वह सब यहाँ ही कर लेना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया, तब फिर कहाँ करेंगे?

"यहाँ का नाश सबसे बडा नाश है ! यहाँ की हार सबसे बडी हार है !! यहाँ, यदि अच्छी बातें न हुईं तो यहाँ-वहाँ सर्वत्र सबसे बडा अनादर है, अपमान है।"[२]

जीवन का चौराहा

मानव, जीवन के चौराहे पर खडा है। यहाँ से एक रास्ता—स्वर्ग एव मोक्ष को जाता है, दूसरा—नरक को जाता है, तीसरा—पशु-पक्षी की योनि को, और चौथा—मनुष्य-गति को जाता है। अब यह तय करना है कि किस रास्ते पर चलना है? चारो रास्तो के दरवाजे खुले पडे है। चारो ओर सडकें चल रही है। एक ओर प्रकाश चमक रहा है, तो दूसरी ओर अन्धकार घिर रहा है। अब विचार करना है। कि अपनी जिन्दगी को किधर ले जाना है! यदि आदमी सत्य और अहिंसा के सन्मार्ग पर चलेगा तो वह यहाँ भी आनन्द-मगल पाएगा और आगे जहाँ कही भी जाएगा, जन-ससार को दुख के बजाय सुख की ही जिन्दगी देगा। यह दिव्य-प्रकाश का आदर्श मार्ग है। यह वह प्रकाश है, जो कभी धुँधला नही पडता, अन्धकार से नही घिरता।

समय प्रतीक्षा नहीं करता

इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है कि—'हृदय मे जब धर्म के आचरण करने की पवित्र भावना उत्पन्न हो और सकल्प भी पक्का हो, तो फिर टालमटोल करने की क्या आवश्यकता है? 'मा पडिबध करेह', अर्थात्—देरी मत करो' भूखे को जब भूख के समय भोजन मिल जाए, तब क्या भूखा इन्तजार करेगा? नही, उसी समय खाएगा और दौड कर खाएगा।

जब आध्यात्मिक भूख लगी हो, जीवन-निर्माण को सच्ची लालसा जागृत हुई हो तो उस समय जीवन का जो महत्त्वपूर्ण मार्ग है, सच्चाई का मार्ग है, समाज एव राष्ट्र के हित का कल्याणपथ है, उसी पर सत्यनिष्ठ हो कर चलना चाहिए। तनिक भी इन्तजार मत करो! इस रूप मे तत्क्षणकारिता ही जीवन-निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण आदर्श है, जो साक्षात् रूप मे हमारे सामने है। परन्तु लोग बहुधा कहा करते है—"जी हाँ। बात तो ठीक है! पर अभी अवकाश नही है।" यह क्या विचित्र चिन्तन है? हृदय की इस अशोभन दुर्बलता को जितनी भी जल्दी हो, दूर कर देना चाहिए और जो कुछ भी सत्कर्म करना हो, उसे यथाशीघ्र कर लेना चाहिए। क्योकि समय की गति तेज है, वह किसी की प्रतीक्षा नही करता, किन्तु अवसर को अवश्य प्रकट कर देता है। अवसर भी साकार रूप मे प्रकट नहीं होता, पक्षी की भाँति अपने पख ही फडफडाता है। जो अपनी कुशाग्रबुद्धि से अवसर के पख को पहचान लेता है और अपने अभीष्ट कार्य को उस पख से सुसम्बद्ध कर देता है, वह समय की द्रुतगामी गति के साथ प्रगति करता हुआ एक दिन अवश्य ही उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है।

अत अहिंसा पर अन्तरगबहिरग सभी पहलुओ से चिन्तन-मनन करके द्रुतगति से आचरण की दिशा मे आगे बढना चाहिए। □

---

२ "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।" —केनोपनिषद्